MAPA-101

लोक प्रशासन के सिद्धान्त

THEORY OF PUBLIC ADMINISTRATION

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी- 263139
फोन नं0- 05946- 261122, 261123
टॉल फ्री नं0- 18001804025
ई-मेल- info@uou.ac.in
वैबसाईट- http://uou.ac.in

पाठयक्रम समिति

प्रो0 गिरिजा प्रसाद पाण्डे निदेशक- समाज विज्ञान विद्या शाखा उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, उत्तराखण्ड	प्रो0 अजय सिंह रावत उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, उत्तराखण्ड
प्रो0 एम0 एम0 सेमवाल राजनीति विज्ञान विभाग केन्द्रीय विश्वविद्यालय, गढवाल, उत्तराखण्ड	प्रो0 मधुरेन्द्र कुमार (विशेष आमंत्रित सदस्य) राजनीति विज्ञान विभाग कुमाऊँ विश्वविद्यालय, नैनीताल, उत्तराखण्ड
डॉ0 ए0के0 रुस्तगी, रीडर, राजनीति विज्ञान जे0एस0पी0जी0 कॉलेज, अमरोहा, उत्तर प्रदेश	डॉ0 सूर्य भान सिंह, असिस्टेन्ट प्रोफेसर राजनीति विज्ञान उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, उत्तराखण्ड
डॉ0 घनश्याम जोशी उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, उत्तराखण्ड	

पाठ्यक्रम संकलन और सम्पादन, वर्ष- 2017

डॉ0 घनश्याम जोशी
लोक प्रशासन विभाग
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, उत्तराखण्ड

इकाई लेखक	**इकाई संख्या**
डॉ0 उमेश कुमार झा दुर्गाप्रसाद बलजीत सिंह पी0जी0 कालेज अनूपशहर, बुलन्दशहर, उ0 प्र0	1, 2, 3, 4, 5
डॉ0 अरविन्द सिंह, के0 जी0 के0 कॉलेज, मुरादाबाद, उ0 प्र0	6, 7, 8, 9, 14, 15, 16
डॉ0 देवेश रंजन त्रिपाठी उत्तर प्रदेश राजर्षिटंडन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, उ0 प्र0	10, 11, 12, 13, 18, 19
डॉ0 निलय तिवारी गौतम बुद्ध राजकीय महाविद्यालय दर्शन नगर, अयोध्या फैजाबाद, उ0 प्र0	17, 20, 21, 22
शालिनी चौधरी, अर्थशास्त्र विभाग, यू0 ओ0 यू0, हल्द्वानी, उत्तराखण्ड	25, 26
रूचि आर्या, यू0 ओ0 यू0, हल्द्वानी, उत्तराखण्ड	27
डॉ0 घनश्याम जोशी, यू0 ओ0 यू0, हल्द्वानी, उत्तराखण्ड	17, 18 (सम्पादन)

प्रकाशन वर्ष- 2018

कापीराइट @ उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय

संस्करण- 2018, सीमित वितरण हेतु पूर्व प्रकाशन की प्रति।

प्रकाशक निदेशालय- उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

E mail: studies@uou.ac.in

अनुक्रम

लोक प्रशासन के सिद्धान्त(MAPA- 101) **पृष्ठ संख्या**

खण्ड- 1 लोक प्रशासन- अर्थ, प्रकृति क्षेत्र, महत्व, विभिन्न दृष्टिकोण और नवीन लोक प्रशासन	
1. लोक प्रशासन का अर्थ, प्रकृति क्षेत्र, महत्व	1-10
2. लोक प्रशासन के अध्ययन के विभिन्न दृष्टिकोण	11- 20
3. लोक प्रशासन तथा निजी प्रशासन	21- 29
4. लोक प्रशासन का विकास, नवीन लोक प्रशासन	30- 38
5. लोक प्रशासन का अन्य सामाजिक विज्ञानों से संबंध	39- 47
खण्ड- 2 विकास प्रशासन व तुलनात्मक लोक प्रशासन	
6. विकास प्रशासन अर्थ, विशेषताएं, क्षेत्र	48- 57
7. विकसित और विकासशील देशों में विकास प्रशासन	58- 67
8. तुलनात्मक लोक प्रशासन अर्थ, क्षेत्र एवं अध्ययन के दृष्टिकोण	68- 79
9. लोक प्रशासन एवं लोक नीति	80- 88
खण्ड- 3 लोक प्रशासन में संगठन	
10. संगठन-महत्व, अर्थ, औपचारिक संगठन, अनौपचारिक संगठन	89- 102
11. संगठन की विचारधाराएं – शास्त्रीय, मानव संबंध विषयक, व्यवस्था विचारधारा	103- 113
12. संगठन के सिद्धान्त- पदसोपान, नियंत्रण का क्षेत्र, आदेश की एकता	114- 120
13. समन्वय, प्रत्यायोजन, पर्यवेक्षण, केन्द्रीकरण, विकेन्द्रीकरण	121- 134
खण्ड- 4 संगठन की संरचना	
14. मुख्य कार्यपालिका	135- 144
15. सूत्र तथा स्टाफ	145- 154
16. भर्ती, प्रशिक्षण एवम् प्रोन्नति	155- 169
17. सूत्र अभिकरण- विभाग	170- 181
18. सूत्र अभिकरण- लोक निगम, स्वतंत्र नियामकीय आयोग	182- 196
खण्ड- 5 लोक प्रशासन पर नियंत्रण, प्रबन्ध और नेतृत्व	
19. लोक प्रशासन पर नियंत्रण: विधायी नियंत्रण, कार्यकारी नियंत्रण, न्यायिक नियंत्रण	197- 206
20. प्रबन्ध, अर्थ, प्रकृति, सहभागी प्रबन्ध, अच्छे प्रबन्ध की कसौटियां	207- 225
21. नेतृत्व, नीति निर्धारण तथा निर्णय करना	226- 241
खण्ड- 6 नियोजन, नौकरशाही और लोकसेवा	
22. नियोजन- अर्थ, प्रकार, नियोजन, प्रक्रिया, योजना आयोग, राष्ट्रीय विकास परिषद	242- 251
23. नौकरीशाही- अर्थ, नौकरशाही के प्रकार, गुण, दोष, मैक्स बेबर की नौकरशाही	252- 261
24. लोक सेवा का अर्थ, कार्य, भारत में आखिल भारतीय सेवाएं, भारतीय प्रशासनिक सेवा	262- 271

खण्ड- 7 बजट, लेखा परीक्षण और प्रदत्त विधि निर्माण	
25. बजट- विधायी नियंत्रण का एक उपकरण, बजट का आर्थिक महत्व, बजट निर्माण की प्रक्रिया (भारत में)	272- 281
26. निष्पादन बजट, शून्य आधारित बजट, लोक लेखा समिति, अनुमान समिति	282- 296
27. प्रशासकीय विधि- डायसी, प्रदत्त विधि निर्माण	297- 310

इकाई- 1 लोक प्रशासन का अर्थ, प्रकृति, क्षेत्र एवं महत्व

इकाई की संरचना

1.0 प्रस्तावना
1.1 उद्देश्य
1.2 लोक प्रशासन का अर्थ एवं परिभाषा
1.3 लोक प्रशासन की प्रमुख विशेषताऐं
1.4 लोक प्रशासन की प्रकृति
    1.4.1 एकीकृत एवं प्रबन्धकीय दृष्टिकोण
    1.4.2 लोक प्रशासन विज्ञान है या कला
1.5 लोक प्रशासन का विषय क्षेत्र
    1.5.1 संकुचित दृष्टिकोण
    1.5.2 व्यापक दृष्टिकोण
    1.5.3 पोस्डकार्ब दृष्टिकोण
    1.5.4 आदर्शवादी दृष्टिकोण
1.6 लोक प्रशासन का महत्व
1.7 सारांश
1.8 शब्दावली
1.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
1.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
1.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
1.12 निबंधात्मक प्रश्न

1.0 प्रस्तावना

किसी भी विषय का अध्ययन प्रारम्भ करते समय विद्यार्थी सर्वप्रथम विषय की आधारभूत बातों से परिचित होना चाहते हैं। आप अपने दिन पर दिन के अनेक कार्यों के सन्दर्भ में प्रशासन के सम्पर्क में आते होंगे और इतना तो जानते ही होंगे कि प्रशासन वह संगठन है जो हमारे जीवन की विभिन्न क्रियाओं को नियत्रित एवं प्रभावित करता है। एक क्रिया के रूप में लोक प्रशासन उतना ही प्राचीन है जितना कि मानव का संगठित जीवन। किन्तु अध्ययन के एक विषय के रूप में इसका विकास आधुनिक काल में हुआ है, प्रारंभिक काल में लोक प्रशसन का कार्य शांति एवं व्यवस्था बनाये रखना, अपराध रोकना तथा पारस्परिक विवादों को सुलझाने जैसे कार्यों तक सीमित था। किन्तु आधुनिक लोक कल्याणकारी राज्यों में इसका कार्य-क्षेत्र एवं प्रभाव कई गुणा बढ़ गया है, शासन का स्वरुप चाहे कैसा भी हो, लोक प्रशासन राजनितिक व्यवस्था का एक अपरिहार्य तत्व है। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप समझ सकेंगे कि लोक प्रशासन क्या है, इसके अन्तर्गत किन विषयों का अध्ययन किया जाता है तथा इसका हमारे व्यक्तिगत एवं सार्वजनिक जीवन में क्या महत्व है?

1.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- लोक प्रशासन के अर्थ को समझ सकेंगे तथा इसकी परिभाषा कर सकेंगे।
- लोक प्रशासन की प्रमुख विशेषताओं को रेखांकित कर सकेंगे।

- लोक प्रशासन की प्रकृति को स्पष्ट कर सकेंगे।
- लोक प्रशासन के महत्व पर प्रकाश डाल सकेंगे।

1.2 लोक प्रशासन का अर्थ एवं परिभाषा

लोक प्रशासन, प्रशासन का एक विशिष्ट अंग है। प्रशासन एक सुनिश्चित उद्देश्य की पूर्ति के लिए मनुष्यों द्वारा परस्पर सहयोग का नाम है। इसका अर्थ है 'कार्यों का प्रबन्ध करना अथवा लोगों की देखभाल करना।' यह एक व्यापक प्रक्रिया है, जो सभी सामूहिक कार्यों के विषय में चाहे सार्वजनिक हो या व्यक्तिगत, नागरिक हो या सैनिक, बड़े कार्य हों या छोटे, सभी के सम्बन्ध में लागू होता है। दूसरे शब्दों में प्रशासन शब्द के अंतर्गत निजी एवं सरकारी गतिविधियों का प्रबन्धन सम्मिलित है। इस अर्थ में प्रशासन को विश्व विद्यालयों, चिकित्सालयों, व्यापारिक कम्पनियों, विभिन्न सरकारी विभागों आदि में देखा जा सकता है। लोक प्रशासन, प्रशासन का वह भाग है जिसका सम्बन्ध शासन की गतिविधियों से होता है। व्यक्तिगत प्रशासन के विपरीत यह शासकीय कार्यों का प्रबन्धन है। एक विशिष्ट राजनैतिक व्यवस्था के अंतर्गत लोक प्रशासन राजनीतिक निर्णयों को कार्यरूप में परिवर्तित करने का एक साधन है। इसके द्वारा ''सरकार के उद्देश्यों एवं लक्ष्यों की प्राप्ति होती है'' इसका सम्बन्ध सार्वजनिक समस्याओं से है। यह लोक हित के लिए सरकार द्वारा किया गया संगठित प्रयास है। यह राजनीतिक प्रक्रिया का भी एक भाग है, क्योंकि लोक नीति के निर्धारण में यह महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। समाज को सुविधायें प्रदान करने हेतु अनेक निजी समूहों और व्यक्तियों से इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह निजी प्रशासन से कई दृष्टियों से भिन्न है।

अध्ययन के एक विषय के रूप में लोक प्रशासन सामाजिक विज्ञान की वह शाखा है जो मुख्य रूप से शासन के क्रियाकलापों तथा प्रक्रियाओं से सम्बन्ध रखता है। इसे जन प्रशासन, सार्वजनिक प्रशासन या सरकारी प्रशासन भी कहा जाता है। 'लोक' शब्द का प्रयोग सार्वजनिकता का सूचक है तथा इस विषय को एक विशिष्टता प्रदान करता है। सरकार के तीन अंग होते हैः व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका। क्या लोक प्रशासन में सरकार के तीनों अंगो का अध्ययन किया जाना चाहिए? इस विषय पर विद्वानों में मतभेद है, जिसके कारण लोक प्रशासन की अलग-अलग परिभाषाऐं की गयी हैं।

लोक प्रशासन की कुछ प्रमुख परिभाषाऐं निम्नलिखित हैं-

''लोक प्रशासन में वे सभी कार्य आ जाते हैं, जिनका उद्देश्य सार्वजनिक नीतियों को पूरा करना अथवा क्रियान्वित करना होता है''- एल0डी0 व्हाइट

''कानून को विस्तृत एवं क्रमबद्ध रूप से क्रियान्वित करने का नाम ही लोक प्रशासन है। कानून को क्रियान्वित करने की प्रत्येक क्रिया एक प्रशासकीय क्रिया है।''- वुडरो विल्सन

''साधारण प्रयोग में लोक प्रशासन का अर्थ उन क्रियाओं से है जो राष्ट्रीय, प्रान्तीय तथा स्थानीय सरकारों की कार्यपालिका शाखाओं द्वारा सम्पादित की जाती है।''- एच0 साइमन

''सामान्यतः लोक प्रशासन, प्रशासन विज्ञान का वह भाग है जो शासन से विशेषकर इसके कार्यपालिका पक्ष से सम्बन्धित है जहाँ सरकार का कार्य किया जाता है। यद्यपि विधायिका एवं न्यायपालिका से सम्बन्धित समस्याऐं भी स्पष्ट रूप से प्रशासकीय समस्याऐं ही है।''- लूथर गुलिक

उपर्युक्त परिभाषाओं के अवलोकन से स्पष्ट है कि लोक प्रशासन शब्द का प्रयोग संकुचित तथा व्यापक दोनों सन्दर्भों में किया जाता है। संकुचित सन्दर्भ में, इसका प्रयोग केवल कार्यपालिका द्वारा किये जाने वाले कार्यों के सन्दर्भ में किया जाता है। व्यापक सन्दर्भ में, लोक प्रशासन को सरकार अर्थात व्यवस्थापिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका के कार्यों के समग्र अध्ययन से जोड़ा गया है। मोटे तौर पर एल0डी0 व्हाइट के इस कथन से सहमति

व्यक्त की जा सकती है कि ''लोक प्रशासन में वे सभी कार्य आ जाते है जिनका उद्देश्य लोक नीति को पूरा करना अथवा क्रियान्वित करना होता है।''

1.3 लोक प्रशासन की प्रमुख विशेषताऐं

लोक प्रशासन का अर्थ एवं इसकी विभिन्न परिभाषाओं को जानने के उपरान्त आप इसकी प्रमुख विशेषताओं को निम्नलिखित रूपों में रेखांकित कर सकते हैं-

1. लोक प्रशासन, प्रशासन का वह भाग है जिसका सम्बन्ध लोक नीतियों को कार्यरूप में परिणत करने से है।
2. यह सार्वजनिक हित के लिए व्यक्ति तथा उसके साधनों का संगठित प्रयास है।
3. इसके अंतर्गत व्यवस्थापिका, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका तीनों शाखाएं और उनके परस्पर सम्बन्ध आते हैं, किन्तु औपचारिक रूप से यह सरकारी अधिकारी-तंत्र पर ही विशेष रूप से केन्द्रित होता है।
4. आधुनिक काल में लोक नीति के निर्धारण में भी यह महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।
5. इसका उद्देश्य निश्चित नियमों के अनुसार सरकारी कार्यो का निर्देशन तथा संचालन है।
6. यह किसी विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिए किया जाने वाला कार्य है।
7. प्रशासन करने वाले व्यक्ति के पास अधिकार का होना आवश्यक है। इसी के आधार पर वह दूसरों से किसी कार्य में सहयोग प्राप्त करता है।
8. इसमें एक से अधिक व्यक्तियों के सहयोग से कार्य किया जाता है। एक व्यक्ति द्वारा किये गये कार्य को लोक प्रशासन की संज्ञा प्रदान नहीं की जा सकती है।
9. यह निजी प्रशासन से कई दृष्टियों में भिन्न है।
10. समाज को सुविधायें प्रदान करने की प्रक्रिया में यह निजी समूहों और व्यक्तियों से निकट सम्बन्ध रखता है।

1.4 लोक प्रशासन की प्रकृति

अब तक आप यह समझ चुके होंगे कि लोक प्रशासन का अर्थ क्या है? अब हम इस विषय की प्रकृति पर विचार करेंगे।

लोक प्रशासन एक गतिशील विषय है जिसकी प्रकृति में निरन्तर परिवर्तन होता रहा है। इस विषय के स्वरूप पर बदलती हुई सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक परिस्थितियों एवं अन्य संबंधित सामाजिक विज्ञानों का व्यापक प्रभाव पड़ा है। सामान्यतया लोक प्रशासन की प्रकृति पर दो दृष्टियों से विचार किया जाता है- प्रथम इस दृष्टि से कि इस विषय के अंतर्गत किन क्रियाकलापों का अध्ययन किया जाना चाहिए और दूसरे इस दृष्टि से कि यह विज्ञान है या कला या दोनों का समन्वित रूप।

1.4.1 एकीकृत एवं प्रबन्धकीय दृष्टिकोण

लोक प्रशासन की परिभाषा की तरह इसकी प्रकृति के विश्लेषण के सम्बन्ध में भी विद्वान एकमत नहीं है। इस सम्बन्ध में मुख्यतया दो दृष्टिकोण हैं जिन्हें एकीकृत तथा प्रबन्धकीय दृष्टिकोण कहा जा सकता है।

एकीकृत दृष्टिकोण के अनुसार किसी निश्चित लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सम्पादित की जाने वाली क्रियाओं का समग्रीकरण का योग ही प्रशासन है चाहे वे क्रियाऐं लेखन, प्रबन्धन या सफाई सम्बन्धी ही क्यों न हो। इस प्रकार उपक्रम अथवा उद्यम विशेष में कार्यरत संदेशवाहक, फोरमैन, चौकीदार, सफाई कर्मचारी तथा शासन के सचिवों एवं प्रबन्धकों तक के कार्य को प्रशासन का भाग माना गया है। इस दृष्टिकोण में उपक्रम में कार्यरत छोटे कर्मचारियों से लेकर बड़े अधिकारियों तक के कार्यो को प्रशासन का भाग माना जाता है। व्हाइट इसी दृष्टिकोण के समर्थक है।

दूसरी ओर प्रबन्धकीय दृष्टिकोण केवल उन्हीं लोगों के कार्यों को प्रशासन मानता है, जो किसी उपक्रम सम्बन्धी केवल प्रबन्धकीय कार्यों का सम्पादन करते हैं। प्रबन्धकीय कार्य का लक्ष्य उपक्रम के विभिन्न क्रियाओं का एकीकरण, नियन्त्रण तथा समन्वय करना होता है। साइमन, स्मिथबर्ग तथा थॉमसन इस दृष्टिकोण के समर्थक हैं। उनके मतानुसार ''प्रशासन शब्द अपने संकुचित अर्थों में आचरण के उन आदर्शों को प्रकट करने के लिए प्रयोग किया जाता है, जो अनेक प्रकार के सहयोगी समूहों में समान रूप से पाये जाते हैं।'' लूथर गुलिक के अनुसार, ''प्रशासन का सम्बन्ध कार्य पूरा किये जाने और निर्धारित उद्देश्यों की पूर्ति से है।''

उपर्युक्त दोनों दृष्टिकोणों में मौलिक अन्तर है। एकीकृत दृष्टिकोण को स्वीकार करने पर हमें किसी उद्यम में लगे सभी कर्मचारियों के कार्यों को प्रशासन के अंतर्गत मानना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त, विषय-वस्तु के अन्तर के कारण एक क्षेत्र का प्रशासन दूसरे क्षेत्र के प्रशासन से भिन्न होगा। जैसे- शिक्षा के क्षेत्र का प्रशासन लोक निर्माण के प्रशासन से भिन्न होगा। दूसरी तरफ प्रबन्धकीय दृष्टिकोण को स्वीकार करने पर प्रशासन प्रबन्धन की तकनीक बनकर रह जाती है। प्रबन्धक का कार्य संगठन करना तथा उद्देश्य की प्राप्ति हेतु जन तथा साधन सामग्री का प्रयोग करना है। यह दृष्टिकोण प्रशासन को अपने आप में भिन्न तथा पृथक क्रिया मानता है तथा प्रत्येक क्षेत्र के प्रशासन को एक ही दृष्टि से देखता है।

अब आपके मन में यह दुविधा उत्पन्न हो गयी होगी कि उपर्युक्त दोनों दृष्टिकोणों में किसे उपयुक्त माना जाय? वास्तव में उपर्युक्त दोनों दृष्टिकोणों में किसी की भी पूर्णतः उपेक्षा नहीं की जा सकती। सच तो यह है कि प्रशासन का ठीक अर्थ उस प्रसंग पर निर्भर करता है जिस सन्दर्भ में शब्द का प्रयोग किया जाता है। अध्ययन विषय के रूप में प्रशासन उन सरकारी प्रयत्नों के प्रत्येक पहलू की परीक्षा करता है, जो कानून तथा लोक नीति को क्रियान्वित करने हेतु सम्पादित किये जाते हैं। एक प्रक्रिया के रूप में इससे वे सभी प्रयत्न आ जाते हैं जो किसी संस्थान में अधिकार-क्षेत्र प्राप्त करने से लेकर अंतिम ईंट रखने तक उठाये जाते हैं तथा व्यवसाय के रूप में यह किसी भी सार्वजनिक संस्थान के क्रियाकलापों का संगठन तथा संचालन करता है।

1.4.2 लोक प्रशासन विज्ञान है या कला

लोक प्रशासन की प्रकृति को पूर्ण रूप से समझने के लिए आपको यह भी जानना होगा कि यह विषय कला है अथवा विज्ञान अथवा दोनों का समन्वित रूप। एक प्रक्रिया के रूप में लोक प्रशासन को सामान्तया एक कला समझा जाता है। कला का अपना कौशल होता है और वह व्यवस्थित ढंग से व्यवहार में लायी जाती है। प्रशासन एक विशेष क्रिया है जिसमें एक विशेष ज्ञान तथा तकनीकी कौशल की आवश्यकता होती है। अन्य कलाओं की भाँति प्रशासन को भी अभ्यास से सीखा जा सकता है। वर्तमान में प्रशासनिक दक्षता के लिए 'निपुण' तथा 'विशिष्ट' प्रकार के दक्ष लोगों की आवश्यकता सरकार के विभिन्न आयामों में महसूस की जा रही है। प्रशासनिक कला में निपुणता हासिल करने के लिए व्यक्ति में धैर्य, नियन्त्रण, हस्तान्तरण, आदेश की एकता आदि गुणों का होना आवश्यक है। इन गुणों के अभाव में प्रशासक अपने कर्तव्यों का सफलतापूर्वक निष्पादन नहीं कर सकता।

लूथर गुलिक के अनुसार ''एक अच्छे प्रशासक को 'पोस्डकार्ब' तकनीकों में पारंगत होना चाहिए।'' जो विचारक प्रशासन को कला नहीं मानते, उनका तर्क है कि प्रशासन की सफलता और असफलता मानवीय वातावरण एवं परिस्थितियों पर निर्भर करती है। एक स्थान पर एक प्रशासक उन्हीं तकनीकों से सफल हो जाता है और दूसरे स्थान पर असफल हो जाता है। यह सच है कि सामाजिक और मानवीय पर्यावरण प्रशासन की कार्यकुशलता को उसी प्रकार प्रभावित करते हैं जिस प्रकार खेल का मैदान बदलने पर नया वातावरण खिलाड़ी के कौशल को प्रभावित करता है। किन्तु प्रशासन एक कौशल है। प्रत्येक व्यक्ति इस कौशल को हासिल नहीं कर सकता। प्रशिक्षण और अभ्यास के बाद ही इस उच्चतम कला को ग्रहण किया जा सकता है। अतः यह कहना उचित होगा कि लोक प्रशासन एक कला है।

अब प्रश्न यह उठता है कि इस विषय को विज्ञान का दर्जा दिया जाय या नहीं। यह एक विवादित प्रश्न है तथा इसका उत्तर इस बात पर निर्भर करता है कि हम विज्ञान शब्द का प्रयोग किस अर्थ में करते हैं। साधारणतः विज्ञान शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया जाता है- व्यापक और संकीर्ण।

व्यापक अर्थ में इस शब्द का प्रयोग 'अनुभव एवं पर्यवेक्षण से प्राप्त क्रमबद्ध ज्ञान' के रूप में किया जाता है। इसी अर्थ में हम सामाजिक विज्ञानों को जिनमें राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, आदि शामिल हैं, विज्ञान की संज्ञा प्रदान करते है। दूसरे अर्थ में विज्ञान, ज्ञान का वह निकाय है जो ऐसे परिशुद्ध सामान्य सिद्धान्तों की स्थापना करता है जिनके आधार पर एक बड़ी सीमा तक परिणामों के सम्बन्ध में पूर्वकथन किया जा सकता है। इस प्रकार के विज्ञानों को 'शुद्ध विज्ञान' के नाम से पुकारा जाता है, जैसे- भौतिकी, रसायनशास्त्र और गणित। सामान्यता लोक प्रशासन को एक 'सामाजिक विज्ञान' माना जाता है, यद्यपि इस विषय पर सभी विद्वान एकमत नहीं है। विद्वानों का एक ऐसा वर्ग भी है जो इस विषय को विज्ञान नहीं मानते। ऐसे विद्वानों द्वारा निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं-

मानवीय क्रियाओं से सम्बन्धित हो ने के कारण लोक प्रशासन के नियम कम विश्वसनीय होते है। ये स्थान और काल के अनुसार बदलते रहते हैं।

1. लोक प्रशासन के क्षेत्र में सर्वसम्मत एवं सार्वभौमिक सिद्धान्तों का अभाव है।
2. विज्ञान की भाँति लोक प्रशासन के पास कोई ऐसी प्रयोगशाला नहीं है जहाँ पूर्व अर्जित तथ्यों की सत्यता स्थापित की जा सके।
3. विज्ञान में नैतिक मूल्यों एवं आदर्शों का कोई स्थान नहीं होता जबकि लोक प्रशासन के सिद्धान्त निरन्तर प्रशासकीय क्रिया की तथ्यपरक एवं आदर्शपरक धारणाओं, अर्थात 'क्या है' और 'क्या होना चाहिए' के बीच झूलते रहते हैं।
4. इसमें पूर्व कथनीयता अर्थात भविष्यवाणी करने की क्षमता का अभाव है।
5. प्रशासकीय आचरण न तो पूर्णतः विवेकनिष्ठ होता है और न ऐसा होना सम्भव ही है। ऐसी स्थिति में उसके विज्ञान होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

इसमें कोई दो राय नहीं कि संकीर्ण अर्थ में लोक प्रशासन को विज्ञान की संज्ञा प्रदान नहीं की जा सकती, परन्तु विषय से सम्बद्ध अधिकांश विद्वानों में इस बात पर मतैक्य पाया जाता है कि व्यापक अर्थ में लोक प्रशासन के विज्ञान होने के दावे को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

लोक प्रशासन के विज्ञान होने के समर्थन में निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं-

1. एक विषय के रूप में लोक प्रशासन, प्रशासन से सम्बन्धित ज्ञान का क्रमबद्ध अध्ययन करता है।
2. इस विषय के अध्ययन के लिए लगभग सुनिश्चित क्षेत्र निर्धारित कर लिया गया है तथा इस आधार पर इसे अन्य शास्त्रों से पृथक किया जा सकता है।
3. गत वर्षों में प्रशासन के क्षेत्र में जो पर्यवेक्षण, परीक्षण तथा अनुसंधान हुये हैं, उनके परिणामस्वरूप अनेक सुनिश्चित अवधारणाऐं तथा परिकल्पनाऐं विकसित हुई हैं।
4. भारी संख्या में ऐसे तथ्यों का संग्रह कर लिया गया है, जिन पर वैज्ञानिक अध्ययन की पद्धतियों का प्रयोग किया जा रहा है।
5. अन्य सामाजिक विज्ञानों की भाँति लोक प्रशासन में भी कुछ ऐसे सामान्य सिद्धान्त विकसित किये जा चुके हैं, जो प्रभावी शासन की स्थापना के लिए पथ प्रदर्शक का काम कर सकते हैं।
6. यह विषय तथ्यों एवं घटनाओं की वैज्ञानिक विवेचना करता है और इसके माध्यम से प्रशासक अनुमान लगा सकते हैं कि इन घटनाओं के क्या परिणाम होंगे? अर्थात इसमें भविष्यवाणी करने की क्षमता है।

7. इस विषय से सम्बन्धित घटनाओं का वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन करने के उपरान्त इस प्रकार के कारण खोजें की जा सकती हैं, जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि समान कारणों का काफी बड़ी सीमा तक समान प्रभाव होता है। उक्त सन्दर्भ में सच तो यह है कि प्रत्येक ज्ञान के दो पहलू होते हैं- एक कला का और दूसरा विज्ञान का। उदाहरण के लिए, फोटोग्राफी अथवा औषधि विज्ञान कला भी है और विज्ञान भी। इसी प्रकार लोक प्रशासन विज्ञान और कला दोनों का समन्वित रूप है। चार्ल्स बेयर्ड के अनुसार, लोक प्रशासन उतना ही विज्ञान है जितना कि अर्थशास्त्र। उनके मत में जिस प्रकार प्राकृतिक विज्ञानों के क्षेत्र में अनुसंधान, वैज्ञानिक समितियों तथा वैज्ञानिकों द्वारा ज्ञान एवं परिकल्पनाओं के आदान-प्रदान ने ज्ञान की परिशुद्धता में वृद्धि की है, उसी प्रकार हम यह आशा कर सकते हैं कि प्रशासन के क्षेत्र में भी अनुसंधान, प्रशासकीय समितियों तथा प्रशासकों के पारस्परिक आदान-प्रदान भी ज्ञान की परिशुद्धता में वृद्धि करने में सहायक सिद्ध हो सकते हैं। यहाँ पर ध्यान देने योग्य बात यह है कि लोक प्रशासन केवल तथ्यों अर्थात 'क्या है' का ही अध्ययन नहीं करता, वरन् आदर्शों अर्थात 'क्या हो ना चाहिए' का भी अध्ययन करता है। इस प्रकार अन्य सामाजिक विज्ञानों की भाँति यह तथ्यपरक एवं आदर्शपरक दोनों प्रकार का विज्ञान हो सकता है। अपने पारंपरिक रूप में यह एक तथ्यपरक विज्ञान ही बना रहा है। परन्तु आधुनिक विचारकों ने इस दृष्किेाण को स्वीकार नहीं किया। उनका कहना है कि प्रशासन का ध्येय श्रेष्ठ प्रशासन है। इस धारणा को स्वीकार कर लेने के बाद यह प्रश्न सहज ही उठता है कि श्रेष्ठ प्रशासन की कसौटी क्या है? स्पष्टतः इन प्रश्नों में प्रयोजनों और मूल्यों की समस्या निहित है और यह प्रश्न लोक प्रशासन को आदर्शमूलक अध्ययन का स्वरूप प्रदान करता है।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि लोक प्रशासन एक प्रगतिशील विज्ञान है, जिसके निष्कर्ष अथवा सिद्धान्त भी नये अनुसंधान तथा नये अनुभव के अनुसार अपने आप को भी बदल डालते हैं। यह सही है कि समय-समय पर प्रतिपादित किये जाने वाले विभिन्न मतों से लोक प्रशासन की समस्या के बारे में सही समझ कायम करने में सहायता मिली है, तथापि उनके सम्बन्ध में पूर्णता का दावा नहीं किया जा सकता है।

1.5 लोक प्रशासन का विषय क्षेत्र

लोक प्रशासन की प्रकृति को समझने के उपरान्त आप यह जानेंगे कि इस विषय के अंतर्गत किन तथ्यों तथा समस्याओं का अध्ययन किया जाता है, अर्थात लोक प्रशासन का अध्ययन क्षेत्र क्या है? जिस प्रकार आपने इस विषय की परिभाषा तथा इसके स्वरूप के सम्बन्ध में विद्वानों में तीव्र मतभेद पाया, उसी प्रकार का मतभेद विषय के अध्ययन क्षेत्र के सम्बन्ध में भी पाया जाता है। वास्तव में, परिवर्तन के इस युग में लोक प्रशासन जैसे गतिशील विषय का क्षेत्र निर्धारित करना अत्यन्त मुश्किल कार्य है। मोटे तौर पर इस सम्बन्ध में निम्नलिखित दृष्टिकोण प्रचलित हैं-

1.5.1 संकुचित दृष्टिकोण

इस दृष्टिकोण के अनुसार लोक प्रशासन का सम्बन्ध शासन की कार्यपालिका शाखा से है, इसलिए इसके अंतर्गत केवल कार्यपालिका से सम्बन्धित कार्यों का अध्ययन किया जाना चाहिए। हर्बर्ट साइमन तथा लूथर गुलिक जैसे विद्वान इस दृष्टिकोण के समर्थक है। इस दृष्टिकोण को स्वीकार करने पर लोक प्रशासन के क्षेत्र के अंतर्गत निम्नलिखित बातें सम्मिलित की जा सकती हैं- कार्यरत कार्यपालिका अर्थात असैनिक कार्यपालिका का अध्ययन, सामान्य प्रशासन का अध्ययन, संगठन सम्बन्धी समस्याओं का अध्ययन, कार्मिक प्रशासन का अध्ययन, वित्तीय प्रशासन का अध्ययन और प्रशासनिक उत्तरदायित्व एवं उपलब्धियों का अध्ययन।

1.5.2 व्यापक दृष्टिकोण

यह दृष्टिकोण लोक प्रशासन के क्षेत्र के अंतर्गत उन सभी क्रियाओं के अध्ययन पर बल देता है जिनका उद्देश्य लोक नीति को पूरा करना अथवा क्रियान्वित करना होता है। दूसरे शब्दों में इस दृष्टिकोण के अनुसार लोक प्रशासन के अंतर्गत सरकार के तीनों अंगों- कार्यपालिका, व्यवस्थापिका एवं न्यायपालिका से सम्बन्धित कार्यों का अध्ययन किया जाना चाहिए। निग्रो, व्हाइट, मार्क्स, विलोबी आदि विद्वान इस दृष्टिकोण के समर्थक हैं। इस दृष्टिकोण को स्वीकार करने पर लोक प्रशासन के विषय क्षेत्र की व्याख्या में निम्नलिखित बातें दृष्टिगोचर होती है- 1. समाज के सहयोगात्मक प्रयास का अध्ययन, 2. सरकार के तीनों अंगो का अध्ययन, 3. लोक नीति के निर्माण एवं क्रियान्वयन का अध्ययन, 4. प्रशासन के सम्पर्क में आने वाले निजी संगठनों एवं व्यक्तियों के व्यवहार का अध्ययन।

1.5.3 पोस्डकार्ब दृष्टिकोण

इस दृष्टिकोण के प्रमुख प्रणेता लूथर गुलिक हैं। यद्यपि गुलिक से पहले उर्विक, हेनरी फेयोल इत्यादि विद्वानो ने भी पोस्डकॉब दृष्टिकोण अपनाया था, किन्तु इन विचारों को सुव्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत करने का श्रेय गुलिक को जाता है। पोस्डकॉब शब्द अंग्रेजी के सात शब्दों के प्रथम अक्षरों से मिलकर बना है। ये शब्द निम्नवत है- 1. Planning- योजना बनाना, 2. Organization- संगठन बनाना, 3. Staffing- कर्मचारियों की व्यवस्था करना, 4. Directing- निर्देशन करना, 5. Coordination- समन्वय करना, 6. Reporting- रपट देना और 7. Budgeting- बजट तैयार करना।

1.5.4 आदर्शवादी दृष्टिकोण

यह दृष्टिकोण इस मान्यता पर आधारित है कि लोककल्याणकारी राज्य और लोक प्रशासन में कोई अन्तर नहीं है। जिस प्रकार लोक कल्याणकारी राज्य का उद्देश्य जनता का हित करना है, ठीक उसी प्रकार लोक प्रशासन का अर्थ जनता के हित में सरकार के कल्याणकारी कार्यों को मूर्त रूप प्रदान करना है। लोक प्रशासन एक व्यापक विषय है और इसके अंतर्गत जनहित में किये जाने वाले समस्त कार्यों का अध्ययन किया जाना चाहिए। उपर्युक्त दृष्टिकोण की समीक्षा करने पर आपको यह स्पष्ट हो जायेगा कि इनमें से कोई भी दृष्टिकोण पूर्ण नहीं है।

प्रथम दृष्टिकोण लोक प्रशासन को शासन की कार्यपालिका शाखा से सम्बन्धित मानता है, लेकिन यथार्थ में यह केवल कार्यपालिका शाखा का ही अध्ययन नहीं है, बल्कि इससे बहुत ज्यादा है। दूसरे व्यापक दृष्टिकोण के मुताबिक लोक प्रशासन में सरकार के तीनों अंगों को शामिल किया गया है जिसे भी पूर्णतः उचित नहीं कहा जा सकता है। अगर इस दृष्टिकोण को माना जाए तो लोक प्रशासन अस्पष्ट विषय बनकर रह जायेगा। तीसरे दृष्टिकोण, जिसे 'पोस्डकॉर्ब' का नाम दिया जाता है इस आधार पर आलोचना की जा सकती है कि यह केवल प्रशासन की तकनीकों से सम्बन्धित है, उसके पाठ्य विषय से नहीं। इस दृष्टिकोण में यह भी कमी है कि इसमें मानवीय पहलू की उपेक्षा की गयी है। अंत में चौथा दृष्टिकोण आदर्शवादी दृष्टिकोण भी सही नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यह लोक प्रशासन के वास्तविक क्षेत्र का विवेचन नहीं करके भविष्य में बनने वाले लोक प्रशासन के क्षेत्र का काल्पनिक वर्णन करने लगता है।

स्पष्टतः उपर्युक्त दृष्टिकोणों में किसी एक को पूर्णतः सही मानना ठीक नहीं है, परन्तु सत्यता का अंश सभी में है। यानि लोक प्रशासन सरकार के तीनों अंगों से सम्बन्धित है, परन्तु कार्यपालिका से ज्यादा जुड़ा हुआ है। इसमें 'पोस्डकॉर्ब' की प्रक्रिया अपनायी जाती है और इसका भावी स्वरूप विस्तृत और व्यापक है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि लोक प्रशासन में निम्नलिखित विषय क्षेत्रों का अध्ययन किया जाना चाहिए-

- सार्वजनिक कार्मिक प्रशासन का अध्ययन,

- सार्वजनिक वित्तीय प्रशासन का अध्ययन,
- प्रशासनिक अथवा संगठनात्मक सिद्धान्तों का अध्ययन,
- तुलनात्मक लोक प्रशासन का अध्ययन,

1.6 लोक प्रशासन का महत्व

किसी भी विषय के अध्ययनकर्ता सम्बन्धित विषय के अध्ययन में दिलचस्पी तभी लेते हैं, जबकि वह विषय उन्हें महत्वपूर्ण एवं उपयोगी प्रतीत होता है। लोक प्रशासन के इस विषय का अध्ययन करते समय आप भी विषय के महत्व को जानने को इच्छुक होंगे। राजनीतिक व्यवस्था का स्वरूप किसी भी प्रकार का हो, लोक प्रशासन एक अनिवार्यता है। आधुनिक युग में इसका महत्व इतना अधिक बढ़ गया है कि यह प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से मानव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को प्रभावित करता है। यही कारण है कि सामाजिक विज्ञानों में लोक प्रशासन ने अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थिति प्राप्त कर ली है और प्रशासनिक व्यवस्था की आधारशिला के साथ-साथ सभ्यता की पहचान बन गया है। यह न कवेल एक सैद्धान्तिक विषय है बल्कि सभ्य समाजों में व्यक्ति तथा सरकार के बीच औपचारिक सम्बन्धों को स्पष्ट करने वाला आवश्यक ज्ञान है। इस सम्बन्ध में चार्ल्स बेयर्ड ने ठीक ही कहा है कि ‘‘प्रशासन के विषय से अधिक महत्वपूर्ण अन्य कोई विषय नहीं हो सकता है। मेरे विचार से शासन तथा हमारी सभ्यता का भविष्य इसी बात पर निर्भर करता है कि सभ्य समाज के कार्यों की पूर्ति के लिए प्रशासन का दार्शनिक, वैज्ञानिक तथा व्यावहारिक स्वरूप कितना विकसित होता है।’’

लोक प्रशासन, प्रशासन का एक महत्वपूर्ण उपकरण है। देश में शांति एवं सुव्यवस्था स्थापित करना तथा नागरिकों को सुरक्षा प्रदान करना, पारंपरिक रूप से लोक प्रशासन के महत्वपूर्ण कार्य रहे हैं। आधुनिक काल में व्यक्ति की अपेक्षाओं, महत्वाकांक्षाओं तथा आवश्यकताओं में वृद्धि के साथ-साथ लोक प्रशासन का दायित्व भी बढ़ गया है। इसे कई अन्य चुनौतीपूर्ण कार्यों का सम्पादन करना पड़ता है। देश के विकास और प्रगति को आगे बढाने के लिए सुचारू रूप से संचालन के लिए तथा इनके मार्ग में आने वाली समस्याओं से जूझने के लिए लोक प्रशासन अत्यन्त आवश्यक है। यह विकास एवं परिवर्तन का भी एक प्रमुख उपकरण बन गया है।

आज राज्य का स्वरूप लोककल्याणकारी है तथा यह जनता के उत्थान के लिए बहुमुखी योजनाऐं चलाती है। इन योजनाओं की सफलता प्रशासन की कार्यकुशलता एवं निष्पक्षता पर निर्भर करती है। योजनाओं को लागू करने का कार्य लोक सेवकों द्वारा सम्पन्न किया जाता है। ऐसी स्थिति में राज्य और लोक प्रशासन में अन्तर नहीं रह गया है। डिमॉक के अनुसार ‘‘लोक प्रशासन सभ्य समाज का आवश्यक अंग तथा आधुनिक जीवन का एक प्रमुख तत्व है और इसने राज्य के उस स्वरूप को जन्म दिया है जिसे ‘प्रशासकीय राज्य’ कहा जाता है। वस्तुतः लोक प्रशासन व्यक्ति के जन्म से लेकर मृत्यु तक सम्पादित होने वाले तमाम कार्यों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।’’

आज लोक प्रशासन सामाजिक परिवर्तन का भी एक प्रमुख साधन बन गया है। विकासशील देशों की परम्परागत जीवन शैली, अंधविश्वास रूढियों तथा कुरीतियों में परिवर्तन लाना एक सामाजिक आवश्यकता है। सुनियोजित सामाजिक परिवर्तन के लिए शिक्षा, राजनीतिक चेतना, आर्थिक विकास, कानून, दबाव समूह तथा स्वयंसेवी संगठनों सहित प्रशासन भी एक उपकरण माना जाता है। सामाजिक परिवर्तन का हथियार होने के साथ-साथ लोक प्रशासन सामाजिक नियन्त्रण का माध्यम भी है। सामाजिक नियन्त्रण का तात्पर्य उस ढंग से है जिसके द्वारा सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था की एकता तथा स्थायित्व को बनाया रखा जा सके और जिसमें सामाजिक व्यवस्था परिवर्तनशील रहते हुए क्रियाशील रहे। हमारे देश में गरीबी, भूखमरी, बेरोजगारी, शोषण, महिला अत्याचार, बाल अपराध, दहेज, छुआछूत, आदि जैसी सामाजिक समस्यायें विद्यमान हैं। ऐसी जटिल एवं व्यापक सामाजिक समस्याओं एवं कुरीतियो का समाधान केवल सरकार द्वारा निर्मित सामाजिक नीतियों एवं सामाजिक कानूनों द्वारा

ही संभव है और इन नीतियों एवं कानूनों को क्रियान्वित करने में लोक प्रशासन महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। लोक प्रशासन की भूमिका केवल नीतियों के क्रियान्वयन तक ही सीमित नहीं है, बल्कि उसके निर्धारण में भी यह महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। नीतियों के निर्माण की औपचारिक जिम्मेदारी भले ही राजनीतिज्ञों की हो, लेकिन अपने विशिष्ट ज्ञान प्रशिक्षण तथा अनुभव के कारण एक सलाहकार के रूप में लोक सेवक नीतियों के निर्माण में अहम भूमिका निभाते हैं। वस्तुतः सरकार के कार्यों के सफल संचालन के लिए प्रशासनिक लोक सेवकों का सहयोग आवश्यक है। प्रशासन सरकार के हाथ-पैर हैं और सरकार की सफलता का महत्वपूर्ण माध्यम है।

लोक प्रशासन द्वारा प्रशासकों के प्रशिक्षण जैसे महत्वपूर्ण कार्यों का सम्पादन करने प्रशासनिक व्यवस्था की गतिशीलता व उपादेयता में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी जाती है। प्रशिक्षण के द्वारा ही लोक प्रशासक यह सीख पाते हैं कि कानून व व्यवस्था बनाये रखा जाये। प्रशासनिक जीवन में समन्वय, संचार, सोपान, नियन्त्रण क्षेत्र इत्यादि की जानकारी भी प्रशासकों को लोक प्रशासन से ही सम्भव है। यही कारण है कि लोक सेवकों को लोक प्रशासन का सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक अध्ययन करना पड़ता है।

भूमंडलीकरण एवं आर्थिक उदारीकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ होते समय कुछ विद्वानों ने यह आशंका व्यक्त की थी कि लोकप्रशासन का महत्व कम हो जायेगा। लेकिन वास्तविकता यह है कि भूमंडलीकरण एवं उदारीकरण के युग में लोक प्रशासन की भूमिका और चरित्र में कुछ बदलाव आया है, लेकिन इसका महत्व कम नहीं हुआ है। अब लोक प्रशासन की एक नवीन भूमिका सुविधाकारक तथा उत्प्रेरक की है। यह और सक्रिय होकर देखता है कि विस्तृत होता हुआ निजी क्षेत्र राष्ट्र के कानून तथा नियमनों की संरचना के अंतर्गत क्रियाशील है या नहीं। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि सरकार का स्वरूप किसी भी प्रकार का हो लेकिन लोक प्रशासन का महत्व एवं इसकी भूमिका कम नहीं हो सकती। लोकतांत्रिक शासन प्रणाली ने तो इसके महत्व को और भी बढा दिया है। आज लोक प्रशासन सभ्य समाज की प्रथम आवश्यकता है। देश में शांति-व्यवस्था एवं स्थिरता बनाये रखने तथा विकास कार्य एवं सामाजिक परिवर्तन को गति प्रदान करने के लिए लोक प्रशासन अपरिहार्य है। फाइनर के शब्दों में ''कुशल प्रशासन सरकार का एक मात्र सहारा है जिसकी अनुपस्थिति में राज्य क्षत-विक्षत हो जायेगा।''

अभ्यास प्रश्न-

1. प्रशासन एक सुनिश्चित उद्देश्य की पूर्ति के लिए मनुष्यों द्वारा परस्पर सहयोग का नाम है। सत्य/असत्य
2. प्रशासन का सम्बन्ध निजी समस्याओं से है। सत्य/असत्य
3. प्रशासन में वे सभी कार्य आ जाते हैं, जिनका उद्देश्य सार्वजनिक नीतियों को लागू करना है। सत्य/असत्य
4. एकीकृत दृष्टिकोण में लोक प्रशासन के अंतर्गत किन कार्यों को सम्मिलित किया जाता है?
5. प्रबन्ध कीय दृष्टिकोण केवल उन्हीं लोगों के कार्यों को प्रशासन मानता है जो किसी उपक्रम संबंधी केवल प्रबन्ध कीय कार्यों का संपादन करते हैं। सत्य/असत्य
6. एकीकृत दृष्टिकोण प्रत्येक क्षेत्र के प्रशासन को एक ही दृष्टि से देखता है। सत्य/असत्य
7. ''एक अच्छे प्रशासक को पोस्डकॉब तकनीकों में पारंगत होना चाहिए'' यह किसका कथन है?
8. लोक प्रशासन के विज्ञान होने के पक्ष में दो तर्क प्रस्तुत कीजिए।
9. लोक प्रशासन के अध्ययन के चार विषय-क्षेत्रों को निर्धारित कीजिए।
10. लोक प्रशासन की भूमिका केवल नीतियों के क्रियान्वयन तक सीमित है। सत्य/असत्य
11. लोक प्रशासन विकास एवं परिवर्तन का प्रमुख उपकरण है। सत्य/असत्य
12. भूमंडलीकरण के इस युग में लोक प्रशासन की भूमिका एक सुविधाकारक एवं उत्प्रेरक की है। सत्य/असत्य

1.7 सारांश

लोक प्रशासन प्रशासन का वह विशिष्ट भाग है, जिसमें उन सभी क्रियाकलापों का अध्ययन किया जाता है जो सार्वजनिक नीतियों को क्रियान्वित करने से सम्बन्धित है। यह एक गतिशील विषय है जिसके स्वरूप में निरंतर परिवर्तन होता रहा है। यह एक सामाजिक विज्ञान तथा व्यावहारिक कला का समन्वित रूप है। आधुनिक लोक कल्याणकारी राज्यों में इसकी भूमिका बहुत महत्वपूर्ण हो गयी है। यह न केवल शांति एवं सुव्यवस्था स्थापित करने का बल्कि विकास एवं सामाजिक परिवर्तन का भी एक प्रमुख उपकरण बन गया है। भूमंडलीकरण एवं उदारीकरण के युग में लोक प्रशासन के लिए नयी भूमिका का सृजन हुआ है।

इस इकाई में हमने लोक प्रशासन की आधारभूत विशेषताओं तथा इसके महत्व पर प्रकाश डाला है। अगले अध्याय में हम इस विषय के अध्ययन के विभिन्न दृष्टिकोण पर प्रकाश डालेंगे।

1.8 शब्दावली

प्रशासनिक राज्य- ऐसा राज्य जिसमें कार्यपालिका शाखा का प्रभुत्व होता है, यद्यपि इसमें व्यवस्थापिका तथा न्यायपालिका भी स्थापित रहते हैं।

लोक कल्याणकारी राज्य- ऐसा राज्य जो समस्त जनता और विशेषकर कमजोर एवं जरूरतमंद लोगों अर्थात निर्धन, वृद्ध, अपंग, बीमार इत्यादि लोगों को कानून और प्रशासन के द्वारा पर्याप्त सुविधायें प्रदान करता है।

प्रबन्धन- एक ऐसी प्रक्रिया जो प्रशासन द्वारा निर्धारित सीमाओं के अंतर्गत नीतियों के क्रियान्वयन से सम्बन्धित है।

लोक नीति- वे सार्वजनिक नीतियॉं जो सरकार द्वारा जनहित में निर्धारित की जाती हैं।

1.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. सत्य, **2.** असत्य, **3.** सत्य, **4.** छोटे कर्मचारियों से लेकर बड़े अधिकारियों तक के कार्यों को, **5.** सत्य, **6.** असत्य, **7.** लूथर गुलिक, **8.** प्रशासन से सम्बंधित ज्ञान का क्रमबद्ध अध्ययन व सुनिश्चित अवधारणाओं तथा परिकल्पनाओं का विकसित होना इत्यादि, **9.** सार्वजनिक क्रमिक प्रशासन, सार्वजनिक वित्तीय प्रशासन, संगठनात्मक सिद्धान्त और तुलनात्मक लोक प्रशासन, **10.** असत्य, **11.** सत्य, **12.** सत्य

1.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. अवस्थी एवं माहेश्वरी; 2008, लोक प्रशासन, लक्ष्मीनरायण अग्रवाल आगरा, 2008,
2. व्हाइट, एल0 डी0; 1968, इंट्रोडक्शन टू दी स्टडी ऑफ पब्लिक एडमिनिस्टेशन, यूरेशिया पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।
3. निग्रो, फेलिक्स ए0 एवं निग्रो, लायड जी0; 1980, मॉडर्न पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन, हार्पर और रो, न्यूयार्क।

1.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. पेरी, जे0; 1989, हैन्डबुक ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन सैन फ्रांसिस्को।
2. वाल्दो, डवाइट, पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन इनसाइक्लोपीडिया ऑफ सोशन साईसेज।

1.12 निबंधात्मक प्रश्न

1. लोक प्रशासन की परिभाषा दीजिए तथा इसके प्रमुख लक्षणों को स्पष्ट कीजिये।
2. लोक प्रशासन की प्रकृति के सन्दर्भ में एकीकृत एवं प्रबन्ध कीय दृष्टिकोणों को स्पष्ट कीजिये।
3. लोक प्रशासन विज्ञानं है अथवा कला? तर्क सहित उत्तर दीजिए।
4. लोक प्रशासन के विषय-क्षेत्र को स्पष्ट करते हुए इसके महत्व पर प्रकाश डालिए।

इकाई- 2 लोक प्रशासन के अध्ययन के विभिन्न दृष्टिकोण

इकाई की संरचना

2.0 प्रस्तावना

2.1 उद्देश्य

2.2 परम्परागत दृष्टिकोण

- 2.2.1 दार्शनिक उपागम
- 2.2.2 वैधानिक उपागम
- 2.2.3 ऐतिहासिक उपागम
- 2.2.4 संस्थागत-संरचनात्मक उपागम

2.3 आधुनिक दृष्टिकोण

- 2.3.1 वैज्ञानिक उपागम
- 2.3.2 व्यवहारवादी उपागम
- 2.3.3 पारिस्थितिकीय उपागम
- 2.3.4 घटना या प्रकरण पद्धति

2.4 सारांश

2.5 शब्दावली

2.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

2.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

2.8 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

2.9 निबंधात्मक प्रश्न

2.0 प्रस्तावना

प्रथम इकाई के अध्ययन के पश्चात आप लोक प्रशासन विषय के अर्थ, प्रकृति, क्षेत्र तथा महत्व को समझ चुके होंगे। इस इकाई में हम आपको इस विषय के अध्ययन से सम्बन्धित विभिन्न दृष्टिकोणों या उपागमों से अवगत करायेंगे।

जिस प्रकार लोक प्रशासन की परिभाषा, प्रकृति तथा विषय क्षेत्र के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद पाया जाता है, उसी प्रकार इस बात को लेकर भी मतभेद है कि इस विषय का अध्ययन किस दृष्टि से किया जाय अर्थात दार्शनिक, वैधानिक, संस्थागत, ऐतिहासिक, या फिर वैज्ञानिक व्यवहारवादी, पारिस्थितिकीय या प्रकरण प्रधान दृष्टि से। दूसरे शब्दों में लोक प्रशासन के अध्ययन के सम्बन्ध में विभिन्न दृष्टिकोण या उपागम प्रचलित हैं।

इस इकाई के अध्ययन के वाद आप लोक प्रशासन के परम्परागत एवं आधुनिक दृष्टिकोणों की समीक्षा कर सकेंगे।

2.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- लोक प्रशासन के अध्ययन के विभिन्न दृष्टिकोणो या उपागमों से अवगत होंगे।
- इन उपागमों या दृष्टिकोणों में अन्तर कर सकेंगे।
- इनके गुण-दोषों को जान सकेंगे।
- यह तय कर सकेंगे कि लोक प्रशासन के अध्ययन के लिए उपयुक्त दृष्टिकोण क्या होना चाहिए?

2.2 परम्परागत दृष्टिकोण

परम्परागत दृष्टिकोण के अंतर्गत लोक प्रशासन के अध्ययन में निम्नलिखित उपागमों को सम्मिलित किया जा सकता है-

2.2.1 दार्शनिक उपागम

यह उपागम लोक प्रशासन के अध्ययन का सबसे प्राचीन उपागम है। यह इस बात पर बल देता है कि लोक प्रशासन कैसा होना चाहिए। महाभारत का 'शांतिपर्व', प्लेटो रचित 'रिपब्लिक', हॉब्स की रचना, 'लेवियाथन', लॉक रचित 'ट्रीटाइज ऑफ सिविल गवर्मेन्ट' इत्यादि रचनाओं में इस दृष्टिकोण की झलक मिलती है।

आधुनिक काल में लोक प्रशासन को एक दर्शन के रूप में देखने की आवश्यकता पर अनेक विद्वानों ने बल दिया है, जिनमें मार्शल डिमॉक, क्रिस्टोफर हॉगकिन्सन, चेस्टर बनार्ड, साइमन, थाम्पसन इत्यादि के नाम प्रमुख हैं। इन विद्वानों की मान्यता है कि राज्य की नीतियों को सत्यनिष्ठा एवं कुशलतापूर्वक लागू किया जाना चाहिए। प्रशासन का दर्शन प्रशासन के विज्ञान की अपेक्षा अधिक व्यापक होना चाहिए तथा लोक प्रशासन को उन सभी तत्वों की ओर ध्यान देना चाहिए, जिनका समावेश प्रशासकीय क्रिया में होता है।

इस दृष्टिकोण के अनुसार प्रशासन का सम्बन्ध लक्ष्य तथा साधन दोनों से है। इन दोनों का कुशलतापूर्वक समन्वय ही प्रशासन के उत्कृष्टता की कसौटी है। दूसरे शब्दों में, लोक प्रशासन के दर्शन का प्रयोजन हमारे लक्ष्यों को पारिभाषित करना तथा उनकी प्राप्ति के लिए समुचित साधनों की खोज करना है। लोक प्रशासन का कार्य हमारे सामाजिक और भौतिक पर्यावरण के अविवेकपूर्ण तथ्यों पर मर्यादा लगाकर उन्हें नियंत्रित करना होता है। वर्तमान समय में लोक प्रशासन का मूल उद्देश्य समस्त समाज के लिए श्रेष्ठ जीवन की स्थितियों का निर्माण करना है।

चार्ल्स बेयर्ड के अनुसार, 'सभ्य शासन तथा स्वयं सभ्यता का भी भविष्य हमारी उस क्षमता पर निर्भर करता है कि हम प्रशासन को एक ऐसे विज्ञान, दर्शन और व्यवहार के रूप में विकसित कर पाते हैं या नहीं, जो सभ्य समाज के कार्यों को पूरा करने में समर्थ हो।'

इस प्रकार दार्शनिक उपागम का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है और यह अपनी परिधि में सभी प्रकार की प्रशासकीय क्रियाओं को समेट लेता है। इसका ध्येय इन क्रियाओं में अन्तर्निहित सिद्धान्तों और उद्देश्यों का पता लगाना होता है।

दार्शनिक उपागम की आलोचना इस आधार पर की जा सकती है कि इसमें केवल लोक प्रशासन के आदर्श स्वरूप का चित्रण किया गया है अर्थात प्रशासन कैसा होना चाहिए? लेकिन इससे हमें वास्तविक प्रशासकीय स्थिति का ज्ञान नहीं हो सकता। अतः यह दृष्टिकोण अपूर्ण है।

2.2.2 वैधानिक उपागम

दार्शनिक उपागम या दृष्टिकोण के पश्चात लोक प्रशासन का अध्ययन सामान्यतया वैधानिक दृष्टिकोण से करने की परम्परा रही है। यह एक व्यवस्थित उपागम है जिसका मूल यूरोप की परम्परा में व्याप्त है। यूरोप में लोक प्रशासन का विकास कानून के अंतर्गत हुआ तथा वहाँ वैधानिक दृष्टि से ही इस विषय के अध्ययन पर बल दिया जाता है। इस उपागम का विकास उस समय हुआ था जब राज्य के कार्य अत्यन्त सरल तथा क्षेत्र अत्यन्त सीमित थे।

इस उपागम में लोक प्रशासन के अध्ययन को संविधानों में प्रयुक्त भाषा, विधि संहिताओं, प्रकाशित अधिनियमों तथा न्यायिक निकायों के निर्णयों पर आधारित किया जाता है।

इस उपागम का अनुसरण सबसे अधिक जर्मनी, फ्रान्स तथा बेल्जियम जैसे यूरोपियन देशों में हुआ है। इन देशों में लोक विधि को दो प्रमुख शाखाओं में विभाजित कर दिया गया है, यथा संवैधानिक विधि तथा प्रशासकीय विधि। इन देशों में राजनीति का अध्ययन प्रधानतः संवैधानिक विधि की दृष्टि से तथा प्रशासन का अध्ययन प्रशासकीय

विधि की दृष्टि से किया जाता है। यही कारण है कि इन देशों में उच्च असैनिक अधिकारियों की भर्ती तथा प्रशिक्षण के समय वैधानिक अध्ययन के ऊपर ही अधिक बल दिया जाता है। इस उपागम को इंग्लैण्ड और अमेरिका में भी समर्थन प्राप्त हुआ है।

इसमें कोई दो राय नहीं कि लोक प्रशासन वैधानिक ढ़ाँचे के अंतर्गत कार्य करता है, अतः उस ढ़ाँचे पर प्रकाश डालने के लिए यह उपागम उपयोगी है। परन्तु इस उपागम की एक सीमा यह है कि यह प्रशासन की समाज शास्त्रीय पृष्ठभूमि की सर्वथा उपेक्षा करता है। परिणामस्वरूप प्रशासन का वैधानिक अध्ययन औपचारिक एवं रूढिवादी बन जाता है तथा उसमें प्रशासकीय कार्यकलाप तथा व्यवहार के लिए सजीव आधारों का कोई बोध ही नहीं रह पाता।

2.2.3 ऐतिहासिक उपागम

लोक प्रशासन के अध्ययन का ऐतिहासिक उपागम भी अति प्राचीन है। भूतकालीन लोक प्रशासन का अध्ययन इसके माध्यम से किया जाता है और सूचनाऐं कालक्रम की दृष्टि से संग्रहीत की जाती हैं तथा उनकी व्याख्या की जाती है। गौरवशाली अतीत से युक्त समाज में यह पद्धति अत्यधिक लोकप्रिय और प्रशासकीय प्रणाली के अनोखेपन को निर्धारित करने में सहायक होती है।

यह दृष्टिकोण वर्तमानकालीन प्रशासकीय संस्थाओं एवं प्रणालियों को पिछले अनुभवों के आधार पर देखने की चेष्टा करता है। वास्तव में अनेक प्रशासकीय संस्थाओं को उनके अतीत के आधार पर ही समझा जा सकता है और यह ऐतिहासिक उपागम द्वारा ही संभव है। उदाहरण के लिए, भारत के वर्तमान प्रशासन को समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम प्राचीन काल से लेकर अब तक देश में जिस प्रकार प्रशासकीय संस्थाओं का विकास हुआ है उसके बारे में जानकारी प्राप्त करें। संयुक्त राज्य अमेरिका में भी इस उपागम के माध्यम से प्रशासन की समस्याओं को समझने का प्रयत्न किया गया है। इस सम्बन्ध में एल0 डी0 व्हाइट की दो पुस्तकें 'द फेडरलिस्ट' तथा 'जेफेरसोनियन' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। पहली पुस्तक 1948 में प्रकाशित हुई थी और दूसरी 1951 में तथा इनमें अमेरिकी गणतंत्र के प्रथम चालीस वर्षो के संघ प्रशासन का अध्ययन प्रस्तुत किया गया हैं।

प्रशासन के ऐतिहासिक उपागम से मिलता जुलता संस्मरणात्मक उपागम है। इस उपागम का अर्थ है प्रसिद्ध तथा वरिष्ठ प्रशासकों के अनुभवों तथा उनके कार्यो के अभिलेख के अध्ययन की प्रणाली। ये संस्मरण चाहे स्वयं उन्होंने लिखे हों अथवा दूसरों ने। हर स्थिति में इनसे प्रशासकीय समस्याओं तथा निर्णय की प्रक्रिया का वास्तविक और व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त होता है। इसमें एक कठिनाई यह है कि सार्वजनिक कार्यकर्ताओ की जीवन गाथाओं में प्रशासकीय कार्यों की अपेक्षा राजनीतिक महत्व की बातों पर बल दिया जाता है। अतः इस उपागम को उपयोगी बनाने के लिए इस कमी को दूर करना अत्यन्त आवश्यक है।

ऐतिहासिक तथा संस्मरणात्मक दृष्टिकोण प्रशासन के अतीत के आधार पर उसके वर्तमान स्वरूप के कुछ पहलुओं पर भले ही प्रकाश डालता हो, लेकिन वर्तमान प्रशासन के समक्ष कई ऐसी चुनौतियां या समस्याएँ हैं, जिनका निराकरण केवल अतीत के अनुभव के आधार पर नहीं किया जा सकता। उदाहरणस्वरूप- कम्प्यूटर के इस युग में साईबर क्राइम की समस्या। अतः केवल ऐतिहासिक पद्धति के माध्यम से लोक प्रशासन के वर्तमान स्वरूप को समग्र रूप में नहीं समझा जा सकता।

2.2.4 संस्थागत-संरचनात्मक उपागम

यह उपागम लोक प्रशासन का अध्ययन औपचारिक दृष्टि से करता है। इस दृष्टिकोण के समर्थक सार्वजनिक संस्थाओं के औपचारिक ढ़ाँचे तथा उनके कार्यों पर ध्यान देते हैं। दूसरे शब्दों में, इस उपागम के अंतर्गत सरकार के अंगों तथा भागों का अध्ययन किया जाता है, जैसे-कार्यपालिका, व्यवस्थापिका, विभाग, सरकारी निगम, मण्डल और आयोग, बजट बनाने का रचना-तंत्र, केन्द्रीय कर्मचारी अभिकरण इत्यादि। जहाँ तक इस उपागम में इन

संस्थाओं द्वारा कार्यान्वित कार्यों का उल्लेख होता है, यह यथार्थवादी है। परन्तु इस यथार्थवाद के साथ कभी-कभी संगठन एवं प्रक्रियाओं में सम्भावित सुधारों का भी सुझाव दिया जाता है।

इस दृष्टिकोण को यांत्रिक दृष्टिकोण भी कहा जाता है, क्योंकि यह प्रशासन को एक यन्त्रवत इकाई मानता है। यह संगठनों के व्यवस्थित विश्लेषण पर आधारित सबसे पुराने निरूपणों में से एक है, इसलिए इसे परम्परागत या शास्त्रीय दृष्टिकोण की भी संज्ञा दी जाती है। हेनरी फेयोल, लूथर गुलिक, एल0 एफ0 उर्विक, एम0 पी0 फॉलेट, ए0 सी0 रैले, जे0 डी0 मूने आदि विद्वान इस दृष्टिकोण के समर्थक हैं।

इस दृष्टिकोण के अनुसार, प्रशासन, प्रशासन होता है, चाहे उसके द्वारा किसी प्रकार का कार्य किसी परिप्रेक्ष्य में क्यों न सम्पादित किया जाय। इसमें अतिरिक्त प्रशासकीय पद्धति के महत्वपूर्ण तत्वों तथा सभी प्रशासकीय संरचनाओं में सामान्य विशेषताओं या तत्वों को स्वीकार किया जाता है। इसका उद्देश्य प्रशासनिक संगठन के निश्चित सिद्धान्तों का विकास करना है।

हेनरी फेयोल ने अपनी पुस्तक 'जनरल एण्ड इण्डस्ट्रियल एडमिनिस्ट्रेशन' में प्रशासन के पांच कार्यों- नियोजन, संगठन, आदेश, समन्वय एवं नियंत्रण का उल्लेख किया है। इस सन्दर्भ में व्यापक विश्लेषण लूथर गुलिक और एल0 एफ0 उर्विक द्वारा 1937 में सम्पादित 'पेपर्स ऑन द साइन्स ऑफ एडमिनिस्ट्रेशन' में किया गया। गुलिक ने प्रशासन के कर्तव्यों को 'पोस्डकार्ब' शब्द में संग्रहीत किया है जिसका प्रत्येक अक्षर प्रशासन के विशेष कार्य का उल्लेख करता है-

1. Planning; नियोजन- संपन्न किये जाने वाले कार्यों का निर्धारण तथा उद्यम के निर्धारित उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उन्हें संपन्न करने के तरीकों का निर्धारण।
2. Organization; संगठन बनाना- सत्ता के औपचारिक स्वरूप की स्थापना करना तथा उनके माध्यम से निश्चित लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कार्य को विभिन्न भागों में व्यवस्थित, पारिभाषित एवं समन्वित करना।
3. Staffing; कर्मचारियों की नियुक्ति करना- कर्मचारियों की भर्ती और प्रशिक्षण की व्यवस्था तथा उनके कार्यों के अनुकूल परिस्थितियों का निर्माण करना।
4. Direction; निर्देशन करना- निर्णय लेना और उन्हे विशिष्ट और सामान्य आदेशों और निर्देशों का रूप प्रदान करना।
5. Coordination; समन्वय- कार्य के विभिन्न भागों में पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करने का सबसे महत्वपूर्ण कार्य।
6. Reporting; प्रतिवेदन- कार्य स्थिति के विषय में कार्यपालिका को सूचित करना जिसमें स्वयं को तथा अधीनस्थो को आलेखों, अनुसंधान तथा निरीक्षण के द्वारा सूचित करना।
7. Budgeting; बजट बनाना- आर्थिक योजना, लेखांकन तथा नियंत्रण के रूप में बजट बनाने संबंधित सभी कार्य।

अपने गुण व दोषों के साथ पोस्डकोर्ब दृष्टिकोण प्रशासनिक प्रक्रियाओं में एक प्रचलित दृष्टिकोण रहा है। संस्थात्मक-संरचनात्मक दृष्टिकोण की कई दृष्टियों से आलोचना की जाती है-

1. हरबर्ट साइमन के अनुसार इस दृष्टिकोण में यह स्पष्ट नहीं होता कि किस विशेष स्थिति में कौन सा सिद्धान्त महत्व देने योग्य है। उन्होंने प्रशासन के सिद्धान्तों को प्रशासन की कहावतें मात्र कहा है।
2. इस दृष्टिकोण से सम्बन्धित सभी विचारकों में प्रबन्ध की ओर झुकाव नजर आता है। वे केवल प्रबन्ध की समस्याओं से चिन्तित थे न कि प्रबन्ध तथा व्यक्तियों से संबंधित अन्य संगठनात्मक समस्याओं के विषय से।

3. यह एक संकुचित विचार है जो संगठन में उनके व्यक्तियों को उनके साथियों से अलग रखकर निरीक्षण करने पर बल देता है। यह कार्य करने वाले मनुष्यों की अपेक्षा कार्य के विषय में अधिक चिन्तित है।
4. इस दृष्टिकोण से लोक प्रशासन के अर्थ एवं क्षेत्र का पूरा बोध नहीं होता और न ही लोक प्रशासकों के मार्गदर्शन की दृष्टि से उनका महत्व है।
5. उपर्युक्त कमियों के बावजूद संस्थागत-संरचनात्मक दृष्टिकोण की पूर्णतः उपेक्षा नहीं की जा सकती।
6. इस दृष्टिकोण ने ही सर्वप्रथम इस बात पर बल दिया कि प्रशासन को एक स्वतन्त्र क्रिया मानकर उसका बौद्धिक अन्वेषण किया जाना चाहिए।
7. सबसे पहले इस दृष्टिकोण ने ही प्रशासन के क्षेत्र में अवधारणाओं और शब्दावली पर बल दिया, जो इस क्षेत्र के परवर्ती शोध का आधार बनी।
8. इस दृष्टिकोण की कमियों ने संगठन तथा उसके व्यवहार के भावी शोध की प्रेरणा प्रदान की।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि संस्थागत संरचनात्मक दृष्टिकोण लोक प्रशासन का एक महत्वपूर्ण दृष्टिकोण है। किन्तु इस उपागम से किसी संगठन के व्यावहारिक रूप का सही ज्ञान नहीं होता।

2.3 आधुनिक दृष्टिकोण

लोक प्रशासन के अध्ययन के आधुनिक दृष्टिकोण के अंतर्गत निम्नलिखित उपागमों को सम्मिलित किया जा सकता है-

2.3.1 वैज्ञानिक अथवा तकनीकी उपागम

बीसवीं सदी के आरंभ में संयुक्त राज्य अमेरिका के‘वैज्ञानिक प्रबन्ध आंदोलन’ ने लोक प्रशासन के अध्ययन के लिए वैज्ञानिक उपागम के प्रयोग को शामिल किया। वैज्ञानिक प्रबन्ध वस्तुतः उस प्रयास का परिणाम था, जिसके द्वारा सरकार के कार्यों के परिचालन में वैज्ञानिक चिन्तन को लागू किया गया। इस आंदोलन का सूत्रपात एफ0 डब्ल्यू0 टेलर नामक एक इंजीनियर ने किया था। कालान्तर में अमेरिका में ऐसे लोगों की संख्या में पर्याप्त रूप से वृद्धि हो गयी जो यह मानते थे कि मनुष्यों के प्रबन्ध का कार्य यथार्थ में एक वैज्ञानिक कार्य है जिसके लिए ज्ञान का एक निकाय निर्मित किया जा सकता है। यह ज्ञान कम या अधिक मात्रा में पूर्ण हो सकता है और यह पर्यवेक्षण तथा अनुभव के विश्लेषण पर आधारित होता है। इस ज्ञान के चार भाग हैं, पहला- उन कार्यों का विश्लेषण जिन्हें करने के लिए लोगों को कहा जाता है, दूसरा- व्यक्तियों का उन कार्यों के साथ समायोजन, तीसरा- मानवीय अनुभव से प्राप्त ज्ञान के आधार पर कार्यों को व्यवस्थित तथा सह-वर्णित करना तथा चौथा- निर्धारित कार्यों का प्रत्येक समूह के साथ समायोजन। इसके अंतर्गत नेतृत्व, संचार, सहभाग तथा मनोबल को शामिल किया जा सकता है।

प्रबन्ध के अध्ययन का प्रारम्भ व्यापार के साथ हुआ था, परन्तु अब उसका प्रयोग बड़ी मात्रा में लोक कार्यों के प्रबन्ध के लिए भी किया जाने लगा है। उदाहरण के लिए, अब मुख्य कार्यपालिका के लिए जनरल मैनेजर तथा व्यवस्थापिका के लिए संचालक मण्डल शब्दावलियों को प्रयुक्त किया जाने लगा है। स्पष्टतः इन शब्दावलियों को लोक प्रशासन के अध्ययन में नूतन प्रवृतियों का परिचायक समझा जाना चाहिए।

इस दृष्टिकोण के समर्थक प्रशासन से सम्बद्ध समस्याओं के ऊपर वैज्ञानिक ढंग से विचार करते हैं तथा वे उन समस्याओं का समाधान उन यंत्रों के माध्यम से खोजने का प्रयत्न करते है जिनका प्रयोग वैज्ञानिकों द्वारा किया जाता है।

डेविड लिलियनथल के अनुसार आज जनता की यह मांग है कि उनके देश की सरकारें आधुनिक प्रबन्ध के मूल सिद्धान्तों को अमल में लाये। इस प्रकार आज के सन्दर्भ में महत्वपूर्ण बात केवल यह नहीं है कि कार्य का निष्पादन किस प्रकार से हो, परन्तु यह भी है कि कौन सा कार्य किया जाय। इस आंदोलन ने कुछ विशिष्ट प्रकार की पद्धतियों

को विकसित करने में सहायता पहुँचायी है। जैसे- प्रकरण पद्धति तथा सांख्यिकीय परिमाप विधि। परन्तु इस पद्धति की अपनी सीमाऐं हैं।

यहाँ पर आपको यह ध्यान रखना होगा कि लोक प्रशासन के अध्ययन में हमें वैज्ञानिक उपागम या दृष्टिकोण के प्रयोग से उतने परिशुद्ध परिणामों की अपेक्षा नहीं करनी चाहिए, जो हमें प्राकृतिक विज्ञानों से प्राप्त होते हैं। यहॉ उल्लेखनीय बात यह है कि लोक प्रशासन के अध्ययन को राजनीति विज्ञान, अर्थशास्त्र, आचारशास्त्र तथा मनोविज्ञान से अलग नहीं किया जा सकता।

2.3.2 व्यवहारवादी उपागम

लोक प्रशासन के अध्ययन में व्यवहारवादी उपागम इस विषय के परम्परागत उपागम के प्रति असंतोष के फलस्वरूप विकसित हुआ। यद्यपि इस उपागम का आरम्भ मानव सम्बन्ध आंदोलन के साथ ही 1930 तथा 1940 वाले दशक में हुआ, लेकिन द्वितीय विश्व युद्ध के बाद इसकी महत्ता काफी बढ गयी और उसने लोक प्रशासन के मुख्य उपागम का दर्जा प्राप्त कर लिया।

लोक प्रशासन के क्षेत्र में व्यवहारवादी उपागम को विकसित करने का मुख्य श्रेय हर्बट साइमन को जाता है। इसके अतिरिक्त पीटर एम0 ब्लान, में ट्रन, वेडनर, रिग्स, एलम, राबर्ट ए0 डॉहल आदि का नाम भी इसके समर्थकों में लिया जा सकता है। इस विषय पर शुरू में लिखी गयी पुस्तकों में साइमन की पुस्तक 'एडमिनिस्ट्रेटिव विहेवियर' सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। इसके अतिरिक्त 1950 में साइमन तथा उसके दो सहयोगियों द्वारा लिखी गयी पुस्तक 'पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन' प्रकाशित होने के बाद इस उपागम का प्रभाव और बढ गया।

लोक प्रशासन के व्यवहारवादी दृष्टिकोण की निम्नलिखित विशेषताऐं हैं-

1. व्यवहारवादी उपागम का यह आग्रह है कि लोक प्रशासन का सम्बन्ध प्रशासन में संलग्न मनुष्यों के व्यक्तित्व तथा सामूहिक व्यवहार से होना चाहिए। व्यक्तिगत तथा सामूहिक इच्छा, आकांक्षा एवं मूल्य प्रशासन में व्यक्ति के व्यवहार को प्रभावित करते है, इसलिए प्रशासन की समुचित जानकारी के लिए मानवीय तत्व को समझना एवं ध्यान में रखना आवश्यक है। हर्बर्ट साइमन के मत में वास्तविक एवं अर्थपूर्ण प्रशासनिक अध्ययन के लिए लोक प्रशासन के विद्वानों को लोक नीति पर कम ध्यान देकर उन लोगों के व्यवहार पर ध्यान देना चाहिए जो लोक नीति को पारिभाषित करते है और इस सम्बन्ध में निर्णय लेते हैं।
2. यह उपागम संगठन के औपचारिक रूप पर ध्यान न देकर इसके वास्तविक कार्यकरण पर ध्यान देता है। इसके समर्थकों का ऐसा विश्वास है कि संगठन के वास्तविक कार्यकरण पर ध्यान देकर इस सम्बन्ध में कुछ सामान्य निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं।
3. इसके अंतर्गत संगठन के सदस्यों के बीच अनौपचारिक सम्बन्धों एवं अनौपचारिक संचार प्रतिमानों पर अधिक बल दिया जाता है। परम्परागत उपागमों के अंतर्गत श्रेष्ठ पदाधिकारियों द्वारा जारी किये गये औपचारिक आदेश एवं सर्कुलर तथा नीचे के पदाधिकारियों द्वारा श्रेष्ठ पदाधिकारियों को ही दोनों प्रकार के पदाधिकारियों के बीच सम्बन्ध एवं संचार साधन थे, परन्तु व्यवहारवादी उपागम के अंतर्गत श्रेष्ठ पदाधिकारियों एवं अधीनस्थ पदाधिकारियों के बीच सम्पर्क एवं संचार के अनौपचारिक साधन भी उतने ही महत्वपूर्ण माने जाने लगे हैं।
4. यह उपागम परिमाणामात्मक पद्धति के इस्तेमाल पर बल देता है। प्राकृतिक विज्ञान की भाँति प्रयोगशाला तथा अन्य सांख्यिकी तरीकों के इस्तेमाल के माध्यम से यह निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचने का प्रयास करता है। इस प्रकार यह पद्धति प्रशासकीय समस्याओं के अध्ययन एवं उनके समाधान के लिए वैज्ञानिक पद्धति

पर बल देती है। यह पर्यवेक्षण, साक्षात्कार, सर्वेक्षण, प्रकरण पद्धति इत्यादि विधियों के प्रयोग को आवश्यक मानता है।

5. यह अन्तर-अनुशासनात्मक दृष्टिकोण में विश्वास करता है। व्यवहारवादियों का मत है कि लोक प्रशासन का अध्ययन अन्य सामाजशास्त्रों से बिल्कुल पृथक ढंग से नहीं किया जा सकता, क्योंकि मानव क्रियाओं के मूल में ऐसे अभिप्रेरक पाये जाते हैं, जिन्हें समाजशास्त्र, आर्थिक, राजनीतिक तथा मनोवैज्ञानिक वातावरण से प्रेरणा मिलती है। अतः इसका अध्ययन तभी संभव है जब समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र तथा मनोविज्ञान जैसे सामाजशास्त्रों की सहायता ली जाय।
6. इस उपागम का उद्देश्य मूल्यों पर आधारित निर्णयों के स्थान पर यथार्थ पर आधारित निर्णयों को विकसित करना है।
7. यह दृष्टिकोण लोक प्रशासन के औपचारिक संगठन एवं वैधानिक संरचना की अनदेखी करता है जोकि उचित नहीं है। यदि एक ओर मानवीय व्यवहार को समझे बिना प्रशासनिक संगठन को समझना मुश्किल है, तो दूसरी ओर यह ध्यान देना भी आवश्यक है कि संगठन का वैधानिक एवं औपचारिक रूप भी मानव व्यवहार को प्रभावित करता है।
8. यह प्रशासनिक संगठन को राजनीतिक वातावरण से स्वायत्त मानकर राजनीतिक प्रक्रिया की उपेक्षा करता है। जबकि प्रशासनिक व्यवस्था एक राजनीतिक व्यवस्था की उप-व्यवस्था है। राजनीति तथा राजनीतिक शक्ति ही प्रशासन के लक्ष्य निर्धारित करते हैं।
9. यह लोक प्रशासन के अध्ययन को मूल्य स्वतंत्र तथा तटस्थ बनाना चाहता है, जिसके गंभीर परिणाम हो सकते हैं। ऐसा सिद्धान्त जो समाज के व्यापक हित में वांछित और अवांछित के प्रश्न की उपेक्षा करता है, न तो सही प्रकार से विकास को गति दे सकता है और न ही सही परिप्रेक्ष्य दे सकता है।
10. यह न तो संगठन की कार्य पद्धति की बेहतरी और न ही संगठन में निर्णय निर्माण प्रक्रिया को सुधारने के लिए कोई ठोस सुझाव देता है।
11. अन्तर-अनुशासनात्मक दृष्टिकोण पर बल देकर व्यवहारवाद लोक प्रशासन के क्षेत्र को इतना व्यापक बना दिया है कि यह तय कर पाना मुश्किल है कि इसमें किन विषयो को सम्मिलित किया जाय तथा किन विषयों को नहीं।
12. लोक प्रशासन में परिमापीकरण तथा पर्यवेक्षण उस हद तक सम्भव नहीं है जिस हद तक यह प्राकृतिक विज्ञानों में सम्भव है।

उपर्युक्त कमियों के बावजूद व्यवहारवादी उपागम लोक प्रशासन का एक लोकप्रिय उपागम बन चुका है। इस उपागम की लोकप्रियता ने कई नई अध्ययन प्रणालियों के विकसित हो ने में सहायता पहुँचाई है।

2.3.3 पारिस्थितिकीय उपागम

इस उपागम का उद्-भव तृतीय विश्व की प्रशासनिक समस्याओं के अध्ययन के सन्दर्भ में हुआ। द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात एशिया, अफ्रीका तथा लैटिन अमेरिका के अनेक देश औपनिवेशिक शासन से मुक्त हुए। उनके समक्ष जन आंकाक्षाओं की पूर्ति हेतु राष्ट्र निर्माण तथा सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन की बड़ी चुनौती थी। पश्चिमी विद्वानों ने जो इन देशों में बहुत से देशों के सलाहकार के रूप में कार्य कर रहे थे, अनुभव किया कि पश्चिमी संगठनात्मक प्रतिमान तृतीय विश्व के समाजों में वास्तविकता की व्याख्या करने में असफल थे। इसी सन्दर्भ में पारिस्थितकीय दृष्टिकोण का विकास हुआ।

यह दृष्टिकोण इस मान्यता पर आधारित है कि प्रशासन एक निश्चित परिवेश या वातावरण में रहकर कार्य करता है। प्रशासन उस परिवेश को प्रभावित करता है तथा स्वयं उससे प्रभावित भी होता है। अतः प्रशासन को समझने के लिए दोनों के बीच की पारस्परिक क्रिया को समझना आवश्यक है।

'पारिस्थितिकीय' शब्द जीव विज्ञान से लिया गया है जो जीवों तथा उनके परिवेश के अन्तर्सम्बन्धों की व्याख्या करता है। जिस प्रकार एक पौंधे के विकास के लिए एक विशेष प्रकार की जलवायु मिट्टी, नमी तथा तापमान आदि की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार किसी समाज का विकास उसके अपने इतिहास, आर्थिक संरचना, मूल्यों, राजनतिक व्यवस्था आदि से जुड़ा होता है। अतः लोक प्रशासन की प्रकृति तथा समस्याओं को समझने के लिए उस सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक पृष्ठभूमि को समझना आवश्यक है, जिसमें प्रशासन कार्य करता है।

जे0 एम0 गॉस, राबर्ट ए0 डाहल तथा राबर्ट ए0 मर्टन ने लोक प्रशासन के अध्ययन में इस दृष्टिकोण की शुरूआत की थी, लेकिन इस दिशा में सबसे महत्वपूर्ण योगदान एफ0 डब्ल्यू0 रिग्स का रहा है।

रिग्स के अनुसार प्रत्येक समाज की अपनी कुछ विलक्षण विशेषताऐं होती हैं जो उसकी उप-व्यवस्थाओं को प्रभावित करती है। चूँकि पश्चिमी देशों का समाजिक-आर्थिक परिवेश तृतीय विश्व के देशों से भिन्न रहा है, इसलिए विकसित देशों के लिए निर्मित सिद्धान्त या प्रतिमान तृतीय विश्व के देशों में लागू नहीं होते, इसलिए रिग्स ने तृतीय विश्व के देशों के सन्दर्भ में प्रशासनिक व्यवस्थाओं के विश्लेषणात्मक ढाँचे को विस्तृत किया है।

रिग्स ने वृहद स्तर पर मुख्य व्यवस्थाओं को श्रेणीबद्ध किया तथा उन श्रेणियों को प्रशासन जैसी सूक्ष्म या छोटी उप-व्यवस्थाओं पर लागू करने का प्रयास किया। उन्होंने अपने श्रेणीकरण के लिए व्यापक व्यवस्थाओं को लिया तथा विकासशील समाजों में परिवर्तन की व्याख्या करने के लिए तीन आदर्श रूपों- बहुकार्यात्मक, समपार्श्वीय तथा अल्पकार्यात्मक को विकसित किया। उनके अनुसार, एक बहुकार्यात्मक समाज में एक अकेला संगठन या संरचना बहुत से कार्य करती है। इसके विरूद्ध एक अल्पकार्यात्मक समाज में निश्चित कार्य करने के लिए अलग-अलग संरचनाऐं बनाई जाती हैं। परन्तु इन दोनों के बीच में अनेक ऐसे समाज हैं, जिनमें बहुकार्यात्मक तथा अल्पकार्यात्मक समाज दोनों की विशेषताऐं लगभग समान पायी जाती हैं। ऐसे समाजों को समपार्श्वीय कहा जाता है।

रिग्स इस बात पर बल देता है कि कोई भी समाज पूर्ण रूप से बहुकार्यात्मक या अल्पकार्यात्मक नहीं कहा जा सकता। सामान्यतः सभी समाज प्रकृति में संक्रमणकालीन होते हैं। प्रत्येक समाज चाहे वह बहुकार्यात्मक है या अल्पकार्यात्मक, उसका चरित्र विभिन्न संरचनाओं एवं उसके द्वारा किए जाने वाले कार्यों की प्रकृति पर निर्भर करता है।

अपने विश्लेषण में रिग्स ने बहुकार्यात्मक तथा अल्पकार्यात्मक प्रारूपों का विकासशील देशों के समपार्श्वीय वस्तुस्थिति की व्याख्या करने के साधन के रूप में प्रयोग किया है।

रिग्स के परिस्थितिकीय दृष्टिकोण की कई आधारों पर आलोचना की जाती है-

1. यह प्रारूप एक संतुलन प्रारूप है जो व्यवस्था को सुरक्षित रखने में तो सहायता देगा, परन्तु व्यवस्था में कोई परिवर्तन करने में नहीं। यह सामाजिक परिवर्तन तथा विकास की प्रक्रिया के विश्लेषण में सहायक नहीं है।
2. विशेष समाजों में रिग्स के प्रारूपों को क्रियान्वित करने में मूल्यांकन की समस्या उत्पन्न होती है। मूल्यांकन के अभाव में समपार्श्वीय या अल्पकार्यात्मक समाजों की पहचान कठिन हो जाती है। सत्य तो यह है कि रिग्स के प्रारूप कुछ मान्यताओं पर आधारित है। परन्तु किसी अनुभव परस्त प्रमाण के अभाव में इस प्रकार की मान्यताओं को चुनौती दी जा सकती है।

3. रिग्स ने एक समपार्श्वीय समाज के सकारात्मक चरित्र को इतना महत्व नहीं दिया जितना इसके नकारात्मक चरित्र को।
4. इस उपागम में कई ऐसे नये शब्दों का प्रयोग किया जाता है जिनके सही अर्थ को समझना मुश्किल है।
5. समाजों का बहुकार्यात्मक, समपार्श्वीय या अल्पकार्यात्मक समाजों के रूप में वर्गीकरण पूँजीवादी व्यवस्था में अंतर्निहित मूल्यों पर आधारित है।

उपर्युक्त आलोचनाओं के बावजूद यह कहा जा सकता है कि पारिस्थितिकीय दृष्टिकोण विषय सामग्री तथा विश्लेषण दोनों दृष्टि से एक समन्वित दृष्टिकोण है। यह विकासशील देशों की प्रशासनिक प्रक्रिया के परीक्षण में हमारी मदद करता है।

2.3.4 घटना या प्रकरण पद्धति

लोक प्रशासन की अध्ययन पद्धतियों में घटना या प्रकरण पद्धति एक अमेरिकी देन है। घटना या प्रकरण का अर्थ है- प्रशासन की कोई भी विशिष्ट समस्या जो किसी प्रशासकीय अधिकारी को हल करनी पड़ी हो तथा वास्तव में हल कर ली गयी हो। इस प्रकार की समस्या का अध्ययन करने के लिए घटना की परिस्थितियों का अभिलेख तैयार कर लिया जाता है। साथ ही यह ब्यौरा संग्रह किया जाता है कि निर्णय करने के लिए किन प्रक्रियाओं का आश्रय लिया गया और क्या कदम उठाये गये तथा जो भी निर्णय लिया गया, उसका तार्किक आधार क्या था? इसके उपरान्त परिणामों के आधार पर निर्णय का मूल्यांकन किया जाता है।

1940 में संयुक्त राज्य अमेरिका की सामाजिक अनुसंधान परिषद की लोक प्रशासन समिति ने घटना अध्ययन प्रकाशित करने का कार्य आरम्भ किया। अब तक नीति निर्माण, पुनर्संगठन तथा ऐसे ही अन्य अनके समस्याओं से सम्बद्ध कई घटनाओं की अध्ययन प्रकाशित की जा चुकी हैं।

इस पद्धति के अनुगामियों के मन में यह आशा है कि लोक प्रशासन के विभिन्न क्षेत्रों में पर्याप्त मात्रा में घटना अध्ययन किये जाने के उपरान्त प्रशासन के विषय में अनुभवसिद्ध सिद्धान्तों का प्रतिपादन सम्भव हो जायेगा तथा शायद यह भी मुमकिन हो जायेगा कि ये घटना अध्ययन न्यायिक प्रथाओं और दृष्टान्तों की भाँति सही समाधान खोजने के काम में प्रशासक के लिए सहायक सिद्ध हो सके।

लेकिन इस पद्धति की भी अपनी सीमाऐं हैं। किसी घटना या प्रकरण विशेष के अध्ययन के आधार पर ही किसी सर्वमान्य या सर्वकालिक सिद्धान्त का प्रतिपादन संभव नहीं है। यहीं कारण है कि यह उपागम अभी तक लोक प्रशासन के अध्ययन का प्रमुख उपागम नहीं हो सका है।

अभ्यास प्रश्न-

1. लोक प्रशासन के अध्ययन के चार परम्परागत उपागमों के नाम लिखिए।
2. दार्शनिक उपागम इस बात पर बल देता है कि लोक प्रशासन कैसा होना चाहिए? सत्य/असत्य
3. संस्थागत उपागम लोक प्रशासन का अध्ययन अनौपचारिक दृष्टि से करता है। सत्य/असत्य
4. 'पोस्डकार्ब' शब्द का अर्थ बताइए।
5. वैज्ञानिक उपागम के प्रमुख प्रणेता कौन है?
6. वैज्ञानिक प्रबन्ध पर्यवेक्षण एवं अनुभव के विश्लेषण पर आधारित है। सत्य/असत्य
7. व्यवहारवादी उपागम संगठन के औपचारिक रूप पर ध्यान देता है। सत्य/असत्य
8. 'एडमिनिस्ट्रेटीव विहेवियर' नामक पुस्तक के रचयिता कौन है?
9. पारिस्थितिकीय उपागम का विकास किन प्रशासनिक समस्याओं के अध्ययन के सन्दर्भ में हुआ?
10. रिग्स के अनुसार सामान्यतः सभी समाज प्रकृति में संक्रमणकालीन होते हैं। सत्य/असत्य

11. घटना या प्रकरण पद्धति के आधार पर किसी सर्वकालिक या सर्वमान्य सिद्धान्त का प्रतिपादन संभव है। सत्य/असत्य

2.4 सारांश

उपर्युक्त विवेचनाओं से स्पष्ट है कि जहाँ परम्परागत रूप में लोक प्रशासन का अध्ययन दार्शनिक, वैधानिक, संस्थागत तथा ऐतिहासिक दृष्टिकोण से किया जाता रहा है, वहीं आधुनिक काल में इस विषय को वैज्ञानिक, व्यवहारवादी, पारिस्थितिकीय तथा घटना अध्ययन पद्धतियों के माध्यम से समझने का प्रयत्न किया गया है। लेकिन कोई भी अध्ययन पद्धति अपने आप में पूर्ण नहीं है। अतः लोक प्रशासन का अध्ययन भली प्रकार विभिन्न उपागमों के समन्वय से ही सम्भव है। वास्तव में इन उपागमों की एक दूसरे से पृथकता और विरोध नहीं है, अपितु वे एक दूसरे के पूरक एवं सहायक हैं।

2.5 शब्दावली

उपागम- इसे अभिगम या दृष्टिकोण भी कहा जाता है।

संरचना- व्यवहार का वह स्वरूप जो किसी सामाजिक प्रणाली की मानक विशेषता बन गया हो। औपचारिक

परिमाणात्मक पद्धति- ऐसी पद्धति जिसमें गणित एवं साख्यिकी की विधियों के प्रयोग पर बल दिया जाता है।

अन्तर-अनुशासनात्मक- जिसमें एक विषय का ज्ञान अन्य विषयों के ज्ञान से संबंधित होता है।

2.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. दार्शनिक, वैधानिक, ऐतिहासिक, संस्थागत-संरचनात्मक, **2.** सत्य, **3.** असत्य, **4.** उपभाग 2.3.4 देखिए, **5.** एफ0डब्लू0टेलर, **6.** सत्य, **7.** असत्य, **8.** हर्बर्ट साइमन, **9.** तृतीय विश्व, **10.** सत्य, **11.** असत्य

2.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. भट्टाचार्य मोहित, (1998), न्यू हॉरिजन्स ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन, जवाहर पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली।
2. गोलम्बिस्की रॉवर्ट डी, (1977), पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन एज ए डेवलपिंग डिसिप्लिन, माइसेल डेकर, न्यूयार्क।
3. बेलौन, कार्ल टी, (1980), आर्गनाईजेशन थ्योरी एण्ड न्यू पब्लिक एडमिनिस्टेशन, एलिन एण्ड बैकन (इंक) बोस्टन।
4. शरण, परमात्मा एवं चतुर्वेदी दिनेशचन्द(1985) लोक प्रशासन, मीनाक्षी प्रकाशन, मेरठ।

2.8 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. प्रसाद, रविन्द्र डी, संपादित, 1989, एडमिनिस्ट्रेटिव थिंकर्स, स्टरलिंग पब्लिशर्स, नई दिल्ली।
2. रिग्स, फ्रेड डब्लू, 1964, एडमिनिस्ट्रेशन इन डेवलपिंग कन्ट्रीज, द थ्योरी ऑफ प्रिजमैटिक सोसाइटी, हॉघटोन मिफलिन, बोस्टन।

2.9 निबंधात्मक प्रश्न

1. लोक प्रशासन के अध्ययन के परम्परागत उपागमों औरआधुनिक दृष्टिकोण पर प्रकाश डालिए।
2. लोक प्रशासन के अध्ययन में व्यवहारवादी उपागम कितना उपयोगी है? व्याख्या कीजिए।
3. एफ0 डब्लू0 रिग्स द्वारा प्रस्तुत पारिस्थितिकीय उपागम की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिए।
4. लोक प्रशासन के अध्ययन में वैज्ञानिक उपागम की महत्ता पर प्रकाश डालिए।
5. घटना या प्रकरण पद्धति पर एक निबंध लिखिए।

इकाई- 3 लोक प्रशासन और निजी प्रशासन

इकाई की संरचना

3.0 प्रस्तावना
3.1 उद्देश्य
3.2 लोक प्रशासन तथा निजी प्रशासन में समानताऐं
3.3 लोक प्रशासन तथा निजी प्रशासन में अन्तर
3.4 उदारीकरण के अंतर्गत लोक प्रशासन तथा निजी प्रशासन
3.5 सारांश
3.6 शब्दावली
3.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
3.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
3.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
3.10 निबंधात्मक प्रश्न

3.0 प्रस्तावना

दूसरी इकाई में आपको लोक प्रशासन के अध्ययन के विभिन्न दृष्टिकोणों से अवगत कराया गया। इस इकाई में हम आपको लोक प्रशासन तथा निजी प्रशासन के बीच अन्तर को स्पष्ट करेंगे।

सामान्यतया प्रशासन को 'लोक प्रशासन' एवं 'निजी प्रशासन' में वर्गीकत किया जाता है तथा यह माना जाता है कि कुछ समानताओं के बावजूद दोनों प्रकार के प्रशासन में मौलिक अन्तर है, परन्तु कुछ ऐसे भी विचारक हैं, जो यह मानते हैं कि सभी प्रकार के प्रशासन एक से होते हैं और सबकी आधारभूत विशेषताऐं एक सी होती हैं। दूसरे शब्दों, में लोक प्रशासन एवं निजी प्रशासन में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। ऐसी स्थिति में आपके मन में स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उठ रहा होगा कि वास्तव में लोक प्रशासन एवं निजी प्रशासन एक जैसे हैं या दोनों में कुछ आधारभूत अन्तर है? कुछ विद्वानों का मानना है कि इन दोनों प्रकार के प्रशासन में जो अन्तर भी था वह उदारीकरण के इस युग में मिट चुका है। ऐसी स्थिति में इस दोनों प्रकार के प्रशासन को एक ही दृष्टि से देखा जाना चाहिए। अब आप यह जानने को उत्सुक होंगे कि उदारीकरण का 'लोक प्रशासन' एवं निजी प्रशासन के संबंधों पर क्या प्रभाव पड़ा है?

3.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप-

- लोक प्रशासन तथा निजी प्रशासन की समानताओं को समझ सकेंगे।
- इनके बीच अन्तर कर सकेंगे।
- उदारीकरण के अंतर्गत लोक प्रशासन तथा निजी प्रशासन के स्वरूपों पर प्रकाश डाल सकेंगे।

3.2 लोक प्रशासन एवं निजी प्रशासन में समानताऐं

हेनरी फेयोल, एम0 पी0 फॅालेट तथा एल0 उर्विक जैसे कुछ विचारक हैं जो यह मानते हैं कि सभी प्रकार के प्रशासन एक से होते हैं और सबकी आधारभूत विशेषताऐं एक समान होती है। वे लोक और निजी प्रशासन में कोई अन्तर नहीं मानते हैं। हेनरी फेयोल के शब्दों में ''अब हमारे समक्ष कोई प्रशासनिक विज्ञान नहीं है, बल्कि

केवल एक है जिसे लोक तथा निजी दोनों ही प्रशासनों के लिए समान रूप से भली-भाँति प्रयोग किया जा सकता है।''

फेयोल के विचार से सहमत होते हुए और उस विचार को और अधिक स्पष्ट करते हुए उर्विक ने लिखा है कि ''यह बात गम्भीरतापूर्वक सोचना कठिन है कि पिछे से काम करने वाले व्यक्तियों का एक अलग जीव रसायन विज्ञान होता है, प्राध्यापकों का एक पृथक शरीर क्रिया ज्ञान तथा राजनीतिज्ञों का एक अलग रोग मनोविज्ञान होता है। वस्तुतः ये सब व्यक्तियों के लिए समान रूप से एक जैसे ही होते हैं।'' इसी प्रकार उर्विक के अनुसार, किसी संगठन के विशेष स्वरूप के प्रयोजनों के आधार पर प्रबन्ध प्रशासन का उप-विभाजन करना गलत है।

इसमें कोई दो राय नहीं कि सार्वजनिक तथा निजी दोनों ही प्रशासनों में बहुत सी बातें समान हैं। दोनों में अन्तर मात्रा का है, प्रकार का नहीं।

लोक तथा निजी दोनों प्रशासनों की समानताओं को निम्नलिखित रूपों में देखा जा सकता है-

1. प्रशासन में चाहे वह व्यक्तिगत हो या सार्वजनिक, समान रूप से संगठन की आवश्यकता होती है। यह संगठन लगभग समान सिद्धान्तों तथा गुणों पर आधारित होता है और प्रशासन का शरीर है। यदि मानवीय एवं भौतिक साधनों का उचित संगठन न किया जाए तो प्रशासन के लक्ष्यों की प्राप्ति नहीं की जा सकती।
2. दोनों प्रकार के प्रशासन की कार्यप्रणाली लगभग समान होती है। बड़े पैमाने के एक व्यावसायिक उद्यम का प्रशासन तथा एक बड़ी सरकारी सेवा का प्रशासन न्यूनाधिक रूप से एक ही रीति से सम्पन्न किया जाता है। दोनों प्रकार के प्रशासन में नियोजन, संगठन, आदेश, समन्वय तथा नियंत्रण की आवश्यकता होती है।
3. प्रबन्ध एवं संगठन सम्बन्धी अनके तकनीकें दोनों ही प्रकार के प्रशासन में समान रूप से अपनायी जाती है। फाइलें रखना, रिपोर्ट तैयार करना, नोटिंग तथा ड्राफ्टिंग करना, आदेश देना, हिसाब-किताब रखना, आंकड़े उपलब्ध करना आदि की पद्धति सार्वजनिक तथा निजी दोनों प्रकार के प्रशासनों में समान रूप से देखने को मिलती है।
4. दोनों प्रकार के प्रशासन के उत्तरदायित्व समान होते हैं। इसका कारण यह है कि पदाधिकारियों के ध्येय एक जैसे रहते हैं- अपने नियत कार्य-क्षेत्र में काम करते हुए उपलब्ध मानवीय एवं भौतिक सामग्री को इस प्रकार प्रयुक्त करना, ताकि यथासम्भव अच्छे परिणाम प्राप्त किये जा सकें।
5. दोनों ही प्रकार के प्रशासन की सफलता के लिए जनसंपर्क आवश्यक है। प्रजातंत्र में लोक प्रशासन जनता के प्रति उत्तरदायी होता है। निजी प्रशासन में भी प्रचार द्वारा जनता से निकट सम्पर्क स्थापित किया जाता है। यदि प्रबन्धकों से जनता का विश्वास उठ जाता है तो व्यापार को हानि उठानी पड़ती है।
6. दोनों ही प्रकार का प्रशासन कर्मचारियों की योग्यता और दक्षता पर निर्भर करता है। ईमानदारी, कर्तव्यनिष्ठा, परिश्रम, कुशलता, बौद्धिक स्तर, नेतृत्व आदि के गुण दोनों ही प्रशासनों के कर्मचारियों के लिए समान रूप से आवश्यक होते हैं। अच्छे कुशल सरकारी कर्मचारियों के कार्यमुक्त होने पर निजी उद्योग पुनः नियुक्ति देते हैं।
7. आधुनिक युग में निजी प्रशासन के क्षेत्र में कर्मचारियों की नियुक्ति, पदोन्नति, वेतनक्रम, सेवानिवृत्ति, पदच्युत करने के नियम तथा पेंशन आदि की वही व्यवस्था अपनायी जाती है जो सार्वजनिक क्षेत्र में अपनायी जाती है। नौकरशाही ढ़ाँचा, प्रशासनिक ज्ञान, नियुक्ति की परीक्षा पद्धति, शिकायतों का निपटारा तथा अनुशासन के नियम आदि ने व्यक्तिगत सेवाओं को सरकारी सेवाओं के समान बना दिया है।
8. दोनों ही प्रकार के प्रशासन समान रूप से विकास की ओर अग्रसर होते हैं। यह विकास आन्तरिक संगठन की दृढता और कुशलता पर निर्भर करता है। इसके लिए नये-नये सिद्धान्त, तकनीकें एवं उपकरण अपनाये

जाते हैं तथा प्रशासन को आधुनिकतम बनाया जाता है। वस्तुतः दोनों प्रकार के प्रशासन को अधिक क्षमताशील तथा उन्नतिशील बनाने के लिए अन्वेषण की आवश्यकता होती है। नवीन अन्वेषणों द्वारा नवीन सिद्धान्त, विधाएँ तथा उपकरण आदि उपलब्ध कराये जाते हैं, जिनके परिणामस्वरूप कार्यक्षमता में वृद्धि होती है।

इस प्रकार लोक प्रशासन एवं निजी प्रशासन कई दृष्टियों से समान है।

3.3 लोक प्रशासन तथा निजी प्रशासन में अन्तर

कुछ समानताओं के वावजूद लोक प्रशासन तथा निजी प्रशासन एक दूसरे से भिन्न है। लोक प्रशासन में ऐसे अनेक लक्षण हमें देखने को मिलते है जो निजी प्रशासन में देखने में नहीं आते। लोक तथा निजी प्रशासन के बीच असमानताओं के पक्ष में साइमन, एपलबी, सरजोसिया स्टाम्प आदि ने अपने विचार प्रकट किए हैं।

हर्बर्ट साइमन के अनुसार ''सामान्य व्यक्तियों की दृष्टि में सार्वजनिक प्रशासन राजनीति से परिपूर्ण नौकरशाही और लालफीताशाही वाला होता है, जबकि निजी प्रशासन राजनीति शून्य और चुस्ती से काम करने वाला होता है।''

इसी प्रकार पॉल एच0 एपलबी ने लोक प्रशासन की यह विशेषता बतायी है कि इसमें निजी प्रशासन की अपेक्षा सार्वजनिक आलोचना और जाँच की अधिक सम्भावना होती है।

निजी तथा लोक प्रशासन के अन्तर को निम्नलिखित रूप में स्पष्ट किया जा सकता है-

1. लोक प्रशासन तथा निजी प्रशासन में उद्देश्यगत भिन्नता होती है। लोक प्रशासन का मुख्य उद्देश्य जनता की सेवा करना होता है, जबकि निजी प्रशासन मुख्य रूप से लाभ की भावना से प्रेरित होता है। लोक प्रशासन का दायित्व न केवल जनता को सुरक्षा प्रदान करना बल्कि उनके बहुमुखी विकास की दशाऐं भी उपलब्ध कराना है, जबकि निजी प्रशासन ऐसे किसी दायित्व से बंधा हुआ नहीं होता और अपने हर कार्य को लाभ-हानि की दृष्टि से देखता है।
2. लोक प्रशासन का क्षेत्र एवं प्रभाव निजी प्रशासन की तुलना में व्यापक होता है। पॉल एच0 एपलबी के अनुसार ''संगठित शासन समाज में विद्यमान या गतिशील प्रत्येक वस्तु को किसी भी रूप में अपने में समाविष्ट कर लेता है, उससे टकराता है और उसे प्रभावित करता है।'' वर्तमान समय में राज्य ने अपने परम्परागत दृष्टिकोण का परित्याग करके आर्थिक क्षेत्र में भी प्रवेश कर लिया है। वह रोजगार प्रदान करने, उद्योग चलाने तथा निर्माण कार्य करने से लेकर सामाजिक सुरक्षा तक के समस्त कार्यों को पूर्ण करता है। निजी प्रशासन का क्षेत्र एवं प्रभाव सीमित है क्योंकि व्यक्तिगत प्रशासन का सम्बन्ध निजी संस्थानों के कार्य क्षेत्रों तक ही सीमित रहता है।
3. निजी प्रशासन की जनता के प्रति जबावदेही उस रूप में नहीं होती, जिस रूप में लोक प्रशासन की। लोक प्रशासन को समाचार पत्रों तथा राजनीतिक दलों की आलोचनाओं का सामना करना पड़ता है। कोई भी विशिष्ट कदम उठाने से पूर्व प्रशासकों को इस बात पर सावधानी के साथ विचार करना पड़ता है कि उस पर जनता की सम्भावित प्रतिक्रिया क्या होगी, उस पर व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका का भी नियन्त्रण रहता है। इस तरह जनता के प्रति उत्तरदायित्व लोक प्रशासन का एक ऐसा लक्षण है जो निजी प्रशासन में नहीं पाया जाता।
4. लोक प्रशासन के अंतर्गत व्यवहार में कुछ एकरूपता अथवा समानता पायी जाती है। इस प्रशासन में प्रशासकों द्वारा बिना किसी प्रकार का पक्षपातपूर्ण अथवा विशिष्ट व्यवहार किए समाज के सभी सदस्यों को वस्तुऐं तथा सेवाऐं प्रदान की जाती हैं। निजी प्रशासन में पक्षपातपूर्ण अथवा विशिष्ट व्यवहार किया जा सकता है। दुकानदार उस व्यक्ति को उधार देने में संकोच नहीं करता जो उससे रोज सामान खरीदता है लेकिन एक डाक क्लर्क रोजाना पोस्टकार्ड खरीदने वाले को उधार नहीं दे सकता। निजी प्रशासन में उन

व्यक्तियों के प्रति अगाध रूचि प्रकट की जाती है जिनसे व्यवसाय को अधिक से अधिक लाभ हो सकता है।

5. लोक प्रशासन द्वारा समाज को प्रदान की जाने वाली अनेक सेवाऐं एकाधिकारी प्रवृत्ति की होती है। जैसे- सेना, रेल आदि के कार्य निजी स्तर पर नहीं किए जा सकते। इन विषयों पर सरकार का पूर्ण नियंत्रण होता है। निजी प्रशासन में इस प्रकार का एकाधिकार नहीं पाया जाता। एक ही क्षेत्र में अनेक उद्यम होते हैं तथा इनमें परस्पर प्रतिस्पर्द्धा रहती है।
6. लोक प्रशासन की अनेक क्रियाओं में एक प्रकार की अनिवार्यता होती है, जिसका निजी प्रशासन के क्षेत्र में अभाव होता है। देश की सुरक्षा, शांति और सुव्यवस्था, आदि ऐसे कार्य हैं जिनकी एक भी दिन अवहेलना नहीं की जा सकती।
7. लोक प्रशासन अपेक्षाकृत कानूनों एवं नियमों से अधिक नियमित होता है, जितना निजी प्रशासन नहीं होता है। इसमें कार्य संचालन की पद्धति, क्रय-विक्रय तथा टेण्डर आदि के निश्चित नियम होते हैं, जिसकी अवहेलना नहीं की जा सकती। जबकि निजी प्रशासन में सुविधानुसार कार्य किया जाता है तथा प्रक्रिया एवं नियमों पर अधिक ध्यान नहीं दिया जाता। इसमें पद्धति की जटिलता की अपेक्षा प्राप्त होने वाले परिणाम का ध्यान रखा जाता है।
8. लोक प्रशासन में प्रशासकीय कार्य की गति धीमी होती है तथा प्रक्रियात्मक कठोरता के परिणामस्वरूप लापरवाही, भ्रष्टाचार, अदक्षता जैसी प्रशासनिक बुराईयां उत्पन्न होती है। इस प्रशासन में प्रश्नों के उत्तर विलम्ब से दिए जाते हैं तथा प्रशासकीय-तंत्र में शिथिलता आ जाती है। इसके प्रतिकूल निजी प्रशासन के क्षेत्र में प्रशासकीय कार्य तीव्र गति से सम्पन्न होते हैं और निर्णय लेने में बिलम्ब नहीं होता।
9. सेवा सुरक्षा की दृष्टि से भी लोक प्रशासन, निजी प्रशासन से भिन्न होता है। सरकारी सेवाओं में कर्मचारियों को सुरक्षा का भरोसा होता है। निजी सेवाओं में मनोवैज्ञानिक रूप से कर्मचारी अपने को असुरक्षित समझते हैं। आर्थिक नुकसान की स्थिति में निजी उद्यम या तो पूरी तरह बंद कर दिए जाते है या बहुत से कर्मचारियों की छटनी कर दी जाती है। ऐसी स्थिति में निजी प्रशासन के क्षेत्र में कार्यरत कर्मचारियों को अपनी सेवा के स्थायित्व का कोई आश्वासन नहीं होता है। लोक सेवा में एक बार प्रवेश पा लेने पर आसानी से किसी कर्मचारी को नौकरी से निकाला नहीं जा सकता।
10. लोक प्रशासन शासन की इच्छा का प्रतिनिधित्व करता है। इसमें शासन की बाध्यकारी शक्ति होती है। निजी प्रशासन में यह गुण नहीं होता है। यह न तो जनता का प्रतिनिधित्व करता है और न ही बाध्यकारी शक्ति रखता है।
11. लोक प्रशासन का स्वरूप राजनीतिक होता है। एपलबी का विचार है कि प्रशासन राजनीति है, क्योंकि इसका ध्येय लोक हित है। उन्हीं के शब्दों में ‘‘इन तथ्यों पर बल देना आवश्यक है कि लोक प्रिय राजनीतिक प्रक्रियाएँ जो प्रजातन्त्र का स्तर हैं, केवल शासकीय संगठनों द्वारा ही कार्य करती हैं और सभी शासकीय संगठन केवल प्रशासकीय ही नहीं हैं, वरन् राजनीतिक जीवाणु भी हैं और उन्हें ऐसा होना भी चाहिए।’’ निजी प्रशासन का स्वरूप राजनीतिक नहीं होता है। इसीलिए इसका विस्तार सीमित होता है तथा यह व्यक्तिगत हित का ध्यान रखता है।
12. लोक प्रशासन के विभिन्न विभागों में पारस्परिक सहयोग, सामंजस्य तथा समन्वय पाया जाता है। इसलिए वे एक-दूसरे के साथ सहयोग की भावना से कार्य करते हैं। इसके विपरीत निजी प्रशासन में प्रतिस्पर्द्धा, ईर्ष्या-द्वेष और प्रतियोगिता की भावना होती है। यहॉ विभिन्न प्रतिष्ठान एक-दूसरे को पीछे छोड़ने तथा एक-दूसरे से आगे निकलने में लगे रहते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि लोक प्रशासन और निजी प्रशासन कई दृष्टियों से एक दूसरे से भिन्न हैं। लोक प्रशासन में जो लोक हित की भावना, जबावदेहिता, व्यवहार की एकरूपता, कानून और नियमों का अनुपालन, वित्त पर बाह्य नियन्त्रण इत्यादि विशेषताएँ पायी जाती हैं, वे निजी प्रशासन में नहीं पायी जाती। परन्तु फिर भी लोक प्रशासन और निजी प्रशासन दो भिन्न विधाएँ नहीं हैं, वरन् एक ही प्रशासन के दो भाग हैं। इनके बीच का अन्तर मात्रात्मक है, गुणात्मक नहीं।

3.4 उदारीकरण के अन्तर्गत लोक प्रशासन एवं निजी प्रशासन

कतिपय विद्वानों का यह मानना है कि उदारीकरण एवं वैश्वीकरण के इस युग में लोक प्रशासन एवं निजी प्रशासन के मध्य संस्थागत विशिष्टताऐं लगातार धुंधली पड़ती जा रही हैं। इनके मध्य सीमा रेखा अस्पष्ट तथा अवास्तविक है और अब तो बिल्कुल समाप्ति की ओर है। लेकिन दूसरी ओर अधिकांश विद्वानों का मानना हैं कि उदारीकरण एवं वैश्वीकरण के कारण लोक प्रशासन की भूमिका में थोड़ा परिवर्तन अवश्य हुआ है, लेकिन यह अब भी आधारभूत रूप से निजी प्रशासन से भिन्न है।

लोक प्रशासन के क्षेत्र में राज्य बनाम बाजार चर्चा का एक प्रमुख विषय बन गया है। इसका प्रमुख कारण लगभग दो दशक पूर्व साम्यवादी देश सोवियत संघ का विघटन तथा उदारवाद को विश्वव्यापी स्वरूप धारण करना है। ऐसा माना जा रहा है कि विकासशील देशों के आर्थिक, राजनीतिक एवं प्रशासनिक विकास की बागडोर राज्य के हाथों से छूटती जा रही है। राज्य विकासशील देशों के नियोजनात्मक विकास के कार्यों में अपनी भूमिका सीमित करके नियामकीय कार्यों को बेहतर बनाने में लग गया है ताकि बाजार व्यवस्था बेहतर बनाई जा सके। राज्य को निजी उद्यमों की भाँति बाजार प्रणाली में कूदना पड़ रहा है। परिणामस्वरूप विकासशील देशों में राज्य और बाजार में अन्तर का प्रतिशत सिमटता जा रहा है। इस आधार पर कुछ लोगों का यह मानना है कि आने वाले समय में लोक प्रशासन की वे सभी विशिष्टताऐं जो इसे निजी प्रशासन से अलग करती है बिल्कुल समाप्त हो जायेंगी।

इनमें कोई दो राय नहीं कि उदारीकरण एवं वैश्वीकरण के इस दौर में राज्य का सिकुड़न हो रहा है और निजी क्षेत्र का विस्तार हो रहा है। सार्वजनिक क्षेत्र में घाटे में चल रहे उद्योगों का विनिवेशीकरण किया जा रहा है और निजी उद्यमियों को अधिक से अधिक पूँजी निवेश के लिए प्रोत्साहित किया जा रहा है। शिक्षा एवं स्वास्थ्य जैसी आधारभूत सुविधायें प्रदान करना पहले राज्य का मुख्य दायित्व समझा जाता था, लेकिन अब इन क्षेत्रों में भी निजी पूँजी निवेश को बढावा दिया जा रहा है। अब लोक प्रशासन में भी निजी प्रशासन की तरह 'मितव्ययिता' तथा दक्षता को अपनाने तथा आधुनिक वैज्ञानिक प्रबन्धन तकनीक के अधिक से अधिक प्रयोग करने पर बल दिया जा रहा है। निजी प्रशासन की तरह लोक प्रशासन में भी कार्य सम्पादन की गुणवत्ता को बढाना एक प्रमुख उद्देश्य बन गया है। आज लोक प्रशासन प्रमुख नियोक्ता नहीं रह गया है और बड़े पैमाने पर निजी प्रशासन में रोजगार के अवसर सृजित हो रहे है। सार्वजनिक सुविधाऐं तथा सामाजिक सुरक्षा प्रदान करने के क्षेत्र में भी लोक प्रशासन की भूमिका सीमित हो गयी है। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि क्या लोक प्रशासन एवं निजी प्रशासन के बीच के अन्तर को समाप्त मान लेना चाहिए?

सच तो यह है कि उदारीकरण एवं वैश्वीकरण के इस दौर में लोक प्रशासन की भूमिका एवं इसके स्वरूप में कुछ परिवर्तन अवश्य हुआ है। लोक प्रशासन में धीरे-धीरे नियंत्रणों, नियमनों, लाइसेंस परमिट आदि को कम करने के प्रयास किये गये हैं तथा इसकी भूमिका एक 'नियामक' एवं 'सुविधाकारक' के रूप में महत्वपूर्ण बन गयी है।

लेकिन उदारीकरण एवं वैश्वीकरण के इस युग में भी लोक प्रशासन की कुछ ऐसी विशिष्टताएँ हैं, जो उसे निजी प्रशासन से अलग करती है-

1. 'जनहित संरक्षण' एवं 'लोक हित संरक्षण' आज भी लोक प्रशासन का मुख्य उद्देश्य है, जबकि निजी प्रशासन का मुख्य उद्देश्य लाभ कमाना है। इसमें कोई दो राय नहीं कि शिक्षा, स्वास्थ्य, जीवन सुरक्षा

बीमा इत्यादि कई ऐसी सेवाऐं हैं जो पहले लोक प्रशासन के कार्यक्षेत्र में ही आती थी, लेकिन आज निजी क्षेत्र बड़े पैमाने पर इन सेवाओं को प्रदान कर रहा है। लेकिन यहाँ भी इसका उद्देश्य लाभ कमाना ही होता है या कम से कम किसी प्रकार का नुकसान उठाना नहीं होता है। परिणामस्वरूप निजी क्षेत्र में प्रदान की गयी शिक्षा या स्वास्थ्य सम्बन्धी सुविधाएँ सरकारी क्षेत्र की तुलना में काफी महंगी होती है जिसे समाज का निर्धन-वर्ग वहन नहीं कर सकता। ऐसी स्थिति में समाज के कमजोर वर्गों के हितों की रक्षा लोक प्रशासन के माध्यम से ही की जाती है। इस प्रकार लोक प्रशासन एवं निजी प्रशासन में उद्देश्य गत भिन्नता उदारीकरण के इस युग में भी बनी हुई है।

2. प्रभाव की दृष्टि से भी लोक प्रशासन एवं निजी प्रशासन के बीच का अन्तर बना हुआ है। यद्यपि उदारीकरण में सरकार की भूमिका पहले से थोड़ी कम अवश्य हुई है, लेकिन एक 'नियामक' एवं 'नियंत्रक' के रूप में इसकी विशिष्टता अब भी बनी हुई है। जैसे- प्रदूषण फैलाने वाले उद्यमों पर रोक लगाना या निर्धारित मापदंडों का उल्लंघन करने वाले उद्यमों को दंडित करना इत्यादि लोक प्रशासन का ही दायित्व है। इसके अतिरिक्त आर्थिक उथल-पुथल या मंदी के दौर में देश को संकट से उबारना या मंहगाई को नियंत्रित करना भी लोक प्रशासन का ही दायित्व माना जाता है। देश में शांति और सुव्यवस्था स्थापित करना या कमजोर वर्गों के हितों की सुरक्षा करना तो परंपरागत रूप लोक प्रशासन की विशिष्टता रही है जो आज भी बनी हुई है। अतः उदारीकरण के इस युग में भी लोक प्रशासन का प्रभाव क्षेत्र निजी प्रशासन की तुलना में व्यापक है।

3. जबाबदेहिता की दृष्टि से भी लोक प्रशासन एवं निजी प्रशासन के बीच का अन्तर बना हुआ है। सार्वजनिक होने के कारण लोक प्रशासन जनता के जाँच के लिए खुला होता है, सरकारी अधिकारियों द्वारा की गयी एक छोटी सी गलती भी समाचार-पत्रों की सुर्खियों में प्रकाशित होती है। संसद एवं विधान सभाओं में हंगामा खड़ा हो जाता है। पुलिस जैसे संगठनों को भी अपने कार्यों का स्पष्टीकरण देना होता है और यह सिद्ध करना होता है कि उनके किसी भी कार्य से जनता में रोष नहीं फैले। इस प्रकार का व्यापक प्रचार निजी प्रशासन में नहीं होता और न उस पर जनता तथा समाचार पत्रों की निगाह ही रहती है।

4. उदारीकरण के इस युग में भी लोक प्रशासन के कार्यों में लचीलापन देखने को नहीं मिलता। कानूनों, नियमों एवं विनियमों से बंधे होने के कारण सरकारी कर्मचारियों द्वारा कई बार आवश्यक कार्यों के सम्पादन में भी अनावश्यक विलंब होता है। इसके विपरीत निजी प्रशासन इस तरह के कानूनी बन्धनों से मुक्त रहते हैं। हर प्रकार के व्यवसाय के नियंत्रण के लिए सामान्य कानून जरूर होते है, किन्तु निजी फर्में बदलती हुई परिस्थितियों को देखते हुए अपने कार्यों में काफी लचीलापन अपनाती है। ऐसा करना केवल उन्हीं के लिए सम्भव है, क्योंकि उन पर लोक प्रशासन की तरह के कानूनी बन्धन नहीं होते।

5. लोक प्रशासन में किसी भी प्रकार के पक्षपात अथवा भेदभावपूर्ण व्यवहार की अपेक्षा नहीं की जाती। अगर ऐसा होता है तो यह संसद, विधानसभाओं या जनसंचार के माध्यमों में तीव्र आलोचना का विषय बन जाता है तथा संबंधित प्रशासनिक अधिकारियों के विरूद्ध सख्त कार्रवाई की मांग की जाती है। लेकिन निजी प्रशासन में प्रतियोगी मांगों के कारण खुलकर भेदभाव होता है। उत्पादनों के चयन तथा कीमतें निश्चित करने में व्यापारिक प्रतिष्ठान भेदभाव और पक्षपात करते हैं, जो व्यापारिक संस्कृति का एक अंग बन गया है।

6. लोक प्रशासन का संगठन एक व्यापारिक अथवा निजी संगठन से बहुत अधिक जटिल होता है। प्रकाशन की प्रत्येक इकाई संबंधित लोक संगठनों के साथ जुड़ी होती है और उस इकाई को संबंधित इकाईयों के

साथ कार्य करना होता है। इसके विपरीत निजी प्रशासन अधिक संक्षेपता, पृथकता और स्वायत्ता के साथ कार्य करता है।

7. उदारीकरण की प्रक्रिया ने निजी क्षेत्र में बड़े पैमाने पर रोजगार के अवसर सृजित किये हैं तथा उच्च तकनीकी अथवा व्यावसायिक शिक्षा प्राप्त युवकों को लोक प्रशासन की तुलना में अधिक आकर्षक वेतनमान एवं सुविधाऐं भी दी जा रही हैं, लेकिन फिर भी इनमें असुरक्षा का भाव बना रहता है, क्योंकि बाजार पर आधारित व्यापार अनिश्चितताओं से भरा होता है। इसके विपरीत लोक प्रशासन में कार्यरत कर्मचारियों में सुरक्षा का भाव होता है। अभी हाल ही में विश्वव्यापी आर्थिक मंदी के दौरान जिस प्रकार निजी क्षेत्र में बड़े पैमाने पर कर्मचारियों की छंटनी की गयी, इससे हमारे युवकों में लोक प्रशासन के अंतर्गत कार्य करने का रूझान एक बार फिर से बढ गया है। अतः सेवा सुरक्षा की दृष्टि से भी उदारीकरण के इस युग में लोक प्रशासन की विशिष्टता बनी हुई है।
8. लोक प्रशासन राजनीतिक प्रभाव और दबाव से प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित होता है, जबकि निजी प्रशासन इससे मुक्त होता है।
9. लोक प्रशासन अत्यधिक जटिल सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक पर्यावरण में क्रियाशील होता है, जिसके परिणामस्वरूप कार्यक्रम प्रभाव एवं संगठनात्मक कार्यशलिता का मापन कठिन हो जाता है। निजी प्रशासन में संगठनात्मक कार्यशीलता का मापन अपेक्षाकृत सरल होता है।
10. लोक प्रशासन के ऊपर राष्ट्र निर्माण और भावी समाज को दिशा देने जैसी जिम्मेदारियां होती हैं, इसलिए यह सामाजिक मूल्यों की स्थापना करने की ओर झुका होता है। निजी प्रशासन को सरकार द्वारा निर्धारित मार्गदर्शन का पालन करना होता है।

इस प्रकार उदारीकरण के युग में भी लोक प्रशासन एंव निजी प्रशासन के बीच अन्तर बना हुआ है, यद्यपि यह अन्तर पहले की अपेक्षा कम हुआ है।

अभ्यास प्रश्न-

1. लोक प्रशासन तथा निजी प्रशासन दोनों में नियोजन एवं संगठन की आवश्यकता होती है। सत्य/असत्य
2. लोक प्रशासन तथा निजी प्रशासन में उद्देश्यगत भिन्नता होती है। सत्य/असत्य
3. लोक प्रशासन का क्षेत्र निजी प्रशासन की तुलना में संकुचित होता है। सत्य/असत्य
4. निजी प्रशासन की जनता के प्रति जबावदेहिता उस रूप में नहीं होती, जिस रूप में लोक प्रशासन की। सत्य/असत्य
5. उदारीकरण के अंतर्गत प्रशासन में नियंत्रणों, नियमनों, लाइसेंस, परमिट आदि को कम करने के प्रयास किये गए हैं। सत्य/असत्य
6. उदारीकरण के युग में लोक प्रशासन की भूमिका एक सुविधाकारक की बन गई है। सत्य /असत्य
7. उदारीकरण के युग में लोक प्रशासन एवं निजी प्रशासन में कोई अन्तर नहीं है। सत्य/असत्य
8. जनहित संरक्षण आज भी लोक प्रशासन का मुख्य उद्देश्य है। सत्य/असत्य

3.5 सारांश

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि लोक प्रशासन एवं निजी प्रशासन में कुछ समानताऐं पायी जाती हैं, लेकिन फिर भी आधारभूत रूप से ये दोनों एक दूसरे से भिन्न हैं। दोनों ही प्रशासन में नियोजन, संगठन, आदेश, समन्वय तथा नियंत्रण की आवश्यकता होती है। प्रबन्ध की अनेक तकनीकें तथा कार्यप्रणाली भी समान होती है। लेकिन लोक प्रशासन का मुख्य उद्देश्य जनता की सेवा करना होता है, जबकि निजी प्रशासन लाभ की भावना से प्रेरित होता है। निजी प्रशासन की तुलना में लोक प्रशासन का क्षेत्र एवं प्रभाव व्यापक होता है। निजी प्रशासन की जबावदेहिता

जनता के प्रति उस रूप में नहीं होती, जिस रूप में लोक प्रशासन की होती है। लोक प्रशासन के कार्यों में प्रक्रियात्मक कठोरता पाई जाती है, लेकिन निजी प्रशासन के कार्यों में लचीलापन। प्रशासकीय कार्यों की गति लोक प्रशासन में निजी प्रशासन की तुलना में धीमी होती है। लोक प्रशासन में कार्यरत कर्मचारियों में सुरक्षा का भाव होता है, जबकि निजी प्रशासन में कार्यरत कर्मचारियों में असुरक्षा का। लोक प्रशासन राजनीतिक प्रभाव और दबाव से प्रभावित होता है, जबकि निजी प्रशासन इन प्रभावों से मुक्त होता है। लोक प्रशासन में नैतिक एवं सामाजिक मूल्यों की प्रधानता निजी प्रशासन की तुलना में अधिक होती है।

उदारीकरण एवं वैश्वीकरण के परिणामस्वरूप लोक प्रशासन एवं निजी प्रशासन के बीच अन्तर कुछ कम अवश्य हुआ है, लेकिन इनके मध्य की सीमा रेखा अब भी बनी हुई है। उदारीकरण के युग में भी लोक प्रशासन जनहित से प्रेरित होता है, ना कि व्यापारिक दृष्टिकोण से। सार्वजनिकता की विशेषता इस प्रशासन को विशिष्टता की स्थिति प्रदान करती है और निजी प्रशासन से अलग करती है। उदारीकरण के अंतर्गत जहाँ कुछ क्षेत्रों में लोक प्रशासन की भूमिका में कटौती हुई है, वहीं दूसरी तरफ एक नियामक एवं सुविधाकारक के रूप में इसके लिए नई भूमिका का सृजन हुआ है।

3.6 शब्दावली

व्यावसायिक उद्यम- ऐसे उद्यम जिनका उद्देश्य लाभ कमाना होता है।

नियामक- दूसरों के कार्यों पर निगरानी तथा नियंत्रण रखने वाला।

सुविधाकारक- प्रक्रियात्मक कठिनाईयों को दूर कर किसी कार्य को सरल या सुविधाजनक बनाने वाला।

उदारीकरण- उस प्रक्रिया को कहते हैं जिसमें आयात-निर्यात तथा पूँजी निवेश को बढावा देने के लिए आर्थिक नियमों को लचीला बनाया जाता है।

वैश्वीकरण- आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं तकनीकी रूप से विश्वके विभिन्न देशों में एकीकरण की प्रवृत्ति जिसमें विभिन्न देशों में व्यक्ति, वस्तु या मुद्रा के आवागमन पर लगी रोक कम कर दी जाती है या हटा ली जाती है।

3.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. सत्य, **2.** सत्य, **3.** असत्य, **4.** सत्य, **5.** सत्य, **6.** सत्य, **7.** असत्य, **8.** सत्य

3.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. अवस्थी एवं माहेश्वरी, (2008), लोक प्रशासन, लक्ष्मी नरायण अग्रवाल, आगरा।
2. निग्रो, फलिक्स ए0 एवं निग्रो लॉयड जी, (1980), मॉडर्न पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन, हार्पर और रो, न्यूयार्क।
3. व्हाइट, एल0 डी0,(1968), इंट्रोडक्शन टू दी स्टडी ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन, यूरेशिया पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।
4. भट्टाचार्य, मोहित, (1998), न्यू हॉरिजन्स ऑफ पब्लिक एडमिनिस्टेशन, जवाहर पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली।
5. अरौड़ा, रमेश के (संपादित) (1979), पर्सपेक्टिव इन एडमिनिस्ट्रेटिव थ्योरी, एसोसियेटेड पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।

3.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. बार्कर, आर0 जे0 एस0,1972, एडमिनिस्ट्रेटिव थ्योरी एण्ड पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन।
2. गॉर्टनर, हैरोल्ड एफ0, (1977) एडमिनिस्ट्रेशन इन द पब्लिक सेक्टर।

3.10 निबंधात्मक प्रश्न

1. कुछ समानताओं के वावजूद लोक प्रशासन एवं निजी प्रशासन एक दूसरे से मौलिक रूप से भिन्न है। विवेचना कीजिए।
2. क्या आप इस मत से सहमत हैं कि उदारीकरण के अंतर्गत लोक प्रशासन एवं निजी प्रशासन के मध्य सीमा रेखा अस्पष्ट एवं अवास्तविक है? तर्क सहित उत्तर दीजिए।
3. 'लोक प्रशासन एवं निजी प्रशासन के मध्य अन्तर मात्रा का है, प्रकार का नहीं।' क्या आप इस मत से सहमत है? स्पष्ट कीजिए।

इकाई- 4 लोक प्रशासन का विकास, नवीन लोक प्रशासन

इकाई की संरचना

4.0 प्रस्तावना
4.1 उद्देश्य
4.2 लोक प्रशासन का विकास: प्राचीन काल
4.3 लोक प्रशासन का विकासः आधुनिक काल
    4.3.1 प्रथम चरण (1887-1926)
    4.3.2 द्वितीय चरण (1927-1937)
    4.3.3 तृतीय चरण (1938-1947)
    4.3.4 चतुर्थ चरण (1948-1970)
    4.3.5 पंचम चरण (1971-1990)
    4.3.6 षष्टम चरण (1991- अब तक)
4.4 नवीन लोक प्रशासन: पृष्टभूमि
    4.4.1 नवीन लोक प्रशासन की विशेषताऐं
    4.4.2 नवीन लोक प्रशासन के लक्ष्य
        4.4.2.1 प्रासंगिकता
        4.4.2.2 मूल्य
        4.4.2.3 सामाजिक समता
        4.4.2.4 परिवर्तन
4.5 सारांश
4.6 शब्दावली
4.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
4.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
4.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
4.10 निबंधात्मक प्रश्न

4.0 प्रस्तावना

लोक प्रशासन के अध्ययन से संबंधित यह चौथी इकाई है। इससे पहले की इकाईयों के अध्ययन के बाद आप बता सकते हैं कि लोक प्रशासन क्या है, इसके अन्तर्गत किन विषयों का अध्ययन किया जाता है, इसके अध्ययन के परम्परागत एवं आधुनिक दृष्टिकोणों में क्या अन्तर है तथा यह किस प्रकार निजी प्रशासन के भिन्न है?

किसी भी विषय के वर्तमान स्वरूप को समझने के लिए उसके अतीत को समझना आवश्यक होता है। सैद्धान्तिक दृष्टि से यह अध्ययन के विषय को व्यापक सन्दर्भ में स्थापित करने में सहायक होता है तथा व्यावहारिक दृष्टि से भूतकाल के ज्ञान का उपयोग वर्तमान में विषय के विकास की प्रक्रिया को आगे बढाने में सहायक होता है। प्रबन्ध की क्रिया के रूप में लोक प्रशासन उतना ही प्राचीन है जितना कि मनुष्य का सामाजिक जीवन। परन्तु अध्ययन की एक शाखा या विधा के रूप में इसका विधिवत विकास आधुनिक काल में ही संभव हो सका है। इस इकाई में लोक प्रशासन विषय के विकास के विभिन्न चरणों पर प्रकाश डाला गया है।

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप यह स्पष्ट कर सकेंगे कि नवीन लोक प्रशासन किस प्रकार परम्परागत लोक प्रशासन से भिन्न है तथा इसकी क्या विशिष्टताएँ है?

4.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- लोक प्रशासन के अध्ययन के विकास की विभिन्न अवस्थाओं को जान सकेंगे।
- विभिन्न चरणों में विषय की प्रकृति में अन्तर कर सकेंगे।
- नवीन लोक प्रशासन की विशेषताएँ एवं इसके महत्व के बारे में जान सकेंगे।
- विकासशील समाजों के लिए नवीन लोक प्रशासन की प्रासंगिकता को स्पष्ट कर सकेंगे।

4.2 लोक प्रशासन का विकास: प्राचीन काल

एक क्रियाकलाप के रूप में लोक प्रशासन प्राचीन काल से ही अस्तित्व में रहा है। इसके विभिन्न सिद्धान्त हमें प्राचीन भारत के ग्रन्थ- रामायण, महाभारत तथा विभिन्न स्मृतियों के साथ-साथ मुख्यतः कौटिल्य के अर्थशास्त्र में मिलते हैं। अर्थशास्त्र राज्य के उद्देश्यों तथा उन उद्देश्यों की प्राप्ति के व्यावहारिक साधनों पर एक विशिष्ट तथा कुशल शोध प्रबन्ध माना जाता है। प्राचीन भारत में लोक प्रशासन पर यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है।

कौटिल्य ने प्रशासन की समस्याओं को समझने के लिए ‘राजनैतिक अर्थनीति’ का मार्ग अपनाया है। प्रशासन के सिद्धान्त मुख्यतः राजा, मंत्रियों आदि के कार्यों द्वारा इंगित किये गये हैं। अधिकार आज्ञापालन तथा अनुशासन के सिद्धान्तों को राज्य के प्रशासन का केन्द्र माना गया है। इस बात पर बल दिया गया है कि कार्य विभाजन, श्रेणीबद्ध पदानुक्रम तथा समन्वय जैसे सिद्धान्तों को आंतरिक संगठन की कार्यविधि में अपनाया जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त संभवतः कौटिल्य ही ऐसे जाने-माने विचारक थे जिन्होंने प्रशासन में सांख्यिकी के महत्व को मान्यता दी। उनके चिंतन में जिस प्रकार राज्य के व्यापक दायित्वों, जैसे- अनाथ बच्चों, महिलाओं, वृद्धों कमजोर वर्गों इत्यादि का भरण-पोषण करना तथा जनसामान्य के हितों के लिए कल्याणकारी योजनाएं चलाना इत्यादि पर बल दिया गया है, इससे एक कल्याणकारी राज्य की झलक मिलती है जो बहुत कुछ आधुनिक लोक कल्याणकारी राज्य की तरह ही है।

यद्यपि कौटिल्य द्वारा वर्णित प्रशासकीय व्यवस्था राजतंत्रीय शासन के सन्दर्भ में थी, जोकि आधुनिक लोकतांत्रिक समाजों की प्रशासनिक व्यवस्था से भिन्न है, फिर भी उसके द्वारा स्थापित लोक प्रशासन ही परम्पराएँ महत्वपूर्ण हैं, क्योंकि ये लोक प्रशासन विज्ञान तथा शासन कला के व्यवस्थित विश्लेषण पर जोर देते हैं।

इसी प्रकार के विवेचन में चीन में कन्फ्यूसियस द्वारा दिये गये उपदेशों, अरस्तू की महान रचना ‘पॉलिटिक्स’ हॉब्स की रचना ‘लेवियाथन’ और मैकियावली की रचना ‘द प्रिन्स’ में देखने को मिलते हैं।

4.3 लोक प्रशासन का विकासः आधुनिक काल

18वीं सदी में जर्मनी और आस्ट्रिया में कैमरलवाद का अभ्युदय हुआ जो सरकारी मामलों के व्यवस्थित प्रबन्धन से जुड़ा हुआ था। कैमरलवादियों ने लोक प्रशासन की संरचनाओं, सिद्धान्तों और प्रक्रियाओं के विवरणात्मक अध्ययनों पर और लोक अधिकारियों के पेशेवर प्रशिक्षण पर बल दिया।

18वीं सदी के अंतिम वर्षों में संभवतः अमेरिका में पहली बार लोक प्रशासन के अर्थ और उद्देश्य को हैमिल्टन की पुस्तक ‘फेडरलिस्ट’ में पारिभाषित किया गया। चार्ल्स ज्यां बूनिन पहले व्यक्ति थे जिन्होंने अलग से लोक प्रशासन पर फ्रेन्च भाषा में पुस्तक की रचना की। परन्तु परम्परागत रूप से शोध के अलग क्षेत्र के रूप में लोक प्रशासन का विकास उन्नीसवीं सदी के अंतिम दशक में संयुक्त राज्य अमेरिका में हुआ।

आधुनिक काल में अध्ययन के एक विषय के रूप में लोक प्रशासन के विकास का इतिहास उतार-चढाव से भरा हुआ है, जिसे निम्नलिखित चरणों में समझा जा सकता है-

4.3.1 प्रथम चरण (1887-1926)

विकास के प्रथम चरण में लोक प्रशासन एवं राजनीति के द्विभाजन पर बल दिया गया। वुडरो विल्सन, जिन्हें लोक प्रशासन का जनक माना जाता है, ने 1887 में एक निबन्ध प्रकाशित किया जिसका शीर्षक था 'दी स्टडी ऑफ एडमिनिस्ट्रेशन'। इस निबन्ध में उन्होंने राजनीति और प्रशासन को अलग-अलग बताया तथा यह भी कहा कि ''एक संविधान की रचना सरल है पर इसको चलाना बड़ा कठिन है।'' उन्होंने इस चलाने के क्षेत्र अर्थात लोक प्रशासन को एक स्वायत्त विषय बनाने पर बल दिया।

विल्सन के पश्चात फ्रैंक गुडनाउ ने 1900 में अपनी पुस्तक 'पॉलिटिक्स एण्ड एडमिनिस्ट्रेशन' में यह तर्क दिया कि राजनीति राज्य इच्छा को प्रतिपादित करती है, जबकि प्रशासन इस इच्छा या नीतियों के क्रियान्वयन से सम्बन्धित है। इसलिए नीति-निर्माण का कार्य नीति-क्रियान्वयन के कार्य से अलग है। नीति-निर्माण का कार्य जनता द्वारा निर्वाचित व्यवस्थापिकाओं द्वारा सम्पादित किया जाना चाहिए तथा उसके क्रियान्वयन का कार्य राजनीतिक रूप से तटस्थ, योग्य एवं तकनीकी दक्षता से युक्त प्रशासनिक अधिकारियों द्वारा सम्पन्न किया जाना चाहिए।

1926 में एल0 डी0 व्हाइट द्वारा 'इंन्ट्रोडक्शन टू द स्टडी ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन' नामक पुस्तक प्रकाशित की गयी जिसे लोक प्रशासन की प्रथम पाठ्य पुस्तक होने की मान्यता प्राप्त है। इस पुस्तक में व्हाइट ने राजनीति एवं प्रशासन के मध्य अन्तर को स्वीकार करते हुए इस बात पर बल दिया कि लोक प्रशासन का मुख्य लक्ष्य दक्षता एवं मितव्ययिता हैं। उनके अनुसार प्रशासन किसी विशिष्ट उद्देश्य की प्राप्ति के लिए बहुत से व्यक्तियों का निर्देशन, समन्वयीकरण तथा नियन्त्रण की कला है।

4.3.2 द्वितीय चरण (1927-1937)

इस चरण में लोक प्रशासन के सैद्धान्तिक पहलू पर बल दिया गया। ऐसी आस्था व्यक्त की गयी कि प्रशासन के कुछ निश्चित सिद्धान्त हैं जिनका पता लगाकर इनके क्रियान्वयन को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। इस सन्दर्भ में 1927 में डब्ल्यू0 एफ0 विलोबी द्वारा लिखित पुस्तक 'प्रिसिंपल्स ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन' अत्यन्त महत्वपूर्ण है। विलोवी इस बात में पूर्ण विश्वास रखते थे कि प्रशासन के अनेक सिद्धान्त हैं, जिन्हें कार्यान्वित करने से लोक प्रशासन में सुधार हो सकता है।

विलोबी के बाद अनेक विद्वानों ने उक्त सन्दर्भ में पुस्तकें लिखी जिनमें मेरी पार्कर फॉलेट, हेनरी फेयोल, मूने तथा रैले इत्यादि के नाम प्रमुख हैं।

1937 में लूथर गुलिक तथा उर्विक द्वारा लिखित ग्रन्थ 'पेपर्स ऑन दी साइंस ऑफ एडमिनिस्ट्रेशन' में इस बात पर बल दिया गया कि प्रशासन में सिद्धान्त होने के कारण यह एक विज्ञान है। गुलिक तथा उर्विक ने प्रशासन के सिद्धान्तों को 'पोस्डकॉर्ब' के रूप में व्यक्त किया। इस चरण को लोक प्रशासन के विकास में स्वर्णिम युग माना जाता है।

4.3.3 तृतीय चरण (1938-1947)

यह चरण लोक प्रशासन के अध्ययन के विकास में विध्वंसकारी चरण माना जाता है, जिसमें प्रशासनिक सिद्धान्तों को चुनौती दी गयी।

चेस्टर बनार्ड ने 1938 में अपनी पुस्तक 'दी फक्सन्स ऑफ एक्सक्यूटिव' में प्रशासन को एक सहकारी सामाजिक क्रिया बताते हुए इस बात पर बल दिया कि व्यक्तियों के आचारण प्रशासकीय कार्यों को विशेष रूप से प्रभावित करते हैं। बनार्ड के विचारों के फलस्वरूप लोक प्रशासन के सिद्धान्त वादी दृष्टिकोण पर प्रहार शुरू हुआ।

1946 में हरबर्ट साइमन ने अपना एक लेख प्रकाशित किया जिसमें उन्होंने तथाकथित सिद्धान्तों का उपहास करते हुए उन्हें मुहावरे की संज्ञा दी। एक वर्ष बाद ही उन्होंने अपनी पुस्तक 'एडमिनिस्ट्रेटिव विहेवियर' में यह भली-भाँति सिद्ध कर दिया कि प्रशासन में सिद्धान्त नाम की कोई चीज नहीं है।

1947 में रॉबर्ट ए0 डॉहल ने अपने एक लेख में सिद्धान्तवादियों की इस मान्यता का जोरदार खण्डन किया कि लोक प्रशासन एक विज्ञान है। उन्होंने लोक प्रशासन के सिद्धान्त की खोज में तीन बांधाओं का जिक्र किया, यथा- मूल्य सापेक्षता, मानव व्यवहार की विविधता, एवं सामाजिक ढ़ाँचा ।

इस प्रकार लोक प्रशासन का तीसरा चरण चुनौतियों एवं आलोचनाओं से परिपूर्ण रहा।

4.3.4 चतुर्थ चरण (1948-1970)

इस चरण में लोक प्रशासन अपनी 'पहचान के संकट' से जूझता रहा। विषय की सिद्धान्तवादी विचारधारा अविश्व सनीय प्रतीत होने लगी तथा इसका वैज्ञानिक स्वरूप भी वाद-विवाद का विषय बन गया।

विषय को इस पहचान के संकट से उबारने के लिए मोटे तौर पर दो रास्ते अपनाये गये। कुछ विद्वान राजनीति शास्त्र की ओर मुखातिब हुए परन्तु राजनीतिशास्त्र में इस समय कुछ परिवर्तन आ रहे थे। लोक प्रशासन का राजनीति शास्त्र में जितना महत्व पहले था, उसमें गिरावट आ गयी। ऐसी अवस्था में यह विषय सौतेलापन व अकेलापन अनुभव करने लगा।

दूसरे प्रयास में कुछ विद्वानों ने लोक प्रशासन को निजी प्रबन्धों के साथ जोड़कर प्रशासनिक विज्ञान बनाने का प्रयास किया। इन विद्वानों की यह मान्यता थी कि प्रशासन चाहे दफ्तरों में हो या कारखानों में दोनों ही क्षेत्रों में यह प्रशासन है। इसी प्रयास के अंतर्गत 1956 में 'एडमिनिस्ट्रेटिव साइंस क्वार्टरली' नामक पत्रिका का प्रकाशन शुरू किया गया। इस प्रयास में भी लोक प्रशासन को अपना निजी स्वरूप गंवाना पड़ा तथा इसे प्रबन्ध विज्ञान की ओर मुखातिब होना पड़ा। इस तरह दोनों ही प्रयासों के बावजूद लोक प्रशासन के 'पहचान का संकट' बरकरार रहा।

4.3.5 पंचम चरण (1971-1990)

इस चरण में विषय के अन्तर्विषयक दृष्टिकोण का विकास हुआ। चतुर्थ चरण के संकट ने लोक प्रशासन के विषय के विकास में अनेक चुनौतियां प्रस्तुत की थी, जो इसके लिए वरदान सिद्ध हुआ। अनेक शाखाओं के विज्ञान के समावेश से इसके विकास में सर्वांगीण उन्नति हुई। राजनीतिशास्त्र के विद्यार्थी तो सदैव ही लोक प्रशासन में रूचि लेते रहे हैं, इसके साथ-साथ अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, मानवशास्त्र, आदि शास्त्रों के विद्वान भी इस विषय में रूचि लेने लगे। इन सबके फलस्वरूप लोक प्रशासन अंतर्विषयी बन गया। आज समाजशास्त्रों में यदि कोई सबसे अधिक अन्तर्विषयी है तो वह लोक प्रशासन ही है। 'तुलनात्मक लोक प्रशासन' तथा 'विकास प्रशासन' का प्रादुर्भाव भी विषय की नूतन प्रवृत्तियों को दर्शाता है। तुलनात्मक लोक प्रशासन विभिन्न संस्कृतियों में कार्यरत विभिन्न देशों की सार्वजनिक प्रशासनिक संस्थाओं के तुलनात्मक अध्ययन से सम्बन्धित है। विकास प्रशासन विकासशील देशों की सरकार के प्रशासन से सम्बन्धित है।

4.3.6 षष्टम चरण (1991- अब तक)

इस चरण में उदारीकरण एवं वैश्वीकरण के सन्दर्भ में लोक प्रशासन के अंतर्गत नवीन लोक प्रबन्धन की अवधारणा का विकास हुआ है। ऐसा माना जा रहा है कि लोक प्रशासन को लोक प्रबन्धन में बदला जाना चाहिए, ताकि लोक निर्णय शीघ्रता एवं मितव्ययिता के साथ की जा सके। नवीन लोक प्रबन्धन लोक प्रशासन में कार्य सम्पादन को अधिक महत्व देता है। लोक प्रशासन में धीरे-धीरे नियन्त्रणों, नियमनों, लाइसेन्स, परमिट आदि को कम करने के प्रयास किये गये हैं तथा प्रशासन को एक सुविधाकारक तंत्र के रूप में विकसित करने का प्रयत्न किया गया है। दूसरे शब्दों में पारंपरिक लोक प्रशासन को बाजारोन्मुख लोक प्रशासन में परिवर्तित करने पर बल दिया जा रहा है।

नवीन लोक प्रबन्धन का प्रयोग सर्वप्रथम 1991 में क्रिस्टोफर हुड के द्वारा किया गया। इसके उपरान्त इस दृष्टिकोण के विकास में गेराल्ड केइन, पी0 हैगेट, सी0 पौलिट, आर रोड्स तथा एल0 टेरी ने महत्वपूर्ण योगदान दिया है। इस प्रकार, अध्ययन के एक विषय के रूप में लोक प्रशासन का स्वरूप बदलते हुए राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक परिवेश एवं विचारधाराओं के अनुरूप परिवर्तित, संशोधित एवं संवर्द्धित होता रहा है।

वर्तमान समय में लोक प्रशासन के अध्ययन में राजनैतिक एंव नीति निर्धारण प्रक्रियाओं तथा लोक कार्यक्रमों के अध्ययन पर विशेष बल दिया जाने लगा है। 1971ई0 के पश्चात से नवीन लोक प्रशासन के विकास ने लोक प्रशासन के अध्ययन को समृद्ध किया है।

4.4 नवीन लोक प्रशासन: पृष्टभूमि

प्रायः देखा गया है कि उथल-पुथल, अस्थिरता एवं अव्यवस्था के कालों में नवीन विचारों का अभ्युदय होता है और वे परम्परागत शास्त्रों के विषयों को नवीन दिशा प्रदान करते हैं। यह बात लोक प्रशासन के सम्बन्ध में सत्य प्रतीत होती है। सातवें दशक में लोक प्रशासन की क्रिया प्रणाली के उद्देश्य के रूप में मितव्ययिता तथा कार्यकुशलता को अपर्याप्त एवं अपूर्ण पाया गया। इस दशक के अंतिम वर्षों में कुछ विद्वानों, विशेषकर युवा-वर्ग ने लोक प्रशासन में मूल्यों एवं नैतिकता पर विशेष बल देना प्रारम्भ कर दिया। यह कहा जाने लगा कि कार्यकुशलता ही समस्त लोक प्रशासन का लक्ष्य नहीं है, उसे मूल्योन्मुखी होना चाहिए। इस नवीन प्रवृत्ति को नवीन लोक प्रशासन की संज्ञा दी गयी।

वास्तव में लोक कल्याणकारी राज्य की अवधारणा को मूर्त रूप देने के प्रयत्नों ने लोक प्रशासन में अनेक नवीन प्रवृत्तियों को जन्म दिया है, जिन्हें नवीन लोक प्रशासन के नाम से जाना जाता है। इसके अंतर्गत नैतिकता एवं सामाजिक उपयोगिता पर बल दिया जाता है तथा इसका मुख्य उद्देश्य मानव कल्याण है।

नवीन लोक प्रशासन का आरम्भ 1967 के 'हनी प्रतिवेदन' से समझा जा सकता है। प्रो0 जॉन सी0 हनी का प्रतिवेदन अमेरिका में लोक प्रशासन का स्वतंत्र विषय के रूप में 'अध्ययन की सम्भावनाऐं' पर आधारित था। इस प्रतिवेदन में लोक प्रशासन को विस्तृत एवं व्यापक बनाने पर जोर दिया गया। इस प्रतिवेदन का जहाँ एक तरफ स्वागत हुआ वही दूसरी तरफ इसको लेकर तीव्र विवाद भी उत्पन्न हुआ। प्रतिवेदन में जो मुद्दे उठाये गये थे, वे महत्वपूर्ण थे। परन्तु जो मुद्दे नहीं उठाये गये थे, वे उनसे भी अधिक महत्वपूर्ण थे। तत्कालीन सामाजिक समस्याओं के साथ सीधा सम्बन्ध स्थापित करने के लिए इस प्रतिवेदन में कोई ठोस सुझाव नहीं दिया गया था। फिर भी इस प्रतिवेदन ने अनेक विद्वानों को समाज में लोक प्रशासन की भूमिका पर गम्भीरता पूर्वक विचार करने के लिए प्रेरित किया।

हनी प्रतिवेदन के पश्चात 1967 में अमेरिका के फिलाडेल्फिया शहर में इसी विषय पर सम्मेलन आयोजित हुआ। सम्मेलन में जहाँ कुछ चिन्तकों ने लोक प्रशासन को महज बौद्धिक चिन्तन का केन्द्र माना तो दूसरों ने उसे मात्र प्रक्रिया माना। कुछ चिन्तकों ने इसे प्रशासन का तो कुछ ने समाज का अंग माना। वस्तुस्थिति यह रही कि इस सम्मेलन में भी लोक प्रशासन का नवीन स्वरूप निर्धारित नहीं किया जा सका।

1968 में आयोजित मिन्नोब्रूक सम्मेलन ने लोक प्रशासन की प्रकृति में क्रांतिकारी परिवर्तन ला दिया तथा यह नवीन लोक प्रशासन को स्थापित करने में मील का पत्थर सिद्ध हुआ। इस सम्मेलन में युवा विचारकों का प्रतिनिधित्व रहा तथा वे समस्त बिन्दुवाद विवाद की परिधि में आये जो बीते दो सम्मेलनों में शामिल नहीं किये गये थे। इस सम्मेलन में परम्परागत लोक प्रशासन के स्थान पर नवीन लोक प्रशासन नाम प्रकाश में आया।

1971 में फ्रेंक मेरीनी कृत 'टूवार्डस ए न्यू पब्लिक एडमिनिस्टेशन-मिन्नोब्रूक पर्सपेक्टिव' के प्रकाशन के साथ ही नवीन लोक प्रशासन को मान्यता प्राप्त हुई। इसी समय ड्वाइट वाल्डो की कृति ने नवीन लोक प्रशासन को और

सशक्त बना दिया। उक्त दोनों पुस्तकों में नवीन लोक प्रशासन को सामाजिक समस्याओं के प्रति संवेदनशील माना गया है।

सन् 1980 व 1990 के दौरान विकसित राष्ट्रों को सार्वजनिक क्षेत्र प्रबन्धन में दृढता तथा अधिकारी प्रवृत्ति से नमनीयता की ओर मुड़ते देखा गया। इसके अतिरिक्त विभिन्न राष्ट्रों में आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक विकेन्द्रीकरण की चाह में लोक प्रशासन को सरकार व जनता के मध्य नवीन सम्बन्ध स्थापित करने पर बल दिया गया। इन तथ्यों का उल्लेख 1980 में प्रकाशित एच0 जार्ज फ्रेडरिक्सन की पुस्तक 'पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन डेवलपमेंन्ट एज ए डिसिप्लिन' में देखा जा सकता है।

1990 के दशक में भी नवीन लोक प्रशासन में नये प्रतिमान विकसित किये गये हैं, जिसे नवीन लोक प्रबन्धन बाजार आधारित लोक प्रशासन, उद्यमकर्ता शासन आदि का नाम दिया जा सकता है। इसके अंतर्गत दक्षता, मितव्ययिता तथा प्रभावदायकता पर बल दिया गया है।

इस प्रकार विगत चार दशकों में लोक प्रशासन अपने नवीन रूप में लोक प्रिय हो चला हैं।

4.4.1 नवीन लोक प्रशासन की विशेषताऐं

नवीन लोक प्रशासन की विचारधारा समयानुकुल तथा परम्परागत लोक प्रशासन में परिवर्तन की विचारधारा है। परम्परागत लोक प्रशासन में मूल्य निरपेक्षता, दक्षता, निष्पक्षता, कार्यकुशलता इत्यादि पर बल दिया गया था, जबकि नवीन लोक प्रशासन नैतिकता, उत्तरदायित्व, सामाजिक सापेक्षता, नमनीय तटस्थता एवं प्रतिबद्ध प्रशासनिक प्रणाली पर बल देता है। यह माना जाता है कि नवीन लोक प्रशासन सामाजिक परिवर्तन का सर्वश्रेष्ठ संवाहक है तथा यह लक्ष्य अभिमुखी है।

नवीन लोक प्रशासन की प्रमुख विशेषताओं को निम्नलिखित रूपों में व्यक्त किया जा सकता है-

1. नवीन लोक प्रशासन परम्परागत लोक प्रशासन की 'यान्त्रिकता' एवं आर्थिक मानव की अवधारणा को स्वीकार नहीं करता है। यह मानवीय व्यवहार दृष्टिकोण एवं मानवीय सम्बन्धों का समर्थन करता है। दूसरे शब्दों में नवीन लोक प्रशासन मानवोन्मुख है।
2. यह राजनीति और प्रशासन के द्विभाजन तथा निजी एवं लोक प्रशासन के बीच के अन्तर को अस्वीकार करता है। इस तरह का विभाजन अव्यहारिक, अप्रासंगिक तथा अवास्तविक माना जाता है।
3. यह सम्बन्धात्मक है और ग्राहक केन्द्रित दृष्टिकोण पर बल देता है। यह इस बात पर बल देता है कि नागरिक को यह बताने का अधिकार होना चाहिए कि उनको क्या, किस प्रकार और कब चाहिए? संक्षेप में लोक प्रशासन को नागरिकों की रूचि एवं आवश्यकतानुसार सेवा करनी चाहिए।
4. यह परिवर्तन तथा नवीनता का समर्थक है। परम्परागत दृष्टिकोणों को त्यागता हुआ और व्यवहारवादी दृष्टिकोण की दीवार को लांघता हुआ नवीन लोक प्रशासन उत्तर व्यवहारवादी दृष्टिकोण के निकट पहुँच चुका है। साथ ही इसमें पारिस्थिकी एवं पर्यावरण के अध्ययन पर अधिक बल दिया जाता है।
5. कल्याणकारी योजनाओं को शीघ्र एवं प्रभावी ढंग से लागू करने के लिए नवीन लोक प्रशासन परिवर्तनशील प्रशासनिक तंत्र, विकेन्द्रीकरण तथा प्रत्यायोजन का समर्थन करता है।
6. यह मूल्यों से परिपूर्ण प्रशासन, जनसहभागिता, उत्तरदायित्व तथा सामाजिक रूप से हितप्रद कार्यों पर बल देता है।

इस प्रकार नवीन लोक प्रशासन परम्परागत लोक प्रशासन से कई दृष्टियों में भिन्न है। कुछ विचारक इसे एक मौलिक विषय के रूप में प्रस्तुत करते है तो कुछ अन्य विचारक इसे परम्परागत प्रशासन का ही एक संशोधित रूप मानते हैं। कैम्पबेल के अनुसार नवीन लोक प्रशासन का विषय मौलिक अध्ययन की अपेक्षा पुनर्व्याख्या पर अधिक बल देता है। इसी प्रकार एक अन्य विचारक राबर्ट टी0 गोलमब्यूस्की का कहना है कि नवीन लोक

प्रशासन शब्दों में क्रांतिवाद का उद्-घोष करता है, किन्तु वास्तव में यह पुरातन सिद्धान्तों व तकनीकों की स्थिति है।

यथार्थ में अगर देखा जाये तो कैम्पबेल एवं गोलमब्यूस्की जैसे विचारक पूर्वाग्रह से ग्रसित प्रतीत होते हैं। इस सन्दर्भ में निग्रो एंव निग्रो के इस मत से सहमति व्यक्त की जा सकती है कि नवीन लोक प्रशासन के समर्थकों ने रचनात्मक वाद-विवाद को प्रेरित किया है। उन्ही के शब्दों में ''जब से नवीन लोक प्रशासन का उदय हुआ है मूल्यों और नैतिकता के प्रश्न लोक प्रशासन के मुख्य मुद्दे रहे हैं। नवीन लोक प्रशासन को जो लोग नयी बोतल में पुरानी शराब मानते है, वे लोक प्रशासन के विकास और परिवर्तन के पक्षधर नहीं माने जा सकते हैं, क्योंकि लोक प्रशासन के विचारों, व्यवहारों, कार्यशैली और तकनीकों में जो अर्वाचीन प्रवृत्तियां आयी हैं, उसे समय के बहाव के साथ स्वीकार करना होगा और इसके सकारात्मक उद्देश्यों को समर्थन देना होगा।''

4. 4.2 नवीन लोक प्रशासन के लक्ष्य

नवीन लोक प्रशासन के चार प्रमुख लक्ष्य है- प्रासंगिकता, मूल्य, सामाजिक समता तथा परिवर्तन। इनकी व्याख्या निम्नवत की जा सकती है-

4.4.2.1 प्रासंगिकता

नवीन लोक प्रशासन तथ्यों की प्रांसगिकता पर अत्यधिक बल देता है। यह परम्परागत लोक प्रशासन के लक्ष्यों- कार्यकुशलता एवं मितव्यतिता को समकालीन समाज की समस्याओं के समाधान हेतु अपर्याप्त मानता है और इस बात पर बल देता है कि लोक प्रशासन का ज्ञान एवं शोध समाज की आवश्यकता के सन्दर्भ में प्रासंगिक तथा संगतिपूर्ण होना चाहिए।

मिन्नोब्रुक सम्मेलन में प्रतिनिधियों ने 'नीति उन्मुख लोक प्रशासन' की आवश्यकता पर अपना ध्यान केन्द्रित किया और इस बात पर प्रकाश डाला कि लोक प्रशासन को सभी प्रशासनिक कार्यों के राजनीतिक एवं आदर्श निहित अर्थों एवं तात्पर्यों पर स्पष्ट रूप से विचार करना चाहिए।

4.4.2.2 मूल्य

नवीन लोक प्रशासन आदर्शपरक है और मूल्यों पर आधारित अध्ययन को महत्व प्रदान करता है। यह परम्परागत लोक प्रशासन के मूल्यों को छिपाने की प्रवृत्ति तथा प्रक्रियात्मक तटस्थता को अस्वीकार करते हुए ऐसे शोध प्रयासों को अपनाने पर बल देता है, जो सामाजिक न्याय के अनुरूप हों। इसके अनुसार लोक प्रशासन को खुले रूप में उन्हीं मूल्यों को अपनाना होगा जो समाज में उत्पन्न समस्याओं का समाधान कर सकें तथा समाज के दुर्बल वर्गों के लिए सक्रिय कदम उठाये।

4.4.2.3 सामाजिक समता

नवीन लोक प्रशासन समाज की विषमता को दूर करके सामाजिक समानता एवं सामाजिक न्याय के सिद्धान्तों को अपनाने पर बल देता है, यह इस बात पर बल देता है कि लोक प्रशासन समाज के कमजोर एवं पिछड़े-वर्गों की आर्थिक, सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक पीड़ा को समझे और इस दिशा में समुचित कदम उठाये। फैरडरिक्सन के शब्दों में ''वह लोक प्रशासन जो परिवर्तन लाने में असफल है, जो अल्प संख्यकों के अभावों को दूर करने का निरर्थक प्रयास करता है, संभवतः उसका प्रयोग अंततः उन्हीं अल्प संख्यकों को कुचलने के लिए किया जायेगा।''

इस प्रकार नवीन लोक प्रशासन में जन कल्याण पर विशेष बल दिया गया है।

4.4.2.4 परिवर्तन

नवीन लोक प्रशासन यथास्थिति बनाये रखने का विरोधी है और सामाजिक परिवर्तन में विश्वास करता है। इसमें इस बात पर बल दिया जाता है कि परिवर्तनों के समर्थक लोक प्रशासन को केवल शक्तिशाली हित समूहों या दबाव समूहों के अधीन कार्य नहीं करना चाहिए, बल्कि इसे तो सम्पूर्ण सामाजिक आर्थिक-तंत्र में परिवर्तन का

अगुवा बनना चाहिए। इस प्रकार सामाजिक आर्थिक परिवर्तन के लिए एक सशक्त अभिमुखता ही नवीन लोक प्रशासन की अनिवार्य विषय वस्तु है। शीघ्र परिवर्तित वातावरण के अनुरूप संगठन के नवीन रूपों का विकास किया जाना चाहिए।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि परम्परागत लोक प्रशासन की अपेक्षा नवीन लोक प्रशासन जातिगत कम और सार्वजनिक अधिक, वर्णनात्मक कम और आदेशात्मक अधिक, संस्था उन्मुख कम और जन प्रभाव उन्मुख अधिक तथा तटस्थ कम और आदर्शात्मक अधिक है। साथ ही इसमें वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाने पर भी बल दिया गया है।

अभ्यास प्रश्न-

1. एक क्रियाकलाप के रूप में लोक प्रशासन प्राचीन काल से ही अस्तित्व में रहा है। सत्य/असत्य
2. कौटिल्य ने प्रशासन की समस्याओं को समझने के लिए कौन सा मार्ग अपनाया?
3. लोक प्रशासन का जनक किसे माना जाता है?
4. द्वितीय चरण (1927-1937) में लोक प्रशासन के किस पहलू पर बल दिया गया?
5. नवीन लोक प्रशासन का आरम्भ 1667 के हनी प्रतिवेदन से समझा जाता है। सत्य/असत्य
6. नवीन लोक प्रशासन राजनीति एवं प्रशासन के द्विभाजन को स्वीकार करता है। सत्य/असत्य
7. नवीन लोक प्रशासन के चार लक्ष्य लिखिए।

4.5 सारांश

शासन की एक क्रिया के रूप में लोक प्रशासन का अस्तित्व प्राचीन काल से ही देखने को मिलता है, लेकिन एक व्यवस्थित एवं स्वातत्व विषय के रूप में इसका अध्ययन उन्नीसवीं सदी के अंतिम दशक में संयुक्त राज्य अमेरिका में प्रारम्भ हुआ। आधुनिक काल में विषय का विकास अनेक उतार चढाव से भरा हुआ हैं। प्रथम चरण (1887-1926) में लोक प्रशासन एवं राजनीति के पृथक्करण पर बल दिया गया। द्वितीय चरण (1927-1937) में प्रशासन के सैद्धान्तिक पहलू पर बल दिया गया। गुलिक व उर्विक ने प्रशासन के सिद्धान्तों को ‘पोस्डकार्ब’ के रूप में व्यक्त किया। तृतीय चरण (1938-1947) में प्रशासनिक सिद्धान्तों को चुनौती दी गयी। चतुर्थ चरण (1948-1970) में यह विषय पहचान के संकट से जूझता रहा। पंचम चरण (1971-1990) में इस विषय में अन्तःअनुशासनात्मक दृष्टिकोण का विकास हुआ तथा तुलनात्मक लोक प्रशासन एवं विकास प्रशासन की नूतन प्रवृत्तियों का प्रादुर्भाव हुआ। 1991 के बाद से उदारीकरण एवं वैश्वीकरण की प्रक्रिया के अंतर्गत लोक प्रशासन में ‘नवीन लोक प्रबन्धन’ की अवधारणा का विकास हुआ है।

नवीन लोक प्रशासन की अवधारणा का अभ्युदय सत्तर के दशक के अंतिम वर्षों में लोककल्याणकारी राज्य की अवधारणा को मूर्त रूप देने के प्रयत्नों में हुआ। यह परम्परागत लोक प्रशासन में परिवर्तन की विचारधारा हैं। मितव्ययिता एवं कार्यकुशलता के लक्ष्य को अपर्याप्त मानते हुए नवीन लोक प्रशासन नैतिकता एवं सामाजिक उपयोगिता पर बल देता है। यह मान्वोन्मुख एवं सम्बन्धात्मक हैं तथा मूल्यों से परिपूर्ण परिवर्तनशील प्रशासनिकतंत्र, विकेन्द्रीकरण, प्रत्यायोजन, जनसहभागिता, उत्तरदायित्व तथा सार्वजनिक रूप से हितकर कार्यों पर बल देता हैं।

4.6 शब्दावली

राजतंत्रीय शासन- शासन की वह प्रणाली जिसमें समस्त शक्तियाँ एक व्यक्ति के (राजा या रानी) हाथ में केन्द्रित होती हैं और सामान्यतया उसका पद वंशानुगत आधार पर निर्धारित होता है।

द्विभाजन- दो भागों में।

मूल्य सापेक्षता- मूल्यों अथवा आदर्शों के प्रति झुकाव अथवा उसमें आस्था व्यक्त करना।

मितव्ययिता- कम व्यय में किसी कार्य को सम्पादित करन की प्रवृत्ति।

अधिकारी प्रवृत्ति- प्रशासनिक अधिकारियों द्वारा अपने आपको आम जनता से उच्च समझने की प्रवृत्ति।

4.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. सत्य, **2.** राजनैतिक अर्थनीति, **3.** वुडरो विल्सन, **4.** सैद्धान्तिक पहलू , **5.** सत्य, **6.** असत्य, **7.** प्रासंगिकता, मूल्य, सामाजिक समता तथा परिवर्तन

4.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. गोलमब्यूस्की, राबर्ट टी, (1977), पब्लिक एडमिनिस्टेशन एज ए डेवलपिंग डिसीप्लीन, मॉरसिल डेक्कर, न्यूयार्क।
2. अवस्थी एवं माहेश्वरी, (2008), लोक प्रशासन, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा।
3. मेरिनी, फ्रैंक , (1971), टूवर्ड्स ए न्यू पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन-मिन्नोब्रुक पर्सपेक्टिव।

4.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. स्वेर्डलो इरविग, (1968), डेवलपमेंट एडमिनिस्ट्रेशनः कॉन्सेप्ट एण्ड प्राब्लम्स, सिरेकुस, युनिवर्सिटी प्रेस, सिरेकुस।
2. वर्मा, एस0 पी0 एवं शर्मा एस0 के0, (1983), डेवलपमेन्ट एडमिनिस्ट्रेशन, आई0आई0पी0ए0, नई दिल्ली।

4.10 निबंधात्मक प्रश्न

1. अध्ययन के एक विषय के रूप में लोक प्रशासन के विकास पर प्रकाश डालिए।
2. नवीन लोक प्रशासन से आप क्या समझते हैं? यह पुराने लोक प्रशासन से किस प्रकार भिन्न है?
3. नवीन लोक प्रशासन के लक्ष्यों अथवा उद्देश्यों पर प्रकाश डालिए।

इकाई- 5 लोक प्रशासन का अन्य सामाजिक विज्ञानों से सम्बन्ध

इकाई की संरचना

5.0 प्रस्तावना

5.1 उद्देश्य

5.2 लोक प्रशासन एवं राजनीति विज्ञान

5.3 लोक प्रशासन एवं समाजशास्त्र

5.4 लोक प्रशासन एवं अर्थशास्त्र

5.5 लोक प्रशासन एवं विधिशास्त्र

5.6 लोक प्रशासन एवं इतिहास

5.7 लोक प्रशासन एवं मनोविज्ञान

5.8 लोक प्रशासन एवं नीतिशास्त्र

5.9 सारांश

5.10 शब्दावली

5.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

5.12 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

5.13 सहायक/उपयोगी सहायक पाठ्य सामग्री

5.14 निबंधात्मक प्रश्न

5.0 प्रस्तावना

पिछली इकाई में आपको अध्ययन के एक विषय के रूप में लोक प्रशासन के विकास से अवगत कराया गया इस इकाई में हम आपको लोक प्रशासन का अन्य सामाजिक विज्ञानों से सम्बन्ध पर प्रकाश डालेंगे।

व्यापक अर्थ में ज्ञान का स्वरूप एकीकृत होता है। यदि उसे विभिन्न शाखाओं में विभाजित किया जाता है तो ऐसा इसलिए कि उससे अध्ययन की सुगमता प्राप्त हो जाती है। कोई भी प्रशासनिक व्यवस्था एक विशेष राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक परिवेश में कार्य करती है। अतः प्रशासनिक व्यवस्था की संरचना एवं उसकी भूमिका को सही रूप में समझने के लिए उस राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक परिवेश को समझना आवश्यक है, जिसमें वह कार्य करती है। इस हेतु संबंधित विषयों का ज्ञान आवश्यक है। दूसरे शब्दों में किसी सामाजिक व्यवस्था में लोक प्रशासन की भूमिका को समझने के लिए यह जानना आवश्यक है कि लोक प्रशासन का अन्य सामाजिक विज्ञानों से क्या सम्बन्ध है?

प्रस्तुत इकाई में दी गयी पाठ्य सामग्री को पढकर आप भली-भाँति यह स्पष्ट कर सकेंगे कि लोक प्रशासन का विषय अन्य सामाजिक विज्ञानों से किस प्रकार सम्बन्धित है।

5.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- यह समझ सकेंगे कि लोक प्रशासन किस प्रकार अन्य सामाजिक विज्ञानों से संबंधित है।
- यह स्पष्ट कर सकेंगे कि लोक प्रशासन किस प्रकार अपने राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, कानूनी, ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक एवं नैतिक परिवेशों से प्रभावित होता है और उन्हें भी प्रभावित करता है।
- ज्ञान के एकीकृत स्वरूप पर प्रकाश डाल सकेंगे।

5.2 लोक प्रशासन एवं राजनीति विज्ञान

लोक प्रशासन शायद ही किसी अन्य सामाजिक विज्ञान से इतना घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है, जितना कि राजनीति विज्ञान से। राजनीति विज्ञान राज्य, सरकार तथा उन समस्त संस्थाओं का अध्ययन करता है, जिसके माध्यम से समाज के सदस्य अपने अधिकारों का प्रयोग करते हैं। यह व्यक्ति एवं राज्य के सम्बन्धों पर प्रकाश डालता है। प्राचीन काल से लेकर उन्नीसवीं सदी के लगभग आठवें दशक तक लोक प्रशासन, राजनीति विज्ञान का ही एक भाग माना जाता था। 1887 से संयुक्त राज्य अमेरिका में वुडरो विल्सन ने इसे राजनीति विज्ञान से पृथक करने का आह्वान किया। अपने लेख 'द स्टडी ऑफ एडमिनिस्ट्रेशन' में विल्सन ने लिखा कि 'प्रशासन राजनीति के विषय क्षेत्र के बाहर है। प्रशासकीय समस्याऐं राजनीतिक समस्याऐं नहीं होती। यद्यपि राजनीति, प्रशासन के कार्यों का स्वरूप निर्धारित करती है, तथापि उसको यह अधिकार नहीं दिया जाना चाहिए कि वह प्रशासकीय पक्षों के बारे में हेर-फेर कर सके।' एक अन्य लेखक फ्रेंक गुडनाउ ने राजनीति विज्ञान एवं लोक प्रशासन के पृथक्करण का समर्थन करते हुए तर्क दिया कि 'राजनीति राज्य-इच्छा को प्रतिपादित करती है, जबकि प्रशासन इस इच्छा या नीतियों के क्रियान्वयन से सम्बन्धित है।' उपर्युक्त मत संयुक्त राज्य अमेरिका की तत्कालीन प्रशासनिक व्यवस्था में सुधारों से प्रेरित थे, जो भ्रष्टाचार एवं अक्षमता से ग्रसित था। इसका उद्देश्य उस 'इनामी पद्धति' की बुराइयों को दूर करना था, जिसके अनुसार सत्ता में आने वाला राजनैतिक दल प्रशासन चलाने के लिए अपने पूर्ववर्ती द्वारा नियुक्त अधिकारियों के स्थान पर अपने चुने अधिकारियों को नियुक्त करता था। लेकिन कालान्तर में यह महसूस किया जाने लगा कि लोक प्रशासन की राजनीति विज्ञान से पृथकता इस विषय के विकास को अवरूद्ध कर रही है। परिणामस्वरूप, समकालीन विद्वान लोक प्रशासन एवं राजनीति विज्ञान के एकीकरण का पुनः समर्थन करने लगे है।

यह एक सर्वविदित तथ्य है कि किसी भी देश की राजनीतिक व्यवस्था उसकी प्रशासकीय व्यवस्था से जुड़ी होती है। वास्तव में प्रशासकीय व्यवस्था का सृजन ही राजनीतिक व्यवस्था के माध्यम से होता है। ये दोनों एक-दूसरे को इस सीमा तक प्रभावित करते हैं कि कभी-कभी इनकी पृथक भूमिका निर्धारित करना कठिन होता है। डिमॉक ने सही कहा है कि 'लोक प्रशासन तथा राजनीति एक-दूसरे से इतने घनिष्ठ हैं कि इन दोनों के मध्य कोई विभाजन रेखा नहीं खींची जा सकती। राजनीतिज्ञ जब एक विभाग की अध्यक्षता करता है तो वह एक प्रशासक के रूप में कार्य करता है और जब वह सरकार में अपने दल की तस्वीर को सुधारने की कोशिश करता है, तो वह एक कुशल राजनीतिज्ञ के रूप में अपनी भूमिका का निर्वाह करता है।'

सैद्धान्तिक दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि प्रशासन का कार्य वहाँ आरम्भ होता है, जहाँ राजनीतिज्ञ का कार्य समाप्त होता है। अर्थात राजनीतिज्ञ पहले नीतियों का निर्धारण करता है तथा उसके बाद उन नीतियों को क्रियान्वित करने का दायित्व प्रशासक का होता है। लेकिन व्यावहारिक स्थिति तो यह है कि नीतियों के निर्धारण में भी प्रशासक वर्ग महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। मंत्री जन प्रतिनिधि होते हैं, अपने विभाग के विशेषज्ञ नहीं। वे आते-जाते रहते हैं, स्थायी रूप से नहीं रहते। ऐसी स्थिति में उन्हें विशेषज्ञ प्रशासकों के सलाह पर निर्भर रहना पड़ता है। वरिष्ठ प्रशासक मंत्रियों को आवश्यक आंकड़े, जानकारी तथा सलाह देकर नीति-निर्माण की प्रक्रिया में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

वास्तव में अगर देखा जाय तो राजनीति की सफलता प्रशासकीय कार्यकुशलता पर और प्रशासकीय सफलता स्थायी राजनीति तथा स्वरूप पथ-प्रदर्शन पर आधारित है। दूसरे शब्दों में, राजनीति के बिना प्रशासन तथा प्रशासन के बिना राजनीति अपूर्ण है। विभिन्न देशों की राजनीतिक व्यवस्थायें भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है जो उनके प्रशासन की प्रकृति और स्वरूप को प्रभावित करती है। ऐसी स्थिति में राजनीतिक व्यवस्था को समझे बिना

प्रशासनिक व्यवस्था को समझना मुश्किल है। उदाहरणस्वरूप, एक लोकतांत्रिक शासन-व्यवस्था में प्रशासनिक कर्मचारियों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे अपने राजनीतिक स्वामी के आदेशों का पालन करें। ऐसी स्थिति में मैक्स वेबर द्वारा प्रतिपादित 'नौकरशाही की तटस्थता' की अवधारणा सही नहीं रहती है। इसी प्रकार साम्यवादी देशों या विकासशील देशों में लोक प्रशासन एक विशेष प्रकार की भूमिका निभाता है। अतः संबंधित देशों में लोक प्रशासन की भूमिका को समझने के लिए उन देशों की राजनीतिक व्यवस्था को समझना होगा।

राजनीति विज्ञान तथा लोक प्रशासन दोनों में अध्ययन के कुछ सामान्य क्षेत्र पाये जाते हैं, जैसे-तुलनात्मक संविधान, स्थानीय शासन, लोक नीति इत्यादि। इसके अतिरिक्त दोनों विषयों के शोधकर्ताओं की पद्धतियों एवं तकनीकों में भी बहुत कुछ समानता देखने को मिलती है।

इस प्रकार, यह कहा जा सकता है कि लोक प्रशासन का राजनीति विज्ञान से निकट सम्बन्ध है। सैद्धान्तिक रूप से राजनीति एवं प्रशासन में भले ही भिन्नता हो, लेकिन व्यावहारिक दृष्टि से इन्हें पृथक करना मुश्किल है। लेसली लिपसन ने ठीक ही कहा है कि ''सरकार के कार्यों के मध्य पूर्ण विभाजन की कोई रेखा खींचना असम्भव है। सरकार निरन्तर गति से चलने वाली एक प्रक्रिया है। व्यवस्थापन उसकी एक मंजिल है और प्रशासन दूसरी। दोनों एक-दूसरे से मिली हुई हैं और कुछ बिन्दुओं पर उनमें अन्तर कर पाना मुश्किल है।'' वास्तव में राजनीति एवं प्रशासन एक-दूसरे के पूरक हैं और उन्हें एक ही सिक्के का दो पहलू माना जा सकता है।

5.3 लोक प्रशासन एवं समाजशास्त्र

समाजशास्त्र सामाजिक संरचनाओं, प्रक्रियाओं, रीति-रिवाजों, परम्पराओं इत्यादि का क्रमबद्ध अध्ययन करता है। एक सामाजिक प्राणी के रूप में यह व्यक्ति के समस्त क्रियाओं से सम्बन्धित है। लोक प्रशासन भी समाज की एक प्रक्रिया है। जहाँ एक तरफ सामाजिक परिवेश लोक प्रशासन की संरचना एवं भूमिका को प्रभावित करता है, वहीं दूसरी तरफ लोक प्रशासन भी कई बार सामाजिक परिवेश को प्रभावित करता है। विशेषकर उन परम्परागत समाजों में जो वर्गीय, जातिगत एवं धार्मिक प्रतिबद्धताओं से ग्रसित है और जहाँ पर्याप्त सामाजिक आर्थिक विषमताऐं विद्यमान हैं। लोक प्रशासन का अध्ययन बिना सामाजिक परिवेश को दृष्टिगत किये किया जाना सम्भव नहीं है। रिग्स एवं प्रेस्थस जैसे विद्वानों ने इसी उद्देश्य से लोक प्रशासन के अध्ययन में 'पारिस्थिकीय दृष्टिकोण' विकसित किया है।

प्रत्येक समाज कुछ विशेष लक्ष्यों, मूल्यों एवं विश्वासों से सम्बन्धित होता है। समाज का एक अंग होने के नाते लोक प्रशासन भी उन्हीं लक्ष्यों, मूल्यों एवं विश्वासों से सम्बन्धित होता है। इस प्रकार इनमें पारस्परिक सम्बद्धता होती है। समाजशास्त्र का सम्बन्ध विभिन्न प्रकार के समूहों के व्यवहारों एवं उन तरीकों के अध्ययन से है, जिनसे कि समूह मनुष्य के कार्यों एवं मूल्य प्रवृत्तियों को प्रभावित करते हैं। प्रशासन एक सहकारी प्रयास है, जिसमें बहुत सारे लोग किन्हीं लक्ष्यों की प्राप्ति में संलग्न होते हैं। प्रशासक वर्ग स्वयं अपने आप में एक समूह है जिसे ''नौकरशाही'' कहा जाता है और जिसकी एक विशिष्ट पहचान होती है। यह समूह अपने सामाजिक वातावरण को प्रभावित करता है और स्वयं इससे प्रभावित भी होता है। ऐसी स्थिति में प्रशासक वर्ग के लिए विभिन्न सामाजिक समूहों, उनके व्यवहारों एवं सामाजिक जीवन को प्रभावित करने वाले विभिन्न कारकों की जानकारी आवश्यक है, जोकि उन्हें समाजशास्त्र ही उपलब्ध कराता है।

प्रशासन की समस्याओं को समझने के लिए केवल व्यक्ति को समझना ही पर्याप्त नहीं है, अपितु उस वातावरण को भी समझना आवश्यक है, जिसके अंतर्गत वह निवास करता है। उदाहरणस्वरूप- अपराधों को रोकना एक प्रमुख प्रशासनिक समस्या है, लेकिन ऐसी समस्या का जड़ से उन्मूलन तब तक संभव नहीं है जब तक कि उन सामाजिक आर्थिक कारणों का पता नहीं लगा लिया जाता, जिसके कारण बड़े पैमाने पर समाज में अपराध की प्रवृत्तियां

उत्पन्न होती है। यहाँ पर समाजशास्त्र लोक प्रशासन की मदद करता है। बहुत से व्यक्ति मजबूरी के कारण अपराध करते हैं और उनमें सुधरने की प्रवृत्ति होती है। अतः ऐसे व्यक्तियों के प्रति एक मानवीय दृष्टिकोण अपनाये जाने की जरूरत होती है। समाजशास्त्र प्रशासकों में इस तरह के मानवीय दृष्टिकोण विकसित करने में सहायता प्रदान करता है। इसी से प्रेरित होकर जेल व्यवस्था में कई प्रकार के सुधार किये गये हैं और अपराधियों को समाजोपयोगी बनाने हेतु अनेक प्रकार की योजनाऐं चलाई जाती हैं।

आधुनिक लोक कल्याणकारी राज्यों के अंतर्गत लोक प्रशासन का कार्य केवल कानून एवं व्यवस्था को बनाये रखने या कर वसूलने तक ही सीमित नहीं है, बल्कि व्यापक सामाजिक हित में विभिन्न प्रकार की कल्याणकारी योजनाओं को लागू करने से भी सम्बन्धित है। किसी योजना का सफल कार्यान्वयन इस बात पर निर्भर करता है कि प्रशासक उस योजना के निहितार्थ सामाजिक मूल्यों एवं उद्देश्यों के प्रति कितनी आस्था या प्रतिबद्धता रखते हैं। लोक प्रशासन में 'प्रतिबद्ध नौकरशाही' की अवधारणा का विकास इसी सन्दर्भ में हुआ है। यहाँ समाजशास्त्र किसी नीतिगत फैसले के सामाजिक निहितार्थ को समझने में लोक प्रशासन की मदद करता है।

लोक प्रशासन की परंपरागत अवधारणा में मानव व्यवहार को स्थिर मानकर प्रशासन की संरचनाओं को अधिक महत्व दिया गया था। लेकिन समकालीन सिद्धान्तवादी मानव व्यवहार को गतिशील मानते हुए यह जानने में उत्सुकता रखते हैं कि किसी विशेष परिस्थिति में प्रशासक द्वारा कोई विशेष निर्णय क्यों लिया गया? इस तरह के शोध हेतु प्रशासकों की सामाजिक पृष्ठभूमि का ज्ञान आवश्यक होता है, जिसे प्राप्त करने के लिए समाजशास्त्र द्वारा विकसित साधनों का प्रयोग किया जा सकता है। विशेषकर आधुनिक काल में लोक प्रशासन में ऐसे शोध की प्रवृत्ति बढी हैं, जिसमें बड़े पैमाने पर समाजशास्त्र द्वारा विकसित प्रतिमानों का प्रयोग किया जा रहा है।

मैक्स बेवर जैसे समाजशास्त्री द्वारा प्रस्तुत 'नौकरशाही का सिद्धान्त' लोक प्रशासन का एक चर्चित सिद्धान्त है, जिसने कई विद्वानों को प्रभावित किया है। इसके अतिरिक्त पदस्थिति, वर्ग, सत्ता इत्यादि पर किये गये समाजशास्त्र के कुछ हाल के शोधकार्यों ने लोक प्रशासन के अध्ययन को समृद्ध करने में सहायता दी है। इस प्रकार, लोक प्रशासन एवं समाजशास्त्र एक-दूसरे से घनिष्ठ रूप से संबंधित है।

5.4 लोक प्रशासन एवं अर्थशास्त्र

लोक प्रशासन एवं अर्थशास्त्र की निकटता प्राचीनकाल से ही देखने को मिलती है। कौटिल्य का ग्रन्थ 'अर्थशास्त्र' न केवल प्रशासन की कला पर एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है बल्कि अर्थशास्त्र का भी सन्दर्भ-ग्रन्थ है। कई मामलों में यह ग्रन्थ लोक प्रशासन एवं अर्थशास्त्र के निकट सम्बन्धों को दर्शाता है।

लोक-कल्याणकारी राज्य की अवधारणा ने लोक प्रशासन एवं अर्थशास्त्र की घनिष्ठता को और भी बढा दिया है। आज के सन्दर्भ में प्रशासक के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि उसे आर्थिक समस्याओं के बारे में पर्याप्त समझदारी है। वस्तुतः प्रत्येक प्रशासकीय नीति का मूल्यांकन उसके आर्थिक परिणामों के आधार पर ही किया जाता है। यही कारण है कि विभिन्न दबाव समूह अपने-अपने आर्थिक हितों के संरक्षण के लिए प्रशासन को प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं। स्पष्टतः आर्थिक समस्याओं से अवगत न होने की स्थिति में प्रशासक अपने उत्तरदायित्वों का सही तरीके से निर्वाह नहीं कर सकते।

नवीन आर्थिक विचार प्रशासन के संगठन और उसकी रीतियों को महत्वपूर्ण ढंग से प्रभावित करते रहे हैं। व्यावसायिक क्षेत्र में राज्य के प्रवेश के फलस्वरूप नये प्रकार के प्रशासकीय संगठन, सार्वजनिक निगम का उदय हुआ है। आज प्रशासकों के नियंत्रण में बीमा कम्पनियों के प्रबन्ध बैकिंग, कृषि से सम्बन्धित समस्याओं का निपटारा आदि है। इस प्रकार आर्थिक मामलों में सरकारी क्षेत्र की भूमिका निरन्तर बढती रही है, जिसने लोक प्रशासन में अर्थशास्त्र के ज्ञान की महत्ता को बढा दिया है। यही कारण है कि हमारे देश में 'भारतीय आर्थिक सेवा'

का अलग से गठन किया गया है। इस प्रकार अर्थशास्त्र तथा लोक प्रशासन में घनिष्ठ सम्बन्ध है। यदि लोक प्रशासन अर्थशास्त्र को संगठन प्रदान करता है तो अर्थशास्त्र, प्रशासन को संगठन के लिए धन के स्रोत प्रदान करता है। इन दोनों की घनिष्ठता निम्नलिखित रूप से स्पष्ट की जा सकती है-

1. एक आर्थिक प्रश्न भी है और यह लोक प्रशासन का विषय भी है।
2. बजट का सम्बन्ध लोक प्रशासन तथा अर्थशास्त्र दोनों से ही है।
3. उद्योगों का राष्ट्रीयकरण केवल एक आर्थिक प्रश्न ही नहीं है, यह लोक प्रशासन का गम्भीर विषय भी है।
4. उत्पादन के साधनों में परिवर्तन के साथ समाज में परिवर्तन होता है और जिसके फलस्वरूप हमारी प्रशासकीय व्यवस्था भी बदल जाती है।
5. राष्ट्र की आर्थिक व्यवस्था प्रशासन की कार्यकुशलता पर अबलम्बित है।
6. नियोजन अर्थशास्त्र तथा लोक प्रशासन दोनों से सम्बन्धित है।
7. अर्थशास्त्र का 'सांख्यिकी विभाग' लोक प्रशासन के संगठन का महत्वपूर्ण विभाग है।
8. सामान्य नीतियों के निर्धारण पर आर्थिक परिस्थितियों का प्रभाव पड़ता है।
9. सरकारी तथा सार्वजनिक निगम, उद्योग-धन्धों की व्यवस्था, श्रमिक समस्या, मुद्रा, अधिकोषण आदि का सम्बन्ध लोक प्रशासन तथा अर्थशास्त्र दोनों से है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि लोक प्रशासन का अर्थशास्त्र के साथ निकट सम्बन्ध है।

5.5 लोक प्रशासन एवं विधिशास्त्र

विधि या कानून सत्ता द्वारा आरोपित आचार-विचार के वे नियम हैं, जिसका पालन करना अनिवार्य होता है और जिसका उल्लंघन करने पर व्यक्ति दंड का भागी होता है। नियमों को लागू करने का कार्य प्रशासन का होता है। अतः लोक प्रशासन एंव विधिशास्त्र एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं।

लोक प्रशासन का संचालन देश की विधियों द्वारा निर्धारित सीमाओं के अंतर्गत होता है। प्रशासक कोई ऐसा कार्य नहीं कर सकता जो विधि के प्रतिकूल हो, भले ही अन्य आधारों पर वह विवेकपूर्ण क्यों न प्रतीत होता हो। यथार्थ में लोक प्रशासन को विधि के दाहिनी ओर रहना होता है। दूसरे शब्दों में इसका अर्थ है कि वह न केवल ऐसे कार्य करे जिनसे विधियों का उल्लंघन न हो, अपितु ऐसे कार्य करे जिनके लिए कानून अनुमति प्रदान करता हो। लोक प्रशासन एंव निजी प्रशासन में इसी आधार पर अन्तर किया जाता है कि निजी प्रशासन वैधानिक सत्ता की मर्यादा को उस रूप में स्वीकार नहीं करता है जिस रूप में लोक प्रशासन करता है। यद्यपि कानून प्रशासन को पर्याप्त 'स्वविवेकपूर्ण शक्तियां' भी प्रदान करता है, परन्तु स्वविवेक का प्रयोग भी स्वेच्छाचारी तरीके से नहीं किया जा सकता।

अधिकांश विधियों में सार्वजनिक नीतियों की अभिव्यक्ति होती है, जिसे क्रियान्वित करना प्रशासन का मुख्य दायित्व है। विल्सन के शब्दों में ''लोक प्रशासन सार्वजनिक विधि के व्यवस्थित तथा विस्तृत कार्यान्वयन के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।'' इस निकट सम्बन्ध के कारण ही कई देशों में लोक प्रशासन को मुख्यतः सार्वजनिक विधि की एक शाखा के रूप में ही मान्यता प्राप्त है। यहाँ उल्लेखनीय बात यह है कि प्रशासन की भूमिका केवल विधियों के क्रियान्वयन तक ही सीमित नहीं है, बल्कि विधियों के निर्माण से भी इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। अधिकांश विधेयकों की उत्पत्ति प्रशासकीय विभागों में ही होती है।

प्रशासन के उत्तरदायित्व को वहन करने के क्षेत्र में विधि एक बहुत बड़ा साधन है। प्रशासन के अनाधिकृत कार्यों तथा वैधानिक सत्ता के उल्लंघन को न्यायालय विधियों के अनुसार ठीक कर लेते हैं। इसके अतिरिक्त विधि के आधार पर प्रशासकों को नागरिकों के अधिकारों का अतिक्रमण करने से रोका जा सकता है। एक बड़ी सीमा तक

विधि की मौलिक धारणाओं की रचना को प्रभावित करती है। वस्तुतः इसी आधार पर हम उन विधियों के औचित्य की व्याख्या कर सकते हैं, जिनके द्वारा समाज के कमजोर वर्गों के लोगों को शासन द्वारा संरक्षण प्रदान किया जाता है।

प्रशासन के विरूद्ध जाँच करने वाले अधिकारी 'ओमबुड्समैन' (भारतीय रूप लोकपाल एवं लोकायुक्त) का अध्ययन लोक प्रशासन के अंतर्गत जन-शिकायतों को दूर करने वाली संस्था के रूप में किया जाता है। इस प्रकार की संस्थाओं का अध्ययन विधिशास्त्र तथा लोक प्रशासन के बीच बढते हुए सम्बन्धों को प्रदर्शित करता है। इसके अतिरिक्त, प्रत्यायोजित विधायन, प्रशासनिक न्यायाधिकरण का गठन, कार्य निष्पादन जैसे कुछ विषयों का अध्ययन लोक प्रशासन तथा विधिशास्त्र दोनों विषयों में किया जाता है। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि लोक प्रशासन का विधिशास्त्र से भी घनिष्ठ सम्बन्ध है।

5.6 लोक प्रशासन एवं इतिहास

इतिहास सामाजिक विज्ञान की वह शाखा है जो हमें भूतकाल की जानकारी उपलब्ध कराता है। लोक प्रशासन के अध्ययन हेतु अपेक्षित सामग्री हमें इतिहास से प्रचूर मात्रा में उपलब्ध होता है। वास्तव में ऐतिहासिक सन्दर्भ की अनुपस्थिति में किसी भी देश की प्रशासकीय प्रणाली का अध्ययन समुचित रूप से नहीं किया जा सकता। सच तो यह है कि विभिन्न प्रशासकीय संस्थाओं की उत्पत्ति और विकास को केवल इतिहास की सहायता से ही समझा जा सकता है।

इतिहास मानव अनुभवों की विशाल खान है। हमारी प्राचीन प्रशासनिक समस्याऐं क्या थीं और विशेष परिस्थितियों में उनका समाधान किस प्रकार हुआ? यह सब इतिहास से हमें ज्ञात हो सकता है। इतिहास में हम लोक प्रशासन के लिए उदाहरण एवं चेतावनी दोनों ही प्राप्त करते हैं। प्रशासन की भावी रूपरेखा तैयार करने में इतिहास हमारी बहुत बड़ी सहायता करता है। लोक प्रशासन अन्य प्राकृतिक विज्ञानों की भाँति प्रयोगात्मक नहीं है। इतिहास में प्रशासन सम्बन्धी जो अनुभव है वे ही हमारे लिए प्रयोग की सामग्री है। लोक प्रशासन के सम्बन्ध में कौन-कौन से विचार कब और कैसी परिस्थितियों में उत्पन्न होते रहे हैं, किस प्रकार उसका खण्डन अथवा समर्थन होता रहा है, यह सब हमें इतिहास से मिल सकता है।

लोक प्रशासन के अध्ययन की परम्परागत पद्धतियों में ऐतिहासिक पद्धति काफी लोकप्रिय रही है। इस सम्बन्ध में एल0डी0 व्हाइट की दो पुस्तकें 'द फेडरलिस्ट्स' तथा 'जेफ्रसोनियन्स' काफी चर्चित रही हैं। इन पुस्तकों में अमेरिकी गणतन्त्र के प्रथम चालीस वर्षो के संघ प्रशासन का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। ये पुस्तकें उस समय की प्रशासकीय व्यवस्था को समझने के लिए महत्वपूर्ण विषय सामग्री प्रदान करती हैं। इसके अतिरिक्त एस0 बी0 क्राइन्स की 'एन इंटोडक्शन टू द एडमिनिस्ट्रेटिव हिस्ट्री ऑफ में डिवल इंगलैण्ड' मुखर्जी की 'लोकल गवर्नमेंण्ट इन एन्सिऐंट इण्डिया' जदुनाथ सरकार द्वारा रचित 'मुगल एडमिनिस्टेशन' बी0 जी0 सप्रे की 'ग्रोथ ऑफ इन्डियन एडमिनिस्ट्रेशन' इत्यादि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

इस प्रकार का प्रशासनिक इतिहास का अध्ययन समकालीन लोक प्रशासन की पृष्टभूमि को समझने में हमारी मदद करता है। आधुनिक इतिहासकारों द्वारा प्रचलित प्रशासकीय व्यवस्थाओं पर विशेष ध्यान देने की प्रवृत्ति लोक प्रशासन के विषय के लिए एक शुभ संकेत है, क्योंकि इससे अत्यन्त मूल्यवान सामग्री प्राप्त होगी। अतः यह कहा जा सकता है कि लोक प्रशासन इतिहास से भी घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं।

5.7 लोक प्रशासन एवं मनोविज्ञान

मनोविज्ञान समाज में मानवीय आचरण का अध्ययन है और लोक प्रशासन मानवीय प्रक्रियाओं का। अब से पहले प्रशासन में मनोविज्ञान के महत्व को स्वीकार नहीं किया जाता था, परन्तु अर्थशास्त्र की भाँति आज मनुष्य की

प्रत्येक क्रिया में मनोवैज्ञानिक तत्व को खोजने की चेष्टा की जाती है। लोक प्रशासन में मनोविज्ञान का महत्व दिन-प्रतिदिन बढ रहा है। विशेषकर सामाजिक एवं ओद्यौगिक मनोविज्ञान का महत्व आज सभी लोग स्वीकार करते हैं। सभी लोक कर्मचारियों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे अपने राजनीतिक स्वामी(जनता) के साथ अच्छे सम्बन्ध बनाये रखेंगे और अच्छे सम्बन्धों को विकसित करने के लिए मनोविज्ञान की जानकारी आवश्यक है। मानव की प्रकृति परिवर्तनशील है। कई बार परिस्थितिवश अथवा किसी भावावेश में आकर व्यक्ति अपने व्यवहार को बदल देता है। ऐसी स्थिति में एक कुशल प्रशासक के लिए यह आवश्यक है कि वह जनमनोविज्ञान से परिचित हो। जनमत को समझने में मनोविज्ञान से काफी सहायता मिलती है। बहुत से अपराधों का विश्लेषण इसी आधार पर किया जाता है। इसके अतिरिक्त लोक सेवाओं में भर्ती के समय मनोवैज्ञानिकों द्वारा विकसित बुद्धि परिक्षणों का अधिकाधिक मात्रा में प्रयोग होने लगा है। लोक सेवाओं के क्षेत्र में उत्प्रेरणाओं तथा मनोबल की समस्याऐं यथार्थ में मनोवैज्ञानिक समस्याऐं हैं, जिन्हें मनोविज्ञान की मदद से ही समझा जा सकता है तथा उनका निराकरण किया जा सकता है।

5.8 लोक प्रशासन एवं नीतिशास्त्र

नीतिशास्त्र मानव आचरण एवं व्यवहार के सम्बन्ध में उचित, अनुचित का ज्ञान कराता है। लोक प्रशासन का उद्देश्य ऐसे अनुकूल एवं स्वस्थ वातावरण का निर्माण करना है, जिसमें नैतिकता संभव हो सके। अतः ये दोनों विषय एक-दूसरे से सम्बन्धित है।

प्रशासन में नैतिकता का अपना एक विशिष्ट स्थान है। जिस प्रकार हम नैतिकता के अभाव में स्वस्थ राजनीति की कल्पना नहीं कर सकते, उसी प्रकार इसके अभाव में कुशल एवं उत्तरदायी प्रशासन की कल्पना करना व्यर्थ है। नैतिक वातावरण की उत्पत्ति प्रशासन का लक्ष्य है। नैतिकता प्रशासन को वह मापदण्ड प्रदान करती है, जिसकी सहायता से प्रशासक-वर्ग के कार्यों का मूल्यांकन किया जा सकता है। यद्यपि परम्परागत रूप से 'मितव्ययिता' एवं 'कार्यकुशलता' को प्रशासन का प्रमुख लक्ष्य माना जाता रहा है, किन्तु वास्तविकता यह है कि नैतिकताविहीन प्रशासन न तो 'मितव्ययी' हो सकता है न ही कार्यकुशल। ऐसे प्रशासन से हम न तो प्रगति की अपेक्षा कर सकते हैं, नहीं जीवन में मूल्यवान वस्तुओं की।

विज्ञान और प्रविधि स्वयं किसी भी सामाजिक समस्या का समाधान प्रस्तुत नहीं कर सकती। चाहे वे जातिगत या साम्प्रदायिक विद्वेष एवं संघर्ष के रूप में हो याछुआछूत, सती प्रथा, बाल विवाह, नारी उत्पीड़न जैसी सामाजिक बुराईयों के रूप में। हमें इन समस्याओं के समाधान के लिए ऐसी सामाजिक नैतिकता की आवश्यकता है जो मनुष्य में मानवीय गुणों को बढावा दे। यथार्थ में लोकतंत्र का अस्तित्व ही उच्च नैतिक गुणों को विकसित किये बिना सम्भव नहीं है। यदि मनुष्यों के बीच बन्धुत्व की भावना को जान बूझकर विकसित नहीं किया गया तो प्रविधि का विकास अन्ततोगत्वा विनाश एवं अराजकता को ही जन्म देगा। इसलिए हमारी आज की पृष्ठभूमि में उच्च नैतिक गुणों से सम्पन्न व्यक्तियों की जितनी अधिक आवश्यकता है, उतनी पहले कभी नहीं थी। वस्तुतः आज के युग में प्रशासन की बागडोर ऐसे लोगों के हाथ में सौंपे जाने पर ही समाज एवं राष्ट्र का कल्याण हो सकता है।

लोक प्रशासकों में जो गुण सबसे अधिक अपेक्षित है वह है ईमानदारी। परन्तु आज हमारे देश के प्रशासकों में इस गुण का सर्वथा अभाव है। आम लोगों में यह धारणा बन गयी है कि बिना रिश्वत के कोई भी प्रशासनिक कार्य सम्पन्न नहीं होता। वास्तव में सार्वजनिक जीवन में नैतिक मूल्यों का ह्रास इसका एक प्रमुख कारण है। विभिन्न विकास एवं कल्याणकारी योजनाओं के लिए आवंटित धनराशि का एक बहुत बड़ा हिस्सा प्रशासनिक अधिकारियों एवं राजनीतिज्ञों द्वारा हड़प लिया जाता है। ऐसी स्थिति में क्या हम अपेक्षित प्रगति की कल्पना कर सकते है? वास्तव में देश की प्रगति को सम्भव बनाने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि देश के प्रशासन में

व्याप्त भ्रष्टाचार का अन्त हो। नीतिशास्त्र का अध्ययन तथा उसके नियमों का कार्यान्वयन हमें वांछित लक्ष्य की ओर आगे बढने की प्रेरणा दे सकता है।

अभ्यास प्रश्न-

1. प्राचीन काल से लेकर उन्नीसवीं सदी के लगभग आठवें दशक तक लोक प्रशासन राजनीति विज्ञान का ही एक भाग माना जाता था। सत्य/असत्य
2. .... ने लोक प्रशासन को राजनीति विज्ञान से पृथक करने का आह्वान किया।
3. सामाजिक परिवेश लोक प्रशासन की संरचना को प्रभावित नहीं करता है। सत्य/असत्य
4. प्रशासक वर्ग अपने आप में एक समूह है जिसे .... कहा जाता है।
5. आज के प्रशासक के लिए आर्थिक समस्याओं की पर्याप्त जानकारी आवश्यक है। सत्य/असत्य
6. लोक प्रशासन इतिहास से सम्बन्धित नहीं है। सत्य/असत्य
7. लोक सेवा के क्षेत्र में उत्प्रेरणाओं तथा मनोबल की समस्याऐं यथार्थ में .... समस्याऐं हैं।
8. परम्परागत रूप से मितव्ययिता एवं .... को प्रशासन का मुख्य लक्ष्य माना जाता रहा है।

5.9 सारांश

विभिन्न सामाजिक घटनाऐं एक-दूसरे से सम्बद्ध होती हैं। अतः किसी भी सामाजिक घटना का विश्लेषण उसके विभिन्न आयामों को समझे बिना नहीं किया जा सकता। ज्ञान एक समन्वित इकाई है, लेकिन इसके विभिन्न पहलुओं के विस्तृत अध्ययन की आवश्यकता ने विशिष्टीकरण को प्रेरित किया। यद्यपि विशिष्टीकरण की वृद्धि से शोध को बढावा मिला, लेकिन इससे सामाजिक यथार्थ के प्रति एकीकृत दृष्टिकोण की आवश्यकता की पूर्ति नहीं हो पाई है। अतः विभिन्न विषयों के अध्ययन में 'अन्तः अनुशासनात्मक दृष्टिकोण' अपनाना आवश्यक हो गया है। लोक प्रशासन का अन्य सामाजिक विज्ञानों- राजनीति विज्ञान, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, विधिशास्त्र, इतिहास, मनोविज्ञान तथा नीतिशास्त्र से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसका अभ्युदय राजनीति विज्ञान से हुआ है। कुछ सताब्दी पूर्व इसे राजनीति विज्ञान से अलग किया गया, लेकिन एक स्वतंत्र विषय के रूप में बनाए रखने में कठिनाई हो रही है। यह महसूस किया जा रहा है कि राजनीति विज्ञान से ली गयी संकल्पनाओं से लोक प्रशासन को सुदृढ किया जाना चाहिए। सैद्धान्तिक दृष्टि से राजनीति एवं प्रशासन भले ही अलग-अलग हों, लेकिन व्यावहारिक दृष्टि से इनमें भिन्नता करना मुश्किल है। इसी प्रकार समाजशास्त्र से भी इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है, क्योंकि बिना सामाजिक परिवेश को समझे प्रशासन की प्रकृति एवं भूमिका को समझना मुश्किल है। मैक्स बेवर जैसे समाजशास्त्री के कार्यों ने लोक प्रशासन के सिद्धान्तों और व्यवहारों को प्रभावित किया है। आधुनिक काल में प्रशासन को सामाजिक परिवर्तन का एक प्रमुख संवाहक माना जाता है।

इसी प्रकार नियोजित आर्थिक विकास की आवश्यकताओं ने अर्थशास्त्र के साथ भी लोक प्रशासन के सम्बन्धों को मजबूत बनाया है। नीतियों को प्रभावी रूप से क्रियान्वित करने के लिए आधुनिक प्रशासकों को उसके आर्थिक पहलुओं की जानकारी आवश्यक है।

अर्द्ध-विकसित एवं विकासशील देशों में प्रशासन का केन्द्र-बिन्दु निर्धनता का उन्मूलन करना है। संसाधनों को संघटित करने सम्बन्धी सभी मामलों (कराधान, निर्यात, आयात आदि) का प्रशासन पर व्यापक प्रभाव पड़ता है। प्रशासनिक संस्थाओं के वर्तमान स्वरूप को सही रूप में समझने के लिए उसके अतीत को जानना आवश्यक है। इस दृष्टि से इतिहास का ज्ञान लोक प्रशासन में लाभदायक है। विधिशास्त्र के साथ भी लोक प्रशासन का अटूट सम्बन्ध है, क्योंकि प्रशासन को सार्वजनिक विधि के व्यवस्थित निष्पादन का यंत्र समझा जाता है। इसके अतिरिक्त आधुनिक काल में एक कुशल प्रशासक के लिए यह आवश्यक है कि 'जन मनोविज्ञान' से परिचित हो। इस दृष्टि से

मनोविज्ञान से भी लोक प्रशासन की निकटता बढी है। अंत में बढते हुए प्रशासनिक भ्रष्टाचार तथा लालफीताशाही की प्रवृत्तियों के कारण लोक प्रशासन में नैतिक मूल्यों की प्रतिस्थापना पर बहुत अधिक बल दिया जा रहा है। इस दृष्टि से नीतिशास्त्र के साथ भी इसके सम्बन्धों में प्रगाढता आई है।

5.10 शब्दावली

इनामी पद्धति- अमेरिका में पायी जाने वाली इस व्यवस्था को पद पुरस्कार व्यवस्था के नाम से भी जाना जाता है। यह एक प्रशासनिक बुराई थी जिसके अंतर्गत प्रत्येक चुनाव के बाद नया प्रशासनिक अध्यक्ष अपनी रूचि के अनुसार प्रशासनिक पदों पर अपने दल के लोगों की नियुक्ति करता था।

विकासशील देश- ऐसा देश जो अर्द्ध-विकसित अवस्था से विकास की ओर अग्रसर है।

प्रतिबद्ध नौकरशाही- कुछ निश्चित उददेश्यों एवं विचारधाराओं के प्रति समर्पित प्रशासनिक कर्मचारियों का वर्ग या प्रशासनिक व्यवस्था।

मनोबल- व्यक्तिगत अथवा सामूहिक आधार पर मानसिक या नैतिक विकास।

ओम्बुडसमैन- संसद या ऐसी ही किसी संस्था द्वारा नियुक्त अधिकारी जो कार्यपालिका के नियंत्रण से मुक्त हो और जो सरकारी विभागों द्वारा नागरिकों के साथ अन्यायपूर्ण व्यवहार की शिकायतों की जाँच करे तथा शिकायतों का उचित समाधान सुझाये।

5.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. सत्य, **2.** वुडरो विल्सन, **3.** असत्य, **4.** नौकरशाही, **5.** सत्य, **6.** असत्य, **7.** मनौवैज्ञानिक, **8.** कार्यकुशलता

5.12 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. शरण, परमात्मा एवं चतुर्वेदी, दिनेश चन्द्र, (1985), लोक प्रशासन, मीनाक्षी प्रकाशन मेरठ।
2. सिंह, आर0 एन0,(1978), लोक प्रशासन सिद्धान्त एवं व्यवहार, रतन प्रकाशन मंदिर आगरा।

5.13 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. डिमॉक, एम0 इ0 एवं डिमॉक जी0 ए0 (1975) पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन, ऑक्सफोर्ड एण्ड आई.बी.एच.पब्लिक कम्पनी, नई दिल्ली।
2. शर्मा, एम0 पी0, (1960), पब्लिक एडमिनिस्टेशन थ्योरी एण्ड प्रेक्टिस, किताब महल इलाहाबाद।

5.14 निबंधात्मक प्रश्न

1. लोक प्रशासन का राजनीति विज्ञान, समाजशाशास्त्र तथा अर्थशास्त्र से क्या सम्बन्ध है? विवेचना कीजिए।
2. लोक प्रशासन का विधिशास्त्र, इतिहास, मनोविज्ञान एवं नीतिशास्त्र से सम्बन्धों पर प्रकाश डालिए।

इकाई- 6 विकास प्रशासन

इकाई की संरचना

6.0 प्रस्तावना
6.1 उद्देश्य
6.2 विकास प्रशासन
6.2.1 अर्थ एवं परिभाषा
6.2.2 विकास प्रशासन का उद्देश्य
6.2.3 विकास प्रशासन की विशेषताऐं
6.2.4 विकास प्रशासन की आवश्यक शर्तें
6.2.5 विकास प्रशासन का क्षेत्र
6.3 भारत में विकास प्रशासन
6.4 सारांश
6.5 शब्दावली
6.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
6.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
6.8 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
6.9 निबंधात्मक प्रश्न

6.0 प्रस्तावना

विकास प्रशासन द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात नये स्वतंत्र राष्ट्रों के उदय एवं पुनर्निर्माण की धारणाओं से सम्बन्धित है। इसके अन्तर्गत विकास को सर्वोच्चता प्रदान करने हेतु समाज में आर्थिक-सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तन की धारा को प्रमुखता देना है। विकास प्रशासन के माध्यम से प्रशासन की यह पहल होती है कि देश के लोगों का सर्वागीण विकास एवं प्रशासन में सहभागिता सुनिश्चित की जा सके। तीसरी दुनिया के अधिकांश देशों में गरीबी, बेरोजगारी, अशिक्षा, कुपोषण एक सामान्य स्थिति थी। इन रूग्ण(बीमार) स्थितियों को परिवर्तित करने के लिए कम संसाधनों में अधिक से अधिक लोगों के जीवन स्तर को सुधारना एक कड़ी चुनौती थी। इसी सन्दर्भ में विकाश प्रशासन का उदय होता है जिसके अन्तर्गत सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक लक्ष्यों को केन्द्रित करके उनका समाधान त्वरित समय में किया जा सके।

6.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- विकास प्रशासन की अवधारणा, अर्थ एवं उद्देश्यों के बारे में जान करेंगे।
- विकास प्रशासन के विशेषताओं, क्षेत्र एवं आवश्यक शर्तों के सम्बन्ध में जान करेंगे।
- भारत में विकास प्रशासन की प्रगति के बारे में जान सकेंगे।

6.2 विकास प्रशासन

विकास प्रशासन एक गतिशील और परिवर्तनशील अवधारणा है, जो समाज में आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक उद्देश्यों के लिए निरंतर प्रयत्नशील रहता है। यह सन्दर्भ प्राजातांत्रिक विधाओं में जनता की अपेक्षाओं को पूरा करने के लिए एवं उनके जीवन स्तर को उपर लाने का एक प्रयास है। स्वतंत्रता के पश्चात अधिकांश देशों

ने संवैधानिक एवं समाजवादी उद्देश्यों हेतु कई प्रकार के प्रशासनिक प्रयास किए गये। इनमें मुख्यतः रोजगार उन्मुख योजनाऐं, गरीबी रेखा से उपर उठाने के प्रयास एवं लोगों को प्राथमिक उपचार की आधारभूत सुविधाऐं उपलब्ध कराना शामिल है। आज विश्व के देश विकास कार्यों में लगे हैं और उन कार्यों को सुचारू रूप से करने के लिए विकास प्रशासन की आवश्यकता है। इसकी आवश्यकता द्वितीय महायुद्ध के बाद उत्पन्न परिस्थितियों के कारण महसूस की गयी। युद्ध की विभीषिका ने देशों के आधारभूत ढ़ाँचागत व्यवस्था पर जबरदस्त कुठाराघात किया, जिसके कारण देशों को योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए नियोजकों, प्रशासकों एवं अन्तर्राष्ट्रीय विशेषज्ञों की सहायता लेने के लिए बाध्य होना पड़ा। एक विषय के रूप में विकास प्रशासन अमेरिकी उपज है, जिसके विविध रूप अफ्रीका, लैटिन अमेरिका एवं एशिया के देशों में प्रचुर मात्रा में देखने को मिलता है। इन देशों में विकास प्रशासन का महत्व इतना हो गया है कि यहाँ इसकी प्रशासनिक संरचनाओं, संगठनों, नीतियों, योजनाओं, कार्यों एवं परियोजनाओं को विकासात्मक उद्देश्यों एवं लक्ष्यों के रूप में जाना गया है। आज के दौर में विकासात्मक कार्य राष्ट्र निर्माण और सामाजिक-आर्थिक प्रगति को लक्ष्य करके विभिन्न सामाजिक-राजनीतिक एवं आर्थिक उद्देश्यों को मूर्त रूप दे रहे हैं।

6.2.1 अर्थ एवं परिभाषा

विकास प्रशासन की रचना का उद्देश्य यह अध्ययन करना है कि लोक प्रशासन सामाजिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए विभिन्न पारिस्थितिकीय विन्यासों में किस प्रकार कार्य करता है और परिवर्तित भी होता है। इस विस्तृत परिप्रेक्ष्य में 'विकास प्रशासन' शब्द की अनेक व्याख्याएँ की गयी हैं। शब्दकोष में 'विकास' शब्द का अर्थ उद्देश्यमूलक है, क्योंकि इसका उल्लेख प्रायः उच्चतर, पूर्णतर और अधिकतर परिपक्वतापूर्ण स्थिति की ओर बढ़ना है। 'विकास' को मन की एक स्थिति तथा 'एक दिशा' के रूप में भी देखा गया है। एक निश्चित लक्ष्य की अपेक्षा विकास एक विशिष्ट दिशा में परिवर्तन की गति है। इसके अतिरिक्त विकास को परिवर्तन के उस पक्ष के रूप में भी देखा गया है जो नियोजित तथा अभीष्ट हो और प्रशासकीय कार्यों से निर्देशित हो।

'विकास प्रशासन' दो शब्दों के योग से बना है, विकास और प्रशासन। 'विकास' शब्द का अर्थ होता है निरन्तर आगे बढ़ना और 'प्रशासन' का अर्थ है सेवा करना। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि विकास प्रशासन में जनता की सेवा के लिए विकास कार्यों को करना निहित है। लोक प्रशासन में विकास का तात्पर्य किसी सामाजिक संरचना का प्रगति की ओर बढ़ना है। इस प्रकार समाज में प्रगति की दिशा में जो भी परिवर्तन होते हैं उन्हें विकास की संज्ञा दी जाती है। विकास प्रशासन का आज विशेष महत्व है। इस शब्द को सबसे पहले 1955 में भारतीय विद्वान यू0 एल0 गोस्वामी ने प्रयोग किया था। परन्तु इसको औपचारिक मान्यता उस समय प्रदान की गयी जब इसके बौद्धिक आधार का निर्माण किया। तब से विकास प्रशासन की व्याख्याऐं और परिभाषाऐं बतायी जाती रही हैं। विद्वानों द्वारा विकास प्रशासन की निम्नलिखित परिभाषाऐं दी गयी हैं-

प्रो0 ए0 वीडनर के अनुसार, ''विकास प्रशासन राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक प्रगति के लिए संगठन का मार्गदर्शन करता है। यह मुख्य रूप से एक कार्योन्मुख एवं लक्ष्योन्मुख प्रशासनिक प्रणाली पर जोर देता है।'

प्रो0 रिग्स के अनुसार, ''विकास प्रशासन का सम्बन्ध विकास कार्यक्रमों के प्रशासन, बड़े संगठन विशेषकर सरकार की प्रणालियों, विकास लक्ष्यों की उपलब्धि के लिए नीतियों और योजनाओं को क्रियान्वित करने से है।''

डोनाल्ड सी0 स्टोन का कहना है कि ''विकास प्रशासन निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए संयुक्त प्रयास के रूप में सभी तत्वों और साधनों (मानवीय और भौतिक) का सम्मिश्रण है। इसका लक्ष्य निर्धारित समयक्रम के अन्तर्गत विकास के पूर्व निर्धारित उद्देश्यों की प्राप्ति है।''

जॉन डी0 मॉण्टगोमरी ने कहा है कि ''विकास प्रशासन का तात्पर्य अर्थव्यवस्था और कुछ हद तक सामाजिक सेवाओं में नियोजित ढंग से परिवर्तन लाना है।''

वी0 जगन्नाथ के अनुसार, ''विकास प्रशासन वह प्रक्रिया है जो पूर्व निर्धारित उद्देश्यों को प्राप्त करने हेतु क्रिया प्रेरित और अभिमुख होती है। इसके अन्तर्गत नीति, योजना, कार्यक्रम, परियोजनाऐं आदि सभी आती हैं।''

फेनसोड ने विकास प्रशासन की परिभाषा देते हुए कहा है कि ''विकास प्रशासन नवीन मूल्यों को लाने वाला है.......इसमें वे सभी नये कार्य सम्मिलित होते हैं जो विकासशील देशों ने आधुनिकीकरण और औद्योगीकरण के मार्ग पर चलने के लिए अपने हाथों में लिए हैं। साधारणतया विकास प्रशासन में संगठन और साधन सम्मिलित हैं जो नियोजन, आर्थिक विकास तथा राष्ट्रीय आय का प्रसार करने के लिए साधनों को जुटाने और बाँटने के लिए स्थापित किये जाते हैं।''

उपर्युक्त परिभाषाओं के विश्लेषण से विकास प्रशासन की संकुचित और विस्तृत दोनों ही विचारधाराऐं स्पष्ट होती हैं। फेनसोड की परिभाषा संकुचित है तो वीडनर और रिग्स की परिभाषा विस्तृत है। विकास प्रशासन में भिन्नता के बावजूद भी सभी विद्वान इस मत से सहमत हैं कि यह लक्ष्योन्मुखी और कार्योन्मुखी है। सामान्यतया विकास प्रशासन को एक निश्चित और निर्धारित कार्यक्रम की पूर्ति के लिए अपनाया जाता है, न कि प्रतिदिन के प्रशासन को कार्यान्वित करने के लिए। परिभाषाओं के उपर्युक्त विश्लेषण के पश्चात विकास प्रशासन के सम्बन्ध में निम्नलिखित तत्व उभरकर सामने आते हैं-

1. विकास प्रशासन आगे बढ़ने की ओर अग्रसर होने की प्रक्रिया है।
2. विकास प्रशासन गतिशील और निरन्तर प्रक्रिया है।
3. निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए विकास प्रशासन संयुक्तप्रयास है।
4. तीसरी दुनिया की विभिन्न समस्याओं का समाधान करने का यह साधन है।
5. विकास प्रशासन केवल विकास का प्रशासन ही नहीं अपितु वह स्यवं में प्रशासन का विकास भी है।
6. यह कार्योन्मुखी और लक्ष्योन्मुखी भी है।

6.2.2 विकास प्रशासन का उद्देश्य

विकास प्रशासन के उद्देश्यों को निम्न बिन्दुओं के माध्यम से समझा जा सकता है-

1. विकास सम्बन्धी नीतियों एवं लक्ष्यों का उचित सामंजस्य स्थापित करना।
2. कार्यक्रम एवं परियोजनाओं का प्रबन्धन।
3. प्रशासनिक संगठन एवं प्रक्रिया का पुर्नगठन करना।
4. विकास कार्यों में जनता की सहभागिता सुनिश्चित करना।
5. प्रशासनिक पारदर्शिता को स्थापित करना।
6. सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक संरचना की प्रगति करना।
7. परिणामों का मूल्यांकन करना।
8. आधुनिक वैज्ञानिक और तकनीकी साधनों का प्रयोग करना।
9. लोगों को विकास में सहभागी बनाना।
10. लोगों के जीवन स्तर को सुधारना।

6.2.3 विकास प्रशासन की विशेषताऐं

विकास प्रशासन की अवधारणा का श्रेय अमेरिकन विचारकों को जाता है। एडवर्ड वीडनर, जो इस क्षेत्र में अग्रज हैं, जिन्होंने विकास प्रशासन को प्रक्रियान्मुख और लक्ष्योन्मुख प्रशासनिक तन्त्र के रूप में माना है। दूसरी ओर प्रो0 रिग्स के अनुसार विकास प्रशासन के अन्तर्गत प्रशासनिक समस्याऐं और सरकारी सुधार दोनों ही आते हैं। किसी भी प्रशासनिक व्यवस्था की क्षमता बढ़ाने और विकास के लक्ष्यों को कुशलतापूर्वक प्राप्त करने के लिए नियोजित विकास की प्रक्रिया अपनायी जाती है। तथ्यों की दृष्टि से विकास प्रशासन योजना, नीति, कार्यक्रम तथा परियोजना

से सम्बन्ध रखता है। अवधारणा रूप से विकास प्रशासन का अर्थ न केवल जनता के लिए प्रशासन है, परन्तु यह जनता के साथ कार्य करने वाला प्रशासन है। विकास प्रशासन सरकार का कार्यात्मक पहलू है, जिसका तात्पर्य सरकार द्वारा जनकल्याण तथा जनजीवन को व्यवस्थित करने के लिए किए गए प्रयासों से है। सामान्यतः विकास प्रशासन की विशेषताओं का अध्ययन निम्नलिखित बिन्दुओं के अन्तर्गत किया जा सकता है-

1. विकास प्रशासन की शुरूआत ''कम्प्यूटरीकरण'' से होती है, वस्तुतः कम्प्यूटर प्रशासन में एक "मौन क्रान्ति" साबित हुआ है, क्योंकि कम्प्यूटरीकरण द्वारा प्रशासन का मशीनी कार्य, मशीन ले लेता है, जिसमें प्रशासन का मानवीय पक्ष सशक्त होता है, जिसे प्रशासन का मानकीकरण भी कहते हैं, क्योंकि आखिरकार प्रशासनिक संगठन एक मानवीय संगठन है।
2. ''वातावरण में लचीलापन'' विकास प्रशासन की अगली शर्त है और यह तब होता है, जब प्रशासन का कार्यबोझ कम्प्यूटर द्वारा बाँट दिया जाता है। लचीलापन का आशय है, प्रक्रियाओं का सरलीकरण, जिसमें संगठनात्मक तत्व साध्य नहीं, साधन होने हैं।
3. लचीले वातावरण में, (जिसे उदार वातावरण भी कह सकते हैं) नवीन सोच को बढ़ावा मिलता है, क्योंकि जब तक प्रशासन में नवीन सोच, कल्पनाशीलता नहीं होगी, विकास प्रशासन का सूत्रपात नहीं हो सकता, क्योंकि नवीन सोच ही परिवर्तन की शुरूआत करती है।
4. ''परिवर्तन उन्मुखता'' विकास प्रशासन की अगली शर्त है, क्योंकि नवीन सोच अनिवार्य रूप से परिवर्तन को बढ़ावा नहीं देता है। जबकि विकास प्रशासन व्यवस्था में परिवर्तन की मांग करता है।
5. ''लक्ष्य उन्मुखता'' विकास प्रशासन की महत्वपूर्ण शर्त है, जबकि सामान्य प्रशासन में, ज्यादातर क्षेत्रों में दिशाहीनता की स्थिति बनी रहती है। जैसे भारत में राजव्यवस्था, अर्थव्यवस्था, समाज में दशा स्पष्ट है, दिशा नहीं। जैसे भारत में औद्योगिक संस्कृति के माध्यम से वर्ग-समाज को बढ़ावा दिया जा रहा है, जो प्रतिस्पर्धात्मक एवं गतिशील होता है। जबकि दूसरी ओर आरक्षण नीति अथवा वोट बैंक के निर्माण में जातिगत चेतना को बढ़ावा दिया जाता है जबकि जातिगत समाज जड़गत होता है। इस प्रकार समाज, वर्ग और जाति के छंद में उलझकर रह गया है, जिससे दिशाहीनता की स्थिति उत्पन्न होती है।
6. ''प्रगतिवादिता'' अगला महत्वपूर्ण चरित्र है, जिसका अर्थ है, छोटे से बड़े लक्ष्य की ओर अग्रसर होना। जैसे भारत ताप विद्युत के पश्चात परमाणु विद्युत की ओर बढ़ रहा है, जो प्रगतिवादी दृष्टिकोण है और यह विकास प्रशासन का मूलमंत्र है। चूँकि प्रगति का कोई अन्त नहीं है, इसलिए विकास प्रशासन का कोई अन्त परिभाषित नहीं किया जा सकता है।
7. विकास प्रशासन ''परिणाम उन्मुख नियोजन'' पर टिका है, जबकि सामान्य प्रशासन प्रयासउन्मुख नियोजन करता है। इसी प्रकार पहले में क्रिया है तो दूसरे में विचार है, पहले में साध्य है तो दूसरे में साधन है। सरल शब्दों में विकास प्रशासन उपलब्धियों और प्रक्रियाओं से उलझा रहता है।
8. ''प्रेरणा'' विकास प्रशासन के लिए ऑक्सीजन की तरह है, क्योंकि प्रेरणा तभी कार्य करती है, जब योग्यता के अनुसार कार्य आवंटित होता है। कार्य के अनुसार उत्तरदायित्व, उत्तरदायित्व के अनुसार प्राधिकार और प्राधिकार के अनुसार पुरस्कार और इस आंतरिक संबन्ध को विकास प्रशासन समझता है, जबकि सामान्य प्रशासन में इसका अभाव होता है। यही कारण है कि सामान्य प्रशासन में प्रतिबद्धता बढ़ती नहीं घटती है।
9. ''लोक उन्मुखता'' अगली शर्त है, जिसका आशय है- लोक नीतियां, लोक समस्याओं पर आधारित हों। वह आधारभूत समस्याओं से जुड़ी हुई हों। जबकि सामान्य प्रशासन में लोक नीतियां सामान्य आधारभूत समस्याओं को नजर-अंदाज कर देती हैं। वस्तुतः लोक समस्याऐं वे हैं, जिसमें सार्वजनिक हित छिपा होता

है, जिसका राष्ट्रीय महत्व होता है, उसके साथ व्यापक मांगें होती हैं और मांगों के साथ समर्थन भी होता है।

10. लोक उन्मुखता के पश्चात ''लोक भागीदारी'' अन्य महत्वपूर्ण शर्त है, यह पूर्वाग्रह नहीं होना चाहिए कि लोक उन्मुखता से ही लोक भागीदारिता सुनिश्चित होती है। वस्तुतः लोकभागीदारिता की कुछ अन्य शर्तें भी हैं, जैसे-
    - भागीदारिता के पर्याप्त अवसर होने चाहिए।
    - अवसर का लाभ उठाने के लिए योग्यता होनी चाहिए।
    - योग्यता साक्षरता से जुड़ा है।
    - योग्यता एवं साक्षरता पर्याप्त नहीं है, वस्तुतः भागीदारिता के लिए ''चाहत'' भी होनी चाहिए।
    - इन सब के उपर, समाज की सामाजिक मनोवैज्ञानिक संरचना सकारात्मक होनी चाहिए।
11. ''एकीकरण'' विकास प्रशासन की सफलता निर्धारित करता है, क्योंकि जब लोकभागीदारिता सुनिश्चित होती है, तो वैचारिक मतभेद एवं हितों के टकराव भी बढ़ते हैं, जिससे प्रशासन में अव्यवस्था उत्पन्न हो सकती है। जिसके लिए विकास प्रशासन तैयार रहता है। जबकि सामान्य प्रशासन अराजकता के समक्ष घुटने टेक देता है। वहीं विकास प्रशासन एकीकरण का प्रयास करता है, जिसका अर्थ है- समन्वय।
12. अंतिम किन्तु महत्वपूर्ण चरित्र है''परिवर्तन ग्रहण करने की क्षमता'' क्योंकि विकास प्रशासन परिवर्तनों को आमंत्रित करता है, उन्हें समायोजित करता है और ऐसे परिवर्तन स्थायी होते हैं। जबकि सामान्य प्रशासन परिवर्तनों को आमतौर पर हतोत्साहित करता है और यही कारण है कि प्रशासनिक पकड़ जैसे ही कमजोर होती है, परिवर्तन वापस अपनी स्थिति में चला जाता है।

कुल मिलाकर सैद्धान्तिक रूप से ऐसा प्रतीत होता है कि सामान्य प्रशासन एवं विकास प्रशासन अलग-अलग है, यह छंदात्मक है, लेकिन वस्तुस्थिति बिल्कुल भिन्न है। वस्तुतः यह सामान्य प्रशासन है, जो विकास प्रशासन को आधार प्रदान करता है। क्योंकि जब तक प्रशासनिक गतिविधियों का विस्तार नहीं होगा, तब तक प्रशासन का कम्प्यूटरीकरण सम्भव नहीं और इस प्रकार कम्प्यूटरीकरण से पहले प्रशासन का एक वृहद ढ़ाँचा तो होना ही चाहिए, जो और कुछ नहीं सामान्य प्रशासन है, क्योंकि प्रयास एवं परिणाम को अलग-अलग नहीं किया जा सकता है। संरचना एवं उत्पाद अलग-अलग नहीं हो सकते हैं। साधन और साध्य अलग-अलग नहीं हो सकते हैं। जब यह जुड़े हैं, तो सामान्य प्रशासन एवं विकास प्रशासन को अलग-अलग कैसे सोचा जा सकता है।

6.2.4 विकास प्रशासन की आवश्यक शर्तें

विकास प्रशासन देश के समग्र विकास तथा आय बढ़ाने की दिशा में नियोजन, अर्थिक उन्नयन, साधनों के कुशल आवंटन तथा संचारण हेतु उचित व्यवस्था के लिए कृत संकल्प है। इन उद्देश्यों हेतु निम्न आधार वांछनीय हैं

1. निरंतर बढ़ते हुए कार्यो के साथ विकास क्षेत्र में प्रशासन की भूमिका बढ़ती जायेगी।
2. सरकार समस्त विकास प्रक्रिया को निर्देशित करेगी।
3. सरकारी कार्यों की जटिलता बढ़ाने से विशेषज्ञों द्वारा कार्यों का निष्पादन करने की प्रवृत्ति बढ़ाना।
4. प्रशासन में सभी स्तरों पर नेतृत्व प्रदान करने वाले व्यक्तियों में सेवा की भावना तथा समर्पण का जोश होना।
5. प्रशासन में तकनीकी परिवर्तनों को समझने और अपनाने की क्षमता होनी चाहिए।
6. प्रशासन और जनता के मध्य सहयोग और विश्वास की भावना रहनी चाहिए।

7. निर्णय लेने वाले संगठनों को लचकदार और कल्पनाशील होना पड़ेगा।
8. विकास प्रशासन की प्रक्रिया में कार्मिकों के प्रशिक्षण पर अनवरत जोर दिया जाना चाहिए।
9. विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया अनवरत तौर पर जारी रहनी चाहिए, जिससे कि हर स्तर पर लोगों की सहभागिता को सुनिश्चित किया जा सके।
10. लोकसहभागिता एवं लोकविमर्श को निरन्तर प्रोत्साहन मिलना चाहिए, जिससे कि आम आदमी निर्णयन की प्रक्रिया में अपने को हिस्सेदार महसूस कर सके।
11. अविकसित क्षेत्रों के विकास के लिए योजनाओं में प्राथमिकता मिलनी चाहिये।
12. प्रेस एवं संचार माध्यमों को तटस्थ रखना चाहिए, जिससे सूचना का सही प्रसार हो सके।
13. राजनीतिक स्थायित्व का होना आवश्यक है, क्योंकि राजनीतिक अस्थिरता योजनाओं को विफल कर सकती है।

6.2.5 विकास प्रशासन का क्षेत्र

विकास प्रशासन लोक प्रशासन की एक नवीन और विस्तृत शाखा है। इसका जन्म विकासशील देशों की नयी-नयी प्रशासनिक योजनाओं तथा कार्यक्रमों को लागू करने के सन्दर्भ में हुआ है। सामान्य तौर से विकास से सम्बन्धित कार्य विकास प्रशासन के क्षेत्र के अन्तर्गत आते हैं। वैसे यह भी कहा जाता है कि विकासशील देश में सभी प्रशासन विकास प्रशासन ही है। विकास प्रशासन के क्षेत्र में वे समस्त गतिविधियाँ सम्मिलित हो जाती हैं जो सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, औद्योगिक तथा प्रशासनिक विकास से सम्बन्धित हों एवं सरकार द्वारा संचालित की जाती हों। विकास प्रशासन से सम्बन्धित साहित्य में विकास प्रशासन का दो अर्थों में प्रयोग किया गया है, पहला- यह विकास के कार्यक्रमों में प्रशासन के रूप में देखा गया है और दूसरा- प्रशासन की क्षमता को बढ़ाने के रूप में इसका प्रयोग किया गया है। इसका अर्थ यह हुआ कि विकास प्रशासन वह प्रशासन है जो विकास हेतु किये जाने वाले समस्त कार्यक्रमों, नीतियों, योजनाओं आदि के निर्माण और क्रियान्वयन से सम्बन्धित है। इसके साथ ही साथ प्रशासन विभिन्न समस्याओं को सुलझाने हेतु अपनी क्षमता एवं कुशलता को भी बढ़ाता है। संक्षेप में जिस प्रकार विकास के क्षेत्र को किसी निर्धारित सीमा में नहीं बांधा जा सकता, उसी प्रकार विकास प्रशासन के क्षेत्र को भी किसी निर्धारित सीमा के अन्तर्गत अथवा शीर्षक के अन्तर्गत लिपिबद्ध करना सम्भव नहीं है। फिर भी अध्ययन की सुविधा के लिए विकास प्रशासन के क्षेत्र को निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत अध्ययन किया जा सकता है-

1. **पोस्डकार्ब(POSDCORB) सिद्धान्त-** चूँकि विकास प्रशासन, लोक प्रशासन का ही विस्तृत अंग है, इसलिए लूथर गुलिक द्वारा व्यक्त किया गया पोस्डकार्ब सिद्धान्त विकास प्रशासन के क्षेत्र के लिए प्रासंगिक है। यह शब्द निम्नलिखित शब्दों से मिलकर बना है- नियोजन, संगठन, कर्मचारी, निर्देशन, समन्वय, प्रतिवेदन तथा बजट। ये समस्त सिद्धान्त लोक प्रशासन के लिए आवश्यक हैं। विकास प्रशासन के क्षेत्र में योजनाओं का निर्माण करना, अधिकारियों एवं अन्य सेवा -वर्गों का संगठन बनाना, कर्मचारियों की श्रंखलाबद्ध व्यवस्था करने का कार्य सम्मिलित है, ताकि प्रत्येक कर्मचारी द्वारा सम्पादित किये जाने वाले कार्यों के सम्बन्ध में उन्हें सत्ता प्रदान की जा सके तथा उन्हें कार्य के सम्बन्ध में आवश्यक निर्देश दिये जा सकें। इसमें समन्वय का भी महत्वपूर्ण अधिकार सम्मिलित है। विभिन्न अधिकारियों और कर्मचारियों को सौंपे गये कार्यों के मध्य समन्वय स्थापित करना मुख्य कार्य है, ताकि कार्यों के दोहराव को रोका जा सके। विकास प्रशासन के क्षेत्र के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार की सूचनाओं और आँकड़ों के आधार पर प्रतिवेदन प्रस्तुत करना पड़ता है। प्रशासन चाहे लोक प्रशासन हो या विकास प्रशासन, बजट की व्यवस्था और निर्माण दोनों के लिए आवश्यक है।

2. **प्रशासनिक सुधार एवं प्रबन्धकीय विकास-** इन दोनों का विकास प्रशासन में अत्यन्त महत्व होता है, इसलिए प्रशासनिक सुधार एवं प्रबन्धकीय विकास पर अधिक ध्यान दिया जाता है। प्रशासकीय और विकासात्मक संगठनों में संगठनात्मक और प्रतिक्रियात्मक सुधारों की हमेशा आवश्यकता पड़ती है। प्रशासकीय सुधार का मुख्य उद्देश्य है जटिल कार्यों और प्रक्रियाओं को सरल बनाना तथा उन नियमों का निर्माण करना जिनसे कम से कम श्रम एवं धन व्यय करके अधिकतम उत्पादक परिणाम प्राप्त किये जा सके। इसके लिए समय-समय पर विभिन्न आयोग एवं समितियाँ गठित की जाती हैं तथा प्रशासनिक सुझाव के सम्बन्ध में इनके प्रतिवेदन माँगे जाते हैं। प्रतिवेदनों में सुझाऐ गये मुद्दों पर विचार करके उन्हें लागू करवाना विकासात्मक प्रशासन का प्रमुख कार्य हो गया है। इस प्रकार नवीन तकनीकी और प्रक्रियात्मक विकास पर अत्यधिक बल देना विकासात्मक प्रशासन का कर्तव्य बन जाता है।
3. **लोक-सेवकों की समस्याओं का अध्ययन-** विकास प्रशासन को नवीन योजनाओं, परियोजनाओं, विशेषीकरण तथा जटिल प्रशासनिक कार्यक्रमों को लागू करना पड़ता है। ऐसे कार्यों को सम्पन्न करने के लिए विकास प्रशासन को अनूकूल लोक सेवकों की आवश्यकता पड़ती है। इसके लिए लोक-सेवकों को प्रशिक्षण हेतु विभिन्न प्रकार के विशेषीकृत प्रशिक्षण संस्थानों में भेजा जाता है जहाँ उन्हें प्रशासकीय समस्याओं और संगठनात्मक प्रबन्ध आदि के सम्बन्ध में जानकारी दी जाती है। इस प्रकार समय के साथ बदली हुयी आधुनिक परिस्थितियों के अनुकूल लोक-सेवकों की भर्ती, प्रशिक्षण, चयन सेवा सम्बन्धि शर्तों आदि समस्याओं का अध्ययन किया जाता है।
4. **नवीनतम प्रबन्धकीय तकनीक का प्रयोग-** विकास प्रशासन का एक महत्वपूर्ण कार्य उन नवीन प्रबन्धकीय तकनीक की खोज करना है, जिनसे विकास कार्यक्रमों में कार्यकुशलता बढ़ायी जा सके। इस सम्बन्ध में विकसित देशों में अपनाये जाने वाले नवीन प्रबन्धकीय तरीकों को लागू करना चाहिए। विकासात्मक प्रशासन में प्रबन्ध के क्षेत्र में नवीन चुनौतियां सामने आती रहती हैं। उन चुनौतियों से कैसे तथा किस तरीके से निपटा जाए, यह विकासात्मक प्रशासन के लिए एक महत्वपूर्ण प्रश्न है, क्योंकि बिना उचित और आधुनिक प्रक्रिया के नवीन और आधुनिक चुनौतियों का सामना सम्भव नहीं है।
5. **कम्प्यूटर प्रणाली का प्रयोग-** कम्प्यूटर विकासशील देशों के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका और सहयोग प्रदान कर सकता है। प्रशासकीय प्रबन्ध तथा प्रशासकीय विकास के लिए प्रक्रिया के क्षेत्र में यह वरदान साबित हो रहा है। आज विकासशील देश में प्रशासन को कम्प्यूटर प्रणाली का उपयोग करना पड़ रहा है। डाटा प्रोसेसिंग के मामले में तो इसकी उपयोगिता अत्यन्त प्रभावकारी सिद्ध हो रही है। कम्प्यूटर प्रणाली को विकास प्रशासन के क्षेत्र में अब सम्मिलित कर लिया गया है।
6. **मानवीय तत्व का अध्ययन-** विकास प्रशासन के विकास में मानवीय तत्व का अध्ययन अपरिहार्य है। मानव ही समस्त प्रशासकीय व्यवस्था का संचालक, स्रोत, आधार और मार्गदृष्टा है। प्रशासन पर परम्पराओं, सभ्यता, संस्कृति, राजनीति, आर्थिक, सामाजिक और बाह्य वातावरण का प्रभाव पड़ता है। इन सबका सम्बन्ध मानव से होता है। अतः विकास प्रशासन में विविध समस्याओं को हमें मानवीय व्यवहार के परिवेश में देखना चाहिए। इस प्रकार हम इसके अन्तर्गत सामाजिक मानक मूल्यों, व्यवहार, विचारों आदि का अध्ययन करते हैं।
7. **बहुआयामी विषय-** विकास प्रशासन में विकास को सर्वोच्चता प्रदान की जाती है और इसमें समस्त क्षेत्रों जैसे- सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और प्रशासनिक क्षेत्रों में परिवर्तन, प्रगति एवं विकास किया जाता है। आर्थिक, सामाजिक व राजनीतिक ढाँचे का विकास करना विकास प्रशासन के क्षेत्र का चुनौती भरा कार्य होता है। वस्तुतः ये कार्य विकास प्रशासन की रीढ़ होते हैं। परम्परागत संरचनाओं की कमियों

और प्रक्रियाओं का सुधार कर उनकी जगह नवीन प्रकार के आर्थिक व सामाजिक ढाँचे का निर्माण करना, विकास प्रशासन के समक्ष एक चुनौती भरा कार्य बन जाता है। गतिशील और परिवर्तनशील संरचनाओं को अगर ऐसे ही छोड़ दिया तो समय और परिस्थिति के बहाव की प्रक्रिया में पीछे रह जाती हैं। ये संरचनाऐं आधुनिक चुनौतियों का समाना करने के अनुकूल नहीं रह पाती हैं, अतः इन संरचनाओं का विकास व सुधार आवश्यक हो जाता है। भारत के आर्थिक विकास के लिए पंचवर्षीय योजनाऐं स्वीकार की गयी हैं। समाजवादी लोकल्याणकारी अवधारणा के अनुसार गरीब और अमीर के बीच पायी जाने वाली असमानता को पाटने के लिए नौकरियों में आरक्षण का प्रावधान किया गया है। लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण के लिए पंचायती राज संस्थाओं को मजबूत किया गया है और उन्हें सत्ता प्रदान की गयी है। इस प्रकार विकास प्रशासन के क्षेत्र में आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक ढाँचे का विकास करना महवपूर्ण कार्य है।

विकास प्रशासन का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य ग्रामीण एवं शहरी विकास के कार्यक्रमों को लागू करना है। ग्रामीण क्षेत्र में सिंचाई के पानी की व्यवस्था, सड़कों का निर्माण, पेयजल सुविधाऐं, सामुदायिक विकास योजनाएँ, रोजगार के कार्यक्रम, लघु-कुटीर उद्योग, आधुनिक तकनीकी का उपयोग तथा लोक कल्याणकारी कार्यों को जनता तक पहुँचाना विकास प्रशासन का अंग बन गया है। इसी प्रकार शहरों में विकास के अनेक कार्यक्रम लागू किये जाते हैं, जैसे- आवासीय समस्या को हल करने के लिए आवासीय योजनाएँ, पीने के पानी की व्यवस्था, टेलीफोन, तार, संचार तथा आवागमन की सुविधाएँ, प्रदूषण नियन्त्रण की समस्याएँ आदि।

8. **जन सहभागिता-** विकास प्रशासन में जन-सम्पर्क तथा जन-सहभागिता का विशेष महत्व है। विकास कार्यों में सफलता प्राप्त करना सम्भव नहीं है। वस्तुतः जन-सम्पर्क से यह जानने का प्रयास किया जाता है कि जन कल्याण के लिए विकास के जो कार्यक्रम चलाये जा रहे हैं उसका कितना लाभ आम जनता तक पहुँचता है तथा जनता की उस कार्यक्रम के सम्बन्ध में क्या प्रतिक्रिया है। इस प्रकार जन-सम्पर्क और जन-सहयोग विकास प्रशासन की एक आवश्यक शर्त है।

उपर्युक्त बातों के अतिरिक्त विकास प्रशासन के क्षेत्र में क्षेत्रीय परिषदें, सामुदायिक सेवाऐं, प्रबन्ध कार्यक्रम, अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग आदि का भी अध्ययन किया जाता है। इस प्रकार जैसे-जैसे विकास सम्बन्धी कार्यक्रम बढ़ते जाते हैं, विकास प्रशासन का क्षेत्र भी व्यापक होता जाता है।

6.3 भारत में विकास प्रशासन

स्वतंत्रता के पश्चात् भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन में निहित आर्थिक एवं सामाजिक उद्देश्यों को प्राप्त करने हेतु नेहरू की अगुवाई में प्रशासनिक एवं नियोजन तंत्र को स्थापित किया गया। योजना आयोग एवं राष्ट्रीय विकास परिषद जैसे निकाय अस्तित्व में आये। इनके उद्देश्यों को हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं-

1. **आर्थिक उद्देश्य-** नियोजन के आर्थिक उद्देश्य हैं, आर्थिक समानता, अवसर की समानता, अधिकतम उत्पादन, पूर्ण रोजगार तथा अविकसित क्षेत्रों का विकास। नियोजन में राष्ट्रीय आय तथा अवसरों का समान वितरण सम्मिलित है। आय की समानता धनी वर्ग से अधिक कर द्वारा प्राप्त आय से निर्धन वर्ग को सस्ती सेवाऐं- चिकित्सा, शिक्षा, समाजिक बीमा, सस्ते मकान आदि सुविधाऐं उपलब्ध कराने पर व्यय की जा सकती है। राष्ट्र के समस्त नागरिकों को जीविकोपार्जन के समान अवसर प्रदान करके असमानता को दूर किया जा सकता है। राष्ट्र के समस्त नागरिकों को जीविकोपार्जन के समान अवसर प्रदान करके असमानता को दूर किया जा सकता है।

2. **सामाजिक उद्देश्य-** नियोजन के सामाजिक उद्देश्यों में वर्ग-रहित समाज की स्थापना करने का लक्ष्य सम्मिलित है। श्रमिक व उद्योगपति दोनों को राष्ट्रीय आय का उचित अंश प्राप्त होना चाहिए। पिछड़ी जातियों को शिक्षा में सुविधा देना, सरकारी सेवाओं में प्राथमिकता प्रदान करना तथा महिलाओं को विकास की धारा में न्यायसंगत स्थान दिलाना। देश के दूर-दराज क्षेत्रों में रहने वाले जनजातीय समूहों को राष्ट्र की मुख्यधारा से जोड़ना एवं उनके अधिकारों की रक्षा करना।

भारत में कई कारणों से नियोजन की आवश्यकता महसूस की गयी- 1. देश की निर्धनता, 2. बेरोजगारी की समस्या, 3. औद्योगीकरण की आवश्यकता, 4. सामाजिक तथा आर्थिक विषमताऐं, 5. देश का पिछड़ापन, 6. अधिक जनसंख्या और 7. कुपोषण।

सरकार ने योजनाओं के उद्देश्यों को प्राप्त करने हेतु विभिन्न स्तरों पर समाज के हर क्षेत्र से लोगों को प्रशासन से जोड़ने के लिए राजनीतिक विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया को बढ़ावा दिया है। सहभागिता को सुनिश्चित करने हेतु गाँव के स्तर पर पंचायतों को वित्तीय अधिकार उपलब्ध कराये हैं। जनप्रतिनिधियों को विकास में प्रत्यक्ष रूप से जोड़ने के लिए उन्हें धनराशि दी है। विशेष योजनाएँ, जैसे- की जे0 आर0 वाई0 व मनरेगा आदि को शुरू किया है, जिससे कि गाँवों में लोगों को रोजगार उपलब्ध हो सके। ग्रामीण विकास के अंतर्गत कृषि-क्षेत्र के तमाम प्रयोजनों को सरकार की तरफ से कम दाम पर खाद, बीज, बिजली, उपकरण इत्यादि उपलब्ध कराया जा रहा है। ग्रामीण परिवेश में रहने वाले लागों को मुफ़्त में शिक्षा के अवसर, पीने के पानी एवं स्वाथ्य सेवाएँ उपलब्ध हैं। इन सभी से विकास के नए प्रतिमान स्थापित हो रहे हैं।

अभ्यास प्रश्न-

1. विकास प्रशासन लोगों की सहभागिता को महत्व नहीं देता है। सत्य/असत्य
2. परिवर्तन, विकास प्रशासन की महत्वपूर्ण कड़ी है। सत्य/असत्य
3. लक्ष्य को ध्यान में रखकर विकास प्रशासन आगे बढ़ता है। सत्य/असत्य
4. परिणाम, विकास प्रशासन के लिए महत्वपूर्ण होता है। सत्य/असत्य
5. विकास प्रशासन का क्षेत्र व्यापक है। सत्य/असत्य
6. विकास प्रशासन की प्राथमिकता लोग हैं, वस्तुवें नहीं। सत्य/असत्य

6.4 सारांश

विकास प्रशासन का अर्थ कुछ विद्वानों द्वारा प्रशासन के आधुनिकीकरण से लगाया जाता है। कुछ विद्वानों का मत है कि इसे आर्थिक विकास के लिए एक कुशल साधन के रूप में अधिक महत्व देते हैं। विकास प्रशासन सामान्य अर्थ में आर्थिक विकास की योजनाओं को बनाने तथा राष्ट्रीय आय को बढ़ाने के लिए साधनों को प्रवृत्त करने तथा बाँटने का कार्य करता है। तथ्यों की दृष्टि से विकास प्रशासन योजना, नीति, कार्यक्रम तथा परियाजनाओं से सम्बन्ध रखता है। विकास प्रशासन सरकार का कार्यात्मक पहलू है, जिसका तात्पर्य सरकार द्वारा जनकल्याण तथा जन-जीवन को व्यवस्थित करने के लिए किये गये प्रयासों से है। इसका जन्म विकासशील देशों की नयी-नयी प्रशासनिक योजनाओं तथा कार्यक्रमों को लागू करने के सन्दर्भ में हुआ है। सामान्य तौर से सम्बन्धित कार्य विकास प्रशासन के क्षेत्र के अन्तर्गत आते हैं। वैसे यह भी कहा जाता है कि विकासशील देश में सब प्रशासन विकास प्रशासन ही है। विकास प्रशासन के क्षेत्र में वे समस्त गतिविधियाँ सम्मिलित हो जाती हैं जो सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, औद्योगिक तथा प्रशासनिक विकास से सम्बन्धित हों एवं सरकार द्वारा संचालित की जाती हों।

6.5 शब्दावली

कुठाराघात- लाक्षणिक रूप से ऐसा आघात, जिससे किसी वस्तु या व्यक्ति की जड़ कट जाए।

सभ्यता- किसी जाति या देश की बाह्य तथा भौतिक उन्नतियों का सामूहिक रूप।

पंचवर्षीय योजना- हर पाँच वर्ष के लिए योजना बनाना।

6.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. सत्य, **2.** सत्य, **3.** सत्य, **4.** सत्य, **5.** व्यापक, **6.** लोग

6.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. भट्टाचार्य, मोहित (1979): ब्यूरोक्रेसी एण्ड डेवलेपमेंट एडमिनिस्ट्रेशन, उप्पल पब्लिशर्स, दिल्ली।
2. बासु, रूम्की (1990): पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन: कान्सेप्ट एण्ड थ्योरी, स्टर्लिंग पब्लिशर्स, दिल्ली।

6.8 सहायक/ उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. अवस्थी, ए0 एवं माहेश्वरी एस0 (1990): पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा।
2. भालेराव, सी0 एन0(संपादक) (1984): एडमिनिस्ट्रेशन, पालिटिक्स एण्ड डेवलपमेंट इन इण्डिया, लालवानी पब्लिशर्स, बाम्बे।

6.9 निबंधात्मक प्रश्न

1. विकास प्रशासन से आप क्या समझते हैं? टिप्पणी कीजिए।
2. विकास प्रशासन से सम्बन्धित एफ0 डब्लू0 रिग्स के विचारों पर प्रकाश डालिए।
3. विकास प्रशासन की विशेषताओं पर संक्षिप्त लेख लिखिये।
4. विकास प्रशासन की अवधारणा अमेरिका में हुई, परन्तु इसकी मुख्य भूमिका विकासशील देशों में है, टिप्पणी कीजिए।

इकाई- 7 विकसित एवं विकासशील देशों में विकास प्रशासन

इकाई की संरचना

7.0 प्रस्तावना
7.1 उद्देश्य
7.2 विकसित और विकासशील देश- अर्थ एवं परिभाषा
7.3 विकसित और विकासशील देशों की विशेषताऐं
 7.3.1 विकासशील और विकसित देशों की राजनीतिक विशेषताऐं
 7.3.2 विकासशील और विकसित देशों की सामाजिक विशेषताऐं
 7.3.3 विकासशील और विकसित देशों की प्रशासनिक विशेषताऐं
 7.3.4 विकासशील देशों का आर्थिक आधार
7.4 सारांश
7.5 शब्दावली
7.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
7.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
7.8 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
7.9 निबंधात्मक प्रश्न

7.0 प्रस्तावना

विकसित एवं विकासशील देशों में विकास प्रशासन की चुनौतियाँ काफी भिन्न हैं। जहाँ एक ओर विकसित राष्ट्रों में साक्षरता, गरीबी, कुपोषण एवं बेरोजगारी मुख्य समस्या नहीं है फिर भी लोगों के जीवन स्तर को सुधारने एवं आगे बढ़ाने की चुनौती प्रशासन के समक्ष निरन्तर बनी रहती है। बेहतर साक्षरता के कारण प्रशासन को लोगों को समस्याओं के निराकरण के लिए अधिक परिश्रम नहीं करना पड़ता है, वहीं पर विकासशील देशों में निरक्षरता गरीबी एवं कुपोषण के कारण प्रशासन को लोगों के जीवन स्तर को सुधारने मेंअथक प्रयास करने होते हैं। आर्थिक असमानताओं के कारण स्थानीय आपसी विवाद प्रशासन के उद्देश्यों को आगे ले जाने में बांधा उत्पन्न करते हैं। इसलिए विकसित एवं विकासशील देशों की समस्याएँ एवं चुनौतियाँ एक-दूसरे से काफी भिन्न हैं।

7.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- विकसित एवं विकासशील देश क्या हैं, इसे जान पायेंगे।
- विकसित एवं विकासशील देशों में विकास प्रशासन की भूमिका के सम्बन्ध में जान पायेंगे।
- विकसित एवं विकाशसील देशों के सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक एवं प्रशासनिक प्रतिमानों के सम्बन्ध में जान पायेंगे।

7.2 विकसित एवं विकासशील देश- अर्थ एवं परिभाषा

विकसित और विकासशील देशों की संक्षिप्त रूप से कोई परिभाषा देना कठिन है। साधारणतया विकासशील शब्द को 'पिछड़ा', 'अविकसित' अथवा 'निर्धन' का पर्यायवाची समझा जाता रहा है। ये शब्द कुछ समय पहले तक एक-दूसरे के स्थान पर इसी अर्थ में प्रयुक्त होते रहे हैं लेकिन इस विषय पर वर्तमान साहित्य में 'अविकसित' शब्द

इस अर्थ में दूसरे विकासशील, निर्धन अथवा पिछड़ा शब्दों की तुलना में अधिक ठीक समझा गया है। विभिन्न विद्वानों ने विकाशील, विकसित तथा अविकसित देशों की विभिन्न प्रकार से परिभाषा देने का प्रयत्न किया है।

संयुक्त राष्ट्र विशेषज्ञों के अनुसार, ''एक विकासशील देश वह है जिसमें आम तौर पर उत्पादन का कार्य तुलनात्मक दृष्टि से कम प्रति व्यक्ति वास्तविक पूँजी की लागत से किया जाता है। इसके साथ ही अन्य देशों की तुलना में कम विकसित तकनीक का प्रयोग किया जाता है। इस परिभाषा से प्रति व्यक्ति कम आय तथा उत्पादन की पिछड़ी तकनीक पर जोर दिया गया है। इसका अभिप्राय ऐसे देशों से है जो संयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा, आस्ट्रिया, पश्चिमी यूरोप के देशों की वास्तवकि प्रति व्यक्ति आय की दर से कम प्रति व्यक्ति आय की दर वाले हैं। इस अर्थ में इन देशों के लिए निर्धन शब्द उचित होगा। यह परिभाषा ठीक अर्थों में 'विकासशील' देशों की धारणा को स्पष्ट नहीं करती।

इस प्रकार प्रो0 नर्क्से ने 'विकासशील' देशों की परिभाषा दी है। उसके अनुसार 'विकासशील' देश वे हैं जो विकसित देश की तुलना में अपनी जनसंख्या और संसाधनों की तुलना में पूँजी की दृष्टि से कम साधन सम्पन्न हैं। यह परिभाषा सन्तोषजनक प्रतीत नहीं होती। इसके केवल पूँजी को आधार बनाया है और विकास को प्रभावित करने वाले अन्य कारकों को छोड़ दिया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि पूँजी एक आवश्यक तत्व है परन्तु प्रगति का केवल मात्र एक आधार नहीं।

भारतीय विद्वानों ने भी विकासशील देशों की परिभाषा करने का प्रयास किया है। प्रथम पंचवर्षीय योजना के अनुसार, ''एक विकासशील देश वह है जिसका सह-अस्तित्व कम अथवा अधिक मात्रा में एक ओर अप्रयुक्त अथवा कम प्रयुक्त की गयी जन-शक्ति तथा दूसरी ओर प्राकृतिक संसाधनों के अप्रयोग पर आधारित है।'' इस स्थिति का कारण तकनीक के प्रयोग में स्थान अथवा कुछ विघ्नोत्पादक सामाजिक-आर्थिक कारण हो सकते हैं जो अर्थव्यवस्था में अधिक गतिशील शक्तियों को क्रियात्मक होने से रोकते हैं। भारतीय योजना आयोग द्वारा दी गयी यह परिभाषा अधिक व्यापक प्रतीत होती है, परन्तु समग्र दृष्टि से यह भी अपूर्ण है। इस परिभाषा में अप्रयुक्त संसाधनों पर बल दिया गया है। ये अप्रयुक्त संसाधन विकसित देशों में भी हो सकते हैं। इसी प्रकार कुछ विद्वानों के अनुसार विकासशील देश वे हैं जिनमें पूँजीगत वस्तुओं के स्टाक तथा वित्तीय आपूर्ति की तुलना में अकुशल श्रमिकों की अधिकता हो, अप्रयुक्त कार्यक्षम संसाधन, प्रति व्यक्ति दर से कम उत्पादकता, धीमी उत्पादन-कुशलता, जिनमें कृषि तथा आरम्भिक उद्योगों पर अधिक बल दिया जाता है। ऐसे देशों में गुप्त बेरोजगारी बहुत होती है और स्थायी काम-काज की कमी होती है। जेकब वाइनर ने हमें अधिक स्वीकार योग्य, अधिक विस्तृत और सार्थक परिभाषा दी है। उसके अनुसार, ''एक विकासशील देश वह है जिसमें अधिक पूँजी, अधिक श्रम अथवा अधिक उपलब्ध प्राकृतिक संसाधनों के भावी प्रयोग की सम्भावना रहती है, ताकि ये देश की वर्तमान जनसंख्या का जीवन-स्तर ऊँचा बना सकें अथवा वर्तमान प्रति व्यक्ति उच्च आय दर को बढ़ी हुई जनसंख्या के लिए भी कायम रख सकें।'' विकासशील देशों की दी गयी यह परिभाषा अधिक सटीक है। इसमें आर्थिक विकास को निश्चित करने वाले दो महत्वपूर्ण कारकों पर बल दिया गया है। वे हैं- प्रति व्यक्ति की दर से आय तथा विकासशीलता की सामर्थ्य। इसमें विकासशील देशों की प्रकृति के सम्बन्ध में भी संक्षिप्त व्याख्या उपलब्ध है।

विकासशील देशों की प्रकृति के सम्बन्ध में दी गयी परिभाषा संक्षिप्त व्याख्या करती है। क्योंकि 'विकास' एक ऐसी धारणा है जो बहुमुखी है अतः विकसित तथा विकासशील देशों के सम्बन्ध में हमारा अध्ययन उस समय तक अपूर्ण रहेगा जब तक हम देश की केवल आर्थिक विशिष्टताओं पर बल देते हैं। अतः हमें देश के राजनैतिक, प्रशासनिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक पक्षों का भी अध्ययन करना होगा। परन्तु प्रमुख कठिनाई यह है कि एक विकासशील देश की रूपरेखा कैसे निश्चित की जाये। इससे भी अधिक कठिन काम विश्व में ऐसे देश को ढूँढ़ना है

जिसमें विकासशील देशों की सभी विशेषताऐं उपलब्ध हों। कुछ विद्वानों ने सभी विकासशील देशों का वर्गीकरण इस प्रकार किया है- उच्च आय वाले, मध्यम आय वाले तथा कम आय वाले देश।

इस वर्गीकरण से स्पष्ट होता है कि इन देशों में आर्थिक विकास की दृष्टि से बहुत अधिक विषमता है। साथ ही ये देश एक-दूसरे से अन्य दिशाओं में भी काफी भिन्न हैं। विकासशील देशों में विषमता के प्रमुख आधार ये हैं-

1. विकसित देशों की आय प्रति व्यक्ति काफी अधिक होती है, जबकि विकासशील देशों की काफी कम।
2. विकसित देशों में जनसंख्या की वृद्धि दर अल्प है, वहीं विकासशील देशों में यह अधिक है।
3. विकसित देशों में औद्योगिक एवं सेवा-क्षेत्र का अनुपात कृषि के तुलना में काफी अधिक होता है। विकासशील देशों में कृषि क्षेत्र का अनुपात काफी अधिक होता है।
4. औद्योगिक क्षेत्र में विकसित राष्ट्र उन्नत प्रौद्योगिकी का प्रयोग करते हैं, जबकि विकासशील देशों में परम्परागत तकनीकों का प्रयोग किया जाता है।
5. प्राथमिक उपचार की सुविधाऐं, स्कूल, शैक्षिक स्तर विकसित राष्ट्रों में काफी अधिक होता है तथा विकासशील देशों में तुलनात्मक रूप से काफी कम होता है।
6. विकसित राष्ट्रों में गरीबी एवं बेरोजगारी की समस्या कम है तथा विकासशील देशों में बेरोजगारी की दर काफी अधिक है।
7. विकासशील देशों में उत्खनन(खनन), पशुपालन एवं प्राथमिक क्षेत्रों से जुड़ी सेवाओं का बाहुल्य है, दूसरी ओर विकसित राष्ट्रों में उच्च मूल्य सर्वर्धित सेवाओं तथा उत्पादों की बहुतायत है।
8. प्रशासनिक इकाईयाँ विकासशील देशों में काफी संकुचित हैं, जबकि विकसित राष्ट्रों में ये काफी दक्ष हैं।
9. आधारभूत सेवाऐं जैसे- पानी, बिजली, सड़क विकसित राष्ट्रों में उच्च कोटी की हैं, जबकि विकासशील देशों में ये निम्न स्तर की हैं।

7.3 विकसित और विकासशील देशों की विशेषताऐं

विकसित और विकासशील देशों की विशेषताओं को निम्न शीर्षकों से समझने का प्रयास करते हैं।

7.3.1 विकासशील और विकसित देशों की राजनीतिक विशेषताऐं

1. **राजनीतिक स्थायित्व-** कई विकासशील देशों में प्रारम्भिक अथवा वास्तविक राजनीतिक अस्थिरता विद्यमान है। यह अस्थिरता हो सकता है कि, उन पद्धतियों का अवशिष्ट हो जो औपनिवेशिक शक्तियों के विरूद्ध चलाये गये देशगत आन्दोलनों के परिणामस्वरूप विकसित हुई हों। ऐसे देशों में अपूर्ण लक्ष्यों के कारण बहुत अधिक निराशा फैल जाती है। ऐसे देशों में चाहे कैसी भी राजनीतिक संस्थाऐं विद्यमान हों, उनमें सभी जन-समुदायों को उचित प्रतिनिधित्व नहीं मिलता। ऐसे देशों में विभिन्न जातीय, भाषायी अथवा धार्मिक वर्गों में भेदभाव की भावना जड़ें जमा चुकी हैं। ऐसी स्थितियों में विकासशील देश राजनैतिक दृष्टि से स्थायी नहीं रह सकते।

   विकसित देशों के लिए राजनीतिक स्थिरता एक प्रमुख आवश्यकता है। किसी भी मूल्य पर ये देश की राजनीतिक स्थिरता को बनाये रखना चाहते हैं। इस लक्ष्य को ध्यान में रखकर ऐसे देशों ने कुछ ऐसी राजनैतिक संस्थाओं का विकास किया है जो न केवल विभिन्न जातियों को प्रतिनिधित्व देती है, बल्कि उन्होंने कुछ सशक्त प्रथाओं का भी विकास किया है। ऐसे देशों में भेदभाव की बहुत ही कम सम्भावना है।
2. **राजनीतिक प्रमुखों की विकास के लिए प्रतिबद्धता-** राजनीतिक प्रमुखों में वचनबद्धता का अभाव होता है। उनका ध्यान लोगों की इच्छाओं की पूर्ति की अपेक्षा स्वार्थ की पूर्ति की ओर अधिक रहता है। उनके जीवन का प्रमुख लक्ष्य हर स्थिति में शक्ति को हथियाना है। हरियाणा राज्य में हाल ही में घटित

घटनाऐं तथा अन्य कई राज्यों की घटनाऐं इस बात का संकेत करती हैं कि बन्दूक की नोक पर लोग शक्ति हथियाना चाहते हैं। यदि विकासशील देशों में इस प्रकार की परिस्थिति रहती है, तब राजनीतिक नेताओं में विकास के लिए प्रतिबद्ध होना बहुत कम सम्भव है। ऐसे देशों की एक रोचक विशेषता यह है कि ऐसे असामाजिक तत्व जिन्हें समाज ने त्याग दिया है, अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए राजनैतिक क्षेत्र में प्रवेश करने का प्रयत्न कर रहे हैं। स्मगलर, कातिल तथा उग्रवादी ऐसे लोग देश की बागडोर हथियाने का प्रयत्न कर रहे हैं। उदाहरण के लिए लीबिया, सूडान इत्यादि। विकसित देशों में स्थिति सर्वथा विपरीत है। राजनीतिक नेताओं में 'विकास' के सम्बन्ध में पर्याप्त मात्रा में सम्मिलित प्रतिबद्धता है। विकसित देशों में यह प्रतिबद्धता कुछ आदर्शों पर चलती है। साँझे लक्ष्य हैं- कृषि अथवा औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि, जीवन-स्तर, जन-स्वास्थ्य, शिक्षा, व्यक्तिगत पेंशन, स्त्रियों तथा निम्न जातियों की परम्परागत भूमिका में परिवर्तन, एक जाति के प्रति वफादारी का नव-निर्मित राष्ट्र के प्रति वफादारी के रूप में परिवर्तन के सम्बनध में नये संशोधित कार्यक्रमों को अपनाना।

3. **आधुनिकीकरण करने वाले तथा परम्परागत नेता-** विकासशील देशों में आधुनिकीकरण के पक्षपाती तथा परम्परागत नेताओं के मध्य बड़ा भारी भेद रहता है। आधुनिकीकरण के पक्षधरों का झुकाव नगरीकरण की ओर होता है। वे पश्चिमीकरण में अधिक विश्वास करते हैं। वे सुशिक्षित युवा होते हैं। वे राजनैतिक, सामाजिक तथा आर्थिक परिवर्तन के लिए प्रतिबद्ध होते हैं। दूसरी ओर परम्परागत नेताओं का झुकाव ग्रामों की ओर अधिक होता है। वे स्थानीय रस्मों-रिवाजों तथा अपने ही धर्म में विश्वास रखने वाले होते हैं। साथ ही इस प्रकार के नेता परिवर्तन के विरूद्ध होते हैं। ऐसे परिवर्तन को वे मूल्यों पर कुठाराघात समझते हैं। नये नेता तकनीकी कौशल को प्राप्त करना चाहेंगे जो राष्ट्र के विकास के लिए बड़ा महत्वपूर्ण है। परन्तु पुराने विचारों वाले नेता ग्रामीण क्षेत्रों तथा गन्दी बस्तियों के प्रति गहरी वफादारी को बनाये रखने में अधिक विश्वास रखते हैं।
4. **राजनीतिक शक्ति की न्याय संगति-** विकासशील अथवा अपूर्ण विकसित देशों में राजनीतिक शक्ति विधि अनुसार नहीं होती। इन देशों में अवैध तरीकों से शक्ति प्राप्त की जाती है। विकासशील देशों में राजनीतिक व्यवस्था को छः भागों में बाँटा जाता है- परम्परागत निरंकुश शासन व्यवस्था; निरंकुश नेतृत्व व्यवस्था; बहुतन्त्रीय स्पर्द्धात्मक व्यवस्था; प्रभावी दल अर्द्ध-स्पर्द्धात्मक व्यवस्था और कम्युनिस्ट व्यवस्था। परम्परागत निरंकुश व्यवस्थाओं में राजनैतिक नेता चिर-स्थापित सामाजिक व्यवस्था से शक्ति प्राप्त करते हैं, जिनमें अधिकतर बल वंशानुगत राज्य-पद्धति अथवा कुलीनतन्त्रीय शासन-व्यवस्था पर दिया जाता है। इस व्यवस्था के कुछ उदाहरण यमन, सऊदी अरब, अफगानिस्तान, इथोपिया, लीबिया मोरक्को और ईरान हैं। ईरान जैसे कुछ देशों में बड़े परिवर्तन हो चुके हैं। लेकिन कुलीनतन्त्र शासन व्यवस्था में सैनिक अधिकारी और कभी-कभी उनके असैनिक मित्र भी शासक होते हैं। दक्षिणी कोरिया, थाईलैण्ड, बर्मा, इण्डोनेशिया और इराक इसके उदाहरण हैं।

   बहुतन्त्रीय स्पर्द्धात्मक व्यवस्था में फिलिपाइन, इजराइल, अर्जेण्टीना, ब्राजील तुर्की तथा नाइजीरिया जैसे राज्यों में पश्चिमी दल अर्द्ध-स्पर्द्धात्मक व्यवस्था में वास्तव में एक दल बहुत प्रभावी होता है। देश की राजनैतिक शक्ति पर उसका लगभग एकाधिकार होता है। ऐसे देशों में दूसरी पार्टियाँ वैध तो होती हैं, परन्तु उनके पास अधिकार नाम मात्र का होता है। इसके उदाहरण भारत और मोरक्को हैं।
5. **राजनीति कार्यक्रम की सीमा-** विकासशील देशों में राजनीतिक कार्यक्रमों की मात्रा और कार्य-क्षेत्र सीमित होता है, क्योंकि लोगों के अन्दर राजनैतिक जागरूकता का अभाव होता है। इस सम्बन्ध में जो भी संस्थाएँ होती हैं, वे क्रियाशील नहीं होती, क्योंकि इन देशों की शक्ति वैध नहीं होती।

दूसरी ओर विकसित देशों में इस प्रकार की परिस्थिति नहीं होती। वास्तव में ऐसे समाज कल्याणकारी राज्य होते हैं। कल्याणकारी राज्यों का जन्म ऐसी समस्याओं का समाधान करना है जो औद्योगीकरण, नगरीकरण तथा बढ़ रही जनसंख्या के कारण उत्पन्न हुई हैं, जो विकास-क्रम का एक भाग हैं।

6. **राजनीति व्यवस्था में लोगों की रूचि और ग्रस्तता-** विकासशील देशों में राजनीतिक व्यवस्था में लोगों की रूचि तथा भागीदारी उत्साहजनक नहीं है। अनपढ़ता के कारण अधिकतर लोग राजनीतिक कार्यों के महत्व को नहीं समझते। लेकिन भारत जैसे देश में इस प्रकार की स्थिति नहीं है। लोग अपने देशों की राजनैतिक प्रक्रिया में रूचि नहीं रखते और न ही उसमें भाग लेते हैं। लेकिन यह अवस्था नगण्य है। वास्तव में विकसित देशों में लोग राजनीतिक कार्यों में अधिक रूचि लेने के साथ राजनीतिक कार्यों में सक्रिय रूप से भाग भी लेते हैं।
7. **राजनीतिक निर्णय-** राजनीतिक नेताओं के सम्बन्ध में पहले की गयी चर्चा में हमने संकेत दिया है कि अविकासशील समाज में परम्परागत नेतृत्व अधिक सशक्त होता जाता है। लेकिन विकसित देशों में परम्परागत नेतृत्व प्रतिदिन दुर्बल होता जाता है। इन परिस्थितियों में जहाँ परम्परागत नेतृत्व निरन्तर शक्ति और प्रभाव को प्राप्त करता जाता है, तर्कसंगत तथा धर्म-निरपेक्षता के आधार पर निर्णय लेने सम्भव नहीं होते। न्याय और तर्कसंगति की सभी सीमाओं को लाँघ कर किसी एक अथवा दूसरे समुदाय को लाभ पहुँचाने की दृष्टि से राजनीतिक निर्णय लिये जाते हैं।
8. **राजनीतिक दल-** विकसित तथा विकासशील देशों की राजनीतिक व्यवस्था में राजनीतिक दलों ने बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया है। परन्तु दुर्भाग्य की बात यह है कि विकासशील देशों में राजनैतिक दलों ने अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह नहीं किया, ताकि देश को राजनैतिक स्थिरता प्राप्त हो जाये। उदाहरणस्वरूप, भारत जैसे देश में हम सशक्त दल पद्धति का विकास नहीं कर सके, ताकि लोगों को बहुदलीय प्रणाली में स्पष्ट रूप से विकल्प मिल सके। भारत में भाषा, धर्म तथा जाति के आधार पर बहुत से दल विद्यमान हैं। यही नहीं, भारत में राजनीतिक दलों में अनुशासन का पूर्ण अभावहै।

7.3.2 विकासशील और विकसित देशों की सामाजिक विशेषताऐं

1. **भूमिकाओं का निर्धारण-** विकासशील देशों में भूमिकाओं का निर्धारण उपलब्धियों के आधार पर नहीं, आरोपण/कर (Tax) के आधार पर होता है। परन्तु विकसित देशों में यह स्थिति सर्वथा विपरीत है। दोनों विकासशील तथा विकसित अथवा अविकसित देशों में विभिन्न स्तर होते हैं। परन्तु स्पष्ट शब्दों में हम कह सकते हैं कि विकासशील अथवा अविकसित देशों में यह स्तर-भेद जन्म अथवा आरोपण के आधार पर होता है। जबकि विकसित देशों में यह आधार आरोपण की अपेक्षा उपलब्धियों के आधार पर निश्चित होता है। इसे अधिक स्पष्ट करने के लिए हम कह सकते हैं कि भारत जैसे देश में सामाजिक स्तरों में पारस्परिक गत्यात्मकता बहुत कम हैं। इसके विपरीत यूरोप में सामाजिक गत्यात्मकता बहुत है।
2. **जातीय संरचना-** विकासशील देश में जातीय संरचना बड़ी कठोर होती है। हमारे देश में उच्च जातीय हिन्दू, निम्न जातीय हिन्दू की लड़की से विवाह नहीं करते, अन्तर्जातीय विवाह की तो बात ही दूर रही। यह जानना बड़ा रोचक है कि हमारे देश में प्रशासनिक व्यवस्था भी जातीय स्तर-पद्धति के बहुत अनुकूल पड़ती है। हमारे प्रशासकीय ढ़ाँचे में चार स्तरों के कर्मचारी हैं। यह सोचा ही नहीं जा सकता तथा यह असम्भव भी है कि श्रेणी चार के कर्मचारी को उन्नति प्रदान करके प्रथम श्रेणी का कर्मचारी बना दिया जाये। इस प्रकार प्रशासिनक श्रेणियाँ भी जातीय श्रेणियों के अनुरूप हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे विकसित देशों में इस प्रकार का स्तरीकरण नहीं है और वहाँ गुणों के आधार पर एक श्रेणी से दूसरी श्रेणी में उन्नति सम्भावित है। इस प्रकार वहाँ उपलब्धियों पर अधिक बल दिया जाता है।

3. **सामाजिक संघर्ष-** विकसित देशों में सामाजिक संघर्ष की मात्रा अविकसित देशों की अपेक्षा बहुत कम होती है। अविकसित देशों में ये संघर्ष अन्तर्जातीय अथवा प्रादेशिकता के आधार पर झगड़ों का रूप धारण कर लेते हैं। उदाहरणस्वरूप, भारत जैसे देश में हम लगभग हर रोज जातीय दंगों के कारण भारत के किसी न किसी भाग में एक-दो हत्याओं के बारे में सुन लेते हैं और इनकी प्रतिक्रिया देश के दूसरे भागों में बहुत अधिक हो जाती है। इसका यह अर्थ नहीं कि विकसित देशों में ऐसी स्थिति होती ही नहीं। ऐसे देशों में भी मिथकों का प्रचार, जैसे- जातीय आधार पर उत्तमता, रंग-भेद, इत्यादि के कारण जातीय दंगे भड़के हैं, हडतालें हुई हैं, शान्ति, कानून और व्यवस्था को आघात पहुँचा है। झाड़-फूँक, हत्या और विनाश हुआ है। परन्तु इन देशों में इस प्रकार की स्थिति चिन्ताजनक नहीं होती। ऐसी घटनाऐं कभी-कभी घटती हैं। विकासशील देशों में यह स्थिति नियन्त्रण से बाहर जा रही है। उदाहरणस्वरूप भारत जैसे देश में नई दिल्ली में तथा देश के अन्य भागों में (श्रीमती इन्दिरा गाँधी की हत्या के पश्चात) सिक्खों की हत्या। अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के सदस्यों को जिन्दा ही जला देना, भारतीय इतिहास की कुछ भयंकर दुर्घटनाऐं हैं। इसी प्रकार की स्थिति पाकिस्तान, बांग्लादेश तथा अफ्रीका के कुछ देशों में भी विद्यमान है। इन्हीं सामाजिक झगड़ों के परिणामस्वरूप विकसित देश, विकासशील देशों को अपने नियन्त्रण में रख रहे हैं और उन्हें अपनी राजनैतिक पकड़ में बनाये रखना चाहते हैं। विकसित देशों के लिए यह लाभदायक है, परन्तु विकासशील देशें के लिए आत्महत्या के समान है।

7.3.3 विकासशील और विकसित देशों की प्रशासनिक विशेषताऐं

1. **कार्य-विशेषज्ञता की मात्रा-** विकासशील देशों में प्रशासनिक व्यवस्था में कार्य-विशेषज्ञता की कम मात्रा एक महत्वपूर्ण विशेषता है। लेकिन दूसरी ओर संसार के सभी विकसित देशों ने अपने प्रशासकीय ढाँचे को नौकरशाही का अध्ययन करते समय मैक्स वेबर द्वारा दिये गये विचार के अनुसार कार्य-विशेषज्ञता के सिद्धान्त पर व्यवस्थित किया है। इसी प्रकार पर फ्रैड रिग्ज ने विकसित देशों में प्रशासनिक व्यवस्था के अन्दर विभेदीकरण अथवा अधिक मात्रा में श्रम-विभाजन पर बल दिया है। उसके अनुसार विकसित समाज उस बहुरंगीय प्रकाश की तरह है, जो प्रिज्म में से विश्लेषित होकर आ रहा है। सफेद प्रकाश अथवा मिश्रित प्रकाश की प्राचीन समाज से तुलना की जा सकती है। इसके मध्य में प्रिज्मीय समाज है। वह विकासशील अथवा प्रिज्मीय समाज की तुलना उस स्थिति से करता है, जिसमें प्रकाश प्रिज्म के अन्दर बहुरंगीय प्रकाश में बदलता है। इस मॉडल के अनुसार विकसित समाज में कार्य के विभेदीकरण पर बल दिया जाता है। उदाहरणस्वरूप औरंगजेब जैसा राजा अपनी सरकार में कार्यपालक, विधायक तथा न्यायपालक भी था, क्योंकि वह कानून का निर्माता भी था, उन्हें लागू भी करता था और यह निश्चित करता था कि क्या इसे ठीक तरह से लागू भी किया गया है अथवा नहीं। लेकिन आधुनिक सरकार में उक्त कार्यों को करने वाले अलग-अलग अंग हैं। यह उदाहरण उस व्यवस्था को प्रकट करता है जिसे रिग्स ने विश्लेषण द्वारा प्रकट किया है। यहाँ यह बताना रोचक है कि प्रारम्भिक ब्रिटिश प्रशासन काल में भारतीय प्रशासनिक सेवाएँ- वैधानिक, कार्यपालिका सम्बन्धी कार्य तथा औचित्य का निपटारा करने का काम करती थीं। वास्तव में भारतीय प्रशासनिक सेवाओं के सदस्यों को भारतीय कौंसिल एक्ट के अधीन कौंसिलों द्वारा नामांकित किया जाता था। इस प्रकार वे वैधानिक कार्यों में भाग लेते थे। इसी के साथ-साथ प्रशासकीय अधिकारी थे और कार्यपालिका के सदस्य होते थे। वे ही न्यापालिका का कार्य भी करते थे। अब, वास्तव में भारत में विधि-निर्माता, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका शक्तियाँ एक-दूसरे से अलग-अलग हैं। लेकिन कुछ राज्यों में जिला स्तर पर कार्यपालिका तथा जुर्म सम्बन्धी न्याय देने का काम एक ही अधिकारी द्वारा किया जाता है। इस प्रक्रिया के अनुसार हम राजनैतिक व्यवस्था में

विभेदीकरण की स्थिति को देखते हैं। उदाहरणस्वरूप विकासशील देशों में जिला मजिस्ट्रेट के स्तर पर विभेदीकरण का अभाव हमें अंग्रेजों से विरासत में मिला है। जिला मजिस्ट्रेट का कानून और व्यवस्था को बनाये रखने के लिए, राजस्व इकट्ठा करने के लिए योजना बनाने और विकास के लिए विभागों में तालमेल बनाये रखने तथा उन्हें नियन्त्रण में रखने के लिए उत्तरदायी है। इस प्रकार जिला मजिस्ट्रेट का कार्यालय अविभेदित संरचना का उदाहरण है।

2. **प्रशासकीय कार्यों का विकास और विस्तार-** विकासशील देशों में प्रशासकीय कार्यों का भार कम होता है, क्योंकि ऐसे देशों में औद्योगीकरण तीव्र गति से नहीं होता। अधिकांश जनसंख्या ग्रामों में रहती है। बेशक विकासशील देशों में नगरीकरण हो रहा है, लेकिन यह नगण्य है। इसकी तुलना में विकसित देशों और प्रशासकीय क्षेत्र में बहुत अधिक विकास और विस्तार हो गया है। इसका कारण पर्याप्त सीमा तक औद्योगीकरण, नगरीकरण, लगभग प्रत्येक उन्नति के क्षेत्र में वैधानिक खोज तथा प्रत्येक क्षेत्र में नये उपकरणों की सहायता से कार्य सम्पादन करना इसके साधन हैं। इन देशों में प्रजा पर प्रशासन करने के बहुत आसान तरीके विकसित किये गये हैं। हर सम्भव प्रयत्न किया जा रहा है कि जटिलताओं और प्रशासकीय प्रक्रिया में इसको कम किया जाये, परन्तु विकाशील देशों में ऐसी अवस्था का विकास नहीं हुआ।
3. **लोक प्रशासन का प्रतिमान-** विकासशील देशों में लोक प्रशासन का प्रतिमान अधिकतर पश्चिम की नकल है। अक्सर ये देश अपने पूर्व प्रशासकों की प्रशासन-पद्धति को अपनाते हैं। इन देशों में प्रशासन पद्धति देशी उपज नहीं होती, बल्कि यह अधिकतर विकसित देशों से ली जाती है। विकसित देशों में कुछ समय पश्चात अपने लिये ऐसे प्रशासकीय ढाँचे बना लिये हैं जो केवल उन्हीं देशों के अनुकूल हैं। परन्तु दुर्भाग्य से विकासशील देशों ने इन ढाँचों को बिना किसी प्रकार के सोच-विचार के अपनी प्रशासन-पद्धति के रूप में अपना लिया है। पश्चिम से अथवा अपने पूर्व प्रशासकों से लिये गये प्रशासकीय ढाँचों के बड़े हानिकर परिणाम निकले हैं।
4. **नौकरशाही का स्तर-** विकासशील देशों की नौकरशाही में कुशल जन-शक्ति की कमी होती है। यदि विकासशील देश अपने विकास कार्यक्रमों में तेजी लाना चाहते हैं, तो उन्हें कुशल जन-शक्ति की आवश्यकता पड़ेगी। वास्तव में समस्या नियुक्ति और योग्य जन-शक्ति की नहीं है, क्योंकि अधिक बेरोजगारी अथवा कम रोजगारी की स्थिति रहती है। निम्न स्तर के लोगों की उदाहरणस्वरूप सहायकों, टाइपिस्टों, चपरासियों की भर्ती विश्व स्तर पर ही आवश्यकता से अधिक है, कमी तो प्रशिक्षित प्रशासकों की है। भारत में भी शिक्षित नवयुवकों में भी अत्यधिक बेरोजगारी होने के बावजूद प्रशिक्षित प्रबन्धों की कमी है। आजकल प्रबन्धकीय कौशल का विकास किया गया है और हमें वित्तीय प्रबन्ध, कर्मचारी प्रबन्ध सामान-सूची प्रबन्ध इत्यादि के लिए विशेषज्ञों की आवश्यकता है। लेकिन विकसित देशों में इस प्रकार की अवस्था नहीं होती। इन देशों में प्रशासनिक व्यवस्था से नीति-निर्माण की प्रक्रिया, इसके सदस्यों तथा अन्य भागीदारों द्वारा व्यावसायिक कार्य समझा जाता है। इन देशों में नौकरशाही लोगों में व्यवसायीकरण को विशेषीकरण का ही चिन्ह माना जाता है।

7.3.4 विकासशील देशों का आर्थिक आधार

निर्धनता, संसार में विकासशील देशों की एक बड़ी प्रमुख विशेषता है। क्रान्ति से पूर्व की स्थिति की तुलना में, इनमें से अधिक देश अधिक निर्धन तथा कम विकसित हैं। वे तो औद्योगीकरण से पहले की स्थिति वाले पाश्चात्य देशों से भी अधिक निर्धन हैं। यह स्थिति अधिक जनसंख्या वाले देशों से दूसरे देशों की तुलना में अधिक दयनीय है।

1. **प्राथमिक उत्पाद-** विकासशील देशों की एक मूलभूत विशेषता यह भी है कि ये ऐसे देश हैं, जिनमें केवल प्राथमिक वस्तुओं का ही उत्पादन होता है। वास्तव में विकासशील देशों में उत्पादन का प्रारूप प्रमुखतया अनाज तथा कच्चे माल के उत्पादन के रूप में होता है। विकासशील देश प्रमुखतया कृषि प्रधान देश होता है। उदाहरणस्वरूप भारत में 70 प्रतिशत से अधिक लोग आजीविका के लिए प्रमुखतया कृषि पर निर्भर करते हैं।
2. **प्राकृतिक संसाधन-** विकासशील देशों में प्राकृतिक संसाधनों का अस्तित्व होता है, परन्तु तकनीकी ज्ञान के बिना उनका उपयोग पूर्णतया नहीं किया जाता। यह आम धारणा है कि विकासशील देश इस कारण निर्धन हैं कि उनके पास संसाधनों की कमी है।
3. **अर्थव्यवस्था की प्रकृति-** लगभग सभी विकासशील देशों में आर्थिक दोहरापन देखने को मिलता है। कहने का अभिप्राय यह है कि यह दो भागों में विभाजित है। वे हैं- 1.बाजार, 2. आधारभूत। लेकिन विकसित देशों में यह स्थिति या तो नगण्य है, अथवा इसका अभाव है।
4. **तकनीक का स्तर-** विकासशील देशों में तकनीक का स्तर बहुत नीचा है। इन दोनों में कृषि-क्षेत्र तथा उद्योग-क्षेत्र में जिन तकनीकों का पालन किया जा रहा है, वे पिछड़ी हुई हैं और पुरानी हैं। वह तकनीक जो पाश्चात्य देशों में पुरानी हो जाती है, वह विकासशील देशों द्वारा अपना ली जाती है। इसी प्रकार तकनीकी दोहरापन भी विकासशील देशों की एक प्रमुख विशेषता है।
5. **रोजगार के अवसर-** विकासशील देशों में रोजगार के अवसरों की कमी के कारण अधिक संख्या में लोग कृषि-कार्य में लग जाते हैं। परन्तु विकसित देशों में यह स्थिति नहीं है, लेकिन इसका अभिप्राय यह नहीं कि इन देशों में रोजगार सम्बन्धी कोई समस्याऐं ही नहीं हैं। वास्तविकता तो यह है कि उच्च तकनीकी क्रान्ति के कारण सरकारों के कार्यक्रमों की प्रक्रियाएँ अधिक सरल हो गयी हैं, परन्तु इसके साथ ही अनेक समस्याऐं जिनमें रोजगार की समस्या भी है, उत्पन्न हो गयी हैं, लेकिन इन देशों में स्थिति अधिक चिन्ताजनक नहीं है। किन्तु विकासशील देशों में यह बद-से-बदतर होती जा रही है।
6. **पूँजी की उपलब्धि-** बहुत से विकासशील देशों को प्रायः 'पूँजी की दृष्टि से निर्धन' अथवा 'अल्प बचत' अथवा 'अल्प निवेश' वाली अर्थ व्यवस्थाऐं कहा जाता है। इसकी तुलना में जापान जैसे देश में यह 45 प्रतिशत से ऊपर है और इसी प्रकार फिनलैण्ड में यह 35 प्रतिशत से ऊपर है। भारत में पूँजी-निर्माण 20 प्रतिशत तक पहुँच गया है। इतना होने पर भी इसका लोगों को कोई लाभ नहीं पहुँचा।
7. **सार्वजनिक क्षेत्र पर निर्भरता-** नेतृत्व के लिए सार्वजनिक क्षेत्र पर अधिक निर्भर रहना पड़ता है। अनेक विकासशील देशों ने ऐसे सामाजिक ढाँचे का विकास कर लिया है जो सामाजिक या मार्क्सवादी विचारधारा में विश्वास करता है। ऐसे देशों में सार्वजनिक क्षेत्र नेतृत्व प्रदान करता है। विकसित देशों में यह स्थिति नहीं है।

अभ्यास प्रश्न-

1. विकसित राष्ट्रों के विकास का आधार सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक आधुनिकीकरण है। सत्य/असत्य
2. विकासशील देशों में प्रशासन को लक्ष्योउन्मुखी होना चाहिये। सत्य/असत्य
3. विकासशील देशों में जन्म की दर काफी अधिक रहती है। सत्य/असत्य
4. विकासशील देशों में प्रशासनिक व्यवस्था में कोई दोष नहीं है। सत्य/असत्य
5. विकसित राष्ट्रों में सार्वजनिक क्षेत्र का महत्व कम है। सत्य/असत्य
6. विकास प्रशासन विकासशील देशों में राजनीतिक स्थायित्व देता है। सत्य/असत्य

7. रिग्स का 'साला मॉडल' किन देशों से सम्बन्धित है?

7.4 सारांश

विकसित एवं विकासशील देशों की पारिस्थितिक भिन्नता प्रशासन के रूप, आचरण एवं उद्देश्यों को प्रभावित करते हैं। इस बात का समर्थन रिग्स ने अपने मॉडल में विस्तृत रूप से हमें बताया है। साधारणतया विकाशसील, पिछड़ा, अविकसित अथवा निर्धन को इसका पर्यायवाची समझा जाता रहा है। कुछ विशेषज्ञों के अनुसार, एक विकाशसील देश वह है जिसमें आमतौर पर उत्पादन का कार्य तुलनात्मक दृष्टि से कम प्रति व्यक्ति वास्तविक पूँजी की लागत से किया जाता है। इसके साथ ही विकसित राष्ट्रों की अपेक्षा कम विकसित तकनीक का प्रयोग होता है। भारतीय विद्वानों के अनुसार एक विकाशसील देश वह है, जिसका सह-अस्तित्व कम अथवा अधिक मात्रा में एक ओर अप्रयुक्त अथवा कम प्रयुक्त की गयी जनशक्ति तथा दूसरी ओर प्राकृतिक संसाधनों के उपयोग पर आधारित है। इस स्थिति का कारण तकनीक के प्रयोग में स्थान अथवा कुछ विघ्नोत्पादक सामाजिक-आर्थिक कारण हो सकते हैं। प्रायः कुछ राष्ट्रों का पिछड़ापन निम्न बिन्दुओं पर आधारित है- 1. निम्न तकनीक, 2. अधिक जनसंख्या, 3. जातीय एवं पुरातन भूमि व्यवस्था, 4. निम्न स्तर का मानवीय संसाधन, 5. राजनीतिक अस्थिरता, 6. सामाजिक पिछड़ापन। विकाशसील देशों की ये सभी प्रकार की विषमताएँ उन देशों की विकास की पद्धति तथा विकास दर में भेद उत्पन्न करते हैं।

7.5 शब्दावली

औपनिवेशिक- उपनिवेश का, उपनिवेश में होने वाले अथवा उससे सम्बन्ध रखने वाला, उपनिवेश का निवासी।

पुरातन- पुराना या प्राचीन।

नगण्य- बहुत ही तुच्छ या हीन, जो गिनने योग्य न हो।

उत्खनन- खोदकर बाहर निकालना।

7.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. सत्य, **2.** सत्य, **3.** सत्य, **4.** असत्य, **5.** सत्य, **6.** सत्य, **7.** विकासशील देशों से

7.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. सिंह, सविन्दर (1996): भारत में विकास प्रशासन, न्यू अकैडमिक पब्लिशिंग कम्पनी, जालन्धर।

2. भ्रामरी, सी0 पी0 (1972): "एडमिनिस्ट्रेशन इन ए चेन्जिंग सोसायटी", नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।

3. हिल, जे0 माइकल (1972): "दी सोशियोलॉजी ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन", वीडनफील्ड एवं निकोलसन, लंदन।

4. भालेराव, सी0एन0 (संपादक) (1990): "एडमिनिस्ट्रेशन, पालिटिक्स एण्ड डेवलेपमेंट इन इन्डिया", लालवानी पब्लिशर्स, बाम्बे।

7.8 सहायक/ उपयोगी सहायक पाठ्य सामग्री

1. बाबा, नूरजहाँ (1984): "पीपल्स पार्टीसिपेशन इन डेवलेपमेंट एडमिनिस्ट्रेशन इन इण्डिया", उप्पल पब्लिशर्स, दिल्ली।

2. भट्टाचार्या, मोहित (1987): "पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन", वर्ल्ड प्रेस, दिल्ली।

7.9 निबंधात्मक प्रश्न

1. विकसित एवं विकासशील राष्ट्रों के राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक प्रतिमानों के अन्तर को स्पष्ट कीजिए।
2. विकसित एवं विकासशील राष्ट्रों के सन्दर्भ में विकास प्रशासन की भूमिका पर लेख लिखिये।
3. "विकासशील देशों में विकास प्रशासन का प्रमुख लक्ष्य, विकास एवं आधुनिकीकरण है" टिप्पणी कीजिए।

इकाई- 8 तुलनात्मक लोक प्रशासन

इकाई की संरचना

8.0 प्रस्तावना

8.1 उद्देश्य

8.2 तुलनात्मक लोक प्रशासन

8.2.1 तुलनात्मक लोक प्रशासन: अर्थ एवं परिभाषा

8.2.2 तुलनात्मक लोक प्रशासन का विकास

8.2.3 तुलनात्मक लोक प्रशासन के उद्देश्य

8.2.4 तुलनात्मक लोक प्रशासन का महत्व

8.3 तुलनात्मक लोक प्रशासन के अध्ययन के उपागम/दृष्टिकोण

8.3.1 संरचनात्मक कार्यात्मक उपागम

8.3.2 पारिस्थितिकीय उपागम

8.3.3 व्यवहारवादी उपागम

8.4 सारांश

8.5 शब्दावली

8.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

8.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

8.8 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

8.9 निबंधात्मक प्रश्न

8.0 प्रस्तावना

तुलनात्मक लोक प्रशासन, लोक प्रशासन के अध्ययन के क्षेत्र में एक नवीन अवधारणा है। लोक प्रशासन के अध्ययन और विकास के क्षेत्र में जो तुलनात्मक पद्धति प्रयोग में लायी जाती थी उसी से तुलनात्मक लोक प्रशासन की अवधारणा उत्पन्न हुई है। द्वितीय विश्व युद्ध के समय तथा उसके बाद के वर्षों में विभिन्न सामाजिक विज्ञानों ने तुलनात्मक अध्ययन तथा तुलनात्मक विश्लेषण पर विशेष बल देना आरम्भ कर दिया था। इसी दौरान सामाजिक शास्त्रों को विज्ञान की श्रेणी में रखने के लिए अपनी वैज्ञानिकता को बढ़ा-चढ़ा कर सम्बन्धित विषयों के विद्वान प्रयत्न करने लगे थे। वे विज्ञान में प्रगतिवादी दृष्टिकोण एवं तर्क प्रणाली की पद्धति पर सरकारों, समाजों एवं राजनीतिक इकाइयों का तुलनात्मक विवेचन करने में जुट गये। इनका मानना था कि तुलनात्मक दृष्टिकोण से हम किसी भी सन्दर्भ के भिन्न-भिन्न लक्ष्यों में वांछित परिवर्तन ला सकेंगे।

8.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- तुलनात्मक लोक प्रशासन का अर्थ एवं उद्देश्यों को समझ पायेंगे।
- तुलनात्मक लोक प्रशासन के विकास एवं महत्वको समझ सकेंगे।
- तुलनात्मक लोक प्रशासन के विभिन्न उपागमों को जान सकेंगे।

8.2 तुलनात्मक लोक प्रशासन अर्थ एवं परिभाषा

एडविन स्टीन, हर्बर्ट साइमन तथा ड्वाइट वाल्डो जैसे विद्वानों ने भी लोक प्रशासन को अधिक वैज्ञानिक बनाने के लिए वैज्ञानिक साहित्यों की व्याख्या पर बल देना प्रारम्भ किया था। लेकिन रॉबर्ट डॉहल ने कहा कि ''जब तक लोक प्रशासन का अध्ययन तुलनात्मक नहीं होता, तब तक विज्ञान होने का इसका दावा खोखला है।'' किसी भी अन्य वैज्ञानिक अनुशासन की तरह लोक प्रशासन में भी तुलनात्मक विश्लेषण की विधि का सुनिश्चित महत्व है। अतः इस बात को ध्यान में रखकर लोक प्रशासन के विद्वानों ने तुलनात्मक लोक प्रशासन के अध्ययन-साहित्य तथा प्रशासकों के तुलनात्मक विश्लेषण पर बल देना प्रारम्भ किया। तुलनात्मक लोक प्रशासन के विकास के प्रारम्भिक चरणों में ड्वाइट वाल्डो, फैरेल हैडी, स्टोक्स इत्यादि विद्वानों ने अहम भूमिका निभायी। बाद में तुलनात्मक लोक प्रशासन की अवधारणा को अधिक समृद्ध बनाने में फ्रेड रिग्स, रिचर्ड गेबल, फ्रेडरिक क्लीवलैण्ड, एलफ्रेड डायमण्ड, फैरेल हैडी, फ्रेंक शेरवुड तथा जॉन मॉन्टगुमरी इत्यादि विद्वानों ने इसे अत्यधिक समृद्ध बनाया। ये उपर्युक्त विद्वान 'अमेरिकन सोसाइटी फॉर पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन' द्वारा 1963 में गठित तुलनात्मक प्रशासनिक समूह से सक्रिय रूप से जुड़े हुए थे। 1970 के अन्त तक फ्रेड रिग्स इसके अध्यक्ष रहे। इसके बाद रिचर्ड गेबल को इसका अध्यक्ष बनाया गया। तुलनात्मक प्रशासनिक समूह की तुलना का केन्द्र विकासशील राष्ट्रों की समस्या थी। विकासशील राष्ट्रों की प्रशासनिक समस्याओं का तुलनात्मक अध्ययन उनके सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक तथा आर्थिक पर्यावरण में देखा जाता था। तुलनात्मक लोक प्रशासन के अध्ययन के विकास के लिए इस समूह ने अनेक अन्तर्राष्ट्रीय गोष्ठियाँ, सम्मेलन तथा सेमिनारों का आयोजन करवाया।

आर0 के0 अरोड़ा ने अपनी पुस्तक में लोक प्रशासन के क्षितिज को विस्तृत किया है। विभिन्न प्रशासनिक व्यवस्थाओं का उनके पर्यावरण की स्थिति में अध्ययन करके इसने लोक प्रशासन के विषय-क्षेत्र को अधिक व्यवस्थित बनाया है और अपने सदस्यों में विकास प्रशासन की समस्या में रूचि को प्रोत्साहित किया है।''

टी0 एन0 चतुर्वेदी के अनुसार, ''तुलनात्मक लोक प्रशासन के अन्तर्गत विभिन्न संस्कृतियों में कार्यरत विभिन्न सार्वजनिक एवं प्रशासनिक संस्थाओं का तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है।''

निमरोड राफाली के अनुसार, ''तुलनात्मक लोक प्रशासन, तुलनात्मक आधार पर लोक प्रशासन का अध्ययन है।''

तुलनात्मक प्रशासन समूह ने तुलनात्मक लोक प्रशासन को पारिभाषित करते हुए कहा है कि''विभिन्न संस्कृतियों तथा राष्ट्रीय विन्यासों में प्रयुक्त हुए लोक प्रशासन के सिद्धान्त और वह तथ्यात्मक सामग्री जिसके द्वारा इनका विस्तार और परीक्षण किया जा सकता है, तुलनात्मक लोक प्रशासन के अंग हैं।''

ए0 आर0 त्यागी के अनुसार, ''तुलनात्मक लोक प्रशासन एक ऐसा अनुशासन है, जो लोक प्रशासन के सम्पूर्ण सत्य को जानने के लिए समय, स्थान और संस्कृतिक विभिन्नता की परवाह किये बिना तुलनात्मक अध्ययन में व्यावहारिक यन्त्रों का प्रयोग करता है।''

रूमकी बासु के अनुसार, ''तुलनात्मक लोक प्रशासन के द्वारा हमें विभिन्न देशों में अपनाये जाने वाले उन प्रशासनिक व्यवहारों की जानकारी मिलती है जिन्हें अपने राष्ट्र की प्रणाली में अपनाया जा सकता है।''

''वस्तुतः तुलनात्मक लोक प्रशासन विभिन्न प्रशासनिक व्यवस्थाओं का एक ऐसा तुलनात्मक अध्ययन है, जिसके निष्कर्षों के आधार पर लोक प्रशासन को अधिकाधिक वैज्ञानिक बनाने का प्रयास किया जाता है।''

तुलनात्मक लोक प्रशासन की प्रेरणा के कारकों की चर्चा करते हुए डॉ0 एम0 पी0 शर्मा एवं बी0 एल0 सडाना ने कहा है कि द्वितीय विश्व युद्ध के समय पश्चिमी और विशेषकर अमेरिकी विद्वानों का बहुत से विकासशील राष्ट्रों के लोक प्रशासन के साथ सम्पर्क स्थापित हुआ, जिसमें उन्होंने कुछ नयी विशेषताएँ देखी और उनमें उनकी रूचि

पैदा हुयी। दूसरी तरफ वैज्ञानिक तथा तकनीकी क्षेत्रों में होने वाली नयी घटनाओं का प्रशासनों के ढाँचे के स्वरूप पर प्रभाव पड़ा जिससे तुलनात्मक लोक प्रशासन के अध्ययन में रूचि को प्रोत्साहन मिला। एक अन्य कारण यह रहा है कि विश्व के रंगमंच पर भारी संख्या में नये देश उभर कर सामने आये तथा वे तीव्र आर्थिक विकास में लग गये। इन राष्ट्रों के विकास में लोक प्रशासन ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी थी। अतः वैज्ञानिक जाँच के लिए तथा तुलना के लिए नये अवसर प्राप्त हुए। परम्परागत लोक प्रशासन की अवधारणाऐं पुरातन हो चुकी थीं। अतः तुलनात्मक लोक प्रशासन के रूप में लोक प्रशासन का नया आयाम विकसित हुआ।

8.2.1 तुलनात्मक लोक प्रशासन का विकास

द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान और उसके बाद के काल को पुराने और नये लोक प्रशासन के मध्य एक विभाजक रेखा माना जाता है। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद विश्व के विकासशील देशों को ज्यों-ज्यों नयी चुनौतियों का सामना करना पड़ा त्यों-त्यों लगभग इसी रफ्तार में लोक प्रशासन का साहित्य समृद्ध और सबल होने लगा। इस काल में उठने वाली समस्याओं के समाधान में लोक प्रशासन अत्यधिक संघर्षशील बन गया। तत्पश्चात उसके स्वरूप और प्रकृति में अनेक बदलाव आये। इस दौरान अमेरिकी विद्वानों ने अनेक तुलनात्मक अध्ययन किये तथा धीरे-धीरे उनकी तुलना का केन्द्र सिर्फ यूरोपीय देश ही न होकर विश्व की प्रशासकीय व्यवस्थाऐं बनने लगी। जिन प्रमुख कारणों ने तुलनात्मक लोक प्रशासन के अध्ययन के विकास में अपना योगदान दिया, वे निम्नलिखित हैं-

1. द्वितीय विश्व युद्व के दौरान अमेरिका, ब्रिटेन तथा यूरोप के अन्य विकसित देशों के प्रशासकों और विद्वानों का विकासशील देशों सहित अन्य देशों के लोक प्रशासन के सिद्धान्त तथा व्यावहार से परिचय हुआ। उन्हें विदेशी प्रशासनिक व्यवस्थाओं में अनेक नवीनताऐं और विशेषताऐं नजर आयी। इन विशेषताओं और मौलिकताओं को भली प्रकार जानने के उद्देश्य से उनमें तुलनात्मक दृष्टिकोण के प्रति जागृत होने लगी।
2. द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान लोक प्रशासन तथा इसके अध्ययन को जिन नयी-नयी जटिल चुनौतियों का सामना करना पड़ा उसके लिए परम्परागत लोक प्रशासन का दृष्टिकोण अपर्याप्त और कमजोर लगने लगा ड्वाइट वाल्डो ने भी कहा है कि ''परम्परागत लोक प्रशासन का विद्यार्थी केवल एक देश के प्रशासन की जानकारी प्राप्त कर सकता था, किन्तु दूसरे देश से उसकी समानता या अन्तर देखने में असमर्थ थी।'' परम्परागत लोक प्रशासन की इन कमियों से लोक प्रशासन के आधुनिक विद्वान समझौता करने तैयार नहीं थे। फलतः तुलनात्मक लोक प्रशासन का अध्ययन अस्तित्व में आया।
3. द्वितीय विश्व युद्ध की महत्वपूर्ण उपलब्धि यह थी कि इस दौरान अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग और समन्वय की भावना का प्रबल विकास हुआ। विभिन्न राष्ट्र अपने विकास के लिए दूसरे राष्ट्रों पर अपनी निर्भरता बढ़ाने लगे। यह निर्भरता सिर्फ आर्थिक, औद्योगिक और तकनीकी क्षेत्रों तक ही सीमित नहीं रही, बल्कि प्रशासकीय क्षेत्र में भी एक देश दूसरे देश के प्रशासकीय सिद्धान्तों और सफलताओं का प्रयोग अपने देश में करने को इच्छुक हो उठे। फलतः अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग और समन्वय के फलस्वरूप उत्पन्न हुई इस ''इच्छा'' ने तुलनात्मक लोक प्रशासन को विकसित किया। टी0 एन0 चतुर्वेदी ने भी इस बात को स्वीकार किया कि ''तुलनात्मक अध्ययन के विकास में विभिन्न राष्ट्रों एवं क्षेत्रों के बीच बढ़ रही पारस्परिक निर्भरता ने महत्वपूर्ण योगदान दिया।''
4. द्वितीय विश्व युद्ध के बाद विभिन्न सामाजिक शास्त्रों ने अपने विषय का अधिकाधिक वैज्ञानिक होने का दावा प्रस्तुत किया। लोक प्रशासन उन शास्त्रों से अधिक वैज्ञानिक होते हुए भी तुलनात्मक अध्ययन के अभाव में वैज्ञानिक होने का खोखला दावा नहीं पेश कर सका। 1947 में रॉबर्ड ए0 डॉहल ने भी अपने एक निबन्ध में कहा है कि ''जब तक लोक प्रशासन का अध्ययन तुलनात्मक नहीं होगा तब तक वह

विज्ञान नहीं माना जा सकता है।'' अतः लोक प्रशासन को वैज्ञानिकों की कसौटी पर खरा उतारने के लिए लोक प्रशासन के तुलनात्मक अध्ययन को प्रर्याप्त महत्व दिया जाने लगा।

5. प्रारम्भिक काल में लोक प्रशासन में विषय-वस्तु तथा व्यवस्थित स्पष्टीकरण का अभाव था। किसी भी विषय के लिए उसकी विषय-वस्तु का व्यवस्थित ढंग से स्पष्ट न होना हानिकारक माना जाता है। एडवर्ड शिल्स की यह मान्यता है कि ''विभिन्न समाजों की व्यवस्थित तुलना करके उनकी समरूपता एवं विलक्षणताओं को इंगित और स्पष्ट किया जा सकता है।'' अतः लोक प्रशासन की विषय-विषय वस्तु के व्यवस्थित स्पष्टीकरण हेतु भी तुलनात्मक दृष्टिकोण का विकास उपयोगी था।
6. द्वितीय विश्व युद्ध के बाद अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच पर एक महत्वपूर्ण परिवर्तन यह हुआ कि सम्पूर्ण विश्व लगभग दो गुटों में विभक्त हो गया। दोनों गुटों द्वारा नवोदित विकासशील देशों को अपने-अपने पक्ष में करने की होड़ लग गयी। इस हेतु अमेरिका, सोवियत संघ तथा अन्य राष्ट्रों ने सहायता का सहारा लिया। नवोदित राष्ट्रों के ये देश आर्थिक, औद्योगिक, तकनीकी तथा संचार के क्षेत्रों में सहायता देने लगे। इस सहायता को तभी सार्थक बनाया जा सकता था, जब इन सहायताओं के कार्यान्वयन की विधि सहायता प्राप्त करने वाले देशों को ज्ञात हो। अतः वहाँ के प्रशासन के कार्मिकों को विकसित देशों में प्रशिक्षण दिया जाने लगा तथा विकसित देशों की प्रशासनिक व्यवस्थाओं को उन देशों में लागू किया जाने लगा जहाँ पहले इसकी तकनीकी सहायता को लागू करने के लिए उपयुक्त वातारण नहीं था। अतः दो गुटों के शीतयुद्ध में जिस सहायता के राजनीति ने जन्म लिया था, उसे प्रभावशाली और सार्थक बनाने के लिए लोक प्रशासन के दृष्टिकोण की आवश्यकता महसूस की गयी।
7. प्रारम्भिक काल में ही लोक प्रशासन का तुलनात्मक दृष्टिकोण विद्वानों को इतना अधिक महत्वपूर्ण लगने लगा कि इसके भविष्य से वे काफी आशान्वित होने लगे। अतः उनकी यह आकांक्षा प्रबल होनी लगी कि तुलनात्मक लोक प्रशासन को एक स्वतन्त्र अनुशासन के रूप में विकसित किया जाय।
8. प्रशासन और समाज के घनिष्ठ सम्बन्ध ने भी तुलनात्मक लोक प्रशासन के विकास में अहम भूमिका निभायी, क्योंकि प्रत्येक देश की सामाजिक संरचना वहाँ के प्रशासनिक ढाँचे को प्रभावित करती है। इस सामाजिक संरचना और प्रशासकीय संरचना के सम्बन्धों को पहचानना लोक प्रशासन के विद्वानों के लिए आवश्यक बन गया। यदि किसी एक देश की प्रशासकीय संरचना और प्रक्रिया को दूसरे देश में लागू करना है तो दूसरे देश में उसे अपनाने से पूर्व वहाँ की सामाजिक और राजनीतिक संरचना को जानना आवश्यक हो जाता है। अतः इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए तुलनात्मक लोक प्रशासन का दृष्टिकोण अनिवार्य बन गया।

8.2.2 तुलनात्मक लोक प्रशासन के उद्देश्य

तुलनात्मक लोक प्रशासन आनुभविक एवं वैज्ञानिक स्तर पर प्रशासनिक व्यवस्थाओं का विश्लेषण करके हमारे आनुभविक व सैद्धान्तिक ज्ञान को एकत्रित, व्यवस्थित व विस्तृत करता है। अतः यह जानना आवश्यक है कि तुलनात्मक लोक प्रशासन के कौन-कौन से प्रमुख उद्देश्य हो सकते हैं। इसके प्रमुख उद्देश्य निम्लिखित हैं-

1. विशिष्ट प्रशासनिक समस्याओं, प्रणालियों आदि का अध्ययन करके सामान्य नियमों और सिद्धान्तों की स्थापना करना।
2. विभिन्न संस्कृतियों, राष्ट्रों एवं व्यवस्थाओं का पारगामी विश्लेषण और व्याख्या करना और इस तरह आधुनिक लोक प्रशासन के क्षेत्र में विस्तार करना।
3. विभिन्न प्रशानिक रूपों और प्रणालियों की तुलनात्मक परिस्थिति को पहचान कर उनकी सफलताओं एवं असफलताओं के कारणों का पता लगाना।

4. तुलनात्मक अध्ययनों के सन्दर्भ में त्रुटियों को प्रकाश में लाकर प्रशासनिक सुधार की आवश्यकता और अनिवार्यता बतलाना।
5. विकास और प्रशासन को अपने अनुभवों का लाभ देकर उनको गति प्रदान करना।

उपर्युक्त उद्देश्य के अतिरिक्त-

- तुलनात्मक लोक प्रशासन का उद्देश्य सरकारों को नीति-निर्धारण में योगदान देना भी है।
- तुलनात्मक लोक प्रशासन का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य विश्व की प्रशासनिक व्यवस्थाओं के बारे में ज्ञानवर्द्धन करना भी रहा है।
- लोक प्रशासन के अध्ययन के क्षितिज को व्यापक, व्यावहारिक और वैज्ञानिक बनाना तुलनात्मक लोक प्रशासन का प्रथम उद्देश्य रहा है।
- विकासशील देशों में प्रबन्धकीय विज्ञान तथा प्रशासकीय विज्ञान के क्षेत्र में नयी-नयी प्रविधियों के प्रयोग को बढ़ावा देना भी तुलनात्मक लोक प्रशासन का एक लक्ष्य रहा है।

अतः यह कहा जा सकता है कि लोक प्रशासन को समृद्ध, व्यापक तथा वैज्ञानिक बनाने के उद्देश्य को तुलनात्मक लोक प्रशासन अपना कर्तव्य मानता है।

8.2.3 तुलनात्मक लोक प्रशासन का महत्व

तुलनात्मक लोक प्रशासन के अध्ययन के महत्व को आज विश्व के प्रायः सभी देशों में स्वीकार कर लिया गया है। लोक प्रशासन को अधिकाधिक वैज्ञानिक तथा उद्देश्यपूर्ण बनाने के लिए तुलनात्मक लोक प्रशासन प्रभावशाली रूप से प्रयत्नशील रहा है। सयुक्त राज्य अमेरिका, ब्रिटेन तथा जापान के विश्वविद्यालयों और महाविद्यालयों में तुलनात्मक लोक प्रशासन के अध्ययन को पाठ्यक्रम में शामिल कर लिया गया है। सर्वप्रथम 1948 में तुलनात्मक लोक प्रशासन के अध्ययन को स्वतन्त्र रूप से केलीफोर्निया विश्वविद्यालय में प्रारम्भ किया गया था। इसका श्रेय वहाँ के प्राध्यापक प्रो0 ड्वाइट वाल्कओ को था। विश्व के अन्य विकासशील देशों में भी तुलनात्मक लोक प्रशासन के प्रशासन के महत्व को ध्यान में रखते हुए इसे पाठ्यक्रम में शामिल किया जा रहा है। भारत के अनेक विश्वविद्यालयों में स्नातकोत्तर स्तर पर लोक प्रशासन विषय के एक अनिवार्य प्रश्न-पत्र के रूप में तुलनात्मक लोक प्रशासन की पढ़ाई की जाती है।

आज का आधुनिक राज्य प्रशासकीय राज्य बन गया है, जहाँ मानव-जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में प्रशासन का प्रवेश इस हद तक बढ़ चुका है कि प्रशासन के असफल होते ही हमारी सभ्यता असफल हो जायेगी। विश्व के अधिकांश राष्ट्र अपने को अधिकाधिक प्रजातान्त्रिक होने का दावा प्रस्तुत करते हैं। अर्थात् राष्ट्रों में इस बात की होड़ लग गयी है कि कौन राष्ट्र किससे अधिक जन-इच्छाओं का ख्याल रखता है। ऐसी स्थिति में जनकल्याणकारी योजनाऐं तथा विकास की योजनाऐं प्रचुर मात्रा में लागू की जाती हैं। तुलनात्मक लोक प्रशासन के अन्तर्गत विभिन्न देशों की प्रशासनिक व्यवस्थाओं तथा उपलब्धियों की तुलना की जाती हैं, विश्लेषण किया जाता है तथा यह जानने का प्रयास किया जाता है कि किसी खास देश में किसी खास प्रकार की विकास योजना किस ढंग से लागू की गयी तथा लोग उससे कितना लाभान्वित हुए। तुलनात्मक लोक प्रशासन के तहत अब यह बात ज्यादा आसान हो गयी है कि किसी विकासशील अथवा विकसित देश की प्रशासनिक प्रणाली का अध्ययन करके उसकी विशेषताओं को जाना जाऐ। अगर वे प्रशासनिक विशेषताऐं अपने देश के विकास के लिए उपयोगी हैं तो उन्हें देश को शासन-प्रणाली में लागू किया जा सकता है। तुलनात्मक लोक प्रशासन की आवश्यकता कई कारणों से महसूस की गयी जैसे- प्रशासनिक चिंतकों की विविध विचारधारा थी तो उसी प्रकार विधिक, वैज्ञानिक, यांत्रिक प्रशासनिक,

मानवीय सामाजिक एवं मानोवैज्ञानिक विचारधाराओं की शुरूआत हुई। अतः प्रशासनिक सिद्धान्तों को सम्पूर्ण में समझने के लिए इन विचारों एवं विचारधाराओं की तुलनात्मक अध्ययन की आवश्यकता हुई।

ज्यादातर प्रशासनिक चिंतकों की पृष्ठभूमि पश्चात्य देशों की हैं तथा उनकी विचारधारा पूर्वी देशों में समान रूप से लागू नहीं होती है। इसलिए तुलनात्मक अध्ययन की आवश्यकता हुई, ताकि पूर्वी देशों का तुलनात्मक सिद्धान्त तैयार किया जा सके।

द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात विशेष रूप से परमाणु बम की विभीषका के कारण मानवीय दृष्टिकोण प्रबल हुआ, तदनुसार बहुत सारे देशों को औपनिवेशिक शासन से आजादी मिली और इन देशों में नवीन प्रशासन की आवश्यकता थी, जिसने तुलनात्मक आध्ययन को प्रेरित किया है।

लोक प्रशासन के क्षेत्र में तुलनात्मक अध्ययन एक नये युग का सूत्रपात है। विलियम जे0 सिफिन ने अपनी पुस्तक में कहा है कि ''यदि विज्ञान मूलतः प्रविधि की बात है तो तुलनात्मक लोक प्रशासन का प्रमुख मूल्य यह है कि इसने वैज्ञानिक दृष्टिकोण प्रदान किया है।'' वस्तुतः तुलनात्मक लोक प्रशासन का महत्व इस बात से ज्यादा बढ़ गया है कि तुलना के द्वारा प्राप्त निष्कर्षों ने इसे अन्य सामाजशास्त्रों की अपेक्षा कहीं ज्यादा वैज्ञानिक बना दिया है। विज्ञान की भाँति अब इसके सिद्धान्त विकसित हो गये हैं। इसमें तुलना की जाती है, विश्लेषण किया जाता है तथा निष्कर्ष निकाले जाते हैं। टेलर के वैज्ञानिक प्रबन्ध की अवधारणा ने इसे और अधिक मजबूत बनाया है।

विभिन्न देशों की सामाजिक भौगोलिक और आर्थिक स्थितियों में अन्तर होने से उनकी प्रशासकीय व्यवस्था अथवा पद्धति में भी अन्तर होता है। प्रशासकीय सच्चाई का पता लगाने के लिए किसी देश के अन्दरूनी कारकों का पता लगाना तथा उनका तुलनात्मक अध्ययन समझना आवश्यक होता है। इन तुलनाओं के माध्यम से विभिन्न संस्कृतियों एवं भिन्न-भिन्न पर्यावरणों के बारे में जानकारी प्राप्त की जाती है तथा यह जानने का भी प्रयास किया जाता है कि किसी खास प्रकार के कारकों का किसी प्रशासनिक व्यवस्था के किस अंग पर कैसा प्रभाव पड़ता है।

तुलनात्मक लोक प्रशासन विकासात्मक प्रशासन के लिए भी महत्वपूर्ण है, क्योंकि द्वितीय विश्व युद्ध के बाद ही लगभग दोनों का उदय हुआ है। विकासात्मक प्रशासन को अनेक नयी-नयी विकास योजनाओं के सन्दर्भ में नयी-नयी चुनौतियों का सामना करना पड़ता है। इसके लिए प्रशासनिक विकास और सुधार आवश्यक हो जाते हैं। तुलनात्मक लोक प्रशासन के विद्वान विभिन्न राष्ट्रों की प्रशासनिक व्यवस्थाओं का सैद्धान्तिक व व्यावहारिक विवेचन करके यह बताने का प्रयास करते हैं कि विकासात्मक प्रशासन के लिए किस प्रशासकीय तकनीक को लागू किया जाय तथा कार्यकुशलता को बढ़ाने के लिए प्रशासकीय संरचना में कौन सा परिवर्तन किया जाय? तुलना के द्वारा प्राप्त इन निष्कर्षों द्वारा विकास प्रशासन का मार्ग-दर्शन होता है।

लोक प्रशासन के विद्वानों का विशेष उत्तरदायित्व उनको आवश्यक बना देता है कि वे प्रशासनिक व्यवस्थाओं का वैज्ञानिक विश्लेषण कर प्रशासकीय व्यवहार के सम्बन्ध में सामान्य सिद्धान्त प्रस्तुत करें, परन्तु ये विद्वान यह उत्तरदायित्व तभी निभा सकते हैं, जबकि वे प्रशासनिक संस्थाओं, व्यवस्थाओं व प्रक्रियाओं में जो विविधता व विभिन्नता है। इसका तुलनात्मक विश्लेषण करके न केवल स्वयं समझने का प्रयत्न करें वरन सम्बन्धित देश के प्रशासकों के समझने योग्य सुझावों को प्रस्तुत करें। इसलिए प्रशासनिक व्यवस्थाओं के अध्ययन में अब तुलना मुख्य बिन्दु बन गया है। लोक प्रशासन की बढ़ती हुई तुलनात्मक प्रवृत्ति ने इस विषय को अत्यधिक व्यापक और उपयोगी बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है।

टी0 एन0 चतुर्वेदी के तुलनात्मक लोक प्रशासन की अध्ययन-प्रणाली की अग्रलिखित लाभ बताये हैं-

1. तुलनात्मक अध्ययन प्रणाली के कारण सामाजिक अनुसन्धान का क्षेत्र व्यापक हुआ है। पहले यह संकीर्ण सांस्कृतिक बन्धनों से मर्यादित था।
2. तुलनातमक अध्ययन की क्रान्ति ने 'सिद्धान्त रचना' में अधिक वैज्ञानिकता ला दी है।

3. तुलनात्मक अध्ययन प्रणाली, दृष्टि को व्यापक बना देती है जिसके कारण दुनिया को आत्म-केन्द्रित या आत्म-संस्कृति को केन्द्रित देखने की संकीर्णता नहीं रह पाती।
4. तुलनात्मक लोक प्रशासन से सामाजिक विश्लेषण का क्षेत्र बढ़ाने की प्रक्रिया को प्रोत्साहन मिलता है।

लोक प्रशासन और प्रशाकीय व्यवस्थाओं के अध्ययन के लिए इसमें तुलनात्मक दृष्टिकोण का सहारा लिया जाता है। लेकिन अब प्रश्न यह उठता है कि तुलनात्मक लोक प्रशासन का अध्ययन कैसे और किन-किन क्षेत्रों में किया जा सकता है? जब तक किसी भी अनुशासन का अध्ययन-क्षेत्र और विषय-वस्तु स्पष्ट न हो तो वह स्वतन्त्र अनुशासन का रूप नहीं ले पाता है। वैसे मोटे तौर पर तुलनात्मक लोक प्रशासन के अध्ययन का क्षेत्र विश्व के समस्त देशों की प्रशासनिक व्यवस्थाऐं मानी गयी हैं। प्रशासन का यह दृष्टिकोण इस बात की ओर इंगित करता है कि किसी भी देश की प्रशासनिक व्यवस्था का अध्ययन एवं तुलना किसी भी दूसरे देश की प्रशासकीय व्यवस्था के साथ की जा सकती है। लेकिन वस्तुतः इसे तुलनात्मक लोक प्रशासन के अध्ययन का वैज्ञानिक क्षेत्र नहीं माना जा सकता है।

तुलनात्मक लोक प्रशासन के अध्ययन-क्षेत्र के सूक्ष्म दृष्टिकोण के अनुसार इसका अध्ययन तीन स्तरों पर किया जा सकता है-

1. **वृहतस्तरीय अध्ययन-** वृहतस्तरीय अध्ययन का मुख्य जोर इस बात पर रहता है कि किसी देश की सम्पूर्ण प्रशासकीय व्यवस्था का तुलनात्मक अध्ययन दूसरे देश की सम्पूर्ण प्रशासकीय व्यवस्था के साथ किया जाय। यह अध्ययन दोनों देशों के पर्यावरण के उचित सन्दर्भ में किया जाता है, जैसे- भारत की प्रशासनिक व्यवस्था का फ्रान्स अथवा जापान की प्रशासनिक व्यवस्था के साथ तुलनात्मक अध्ययन। वृहतस्तरीय अध्ययन में सम्बन्धित देश की प्रशासनिक व्यवस्था के सभी महत्वपूर्ण पहलुओं का विश्लेषण किया जाता है। इस अध्ययन में दोनों के आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक पर्यावरण को भी शामिल किया जाता है। सम्पूर्ण प्रशासनिक व्यवस्था की तुलना और विश्लेषण के पश्चात ही तुलनात्मक लोक प्रशासन के वृहतस्तरीय अध्ययन में निष्कर्ष निकाले जाते हैं। अतः लोक प्रशासन के तुलनात्मक अध्ययन का यह विस्तृत एवं व्यापक क्षेत्र है।
2. **मध्यवर्ती अध्ययन-** तुलनात्मक लोक प्रशासन के मध्यवर्ती अध्ययन क्षेत्र के तहत प्रशासनिक व्यवस्था के इस महत्वपूर्ण भाग या अंग की तुलना की जाती है जो आकार और क्षेत्र में अपेक्षाकृत बड़ा हो अर्थात् इसके अन्तर्गत दो देशों के प्रशासन के महत्वपूर्ण एवं बड़े अंगों की तुलना की जाती है। जैसे-भारत और सोवियत संघ को स्थानीय सरकारों की तुलना अथवा भारत एवं ब्रिटेन के कार्मिक प्रशासन की तुलना तथा फ्रांस और जर्मनी में नौकरशाही की तुलना इत्यादि मध्यवर्ती अध्ययन के उदाहरण हैं। यह अध्ययन न तो सम्पूर्ण प्रशासनिक व्यवस्था का अध्ययन होता है न ही किसी सूक्ष्म अथवा छोटे अंग की तुलना, बल्कि प्रशासन के एक बहुत बड़े भाग की तुलना दूसरे देश की उसी स्तर की प्रशासनिक व्यवस्था के साथ ही की जाती है।
3. **लघुस्तरीय अध्ययन-** लोक प्रशासन के तुलनात्मक अध्ययन में आजकल लघुस्तरीय अध्ययन अधिक प्रचलित है। इस प्रकार के तुलनात्मक अध्ययन में किसी खास विभाग अथवा विभाग की किसी खास प्रक्रिया का अध्ययन किसी दूसरी प्रशासनिक व्यवस्था के तहत सम्बन्धित विभाग की इस प्रक्रिया के साथ की जाती है। यह अध्ययन का सूक्ष्म एवं छोटा स्तर है। प्रशासनिक अनुसंधान के लिए तुलनातमक लोक प्रशासन के क्षेत्र में इसका प्रयोग किया जा रहा है, जैसे- भारत के असैनिक अभियान की प्रशिक्षण व्यवस्था की ब्रिटेन के असैनिक अभियान की प्रशिक्षण व्यवस्था के साथ तुलना। भारत और फ्रान्स की उच्च सेवाओं में भर्ती प्रक्रिया के लिए योग्यता परीक्षण का तुलनात्मक अध्ययन। भारत, अमेरिका और

फ्रान्स में भ्रष्टाचार को दूर करने के लिए किये गये प्रशासनिक सुधारों का तुलनात्मक अध्ययन इत्यादि लघुस्तरीय अध्ययन के उदाहरण हो सकते हैं। इस प्रकार के अध्ययन ज्यादा उपयुक्त और सार्थक साबित होते हैं।

8.3 तुलनात्मक लोक प्रशासन के अध्ययन के दृष्टिकोण या उपागम

जब भी एक स्वतन्त्र अनुशासन के रूप में विषय का उदय होता है तो उसके समक्ष एक महत्वपूर्ण समस्या अध्ययन के उन दृष्टिकोणों, उपागमों और विधियों की हो जाती है जिनका सहारा लेकर विषय की गहराई तक पहुँचने का प्रयास किया जाता है। तुलनात्मक लोक प्रशासन के समक्ष भी इस प्रश्न का उठना कोई आश्चर्य की बात नहीं, बल्कि स्वाभाविक ही था। तुलनात्मक लोक प्रशासन के उदय के साथ ही इस बात की खोज की जाने लगी कि इसके अध्ययन के लिए कौन-कौन से उपागम ज्यादा उपयुक्त होंगे। प्रारम्भ में तुलनात्मक लोक प्रशासन के अध्ययन के लिए उन परम्परागत विधियों और उपागमों को अपनाने का प्रयास किया गया जो अब तक लोक प्रशासन के अध्ययन में प्रयोग में लायी जाती थीं किन्तु बहुत जल्द ही इन उपागमों की अपर्याप्तता स्पष्ट हो गयी। अतः अधिक अनुभवपरक और अधिक व्यावहारिक उपागम की तलाश की जाने लगी। हरबर्ट साइमन, एफ0 डब्ल्यू0 रिग्स, ला0 पालोम्बरा, रॉबर्ट ए0 डॉहल, डेविड ईस्टन, जॉन मॉन्टगुमरी, फ्रेंक शेरवुड तथा ड्वाइट वाल्डो जैसे विद्वानों ने तुलनात्मक लोक प्रशासन के उपागमों की तलाश को समृद्ध बनाया तथा इससे सम्बन्धित अनेक रचनाऐं, निबन्ध तथा पुस्तकें प्रसारित की। मुख्य रूप से तुलनात्मक लोक प्रशासन के अर्वाचीन दृष्टिकोणों में निम्नलिखित तीन उपागम ज्यादा उल्लेखनीय प्रतीत होते हैं-

8.3.1 संरचनात्मक कार्यात्मक दृष्टिकोण

सर्वप्रथम 1955 में संरचनात्मक कार्यात्मक दृष्टिकोण का उल्लेख लोक प्रशासन के क्षेत्र में ड्वाइड वाल्डो ने किया था तथा इसकी उपयोगिता पर वृहत रूप से प्रकाश डाला था। प्रो0 रिग्स को ड्वाइट वाल्डो का यह विचार ज्यादा अच्छा लगा था। अतः उन्होंने 1957 में इसी दृष्टिकोण के आधार पर अपना क्षेत्रिक औद्योगिकी मॉडल प्रस्तुत किया। तत्पश्चात प्रो0 रिग्स तुलनातमक लोक प्रशासन के क्षेत्र में संरचनात्मक कार्यात्मक दृष्टिकोण के वास्तविक प्रयोगकर्त्ता माने जाने लगे। हालाँकि सामाजिक विश्लेषण के क्षेत्र में इस दृष्टिकोण का प्रयोग काफी पहले से हो रहा था। इस दृष्टिकोण के समर्थकों में पूर्व से ही टैलकॉट पार्सन्स, रॉबर्ट मर्टन, गेब्रियल आमण्ड तथा डेविड एप्टर इत्यादि विद्वान थे। लेकिन इनका दृष्टिकोण तुलनात्मक लोक प्रशासन में इसके प्रयोग की तरफ नहीं था। तुलनात्मक लोक प्रशासन में संरचनात्मक-कार्यात्मक दृष्टिकोण की यह मान्यता है कि प्रत्येक प्रशासनिक व्यवस्था की संरचना होती है। इस संरचना के द्वारा तथा संरचना के विभिन्न अंगों के द्वारा अपनी क्षमतानुसार कार्य सम्पदित किये जाते हैं। निर्धारित कार्य को सम्पादित करने वाली विभिन्न संरचनाओं का तुलनात्मक विवेचन और विश्लेषण ही इस दृष्टिकोण का केन्द्र-बिन्दु है। इस दृष्टिकोण के समर्थकों की यह मान्यता है कि लोक प्रशासन एक सुनियोजित एवं गतिशील मशीन है। इसका अध्ययन उसी प्रकार किया जा सकता है जिस प्रकार स्कूटर, मोटरकार या साइकिल के विभिन्न अंगों और उसके कार्यों का अध्ययन किया जाता है। ये सभी अंग आपसी समन्वय और अन्तनिर्भरता के साथ अपने कार्यों का सम्पन्न करते हैं, तो इन्हें संगठनात्मक-संरचनात्मक कार्य कहा जाता है। इनकी संरचना और कार्यों का तुलनात्मक विवेचन करना ही संरचनात्मक-कार्ययात्मक दृष्टिकोण हुआ। लोक प्रशासन के विभिन्न अनुसंन्धानकर्त्ता इस पर शोध करते हैं कि दो विभिन्न संरचनाओं में कौन-कौन सी समानता अथवा असमानता है, जबकि उन्हें एक ही प्रकृति के कार्य सम्पादित करने होते हैं।

8.3.2 पारिस्थितिकीय दृष्टिकोण

तुलनात्मक लोक प्रशासन के अध्ययन के लिए पारिस्थितिकीय दृष्टिकोण को एक महत्वपूर्ण उपागम माना जाता है। इस दृष्टिकोण को समृद्ध बनाने का श्रेय एफ0 डब्ल्यू0 रिग्स, रॉबर्ट ए0 डॉहल जे0एम0 गॉस और मार्टिन इत्यादि विद्वानों को प्रमुख रूप से जाता है। तुलनातमक लोक प्रशासन के पारिस्थितिकीय दृष्टिकोण की यह मान्यता है कि जिस तरह प्रत्येक प्रकार के पौधे सभी प्रकार के वातावरण में नहीं फल-फूल सकते अथवा नहीं विकसित हो सकते हैं उसी प्रकार प्रत्येक प्रशासनिक व्यवस्था सभी देशों की परिस्थितियों और वातावरणों में उपयोगी और सफल नहीं हो सकती। लोक प्रशासन भी अपने देश की आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों एवं पर्यावरण से प्रभावित होता है। अतः पारिस्थितिकीय दृष्टिकोण की मान्यता है कि लोक प्रशासन का अध्ययन इन परिस्थितियों और पर्यावरण को ध्यान में रखकर ही किया जाना चाहिए। इस दृष्टिकोण के समर्थकों की यह मान्यता है कि किसी भी देश की प्रशासनिक व्यवस्था का विश्लेषण एवं अध्ययन करने से पूर्व उस सामाजिक और राजनीतिक संरचना को भी समझा जाना चाहिए जिसमें वह कार्य कर रहा है। प्रो0 एफ0 डब्ल्यू0 रिग्स का 'प्रिज्मेटिक साला मॉडल' पारिस्थितिकीय दृष्टिकोण के अध्ययन पर ही आधारित है।

अपने शोध कार्य में उनको यह महसूस हुआ कि प्रशासन को सम्पूर्णता से समझने के लिए पहले समाज को समझना अनिवार्य होगा, क्योंकि समाज अत्यंत व्यापक विषय है, जिसकी एक फसल के रूप में प्रशासन है।

अतः उनका शोध सामाजिक अधिक हैं, प्रशासनिक कम। संरचनात्मक और प्रक्रियात्मक दृष्टिकोण के द्वारा पहले उन्होंने समाज को समझने की कोशिश की। उनके अनुसार, किसी भी समाज के पाँच महत्वपूर्ण कार्य होते हैं- 1. सामाजिक 2. आर्थिक, 3. राजनीतिक, 4. संचार, 5. सांकेतिक (आस्था एवं विकास)

किसी भी समाज में ये पाँचों कार्य किसी एक संस्था द्वारा संचालित हो सकतेहैं और यही कार्य पूरे समाज के द्वारा ही संचालित होते हैं, जैसे- शरीर की एक कोशिका जीवन की सभी क्रियाओं को करने में समर्थ होते है, जैसे- श्वसन, पाचन इत्यादि। लेकिन कोशिकाओं से बना हुआ शरीर भी इन कार्यों को करने में समर्थ है।

रिग्स कहते हैं, प्राथमिक समाज में परिवार एक प्राथमिक संस्था है और यही सम्पूर्ण संस्था होती है, क्योंकि समाज के सभी कार्य इस संस्था द्वारा संचालित होते हैं। लेकिन आधुनिकसमाज में यह कार्य परिवार संस्था से बाहर निकलते जाते हैं। इस प्रकार परिवार संस्था का आकार छोटा होता जाता है और राजनैतिक और आर्थिक कार्य इत्यादि पृथक संस्था का रूप लेने लगते हैं। जैसे परिवार का मुखिया जो परिवार में राजनीतिक प्राधिकार होता था, वह आधुनिक समाज में राज्य और सरकार का रूप ले लेता है। इसी प्रकार परिवार का आर्थिक कार्य, बैंक और बीमा संस्थाओं का रूप ले लेता है।

रिग्स ने इस प्रकार समाज के आधारभूत चरित्रों को विश्लेषित करके, 1956 में 'कृषिका औद्योगिका मॉडल' प्रस्तुत किया। उन्होंने कृषि और औद्योगिक समाज के चरित्रों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया। उनके अनुसार-

1. कृषि समाज में व्यक्ति की सामाजिक मान्यता उसके जन्म से जुड़ी होती है, जबकि औद्योगिक समाज में यह मान्यता उसके कर्म और उपलब्धियों से जुड़ी होती है।
2. पहले में समाज स्थिर होता है, जबकि दूसरे में समाज गतिशील होता है। अतः पहले में सामाजिक स्तरीकरण स्पष्ट होता है, जबकि दूसरे में यह स्पष्ट नहीं होता है।
3. पहले में ये मत स्पष्ट नहीं होता है, क्योंकि एक ही व्यक्ति कई व्यवसाय से जुड़ा होता है, जबकि दूसरे में पेशेगत स्तर बिल्कुल स्पष्ट होता है। अर्थात व्यवसाय स्पष्ट होता है और उससे अलग-अलग लोग जुड़ जाते हैं।

4. पहले में सामाजिक मूल्य परम्पराओं पर टिके होते हैं, जबकि दूसरे में सामाजिक मूल्य तर्कों पर आधारित होते हैं।

कृषक और औद्योगिक आदर्श समाज के चरित्र हैं, अर्थात यह वास्तव में नहीं होते हैं। व्यवहार में अर्थात वास्तविकता में ट्रांजिशिया होता है, जिसमें कृषिक और औद्योगिका के चरित्रों का सहअस्तित्व होता है और किसी समाज को कृषि समाज तब कहा जाता है, जब उसमें कृषि के चरित्र प्रभावी होते हैं। ऐसा ही औद्योगिक समाज में भी होता है।

रिग्स अपने सामाजिक शोध को आगे बढ़ाते हुए 1957 में समाज का 'प्रिज्मेटिक मॉडल' प्रतिपादित करता है, जिसमें उन्होंने प्रकाश के वर्ण-विक्षेपण के सिद्धान्त की सहायता ली। इस मॉडल में रिग्स कहते हैं, जब प्रिज्य के एक सिरे पर सूर्य के प्रकाश की सफेद पुंज पड़ती है तो उसमें सारे रंगों का विलय होता है और इसकी तुलना उन्होंने 'विसात समाज' (Chessboard society) से ही की है, जो प्राथमिक समाज है, जिसमें परिवार संस्था में समाज के सभी संस्थाओं का विलय रहता है, जिसके कारण परिवार को प्राथमिक संस्था भी कहा जाता है।

प्रिज्म के दूसरे सिरे से सात रंगों का वर्णविक्षेपण होता है और यह महत्तम विक्षेपण है, क्योंकि विक्षेपण से और रंग नहीं निकलते हैं।

रिग्स ने इसे सर्वाधिक विकसित समाज से जोड़ा है, जिससे उन्होंने विवर्तित समाज कहा है, जिसमें समाज की सभी संस्थाएँ विशिष्ट और स्पष्ट होती है।

8.3.3 व्यवहारवादी दृष्टिकोण

व्यवहारवादी दृष्टिकोण को तुलनातमक लोक प्रशासन के अध्ययन के लिए नवीनतम दृष्टिकोण माना जाता है। तुलनात्मक लोक प्रशासन के अन्तर्गत व्यवहारवादी दृष्टिकोण को समृद्ध बनाने में हरबर्ट साइमन तथा कैटलिन इत्यादि विद्वान उल्लेखनीय है। हालाँकि सामाजिक विज्ञानों के क्षेत्र में व्यवहारवादी दृष्टिकोण की शुरूआत काफी पहले ही हो चुकी थी और सामाजिक विज्ञान के प्रत्येक विषय में इसके उदय का कारण परम्परावादी दृष्टिकोणों की अपर्याप्तता के फलस्वरूप हुई प्रतिक्रिया मानी जाती है। लोक प्रशासन में भी अध्ययन के परम्परावादी दृष्टिकोण अपूर्ण तथा अपर्याप्त साबित हुए। अतः उसे अधिक व्यावहारिक और उपयोगी बनाने के लिए तुलनात्मक लोक प्रशासन के क्षेत्र में व्यवहारवादी दृष्टिकोण का प्रयोग किया गया।

हरबर्ट साइमन ने अपने एक निबन्ध 'प्रशासनिक व्यवहार' में लोक प्रशासन के अध्ययन की परम्परागत रीति का खण्डन किया और कहा कि यदि हम संगठन का सही और वैज्ञानिक विवेचन करना चाहते हैं तो वह अध्ययन व्यवहार पर आधारित होना चाहिए। साइमन ने प्रशासन के व्यवहारिक पहलू को महत्व देते हुए कहा कि प्रत्येक संगठन में कार्य करने वाले हर व्यक्ति की अपनी इच्छाऐं और आकांक्षाऐं होती हैं तथा उसका व्यवहार मनोवैज्ञानिक स्थिति और प्रेरणाओं से प्रभावित होता है। व्यक्ति की व्यक्तिगत और सामाजिक स्थितियाँ अनेक प्रकार से उसके आचरण को प्रभावित करती हैं। अतः लोक प्रशासन का अध्ययन तभी व्यवस्थित और वैज्ञानिक हो सकेगा जब मानवीय व्यवहार के इन प्रभावशील तत्वों का सही विवेचन किया जाय। व्यावहारिक दृष्टिकोण ही अध्ययनकर्त्ता को संगठन में काम कर रहे व्यक्तियों के व्यवहारों और आचरण को सही ढंग से अभिव्यक्त कर सकेगा। तुलनात्मक लोक प्रशासन के अध्ययन का व्यवहारवादी दृष्टिकोण 1960 के आसपास अपने चरमोत्कर्ष पर था, उसके बाद के विकास को उत्तर-व्यवहारवादी क्रान्ति नाम से जाना जाने लगा।

उत्तर-व्यवहारवाद की यह मान्यता थी कि यद्यपि व्यवहारवाद ने प्रशासनिक जगत को समझने में महत्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत की है, परन्तु पूर्ण बोध के लिए वह पर्याप्त नहीं है। व्यवहारवादी रूढिवादिता को चुनौती दी जाने लगी थी। डेविड ईस्टन ने इस स्थिति को उत्तर-व्यवहारवादी क्रान्ति की संज्ञा दी। डेविड ईस्टन के अनुसार उत्तस्व्यवहारवाद

यह मानता है कि प्रविधि की अपेक्षा उन वास्तविकताओं को महत्व दिया जाना चाहिए जो वर्तमान में गम्भीर सामाजिक और प्रशासनिक समस्याओं की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण हैं।

अभ्यास प्रश्न-

1. हरबर्ट साइमन की किताब का नाम क्या है?
2. व्यवहारवाद का उदय अमेरिका में हुआ। सत्य/असत्य
3. प्रिज्मेटिक मॉडल रिग्स से सम्बन्धित है। सत्य/असत्य
4. प्रिज्मेटिक मॉडल विकासशील देशों के सम्बन्ध में है। सत्य/असत्य
5. तुलनात्मक लोक प्रशासन के अध्ययन का व्यवहारवादी दृष्टिकोण 1969 के आस-पास अपने चरमोत्कर्ष पर था। सत्य/असत्य

8.4 सारांश

तुलनात्मक लोक प्रशासन का महत्व निरन्तर बढ़ता जा रहा है। द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात एशिया एवं अफ्रीका में नवोदित राष्ट्रों के उदय के साथ ही लोक प्रशासन के तुलनात्मक अध्ययन में रूचि उत्पन्न हुई। तुलनात्मक लोक प्रशासन के विद्वानों एवं समर्थकों का मूल उद्देश्य लोक प्रशासन को परम्परागत अध्ययन क्षेत्र एवं पुरातन अध्ययन प्रणालियों की सीमा से बाहर लाकर उसके क्षेत्र को विस्तृत करना तथा नयी समस्याओं के समाधान के अनुरूप नयी मान्यताओं को स्थापित करना था। तुलनात्मक लोक प्रशासन आधुनिक एवं वैज्ञानिक स्तर पर प्रशासनिक व्यवस्थाओं का विश्लेषण करके हमारे अनुभविक व सैद्धान्तिक ज्ञान को एकत्रित, व्यवस्थित व विस्तृत करता है। यह कहा जा सकता है कि लोक प्रशासन को समृद्ध, व्यापक तथा वैज्ञानिक बनाने के उद्देश्य को तुलनात्मक लोक प्रशासन अपना कर्त्तव्य मानता है। ऐसी आशा की जाती है कि इस प्रकार का तुलनात्मक विश्लेषण प्रायोगिकता और सार्वभौमिकता को भिन्न-भिन्न मात्राओं के लिए सामान्यीकरण के विभिन्न स्तरों पर प्रशासनिक प्रतिरूपों से सम्बन्धित परिकल्पनाओं के निर्माण में सहायक सिद्ध होगा। प्रशासन की उपज के साथ ही इस बात की खोज की जाने लगी कि इसके अध्ययन के लिए कौन-कौन से उपागम अधिक उपयुक्त होंगे, जो उपागम विकसित किये गये उनमें संरचनात्मक-कार्यात्मक दृष्टिकोण, पारिस्थितिकीय दृष्टिकोण एवं व्यवहारवादी दृष्टिकोण मुख्य हैं।

8.5 शब्दावली

विश्लेषण- किसी विषय के सभी अंगों की छानबीन करना जिससे उसका वास्तविक रूप सामने आये।

वृहद- विस्तार से, बहुत बड़ा।

दृष्टिकोण- किसी बात या विषय को किसी विशिष्ट दिशा या पहलू से देखने या सोचने-समझने का ढंग।

प्राधिकार- वह विशिष्ट अधिकार या शक्ति जिसके अनुसार औरों को कुछ करने की आज्ञा या आदेश दिया जा सकता हो।

8.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. एडमिनिस्ट्रेटिव विहेवियर, **2.** सत्य, **3.** सत्य, **4.** सत्य, **5.** सत्य

8.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. अरोरा, आर0 के0 (1979): "कम्परेटिव पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन, एसोसिएटेड पब्लिशिंग हाउस।
2. चतुर्वेदी, टी0 एन0 (1992): तुलनात्मक लोक प्रशासन, रिसर्च पब्लिकेशन, जयपुर।
3. चटर्जी (1990): डेवलेपमेंट एडमिनिस्ट्रेशन, सुरजीत पब्लिकेशन, दिल्ली।

8.8 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. हेडी, फेरल (1984): पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन: ए कम्पेरेटिव पर्सपेक्टिव, प्रिंटिस हाल, न्यू जर्सी।
2. त्यागी, ए0 आर0 (1990): पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली।
3. अवस्थी, ए0 एवं माहेश्वरी एस0 (1990): लोक प्रशासन, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा।

8.9 निबंधात्मक प्रश्न

1. तुलनात्मक लोक प्रशासन की अवधारणा एवं महत्व पर प्रकाश डालिए।
2. तुलनात्मक लोक प्रशासन की परिभाषा दीजिए तथा इसके अध्ययन के विभिन्न उपागमों की व्याख्या कीजिए।
3. तुलनात्मक लोक प्रशासन से आप क्या समझते हैं? तुलनात्मक लोक प्रशासन के अध्ययन-क्षेत्र की व्याख्या कीजिए।
4. तुलनात्मक लोक प्रशासन में विभिन्न विद्वानों के विचारों पर प्रकाश डालिए।

इकाई- 9 लोक प्रशासन एवं लोक नीति

इकाई की संरचना

9.0 प्रस्तावना
9.1 उद्देश्य
9.2 लोक नीति
 9.2.1 लोक नीति- अर्थ एवं परिभाषा
 9.2.2 लोक नीति एवं प्रशासन
 9.2.3 लोक नीति एवं निजी नीति
 9.2.4 लोक नीति की निर्माण प्रक्रिया
 9.2.5 नीति-निर्माण के मॉडल
9.3 सारांश
9.4 शब्दावली
9.5 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
9.6 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
9.7 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
9.8 निबंधात्मक प्रश्न

9.0 प्रस्तावना

लोक नीति प्रायः सभी शासन व्यवस्थाओं में सरकार के आवश्यक कार्यों में एक मार्गदर्शक का कार्य करती है। शासन के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए एवं शासन को अधिकाधिक लोक कल्याणकारी बनाने हेतु लोक नीतियों का निर्माण किया जाता है। यह सभी मानते हैं कि लोक नीतियों का निर्माण एवं प्रक्रिया एक जटिल विषय है, फिर भी नीति-निर्माण किसी भी देश के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण क्रिया है। किसी भी लोक नीति की एक आवश्यक शर्त है कि वह लोगों की अपेक्षाओं पर खरी उतरे एवं समय-समय पर सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक प्रतिमानों के बदलने से नीतियों में भी वांछित संशोधन लाया जाये। किसी भी प्रशासन की यह इच्छा होती है कि नीति-निर्माण में जनमानस, क्षेत्र, नस्ल, भाषाई या अन्य बिन्दुओं पर सभी की न्यायोचित सहभागिता सुनिश्चित की जा सके।

9.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- लोक नीति की अवधारणा एवं अर्थ का अध्ययन करेंगे।
- लोक नीति एवं प्रशासन के मध्य सम्बन्ध समझ सकेंगे।
- लोक नीति की निर्माण प्रक्रिया का अध्ययन कर सकेंगे।
- लोक नीति से सम्बन्धित मॉडलों एवं क्रियान्वयन का अध्ययन कर सकेंगे।

9.2 लोक नीति- अर्थ एवं परिभाषा

टैरी के अनुसार, ''लोक नीति उस कार्यवाही की शाब्दिक, लिखित या विदित बुनियादी मार्गदर्शक है, जिसे प्रबन्धक अपनाता है तथा जिसका अनुगमन करता है।'' इसी प्रकार डिमॉक कहते हैं, ''नीतियाँ सजगता से निर्धारित आचरण के वे नियम हैं जो प्रशासकीय निर्णयों को मार्ग दिखाते हैं।'' नीति एक ओर तो लक्ष्य या उद्देश्य से और दूसरी ओर परिचालन के लिए उठाए गए कदमों से भिन्न होनी चाहिए। उदाहरण के लिए देश में प्रत्येक

व्यक्ति को शिक्षित बनाना एक लक्ष्य है, अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा एक नीति है जो इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए बनाई गई है और स्कूल खोलना तथा अध्यापकों को प्रशिक्षित करना इत्यादि वे कदम हैं जो इस नीति को कार्यान्वित करने के लिए आवश्यक है।

लोक नीति वह होती है जो सरकारें वास्तव में करती हैं, बजाय इसके की सरकारें क्या करना चाहती हैं? इसके निर्माण में वे लोग होते हैं जिन्हें लोक नीति सूत्रबद्ध करने का वैधानिक अधिकार मिला रहता है। इसके अन्तर्गत विधायकों, कार्यपालकों और प्रशासकों को शामिल किया जाता है। औपचारिक रूप से विधायिका लोक नीति का निर्माण करती है। लोक नीति का उद्-भव राजनीतिक दलों और दबाव समूहों द्वारा होता है। रचना लोकसेवकों द्वारा होती है और संसद में इसे प्रस्तुत करने का कार्य सरकार करती है। संसदीय पद्धति वाले देशों में सभी नीतियों को मन्त्रिमण्डल का अनुमोदन प्राप्त करना आवश्यक होता है।

किसी नीति के अनुसार तीन भाग होते हैं- 1. निश्चित समस्या, 2. एक निश्चित लक्ष्य, 3. समस्या से लक्ष्य तक पहुँचने का एक निश्चित मार्ग।

किसी समस्या के चयन करने से पूर्व निम्नलिखित शर्तों का अनुपालन करना होता है- संसाधनों की उपलब्धता, समस्या की सार्वजनिक महत्व, समस्या का राष्ट्रीय महत्व, समस्या से जुड़ी मागें और मांग से जुड़ा समर्थन।

इस प्रकार लक्ष्य निर्धारण करने के लिए संवैधानिक निर्देशों का अनुपालन किया जाता है।अतः लक्ष्य निर्धारण में, विशेष दुविधा नहीं होती है।

समस्या से लक्ष्य तक पहुँचने के लिए कई वैकल्पिक मार्ग होते हैं, जिसमें समय और पूँजी के दृष्टिकोण से सामंजस्य स्थापित किया जाता है तथा सर्वाधिक प्रासंगिक मार्ग का चयन किया जाता है।

9.2.1 लोक नीति एवं प्रशासन

सर्वप्रथम लोक नीति एवं प्रशासन के सम्बन्धों पर पहली बार वुडरो विल्सन ने अपने विचार व्यक्त किए। उनका कहना था की नीति-निर्माण एक राजनीतिक कार्य है, जबकि प्रशासन केवल नीतियों को लागू करने मात्र से सम्बन्ध रखता है। उनके शब्दों में, प्रशासन का क्षेत्र व्यापार का क्षेत्र है। यह राजनीति की हड़बड़ी तथा कलह से अलग होता है। प्रशासन तो राजनीति के उचित क्षेत्र से बाहर ही रहता है। प्रशासकीय प्रश्न राजनीतिक नहीं होते। विल्सन का अनुशरण गुडनाउ ने भी किया। इसी प्रकार एल0 डी0 व्हाइट ने अपनी पुस्तक 'Introduction to the study of public Administration' के प्रथम संस्करण में राजनीति तथा प्रशासन के बीच स्पष्ट विभाजन-रेखा खींची।

उक्त अन्तर के बावजूद लूथर गुलिक, एपल्बी एवं पीटर ओडेगार्ड इसको अमान्य एवं अप्रमाणिक करार देते हैं। इन विद्वानों का मत है की प्रशासन को नीति से पूर्णतया अलग नहीं किया जा सकता। एपल्बी कहते हैं, प्रशासन राजनीति है, क्योंकि लोकहित के प्रति उत्तरदायी होना उसके लिए आवश्यक है। उनके ही शब्दों में, प्रशासकगण निरन्तर भविष्य के लिए नियम निर्धारित करते रहते हैं और प्रशासक ही निरन्तर यह निश्चित करते हैं की कानून क्या है? कार्यवाही के अर्थ में इसका तात्पर्य क्या है? प्रशासन और नीति के अपने अलग-अलग अधिकार क्या होंगे? प्रशासक एक अन्य प्रकार से भी भावी नीति-निर्माण में भाग लेते हैं, वे विधानमण्डल के लिए प्रस्तावों एवं सुझावों का स्वरूप निश्चित करते हैं। यह नीति-निर्माण का ही एक भाग होता है। इस प्रकार सार्वजनिक अधिकारी आज नीति-निर्धारण तथा नीति-निष्पादन दोनों ही कार्यों में संलग्न होते हैं और सरकार उपर से नीचे तक प्रशासन तथा राजनीति का एक सम्मिश्रण बन गयी है। यह कहा जा सकता है की नीति तथा प्रशासन राजनीति के जुड़वा बच्चे हैं, जो एक-दूसरे से अलग नहीं किए जा सकते।

9.2.2 लोक नीति एवं निजी नीति

जहाँ तक लोक नीति की विशेषताओं अथवा भूमिकाओं का प्रश्न है, यह निजी नीति से भिन्न है, क्योंकि-

1. लोक नीति कल्याणकारी होती है, जबकि निजी नीति लाभकारी होती है।
2. अतः पहला घाटे के बजट पर आधारित होता है, जबकि दूसरा अतिरिक्त बजट पर आधारित होता है।
3. लोक नीति के लिए बाहर से वित्तीय सहायता की आवश्यकता होती है, जबकि निजी नीति का निर्माण स्वयं पूँजी सृजन करने के उद्देश्य से किया जाता है।
4. पहले में बाहर से वित्तीय नियंत्रण होता है, जबकि दूसरे में आंतरिक वित्तीय नियंत्रण होता है।
5. लोक नीति में बाहरी वित्तीय दायित्व होता है, जबकि निजी नीति में, आंतरिक वित्तीय दायित्व होता है।
6. पहले में पारदर्शिता होती है, जबकि दूसरे में इसका अभाव होता है।
7. चूंकि लोक नीति पारदर्शिता पर आधारित होती है, इसलिए यह विधि के शासन पर आधारित होती है, जबकि निजी नीति में पारदर्शिता का अभाव होता है, इसीलिए यह व्यक्ति के शासन पर आधारित होती है।
8. अतः इन्हीं कारणों से पहला आपैचारिक तथा दूसरा अनौपचारिक होता है।
9. लोक नीति में सार्वजनिक मान्यता होती है, जबकि निजी नीति में व्यक्तिगत मान्यता होती है।
10. पहला संरचना उन्मुख होता है, जबकि दूसरा उत्पादनोन्मुख होता है।
11. पहला रोजगार उन्मुख होता है, जबकि दूसरा पूँजी उन्मुख होता है।
12. पहला नागरिक उन्मुख होता है। जबकि दूसरा उपभोक्ता उन्मुख होता है।
13. पहला राज्य से जुड़ा होता है, जबकि दूसरा बाजार से जुड़ा होता है।
14. पहला राष्ट्रीय आन्दोलन को बढ़ावा देता है, जबकि दूसरा बाजार आन्दोलन को बढ़ावा देता है, क्योंकि पहले का सार्वजनिक हित है, तो दूसरे का व्यक्तिगत हित है।

9.2.3 लोक नीति की निर्माण प्रक्रिया

जहाँ तक ''लोक नीति-निर्माण प्रक्रिया'' का प्रश्न है, इसमें दो प्रकार के भागीदार होते हैं- गैर-सरकारी भागीदार और सरकारी भागीदार। सरकारी भागीदार निम्नलिखित हैं- विधायिका, कार्यपालिका, नौकरशाही और न्यायपालिका (विशेष परिस्थितियों में)।

जहाँ तक विधायिका के भूमिका का प्रश्न है, यह संसदीय अथवा अध्यक्षात्मक व्यवस्था पर निर्भर करता है, क्योंकि संसदात्मक प्रणाली ''विलय के सिद्धान्त'' पर आधारित है, जिसमें विधायिका से ही कार्यपालिका का गठन होता है और कार्यपालिका विधायिका के ही प्रति उत्तरदायी होती है। अतः इस उत्तरदायित्व के कारण विधायिका नीति-निर्माण की शक्तियां, कार्यपालिका को प्रत्यायोजित कर देती है। इस प्रकार कार्यपालिका नीति-निर्माण से सीधी जुड़ी होती है, लेकिन आसाधारण बहुमत वाली सरकारें नीति-निर्माण में महत्वपूर्ण नहीं, निर्णायक हो जाती है, क्योंकि ऐसी सरकारें विधायिका के प्रति उत्तरादायी न होकर उसे नियंत्रित करने का प्रयास करती हैं।

अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली में ''पृथक्करण का सिद्धान्त'' कार्य करता है, अर्थात् विधायिका से कार्यपालिका का गठन नहीं होता है। इसलिए कार्यपालिका, विधायिका के प्रति उत्तरदायी नहीं होती है। वस्तुतः वे राष्ट्राध्यक्ष के प्रति उत्तरदायी होते हैं।

जब कार्यपालिका और विधायिका में ऐसा पृथककरण होता है, तो नीति-निर्माण में उनकी भूमिका सामान्य रूप से महत्वपूर्ण होती है। सामान्यतः बाहरी मामलों में कार्यपालिका निर्णायक है और आतंरिक मामलों में विधायिका निर्णायक हो जाती है।

जहाँ तक कार्यपालिका की भूमिका का प्रश्न है, यह विधायिका की भूमिका से जुड़ी हुई है, क्योंकि संसदीय व्यवस्था में कार्यपालिका तभी निर्णायक है, जब वह असाधारण बहुमत में है, अन्यथा विधायिका की भूमिका

महत्वपूर्ण होती है। किन्तु अध्यक्षात्मक प्रणाली में कार्यक्षेत्र का भी पृथकरण हो जाता है, जिसके कारण अपने-अपने कार्य-क्षेत्र में कार्यपालिका और विधायिका समान रूप में महत्वपूर्ण है।

जहाँ तक नौकरशाही की भूमिका का प्रश्न है, अध्यक्षात्मक प्रणाली में, सरकार के लिए समर्थन की कोई चिन्ता नहीं है। अतः सरकार स्थिर होती है। नीतियाँ दीर्घकालीन एवं व्यवहारिक होती हैं तथा नौकरशाही नीति-निर्माण से नहीं के बराबर जुड़ी होती है। वस्तुतः कोई भी सरकार नौकरशाही को पूरी तरह नजरअंदाज नहीं कर सकती है, क्योंकि नौकरशाही-

- ''शैक्षाणिक योग्यता'' के आधार पर बनती है।
- उनकी प्रतिस्पर्धात्मक ''चयन'' प्रक्रिया है।
- उनका ''सेवा उन्मुख प्रशिक्षण'' होता है।
- उनके पास लम्बा अनुभव होता है।
- सेवा के साथ, सुरक्षा के कारण उनका दृष्टिकोण सकारात्मक होता है।

इसके विपरीत संसदात्मक प्रणाली में, सरकार समर्थन पर आधारित होती है। अतः लोकप्रिय एवं आकर्षक नीतियां सरकार की बाध्यता है और ऐसी नीतियां आमतौर पर अव्यवहारिक होती है।

अतः नीति-निर्माण प्रक्रिया में, नौकरशाही भी संलग्न हो जाती है। इसका दूसरा कारण सरकार की अस्थिरता भी है।

जहाँ तक ''न्यायपालिका'' का प्रश्न है, यह नीति-निर्माण में सामान्य भागीदार नहीं है। यह विशेष परिस्थितियों में भाग लेती है, जब-

1. सरकारें अस्थिर होती हैं और वह निर्णय लेने में असमर्थ हो जाती हैं।
2. सरकारें विकास कार्यों से विमुख हो जाती हैं और अपने अस्तित्व की चिंता में जुटी रहती हैं।
3. निर्वाचन की बारम्बारता के कारण राजनीतिक भ्रष्टाचार बढ़ जाता है।
4. शासन एवं प्रशासन में जनता का विश्वास टूटने लगता है।
5. देश की अंतर्राष्ट्रीय छवि दाँव पर लग जाती है।

इस प्रकार न्यायपालिका की भागीदारिता ''न्यायिक सक्रियता'' कही जाती है, जो एक सामान्य स्थिति नहीं है।

जहाँ तक ''गैर-सरकारी भागीदारों'' का प्रश्न है, यह निम्नलिखित है- राजनीतिक दल प्रणाली, दबाव समूह, सामान्य नागरिक और प्रेस इत्यादि।

नीति-निर्माण प्रक्रिया में एक दलीय प्रणाली में, नीतिगत निर्णय शीघ्र होता हैं, क्योंकि कोई अन्तर्विरोध नहीं होता है, लेकिन निरंकुशता की आशंका बनी रहती है।

बहुदलीय प्रणाली में सभी दल अपने-अपने ढंग से नीतियों का निर्माण करती हैं, जबकि संस्थाऐं समान होती हैं। परिणामस्वरूप नीतियाँ परस्परव्यापी हो जाती हैं और इस प्रकार कई नीतिगत दुविधाऐं उत्पन्न होती हैं जो निर्माण और कार्यान्वयन दोनों को ही प्रभावित करते हैं।

द्विदलीय प्रणाली में, नीति-निर्माण सर्वाधिक, प्रासंगिक होता है, क्योंकि सत्तारूढ़ दल की आलोचना होती है, क्योंकि विपक्ष यह जानता है कि सत्ता परिवर्तन के पश्चात उन्हें ही इन आलोचनाओं का जवाब देना होगा।

भारत में बहुदलीय-प्रणाली कार्यरत हैं, लेकिन विगत कुछ वर्षों में भारतीय दलीय व्यवस्था को एक नयी दिशा मिल रही है, जिसमें विधायिका के अन्दर, सत्तारूढ़ दल एवं विपक्ष कार्य कर रहा है, यह अलग तथ्य है कि सत्तारूढ़ कई दल हैं। लेकिन विधायिका के बाहर बहुदलीय प्रणाली ही कार्य करती है। इस नयी दिशा में नीति-निर्माण में भी बदलाव आयेगा।

जहाँ तक ''दबाव समूह की भूमिका'' का प्रश्न है, कोई समूह, दबाव समूह के रूप में नीति-निर्माण में तभी भागीदार होता है। जब-

- प्रभावशाली संगठनात्मक शक्ति हो।
- प्रभावशाही नेतृत्व हो।
- संसाधन पर्याप्त हो।
- अन्तरसमूह समर्थन हो।

उपरोक्त कारणों के आधार पर उनकी सरकार तक पहुँच होती है।

जहाँ नागरिक और मीडिया की भूमिका का प्रश्न है, इनकी भूमिका तभी प्रभावशाली होती है, जब नागरिक आर्थिक स्वतंत्रता का भी उपयोग करता है। अर्थात साक्षरता, रोजगार, क्रयशक्ति यह सब कुछ चेतना विकास में सहायक होता है और चेतना विकास के साधन के रूप में अल्य दृश्य और प्रेस मीडिया की भूमिका होती है। अतः आर्थिक स्वतंत्रता के अभाव में नागरिक नीति-निर्माण प्रक्रिया में प्रभावशाली भागीदार नहीं हो सकता है, क्योंकि आर्थिक स्वतंत्रता के बिना राजनीतिक स्वतंत्रता का कोई अर्थ नहीं निकलता है।

9.2.4 नीति-निर्माण के मॉडल

इसमें निम्नलिखित बिन्दु शामिल हैं- तार्किक मॉडल, बुद्धिवाद, संस्थावाद, क्रीड़ा सिद्धान्त, समूह सिद्धान्त, प्रतिष्ठित समूह सिद्धान्त, प्रणाली सिद्धान्त।

''तार्किक मॉडल'' नीति-निर्माण प्रक्रिया से जुड़ा है। जिसमें तीन चरण होते हैं। प्रथम चरण- परिकल्पना है, जिसमें समस्याओं का चयन होता है, दूसरा चरण- डिजाइन है, जिसमें समस्या से समाधान तक पहुँचने के कई मार्ग बनाये जाते हैं। तीसरा चरण- चयन का है। इस मॉडल में नवीनता होती है। यह नवीन नीति का निर्माण करता है। जिसके कारण महत्वाकांक्षा, नवीन सोच, कल्पनाशीलता को बढ़ावा मिलता है। लेकिन इसमें भारी समय और पूँजी की खपत है और इन सब के ऊपर भी नवीन नीति से जोखिम जुड़ा होता है और कोई व्यवसाय जोखिम को घटाना चाहती हैं, बढ़ाना नहीं।

अतः तार्किक मॉडल के सुधार रूप में **''बुद्धिवाद''** का उदय हुआ, जिसमें पुरानी नीतियों का नवीकरण होता है। जिसमें जोखिम कारक कम हो जाता है, समय और पूँजी की खपत सीमित हो जाती है। आखिरकार यह नहीं भूला जा सकता है, क्योंकि इतिहास अपने आपको दोहराता है। अतः एक सीमा तक पुरानी नीतियों को स्वीकार किया जा सकता है और यही होता भी है, क्योंकि नीति पूर्णतया नयी नहीं होती है और इस प्रकार नीति-निर्माण में, वृद्धिवाद को सर्वाधिक मान्यता मिली है।

''संस्थावाद'' नीति-निर्माण का अगला मॉडल है, जिसका अर्थ है- कई संस्थाएं नीति-निर्माण से जुड़ी होती हैं, लेकिन यह संस्थाएं इस प्रक्रिया में तभी सफल होती है, जब उनके कार्यक्षेत्र बिल्कुल परिभाषित हो। जैसा एक सीमा तक अध्यक्षात्मक प्रणाली में होता है, क्योंकि वह सत्ता के पृथक्करण के सिद्धान्त पर टिका है, लेकिन संसदात्मक प्रणाली में संस्थाओं के कार्य-क्षेत्र पूर्णतया परिभाषित नहीं है। विशेषरूप से न्यायपालिका एवं विधायिका जो एक-दूसरे से उन्मुक्त भी हैं और निर्भर भी हैं। इसी प्रकार कार्यपालिका और विधायिका विलय के सिद्धान्त पर कार्य करती हैं और कार्यपालिका का उत्तरदायित्व संवैधानिक प्रावधानों से अधिक परिस्थितियों पर निर्भर करता है।

अतः परस्परव्यापी संस्थाएं, नीति-निर्माण प्रक्रिया में उलझ कर रह जाती है, और नीतियां आमतौर पर छंदात्मक होती हैं।

''क्रीड़ा सिद्धान्त'' अगला मॉडल है। इस मॉडल में नीति-निर्माण प्रक्रिया की शुरूआत बहुपक्षीय होती है। सभी भागीदारों के सामान्य महत्व होते हैं। जैसे संयुक्त राष्ट्र महासभा में होता है और नीति-निर्माण होने तक व्यवस्था बहुपक्षीय बनी रहती है। अर्थात् सम्बन्धित नीति में सभी भागीदारों का सामान्य महत्व बना रहता है। यह सम्भव है कि कोई भागीदार नकारात्मक मत का हो, लेकिन सफल नीति-निर्माण में सभी का समान दायित्व बन जाता है।

इसके विपरीत **''समूह सिद्धान्त''** में शुरूआत बहुपक्षीय होती है। लेकिन कालांतर में, नीति-निर्माण प्रक्रिया में एक उप-समूह दूसरे उप-समूह पर हावी हो जाता है। जिसमें वह उप-समूह हावी होता है, जिसकी संगठनात्मक शक्ति प्रभावशाली है। नेतृत्व प्रभावशाली है, समुचित संसाधन हैं, अन्तर समूह समर्थन है तथा नीति निर्माताओं तक उनकी पहुँच है।

''प्रतिष्ठित समूह'' सिद्धान्त वस्तुतः आदिम राजनीतिक संस्कृति से जुड़ा है। जहाँ नीति-निर्माण एक प्रतिष्ठित समूह के रूप में होते हैं। शुरूआत और अंत दोनों ही एकांगी होता है।जिसमें नीति-निर्माण को कोई चुनौती देने का दुस्साहस नहीं करता है और इस प्रकार नीतियां समाज पर आरोपित की जाती हैं। अतः यह मॉडल व्यक्तिगत और साझेदार राजनीतिक संस्कृति में लागू नहीं होता है।

जहाँ तक **''प्रणाली सिद्धान्त''** का प्रश्न है। इस मॉडल के तीन भाग होते हैं। पहला भाग ''इनपुट'' है, जिसमें समस्याओं के साथ-साथ निम्नलिखित तथ्य आते हैं- उपलब्ध संसाधन, समस्या का सार्वजनिक महत्व, राष्ट्रीय महत्व, मांग एवं समर्थन। दूसरा भाग ''संक्रियन'' है, जिसमें इनमें सभी तथ्यों के साथ सामंजस्य स्थापित किया जाता है। सामंजस्य की प्रक्रिया में पूरी प्रणाली, वातावरण से कट जाती है, जिस अवस्था को 'ब्लैक बॉक्स' कहते हैं। यदि ब्लैक बॉक्स विचलित नहीं होता है, तो सामंजस्य की अविध घट जाती है। तीसरा भाग ''आउटपुट'' है, जो सामंजस्य प्रक्रिया पर निर्भर करती है। तदनुसार नीति-निर्माण आउटपुट के रूप में होता है।

जैसे नीति-निर्माण प्रक्रिया में, योजना आयोग ''ब्लैक बॉक्स'' के रूप में कार्य करती है। यदि मध्यवर्ती सत्ता परिवर्तन से विचलन नहीं होता है, तो नीति-निर्माण प्रक्रिया तेज हो जाती है और आउटपुट शीघ्र होता है।

जहाँ तक **''नीति क्रार्यान्वयन''** का प्रश्न है, यह निम्न कारकों से प्रभावित होता है। जैसे- सूचना की प्रासंगिकता, सूचना का विनिमय, सेवाकाल पद्धति, केन्द्रवाद, विभागवाद, संगठनात्मक कठिनाइयाँ और कार्यात्मक कठिनाइयाँ।

नीति-निर्माण और क्रियान्वियन सूचना की वैधता पर टिका हुआ है। वस्तुतः सूचना ही सूचना को जन्म देती है और जब पहली ही सूचना अप्रांसगिक होती है तो सूचनाओं की पूरी कड़ी आप्रसंगिक हो जाती है। वस्तुतः सूचना प्रेषित करने के लिए कई संस्थाऐं बनायी गयी हैं। लेकिन उनके कार्यक्षेत्र पूर्णतः परिभाषित नहीं है, जिससे संगठनात्मक उत्तरदायित्व का अभाव रहता है। परिणामस्वरूप यह संगठन प्रमाणिक सूचना भेजने के स्थान पर सूचनाओं की पुर्नरावृत्ति करती रहती है, जो अप्रासंगिकता का मूल कारण है।

अतः संगठनात्मक उत्तरदायित्व परिभाषित किये जाने चाहिए। इसके अतिरिक्त किसी क्षेत्र विशेष से सूचना प्राप्त करने के लिए सरकारी संगठनों के समानंतर गैर-सरकारी संगठन संलग्न किये जाने चाहिए। सूचनाओं की प्रमाणिकता की जाँच की जा सकती हो और यदि सरकारी संगठनों की सूचना अप्रसांगिक पायी जाये तो उसे तत्काल बन्द किया जाना चाहिए।

सफल नीति-निर्माण और कार्यान्वयन के लिए यह आवश्यक होता है कि सिद्धान्त और व्यवहार के बीच विनिमय होता रहे। जबकि प्रशासक और चिंतक के बीच सूचना-विनिमय का लगभग अभाव रहता है, क्योंकि प्रशासक और चिंतक एक-दूसरे के महत्व को समझने में असमर्थ हैं। वस्तुतः प्रशासन और नागरिक के बीच विचारों का विनिमय होते रहना चाहिए, ताकि यह सुनिश्चित किया जा सके कि नीति अपने उद्देश्यों को प्राप्त कर रहा है अथवा

नहीं। जिसके लिए लोक प्रतिक्रयाओं को आमंत्रित किया जाना चाहिए। जबकि प्रेस मीडिया को छोड़कर ऐसी कोई संस्था, कार्य नहीं करती है।

नीति-निर्माण और कार्यान्वयन को सफल बनाने के लिए अधिकारियों के लिए सेवाकाल पद्धति का विकास किया गया, ताकि वह एक स्थान पर तीन वर्ष के लिए स्थिर हो। लेकिन सरकार की अस्थिरता के कारण प्रशासनिक फेरबदल भी बढ़ गया है। परिणामस्वरूप अधिकारी शरणस्थल की तलाश करते हैं, जो उन्हें सचिवालय के रूप में प्राप्त होता है। लेकिन ऐसे अधिकारियों का मैदानी सम्पर्क टूट जाता है, जबकि वे नीतिनिर्मात्री संस्था से जुड़ जाते हैं। इस प्रकार नीति-निर्माण और क्रिर्यान्वयन में समसामयिकी दृष्टिकोण का अभाव हो जाता है। जिसके लिए स्थानान्तरण नीति, तत्काल परिभाषित किया जाना चाहिए।

नीति-निर्माण और क्रियान्वयन **''केन्द्रवाद''** से बहुत प्रभावित हुआ है। क्योंकि भारत में, केन्द्रीय योजना आयोग मूल ड्राफ्ट तैयार करती है और इसी मूल ड्राफ्ट के अधीन राज्यों को प्रतिक्रिया करनी होती है, जिसके कारण केन्द्र, राज्यों पर नियोजन आरोपित कर देता है। जबकि नियोजन प्रक्रिया नीचे से ऊपर होनी चाहिए। इसी प्रकार राज्यों की नीति निमात्री संस्थाओं में अधिकारियों का बाहुल्य है, जबकि ज्यादातर अधिकारी बाहरी होते हैं। अधिकारियों को प्रान्तीय जानकारी बेहतर होती है। अतः उन्हें नीति-निर्माण और क्रार्यान्यिन में समुचित भागीदारी मिलनी चाहिए। सौभाग्य से वर्ष 1996 से आधी रिक्तियां राज्यों को आवंटित कर दी जाती हैं ताकि अधिकारियों के पद्धोन्नति कि अवसर बढ़ाए जा सकें।

''विभागवाद'' अगली समस्या है। वस्तुतः लोक प्रशासन हमेशा रोजगार उन्मुख रहा है। जिससे कालांतर में विभागों की संख्या अवश्य बढ़ गयी और जब उदारीकरण का दौर आया तो अनावश्यक विभागों को बंद करने की कोशिश की गयी। परिणामस्वरूप विभागों को अपना अस्तित्व बचाने के लिए विभागीय पहचान स्थापित करना आवश्यक हो गया और इस प्रकार नीति क्रियान्वयन गौण हो गया, साथ ही विभागीय प्रतिस्पर्धा बढ़ गयी। विभागीय प्रतिस्पर्धा के कारण विभागीय पहचान प्रथम प्राथमिकता का विषय बना गया।

''संगठनात्मक समस्याऐं'' भी कम नहीं है। वस्तुतः यह संगठन के विभाग की आंतरिक समस्या है, क्योंकि विगत वर्षों में रोजगार उन्मुखता के कारण कर्मचारियों की अधिकता हो गयी है, जिससे उत्तरदायित्व का अभाव हो गया है। जिसका एक कारण सरकारी सेवाओं के साथ सुरक्षा है।

अतः पक्षों के कार्य-क्षेत्र पुनः परिभाषित किये जाने चाहिए, ताकि अनावश्यक पदों की पहचान की जा सके और तभी अतिरिक्त कर्मचारियों की छंटनी की जा सकती है, ताकि सेवारत कर्मचारी नीति क्रियान्वयन के लिए प्रतिबद्ध हो।

''कार्यात्मक'' कठिनाइयां चुनौतीपूर्ण समस्या है। क्योंकि जब कभी लोक नीति का क्रियान्वयन होता है, तो बाह्य और आतंरिक विरोध प्रकट होते है। बाह्य विरोध विशेष चिंता का विषय नहीं है, क्योंकि बाह्य विरोध आपेक्षित होता है। लेकिन विशेषरूप से मिली-जुली सरकारों के अस्तित्व के कारण (या संस्कृति के कारण) आज आंतरिक विरोध बढ़ गया है, जो सरकार के लिए विशेष चिंता का विषय है और यही कारण है कि सरकारें नीति-निर्माण में अधिक अभिरूचि लेती हैं। वह नीतियों के क्रार्यान्वयन से भागती रहती हैं।

अतः नीतियों के सफल क्रिर्यान्वयन के लिए आंतरिक विरोध का समाधान आवश्यक है। जिसके लिए मिली-जुली सरकारों को पहले आंतरिक विश्वास बनाना चाहिए और आंतरिक विश्वास बनाने के लिए मंत्रिपरिषद की बैठक से पहले समन्वय समिति की बैठक आयोजित की जानी चाहिए। यही समय की मांग है।

जहाँ तक **''नीतिगत मूल्यांकन''** का प्रश्न है, इसकी कई पूर्व शर्तें है। जैसे- नीतियों को सरल एवं पारदर्शी होनी चाहिए, ताकि सामान्य जनता को जोड़ा जा सके। जबकि यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि बजटीय नीति, जो देश की सौ प्रतिशत जनसंख्या को प्रभावित करता है, आधी-अधूरी रह जाती है।

लोक नीतियों के साथ आवश्यक संसाधन उपलब्ध होने चाहिए। अतः नीतियों के लागू करने से पहले, दीर्घकालिक संसाधन सुनिश्चित किये जाने चाहिए।

लोक नीति यों के लिए संगठनात्मक दायित्व, सुनिश्चित किया जाना चाहिए, ताकि आम नागरिक यह जान सके कि किस नीति के लिए कौन सा संगठन उत्तरदायी है?

नीतियों की क्रियान्वयन प्रक्रिया सरल, परिभाषित एवं व्यवहारिक होनी चाहिए, ताकि लालफीताशाही को रोका जा सके, जो समस्याओं की जड़ है।

इन आधारों पर नीतियों का मध्यावधि मूल्यांकन किया जाना चाहिए, ताकि समय-समय पर आवश्यक सुधार किये जा सके। अन्यथा नीतियों को बंद करना पड़ता है, जो नीतिगत विश्व सनीयता घटा देती है। क्योंकि लोक नीति की विश्व सनीयता लोक नीति का प्रभाव तय करती है।

अभ्यास प्रश्न-

1. लोक नीति एवं प्रशासन एक-दूसरे से प्रथक हैं। सत्य/असत्य
2. प्रशासन की लोक नीति में भागीदारी आवश्यक है। सत्य/असत्य
3. लोक नीति निर्माण में दलों की कोई भूमिका नहीं है। सत्य/असत्य
4. लोक नीति निर्माण में न्यायपालिका की कोई भूमिका नहीं है। सत्य/असत्य

9.3 सारांश

नीति-निर्माण लोक प्रशासन का सार है। नीतियाँ ऐसा प्रमाणिक मार्गदर्शक हैं जो प्रबन्धकों को योजना बनाने, कानूनी आवश्यकताओं के अनुरूप कार्य करने तथा वांछित उद्देश्यों को प्राप्त करने में सहायता प्रदान करती है। जनता की विविध मांगों एवं कठिनाइयों का सामना कर सकने के लिए सरकार को बहुत सी नीतियाँ बनानी पड़ती हैं, जिन्हें लोक नीति याँ कहते हैं।

किसी भी लोक नीति के निर्माण में सामान्यतः कुछ मूल बातें हमें दिखाई देती हैं- लोकहित पर आधारित सरकारी संस्थाओं द्वारा बनाया जाना, लोक नीति जटिल प्रक्रिया का परिणाम और भविष्योन्मुख।

लोक नीति -निर्माण सरकार की सबसे महत्वपूर्ण गतिविधि है, क्योंकि यह नागरिकों तथा समूचे राष्ट्र की जीवन के हर एक पक्ष को छूता है। नीति-निर्माण की संरचना के अंतर्गत समूची राजनीतिक व्यवस्था शामिल रहती है। नीतियों का क्रियान्वयन उतना ही महत्वपूर्ण है, जितना कि उनका निर्माण। नीति निष्पादन वह प्रक्रिया है, जिसके द्वारा एक नीति के लक्ष्य एवं प्रतिज्ञाऐं पूरी की जाती हैं। नीति-निर्माण के लिए विधायिका आधिकारिक एजेंसी है, तो नीतियों के निष्पादन के लिए कार्यपालिका आधिकारिक अंग है।

9.4 शब्दावली

वैधानिक- विधि सम्मत या कानून के अनुरूप, विनिमय- एक वस्तु लेकर उसके बदले में दूसरी वस्तु देना।

9.5 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. असत्य, **2.** असत्य, **3.** सत्य, **4.** सत्य

9.6 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. हेडी, फेरल (1984): पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन: ए कम्परेटिव परस्पेक्टिव, प्रिंटिस हाल, न्यू जर्सी।
2. भट्टाचार्य, मोहित (1987): पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन, वर्ल्ड प्रेस, कलकत्ता।
3. एण्डरसन, ई0 जेम्स (1975): पब्लिक पालिसी में किंग, थामस नेल्सन एण्ड सन्स, लन्दन।
4. अवस्थी, ए0 एवं माहेश्वरी एस0(1990): लोक प्रशासन, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा।

9.7 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. वाल्डो, डवाइट (1956): पर्सपेक्टिव इन पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन, यूनिवर्सिटी ऑफ अलाबामा प्रेस, अलाबामा (यू0एस0ए0)
2. ऐपलबी, पी0 एच0 (1956): पालिसी आफ एडमिनिस्ट्रेशन, एशिया पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।

9.8 निबंधात्मक प्रश्न

1. लोक नीति से आप क्या समझते हैं? लोक नीति निर्माण का क्या महत्व है?
2. लोक नीति निर्माण के विभिन्न माडलों पर निबन्ध लिखिये।
3. लोक नीति निर्माण में विभिन्न स्रोतों की विवेचना कीजिए।
4. सार्वजनिक नीति एवं लोक नीति में क्या भिन्नतायें हैं?

इकाई- 10 संगठन

इकाई की सरंचना

10.0 प्रस्तावना
10.1 उद्देश्य
10.2 संगठन का अर्थ एवं अवधारणा
10.2.1 समूह अवधारणा
10.2.2 कार्यात्मक अवधारणा
10.2.3 उद्देश्य अवधारणा
10.2.4 प्रक्रिया अवधारणा
10.3 संगठन के उद्देश्य
10.4 संगठन के सिद्धान्त
10.5 संगठन का महत्व
10.6 संगठन के प्रकार
10.6.1 औपचारिक संगठन
10.6.2 अनौपचारिक संगठन
10.7 सारांश
10.8 शब्दावली
10.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
10.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
10.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
10.12 निबंधात्मक प्रश्न

10.0 प्रस्तावना

लोक प्रशासन विषय के अन्तर्गत संगठन को सर्वाधिक महत्वपूर्ण व गम्भीर अवधारणा के रूप मान्यता दी जाती है, क्योंकि संगठन की अवधारणा को स्पष्ट रूप से विश्लेषित करने के पश्चात ही लोक प्रशासन के अन्य सिद्धान्तों था अवधारणाओं को आत्मसात किया जा सकता है।

वर्तमान प्रशासनिक पर्यावरण में किसी भी प्रकार के प्रशासन का आधार एक सुव्यवस्थित संगठन होता है। एक मानव परिवार रूपी संगठन में जन्म लेता है और परिवार रूपी संगठन में ही अपना अस्तित्व समाप्त कर देता है। इसके आभाव में मानव समाज की कल्पना भी नहीं की जा सकती। वास्तव में संगठन सहकारी प्रक्रियाओं के लिये एक आधारभूत अवधारणा है।

प्रस्तुत इकाई, संगठन के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए विभिन्न विद्वानों की परिभाषाओं, तत्वों, सिद्धान्तों और उद्देश्यों पर प्रकाश डालेगी। संगठन के दो प्रमुख स्वरूप औपचारिक तथा अनौपचारिक को भी स्पष्ट करने का प्रयास करेगी तथा संगठन क्यों महत्वपूर्ण है? इस प्रश्न का उत्तर भी विवेचनोपरान्त आप समझ पायेंगे।

10.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- संगठन की अवधारणा एवं अर्थ से परिचित हो सकेंगे।

- संगठन के महत्व को रेखांकित कर सकेंगे।
- औपचारिक संगठन को विश्लेषित कर सकेंगे।
- अनौपचारिक संगठन की अवधारणा को आत्मसात कर सकेंगे।

10.2 संगठन का अर्थ एवं अवधारणा

इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि आदिकाल का मानव भी अपनी आवश्यकताओं की संन्तुष्टि के लिए कुछ न कुछ कार्य अवश्य करता था। संगठन की उत्पत्ति के विषय में यह कहा जा सकता है कि इसकी आवश्यकता उस समय हुई होगी, जब मनुष्यों ने साथ मिलकर कार्य करना शुरू किया होगा। कालान्तर में ज्ञान एवं विज्ञान की प्रगति के साथ-साथ मनुष्य की आवश्यकताऐं भी बढ़ी हैं। इन बढ़ती हुई आवश्यकताओं ने उत्पादन में वृद्धि तथा विशिष्टीकरण को जन्म दिया है।

अंग्रेजी भाषा के 'ऑर्गेनिज्म' शब्द से निकले 'ऑर्गेनाइजेशन' यानि संगठन का अर्थ, अंगों के ऐसे सम्बन्ध से है, जिसमें सब साथ मिलकर एक इकाई के रूप में कार्यों का सम्पादन करते हैं, जिसे संगठित प्रयोग अर्थात संगठन की संज्ञा दी जाती है। यह अपेक्षित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये विभिन्न व्यक्तियों की क्रियाओं को समन्वित करने की प्रक्रिया है। प्रशासन के विभिन्न कारकों, जैसे- श्रम, आवश्यकताएँ, प्रबन्ध के मध्य प्रभावपूर्ण सहकारिता स्थापित करने की कला को ही संगठन कहते हैं। अत: प्रशासन के विभिन्न प्रमुख कारकों का वैज्ञानिक सामंजस्य ही ''संगठन'' के रूप में जाना जाता है।

आधुनिक युग में संगठन प्रशासन का एक आवश्यक कार्य बन गया है, क्योंकि इसके बिना निर्धारित लक्ष्यों को पाना असम्भव है। प्रशासन की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि संगठन में काम करने वाले व्यक्ति मिल-जुलकर उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए कार्य करें।

संगठन के अन्तर्गत हम प्रशासन के सम्पूर्ण साधनों का सुव्यवस्थीकरण करते हैं। प्रत्येक प्रशासन का मुख्य दृष्टिकोण यह होता है कि वह अपने प्रशासन को इस प्रकार नियोजित करे कि उससे कार्यक्षमता, प्रभाविता और निष्पादन में अधिक से अधिक वृद्धि हो। दूसरे शब्दों में, किसी कार्य को योजनाबद्ध रूप से सम्पादित करना ही संगठन है।

ऑक्सफोर्ड शब्दकोष के अनुसार, ''संगठन शब्द का तात्पर्य किसी वस्तु की व्यवस्थित सरंचना बनाना है या किसी वस्तु के आकार को सुनिश्चित करके उसे कार्य करने की स्थिति में लाना है। इससे स्पष्ट होता है कि संगठन में तीन तत्व मिले हुए हैं- प्रथम, यह कार्य किसी निश्चित उद्देश्य की पूर्ति के लिए किया जाता है। द्वितीय, इसमें सहयोग की भावना होती है। तृतीय, इसमें व्यक्तियों के सहयोग द्वारा कार्य किया जाता है। इस प्रकार कार्यालय संगठन की परिभाषा उस प्रक्रिया के रूप में दी जा सकती है जिसके द्वारा कार्यालयों में विभिन्न पदों का संरचनात्मक ढाँचा इस प्रकार का बनाया जाता है कि वांछित लक्ष्यों को प्राप्त किया जा सके।

इसी क्रम में प्रशासकीय दृष्टि से संगठन शब्द का प्रयोग दो रूपों में होता है, पहले रूप में संगठन का तात्पर्य संगठन की सरंचना से है, जिसके द्वारा संगठन मूल रूप से ऐसे व्यक्तियों का समूह है जो औपचारिक सम्बन्धों द्वारा संस्था के उद्देश्यों की प्रप्ति के लिए साथ मिलकर कोशिश करते हैं तथा दूसरे रूप में संगठन का तात्पर्य किसी योजना के विभिन्न कार्यों को परिभाषित करने तथा उन्हें एक साथ विकसित करने के साथ-साथ उनके मध्य सम्बन्ध स्थापित करने वाली ऐसी प्रक्रिया से है। जिसके द्वारा यह निर्धारत किया जाता है कि लक्ष्य को पाने के लिए कौन-कौन से कार्य किए जाऐंगे। तथा इन कार्यों में लगे अधिकारियों एवं कर्मचारियों को कार्यों के सम्पादन के लिए जरूरी अधिकार और उत्तरदायित्व निर्धारत किये जाते हैं।

वस्तुतः संगठन एक ऐसी प्रक्रिया है, जो उत्पादन सम्बन्धी विभिन्न कड़ियों को एक सूत्र में पिरोने का कार्य करती है। संगठन के द्वारा ही न्यूनतम साधनों से अधिकतम कार्य निष्पादन प्राप्त किया जा सकता है। उपरोक्त विवेचन के आधार पर हम संगठन के विकास के इतिहास को निम्न अवस्थाओं में विभाजित कर सकते हैं-

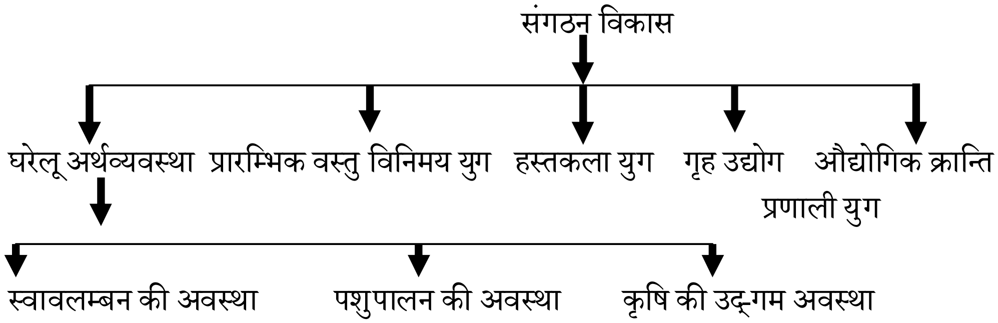

जैसा कि हम जान चुके हैं कि संगठन शब्द एक अत्यन्त विस्तृत शब्द है, अतः इसकी कोई सर्वमान्य परिभाषा देना कठिन है। विभिन्न विद्वानों ने संगठन शब्द की विभिन्न परिभाषाऐं दी हैं। इन्हें अध्ययन में सुविधा हेतु विभिन्न अवधारणाओं के अन्तर्गत वर्गीकृत किया गया है। आइऐ इन्हें विवेचित करने का प्रयास करें-

10.2.1 समूह अवधारणा

इस अवधारणा के अनुसार, संगठन मूल रूप से व्यक्तियों का समूह है, जो निश्चित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए मिलजुल कर कार्य करते हैं। अतः कोई भी संगठन उस समय अस्तित्व में आ जाता है, जब कुछ लोग एक साथ कार्य करने के लिए सहमत होते हैं। इस अवधारणा से जुड़े विद्वान-

1. इटजियोनि के अनुसार, संगठन विशिष्ट उद्देश्यों की प्रप्ति के लिए स्वेच्छा से निर्मित मानवीय समूह हैं।
2. मूने व रैले के अनुसार, संगठन सामान्य हितों की पूर्ति के लिए बनाया गया मनुष्यों का एक समुदाय है जो पूर्व निर्धारित उद्देश्यों के लिये कार्य करता है।

10.2.2 कार्यात्मक अवधारणा

कार्यात्मक अवधारणा के अनुसार, संगठन प्रबन्ध का प्राथमिक कार्य है जो उत्पादन के विभिन्न साधनों का निर्धारित लक्ष्यों व सम्बन्धों की सरंचना हैं, जिसमें कर्मचारी कर्तव्यों और दायित्वों का निष्पादन करते है। संगठन सम्बन्धों की सरंचना करके क्रियाओं के क्षेत्र की रचना करता है। इस अवधारणा से जुड़े विद्वान-

1. ओलिवर शेल्डन के अनुसार, संगठन वह कार्यविधि है, जिसके द्वारा आवश्यक विभागों में व्यक्तियों या समूहों द्वारा किए जाने वाले कार्य को इस प्रकार संयोजित किया जाता है कि उसके द्वारा उपलब्ध प्रयत्नों को श्रृंखलाबद्ध करके कुशल, व्यवस्थित एवं समान्वित बनाया जा सके। इस प्रकार संगठन प्रबन्ध का वह यन्त्र है जो प्रशासन द्वारा नियत लक्ष्यों की पूर्ति में सहायक होता है।
2. प्रो0 हैने के अनुसार, किसी विशेष उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किसी वस्तु के भाग अथवा कार्य के विभिन्न साधनों को एकताबद्ध करके उनमें सहकारिता पैदा करना ही संगठन कहलाता है।

10.2.3 उद्देश्य अवधारणा

इस अवधारणा के अनुसार, प्रत्येक संस्था में संगठन की स्थापना निर्धारित उद्देश्यों और लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए की जाती है। संगठन सदैव उद्देश्यों से सम्बन्धित होता है। इस अवधारणा से जुड़े विद्वान-

1. जी0 ई0 मिलबर्ड के अनुसार, कर्मचारियों और उनके कार्यों में एकीकरण व सामंजस्य स्थापित करने की क्रिया को संगठन कहते हैं।
2. विलियम आर0 स्प्रीगल के अनुसार, संगठन वास्तव में विभिन्न क्रियाओं तथा कारकों के बीच का सम्बन्ध हैं।

10.2.4 प्रक्रिया अवधारणा

प्रक्रिया अवधारणा के अनुसार, संगठन किसी उपक्रम के सदस्यों के बीच सम्बन्धों को स्थापित करने की प्रक्रिया है। सम्बन्धों की स्थापना सत्ता तथा दायित्व के रूप में स्थापित की जाती है। इस अवधारणा से जुड़े विद्वान-

1. कूण्ट्ज एवं ओ0 डोनैल के अनुसार, संगठन एक विधिसंगत एवं संभावित भूमिकाओं एवं अवस्थितियों की सरंचना है।
2. निओल तथा ब्राण्टन के अनुसार, संगठन अंशतः सरंचनात्मक सम्बन्धों का प्रश्न है तथा अंशतः मानवीय सम्बन्धों से सम्बन्धित है।

10.3 संगठन के उद्देश्य

उपर्यक्त परिभाषाओं के विश्लेषणात्मक अध्ययन के उपरान्त यह कहा जा सकता है कि संगठन एक ऐसी क्रिया है, जिसके द्वारा व्यवसाय से सम्बन्धित समस्त क्रियाओं में समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया जाता है। प्रशासनिक संगठन के सामान्यतः निम्नलिखित उद्देश्य होते हैं। इन्हें क्रमबद्ध कर समझने का प्रयास करें-

1. संगठन प्रशासन का एक महत्वपूर्ण कार्य है, जिसका उद्देश्य संस्था के लक्ष्यों की प्राप्ति में सहयोग करना हैं, इसीलिए यह कहा भी जाता है कि संगठन प्रशासन के उद्देश्यों एवं लक्ष्यों को प्राप्त करने का एक उपकरण है।
2. संगठन का प्रमुख उद्देश्य कर्मचारी एवं प्रशासन के मध्य मधुर सम्बन्ध स्थापित करना है। एक अच्छे संगठन में सदैव यह प्रयास किया जाता है कि कर्मचारियों की समस्याओं का समाधान शीघ्रातिशीघ्र किया जाये। जिससे कि कर्मचारी एवं प्रशासनिक अधिकारियों के मध्य मधुर सम्बन्ध स्थापित हो।
3. संगठन का एक प्रमुख उद्देश्य योग्य एवं अनुभवी कर्मचारियों का चयन एवं प्रशिक्षण भी है। इसके साथ-साथ उन्हें संस्था में बनाये रखना भी एक प्रमुख उद्देश्य हैं।
4. संगठन का एक प्रमुख उद्देश्य बदलती हुई तकनीकी वातावरण को ध्यान में रखते हुये अपनी संगठन सरंचना में इस प्रकार सुधार करना है, जिससे उसकी प्रभावशीलता एवं कुशलता में अधिकतम वृद्धि की जा सके।
5. न्यूनतम प्रयास पर अधिकतम कार्य-निष्पादन प्राप्त करना ही संगठन का प्राथामिक उद्देश्य है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये प्रभावशाली संगठन-प्रणाली की सरंचना की जाती है।
6. एक अच्छे संगठन का प्रमुख उद्देश्य कर्मचारियों में मनोबल का विकास करना होता है, क्योंकि कर्मचारियों के मनोबल का सीधा सम्बन्ध कार्य-निस्पादन से होता है। कर्मचारियों के मनोबल ऊँचा होने से कार्य निस्पादन की मात्रा एवं गुणवत्तामें वृद्धि होती है।
7. आधुनिक युग में प्रत्येक संगठन का उद्देश्य अपने सामाजिक उत्तरदायित्वों का निर्वाह करना होता है।यह कार्य संगठन द्वारा अपने कर्मचारियों में सेवा-भावना की जागृति द्वारा ही सम्भव बनाया जा सकता है।
8. संगठन सदैव यह प्रयास करता है कि अधिकारियों व अधीनस्थों के मध्य अधिकार और दायित्व सम्बन्धों की अनुकूल स्थापना की जाये, जिससे सम्प्रेषण व्यवस्था को प्रभावी बनाया जा सके तथा आदेश-निर्देशों में एकता स्थापित कर कर्मचारी प्रशासक तथा जनता के मध्य सहयोग और सद्-भाव की स्थापना की जा सके।

यह अत्यन्त ही गम्भीर प्रश्न है कि प्रशासन द्वारा कितने अधीनस्थों को प्रबन्धित किया जा सकता है। इस हेतु प्रबन्धकीय, संगठनात्मक और कार्य सम्बन्धित अनेक कारकों को ध्यान में रखना पड़ता है। इनका वर्गीकरण कर, यह समझने का प्रयास करें कि ये कैसे संगठन पर अपना प्रभाव डालते हैं?

- **लक्ष्य-** संगठन साधन है न कि साध्य, यह उपक्रम के उद्देश्यों की प्राप्ति का एक साधन है, संगठन लक्ष्य अभिमुखी प्रणाली है। अतः संगठन का निर्माण करते समय इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि जो संगठन हम तैयार कर रहे हैं, वह प्रशासन के लक्ष्यों को पूरा करने में किस सीमा तक सक्षम होगा।
- **तकनीकी-** तकनीकी, कार्य निष्पादन के तरीके को दर्शाती है। तकनीकी की प्रकृति के आधार पर संगठन की सरंचना करनी चाहिए। यदि तकनीकी सरल एवं सामान्य प्रकृति की है तो सरंचना का प्रारूप कम जटिल होगा। इस प्रकार तकनीकी, संगठन सरंचना को प्रभावित करती है।
- **कर्मचारियों की योग्यता-** संस्था में कार्यरत कर्मचारियों की योग्यता भी संगठन को प्रभावित करती है। अधिकारों के विकेन्द्रीकरण एवं कार्यों का बंटवारा करते समय अधीनस्थ कर्मचारियों की योग्यताओं को भी ध्यान में रखना आवश्यक होता है, जिससे लोग उस सरंचना में स्वयं को उपयुक्त महसूस करें और वे उसके साथ समायोजित हो सकें।
- **उपक्रम का आकार-** संगठन की सरंचना प्रशासन के क्षेत्र पर भी निर्भर करती है। प्रशासन का क्षेत्र बड़ा होने पर विशिष्टीकरण तथा विकेन्द्रीकरण पर ध्यान दिया जा सकता है। क्षेत्र के बड़ा होने पर अधिकारों के केन्द्रीकरण एवं 'आदेश की एकता' को ध्यान में रखा जाता है।
- **प्रशासकीय दृष्टिकोण-** संगठन का कार्य प्रशासक करते हैं, अतः उनका दृष्टिकोण भी संगठन को प्रभावित करता है।
- **वातावरण-** अनेक बड़े संगठन जटिल, गतिशील और अशांतमय वातावरण में काम करते हैं। सरंचनात्मक स्तरों पर प्रत्यक्ष रूप से वातावरणीय कारकों का अनुभव किया जाता है। संगठन की सरंचना राजनैतिक, आर्थिक व सामाजिक वातावरण को दृष्टिगत रखते हुए की जानी चाहिए, क्योंकि वातावरण भी संगठन को प्रभावित करता है। अतः संगठन की सरंचना करते समय बाहरी तथा आन्तरिक दोनों प्रकार के वातावरण का विशेष ध्यान रखना चाहिए।

संगठन की सफलता अथवा असफलता इसके द्वारा प्राप्त परिणामों से ही ज्ञात की जा सकती है। संगठन की सफलता के लिए आवश्यक है कि इसकी रचना कुछ सिद्धान्तों के आधार पर की जाये। जो संगठन के अभीष्ट उद्देश्यों की प्राप्ति में पूर्णतः सक्षम हो संगठन को कुशल व सुदृढ़ बनाने हेतु विभिन्न विद्वानों ने संगठन के सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं।

10.4 संगठन के सिद्धान्त

उत्तरदायित्व, समन्वय, उद्देश्य, विशिष्टीकरण, पदसोपान, अनुरूपता, व्याख्या, विस्तार, नियंत्रण एक सुदृढ़ संगठन में उपरोक्त सभी महत्वपूर्ण सिद्धान्तों का पालन किया जाना उपक्रम के अन्तिम उद्देश्यों को प्राप्त करने में सहायक माना जाता है। इस प्रकार एक प्रभावी संगठन निम्नलिखित प्रकार से एक प्रशासन की सफलता में अपनी भूमिका का निर्वहन करता है-

1. संगठन ऐसा ढ़ाँचा प्रदान करता है, जिससे प्रशासन अपने प्राथमिक व द्वितीयक कार्य प्रभावपूर्ण ढंग से करने में समर्थ होता है। विभिन्न कार्यों को संघटित करके एक कार्यप्रणाली का रूप दिया जाता है। यह कार्य अधिकारियों व उनके अधीनस्थ कर्मचारियों के बीच सुनिश्चित संबंधों के द्वारा, अधिकार प्रत्योजन के द्वारा प्रशासन के कार्मिकों की जिम्मेदारी निश्चित करके किया जाता है।
2. यह प्रशासन से सम्बन्धित कर्मचारियों को पहल करने और रचनात्मक कार्यों के लिये प्रेरित करता है।

3. यह मानवीय संसाधनों, नियमों और उत्तरदायित्वों का अनुकूलतम उपयोग एवं समन्वय सुनिश्चित करता है।
4. यह प्रशासन के कार्यों में प्रगति के अवसर को स्थायित्व प्रदान करता है।
5. उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु संगठन को अति सुविधाजनक बनाया जाता है। इसके लिए उपक्रम के कार्यों का समूहीकरण इस प्रकार किया जाता है जिससे क्रिया, परामर्श तथा समन्वय तीनों सुव्यवस्थित तथा क्रमबद्ध तरीके से सम्पन्न हो सके।
6. संगठन की योजना में कर्तव्यों, उत्तरदायित्वों तथा सम्बन्धों की स्पष्ट व्याख्या होनी चाहिए।
7. एक प्रभावी संगठन में दिया जाने वाला नेतृत्व परम्परागत और प्रभावहीन न होकर गत्यात्मक और प्रभावशाली होना चाहिए।
8. एक आदर्श संगठन के विभिन्न विभागों के बीच प्रभावी संतुलन बनाये रखा जाना चाहिए।

अब तक आपने संगठन की अवधारणा को भली-भाँति समझ लिया होगा। अध्ययन को पूर्णता प्रदान करने के लिये संगठन और प्रशासन में क्या अन्तर है? इसे भी जानना आवश्यक है। इसे समझने का प्रयास करें, सामान्यतः संगठन और प्रशासन को बिल्कुल एक समझ लिया जाता है जो सही नहीं है।

- बिना संगठन के प्रशासन निराधार, निरंकुश हो जाता है तथा इसके अभाव में किसी प्रकार का कार्य सम्भव नहीं हो सकता है। संगठन और प्रशासन के मध्य अन्तर को स्पष्ट करते हुए कहा जा सकता है कि जहाँ निश्चित एवं निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु संगठित क्रियाओं का योग प्रशासन है वहीं व्यक्ति समूह, क्रियाओं आदि की नियोजित व्यवस्था संगठन है।
- दूसरी ओर, प्रशासन को निश्चित एवं निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु माध्यम कहा जा सकता है। जबकि संगठन को प्रशासनिक माध्यम का आधार कहा जा सकता है। इस प्रकार संगठन और प्रशासन को सम्बद्ध तो माना जा सकता है, पर यह कहना उचित होगा कि दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

10.5 संगठन का महत्व

यद्यपि संगठन का अस्तित्व कई युगों पूर्व हो चुका था, किन्तु प्रारम्भिक अवस्था में इसका समाज में कोई महत्व नहीं था। हाँ, आधुनिक युग में इसका महत्व दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है और इसी कारण वर्तमान समाज को संगठनात्मक समाज की संज्ञा दी जा रही है। परिवार को समाज में सबसे पहला संगठन कहा जाता है, उसके बाद समय के साथ-साथ तरह-तरह के संगठन बनते रहे हैं। देश के प्रशासन को चलाने के लिये संगठन अनिवार्य होते हैं। सरकार जब भी कोई नया कार्य हाथ में लेती है तो सरकारी संगठनों की स्थापना की जाती है। संगठन वास्तव में एक ढाँचा है, जिसके जारिए लक्ष्यों की प्राप्त के लिए जनशाक्ति, सामग्री और धन का अनुकूलतम उपयोग एवं समन्वय किया जाता है।

संगठन का उद्देश्य मानवीय तथा भौतिक साधनों पर नियन्त्रण करना है। व्यक्तियों तथा वर्गों के मध्य कार्य-विभाजन तथा विशिष्टीकरण होने के कारण संगठन किसी भी वर्गीय क्रिया का अनिवार्य लक्षण है। जब किसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिये विभिन्न व्यक्ति एक साथ मिलते हैं तो उनके कार्य में किसी न किसी प्रकार का विशेषीकरण अनिवार्य हो जाता है।

श्रम-विभाजन के रूप में की जाने वाली वर्गीय क्रिया के समुचित रूप प्रदान करने के लिये संगठन की स्थापना की जाती है। संगठन किस ढंग से काम करेगा, यह इस बात पर निर्भर करता है कि नीतियाँ और योजनाऐं कैसे बनाई जाती हैं और उन्हें कैसे लागू किया जाता है? संगठन में सर्वोच्च प्रशासक वर्ग नीति निर्धारण करता है। मध्य

प्रशासकीय वर्ग योजनाऐं और कार्यक्रम बनाता है और नीचे के अधिकारी तथा कर्मचारी उन पर वास्तविक क्रियान्यवयन करते हैं।

जबकि हम जानते हैं कि हजारों वर्षों से ही समाज में संगठन मौजूद है, किन्तु समय के साथ-साथ संगठनों का रूप बदलता गया और आज तो अनेक प्रकार के संगठन मौजूद हैं। संगठन में कार्यरत व्यक्तियों की संख्या के आधार पर उन्हें बड़ा या छोटा कहा जा सकता है। एक कर्मचारी वाला संगठन छोटा संगठन है और लाखों कर्मचारियों वाला दूरदर्शन एक बड़ा संगठन है।

संगठन स्वयं में कोई साध्य नहीं है, यह तो मात्र साध्य की प्राप्ति का साधन है। कुशल एवं सुदृढ़ संगठन पर ही प्रभावशाली प्रबन्ध निर्भर करता है। संगठन ही प्रशासन को सफलता की ओर अग्रसर करा सकता है। वास्तव में यदि संगठन को प्रबन्ध की आधारशिला कहा जाये तो कोई अतिश्योक्ति नहीं होगी। यदि संगठन से सम्बन्धित नियोजन में किसी प्रकार का दोष रह जाता है तो प्रबन्ध का कार्य कठिन एवं प्रभावहीन हो जाता है। इसके ठीक विपरीत, एक नियोजित एवं सुदृढ़ संगठन, स्वस्थ्य संगठन की नींव डालता है।

वास्तुतः संगठन में मूलतः उसका ढाँचा, उसमें कार्यरत व्यक्तियों के बीच की कार्यशील व्यवस्था और उनके परस्पर सम्बन्ध शामिल होते हैं। वर्तमान परिवेश में व्यक्ति के जीवन और संगठन के बीच अटूट सम्बन्ध हैं, भले ही संगठन सार्वजानिक हो या निजी। व्यक्तियों के बिना संगठन की और संगठन के बिना व्यक्तियों की कल्पना करना कठिन है। वास्तव में व्यक्ति संगठनों में काम करता है, उनसे लाभ उठाता है और प्रभावित भी होता है। इससे उनकी कार्यकुशलता में वृद्धि होती है तथा अनेक श्रम समस्याओं का समाधान होता है।

कुशल संगठन के अन्तर्गत कार्य को विभिन्न भागों एवं समूहों में बाँटकर कर्मचारियों की योग्यतानुसार उनमें बाँट दिया जाता है। योग्यता एवं रूचि के अनुसार कार्य मिलने पर कर्मचारी उसे अधिक मन लगाकर करता है तथा अधिक वैज्ञनिक ढंग से कार्य के लिये अपने विचार प्रस्तुत करता है, जिससे कार्य निष्पादन सम्भव हो पाता है।

पीटर एफ0 ड्रकर ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि आदर्श संगठन वह है जो सामान्य व्यक्तियों को असामान्य कार्य करने में सहायता करता है। संगठन को कई विभागों, शाखाओं, उप-विभागों आदि में बाँटा जाता है, जिससे उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु संगठन को अत्यन्त सुविधाजनक किया जाता है। इसी क्रम में एल0 डी0 व्हाइट जैसे विद्वान कहते हैं कि आज का व्यक्ति अपने व्यक्तित्व से कम और संगठन से ज्यादा पहचान जा रहा है, क्योंकि आज व्यक्ति ''संगठन मानव'' बन गया है। वास्तव में आज हम व्यक्ति को उसके संगठन के सदस्य के रूप में पहचानते हैं। आज व्यक्ति ही नहीं, बल्कि समाज में भी संगठन की व्यापक पहुँच हो गई है।

किसी भी संगठन की सफलता एवं असफलता इसके द्वारा प्रस्तुत कार्य निष्पादन एवं अन्तिम परिणामों से की जा सकती है। यदि निर्धारित लक्ष्य एवं उद्देश्य प्राप्त होते हैं तो संगठन मजबूत एवं सक्षम है और यदि वे प्राप्त नहीं होते हैं तो उसका तात्पर्य यह है कि संगठन में कहीं त्रुटि एवं कमी रह गयीहै। संगठन के योजना में कर्तव्यों, उत्तरदायित्वों तथा सम्बन्धों की स्पष्ट व्याख्या होनी चाहिये।

प्रत्येक अधिकारी को अपने कार्यक्षेत्र, उसकी सीमाओं, कार्य निर्देशन का क्षेत्र आदि के सम्बन्ध में स्पष्ट जानकारी होनी चाहिये। अतः संगठन में यह भी आवश्यक है कि उसमें विकास एवं विस्तार करना सम्भव हो सके। यही नहीं उनमें परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन की भी व्यवस्था होनी चाहिये। इस प्रकार सफल प्रशासन हेतु सुव्यवस्थित, समन्वयपूर्ण एवं प्रभावी संगठन एक आधारभूत आवश्यकता है। अब यह जानने का प्रयास करें कि प्रशासन क्यों आवश्यक है? इस सन्दर्भ में निम्नलिखित बिन्दुओं को क्रमबद्ध किया जा सकता है -

1. संगठन से प्रशासन में विशिष्टीकरण को बढ़ावा मिलता है। श्रेष्ठ संगठन के अन्तर्गत ही विशेषज्ञों की नियुक्ति की जा सकती है जो प्रशासन के विभिन्न कार्यों से सम्बद्ध किये जाते हैं।

2. आधुनिक युग में प्रत्येक प्रशासन को अपनी क्रियाओं का विकास व विस्तार करना पड़ता है। यह कार्य संगठन द्वारा ही सम्भव होता है।
3. संगठन प्रशासन की विभिन्न क्रियाओं को आनुपतिक एवं सन्तुलित महत्व प्रदान करता है।
4. संगठन सम्बन्धी रचना से विभिन्न विभागों, उपविभागों, स्थितियों, कार्यों तथा क्रियाओं के मध्य समन्वय स्थापित किया जाता है। स्वस्थ संगठन समन्वय को सुविधाजनक बनाता है, जिससे मानवीय प्रसाधनों का श्रेष्ठतम उपयोग सम्भव हो जाता है।
5. स्वस्थ संगठन भ्रष्टाचार को रोकता है, जिससे कर्मचारियों का मनोबल ऊँचा उठता है।
6. संगठन द्वारा कार्यभार, अधिकार, दायित्व तथा विभागीय प्रयासों में सन्तुलन की स्थापना की जाती है। परिणामतः कर्मचारियों में सहयोग व सहभागिता की भावना पनपती है।
7. एक श्रेष्ठ संगठन में अधिकारों का प्रत्यायोजन अत्यन्त सुव्यवस्थित ढंग से किया जा सकता है।
8. संगठन किसी उपक्रम के विकास एवं विस्तार में पर्याप्त सहायता प्रदान करता है।
9. एक प्रभावी संगठन नवीन शोध एवं अनुसंधानों के कारण विकसित हुए तकनीकी सुधारों का नवीनतम उपयोग किया जाना सम्भव बनाते हैं।
10. श्रेष्ठ संगठन संरचना से पूर्वनिश्चित सम्बन्धों के कारण सन्देशों का सुव्यवस्थित आदान-प्रदान कर संचार को प्रभावी बनाता है।

10.6 संगठन के प्रकार

संगठन की प्रकृति, उद्देश्य निर्माण पद्धति, कार्य एवं अन्य आधार तत्वों को ध्यान में रखते हुए, विद्वान प्रायः इसे दो भागों में विभाजित करते हैं- औपचारिक संगठन और अनौपचारिक संगठन।

10.6.1 औपचारिक संगठन

जब किसी संगठन में कार्य करने वाले को कार्य-क्षेत्र तथा उनकी स्थिति को निश्चित करके कर्तव्यों, अधिकारों, दायित्वों व पारस्परिक सम्बन्धों की स्पष्ट व्याख्या कर दी जाये तो सम्बन्धों के ऐसे स्वरूप को ''औपचारिक संगठन'' की संज्ञा जाती है। अतः औपचारिक संगठन में अमूर्त और बहुत कुछ स्थाई नियमों का समावेश होता है। जो प्रत्येक सहभागी के व्यवहार को प्रभावित करते हैं। ऐसे संगठन में प्रत्येक व्यक्ति को एक निश्चित विधि से नियमों का पालन करते हुए कार्य करना पड़ता है।

दूसरे शब्दों में, व्यवस्थित व नियोजित ढंग से निर्मित संगठन जिसमें स्थिति, अधिकार एवं उत्तरदायित्वों की स्पष्टता होती है, औपचारिक कहा जाता है। यहाँ अधिकार उच्च से निम्न स्तर को प्रदान होता है और पूरे संगठन की सरंचना संस्था के उद्देश्यों को पाने का समन्वित प्रयास करती है। इस संबंध में विभिन्न विद्वानों ने निम्नलिखित ढंग से अपने विचारों को प्रकट किया है। आइऐ इन्हें विश्लेषित करनें का प्रयास करें-

बर्नार्ड के अनुसार, ''जब दो या दो से अधिक व्यक्तियों की क्रियाएँ एक दिए हुए उद्देश्य की तरफ समन्वित की जाती है, तब औपचारिक संगठन का निर्माण होता है। दूसरे शब्दों में औपचारिक संगठन के अन्दर सम्मिलित कार्यविधि नीतियाँ तथा नियम यह दर्शाते हैं कि किसी के कार्य को प्रभावी एवं सुव्यवस्थित ढंग से पूरा करने के लिए एक व्यक्ति का दूसरे के साथ क्या सम्बन्ध होगा? यह मानवीय संगठन तथा तकनीकी पक्षों के बीच अपेक्षित सम्बन्धों को निर्धारित करता है।

साइमन, स्मिथबर्ग तथा थॉम्पसन के अनुसार, ''औपचारिक संगठन वह है, जिसमें व्यवहार तथा सम्बन्धों को जानबूझकर औचित्य के आधार पर संगठन के सदस्योंके लिए योजनाबद्ध कर दिया जाता है।''

न्यूमैन के अनुसार, ''जब किसी संगठन के दो या दो से अधिक व्यक्तियों की क्रियाओं को किसी निश्चित लक्ष्य की प्राप्ति के लिए चेतनापूर्वक सम्बन्धित किया जाता है, तो ऐसा संगठन औपचारिक संगठन कहलाता है।''

रैले के अनुसार, ''औपचारिक संगठन से तात्पर्य मानवीय अन्तर-सम्बन्धों के ढंग से है, जिसकी व्याख्या प्रभावित नियमों तथा अर्थव्यवस्था के संबंधों द्वारा की जाती है।''

एलन के अनुसार, औपचारिक संगठन सीमाएँ, दिशा-निर्देश और नियम बनाते हैं, जिनका पालन करना आवश्यक होता है। वे ऐसा बुनियादी ढाँचा सुलभ कराते हैं, जिसके जारिए सरकार या कोई और उद्यम कार्य करता है।''

उपरोक्त परिभाषाओं के विश्लेषण के पश्चात यह कहा जा सकता है कि संगठन का विकास करते समय विद्वानों ने औपचारिक संगठन की भूमिका पर भी गहराई से अध्ययन किया है। वस्तुतः औपचारिक संगठन पूर्व नियोजित रणनीति के अनुसार सोच-समझ कर बनाये जाते हैं, जिन्हें उच्च अधिकरियों की सहमति प्राप्त होती है। इसे एक उदाहरण द्वारा आरेख के माध्यम से प्रदर्शित करें-

खाद्य और कृषि विभाग
↓
मंत्री
↓
प्रमुख सचिव
↓
सचिव
↓
संयुक्त सचिव
↓
उप सचिव
↓
सहायक/अवर सचिव
↓
अनुभाग अधिकारी/अधीक्षक
↓
वरिष्ठ सहायक
↓
कनिष्ठ सहायता
↓
कनिष्ठ सहायक

उपरोक्त आरेख उत्तराखण्ड सरकार के उच्च शिक्षा मंत्रालय के संगठनात्मक संरचना को पदसोपान के सिद्धान्तानुसार प्रदर्शित करता है। इसमें शीर्ष पर मंत्री जी तथा निम्न स्थिति पर कनिष्ठ सहायकगण होते हैं। यह एक आदर्श स्थिति है, जिसमें परिवर्तन सम्भव होता है। अब तक के विश्लेषणोरान्त हम औपचारिक संगठन की निम्नलिखित विशेषताओं को निरूपित कर सकते हैं। इन्हें क्रमवार समझने का प्रयास करें-

- औपचारिक संगठन की प्रकृति अवैयक्तिक होती है।

- इसका निर्माण पूर्व निर्धारित, पूर्व नियोजित होता है।
- औपचारिक संगठन की स्थापना स्वेच्छा से उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु किया जाता है।
- इसमें 'आदेश की एकता' का पालन होता है।
- इनमें सभी स्तरों पर स्थिति, अधिकार एवं उत्तरदायित्वों को परिभाषित करके उनकी व्याख्या की जाती है। दूसरे शब्दों में, इसमें प्रत्येक अधिकारी के अधिकार, कर्तव्यों एवं उत्तरदायित्वों की स्पष्ट व्याख्या की जाती है और उनकी सीमाएं निर्धारित कर दी जाती हैं।
- अधिकार एवं दायित्वों की स्पष्ट व्याख्या में चार्ट एवं मैन्युअल का प्रयोग किया जाता है।
- यह पूर्णतः श्रम विभाजन के सिद्धान्त पर आधारित होता है।
- इसमें सभी व्यक्ति आपस में मिलकर कार्य करते हैं।
- यह प्रदत्त विधायन सिद्धान्त पर आधारित होता है।

जैसा कि हम जानते हैं कि जब प्रशासनिक संगठन में काम करने वाले व्यक्तियों के कार्य-क्षेत्र तथा उनकी स्थिति को निश्चित करके उनके अधिकारों, दायित्वों व पारस्परिक सम्बन्धों की स्पष्ट व्याख्या कर दी जाय तो संगठन औपचारिक प्रकृति का हो जाता है। विचार को रोकने औपचारिक संगठन को पुनः विभिन्न प्रकारों में विभाजित किया है। इसे आरेख के माध्यम से प्रदर्शित कर समझने का प्रयास करें-

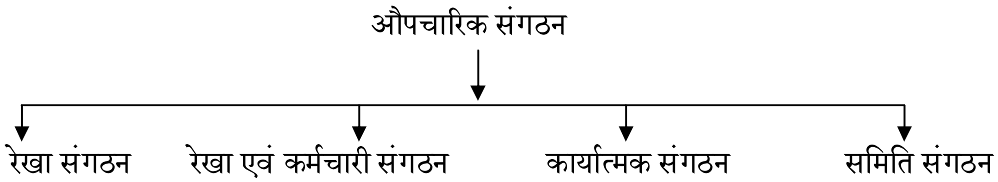

- रेखा संगठन और औपचारिक संगठन का प्रथम भेद जिसमें प्रत्यक्ष शीर्ष रेखा सम्बन्ध होता है, यह प्रत्येक स्तर की स्थिति एवं कार्यों से ऊपर तथा नीचे के स्तर से सम्बन्ध स्थापित करता है।
- रेखा संगठन और कर्मचारी संगठन के इस भेद के सन्दर्भ में लुईस ए0 एलन के अनुसार, रेखा से तात्पर्य संस्था के उन पदों तथा तत्वों से है, जो संगठन के उद्देश्यों को पूर्ण करने हेतु उत्तरदायी होते हैं। सहायक का आशय उन पदों तथा तत्वों से है जो लाइन अधिकारी को अपने उद्देश्यों को पूरा करने हेतु आवश्यक परामर्श व सहायता उपलब्ध करते हैं।
- कार्यात्मक संगठन में प्रशासन का नियंत्रण इस प्रकार होता है कि प्र्त्येक व्यक्ति को कम कार्य करना पड़े। अतः उसका कार्य छोटे-छोटे उप-कार्यों में विभाजित कर दिया जाता है।
- सीमित संगठन, इस प्रकार के संगठन में संगठन के कार्यों को विभिन्न विभागों में विभक्त कर दिया जाता है, परन्तु किसी भी विभागाध्यक्ष को परामर्श के बिना निर्णय लेने का अधिकार नहीं होता है। सभी विभागाध्यक्षों की समिति का प्रधान महाप्रबन्धक कहलाता है।

इस प्रकार औपचारिक संगठन उपरोक्त के माध्यम से प्रशासकीय कार्यों को उनके अन्तिम स्वरूप तक पहुँचता है। अतः औपचारिक संगठन को लाभप्रद संगठन माना जाता है। हेन्स तथा मेसी ने इसके कई लाभों को क्रमबद्ध किया है। इनमें से कुछ को समझने का प्रयास करते हैं-

- इसके अन्दर किसी कार्य की पुनरावृत्ति सम्भव नहीं होती है।

- इसमें उत्तरदायित्व में अन्तर बहुत कम होता है।
- इसमें कार्यो के सम्पादन में टाल-मटोल की सम्भावना बहुत कम होती है।
- इसके अन्दर सुरक्षा की भावना प्रधान होती है।
- इसके द्वारा उद्देश्यों की प्राप्ति सुविधाजनक होती है।
- इसमें पक्षपात के अवसर पूर्णतः समाप्त हो जाते हैं।

जिस प्रकार एक सिक्के के दो पहलू होते हैं, ठीक उसी प्रकार एक ओर तो औपचारिक संगठन के अनगिनत लाभ हैं, किन्तु इसके दोषों की भी गिनती कम नहीं है। इसके प्रमुख दोषों में निम्नलिखित को सम्मिलित किया जा सकता है-

- इस संगठन में समन्वय की समस्या सदैव उपस्थित रहती है।
- इसके द्वारा पहल करने की शक्ति समाप्त हो जाती है। कार्य एक-दूसरे को स्थानान्तरित करने का प्रयास किया जाता है।
- प्रायः अधिकारी अपने अधिकारों का प्रयोग अपने फायदे के लिए करते हैं, जिससे भ्रष्टाचार को बढ़ावा मिलता है।
- यन्त्रवत होने के कारण ऐसे संगठन में मनुष्य से ज्यादा नियम और नीति प्रधान होते हैं।

इस प्रकार औपचारिक संगठन लाभ और हानि के वातावरण में नीचे से ऊपर की ओर या ऊपर से नीचे की ओर एक व्यवस्थित क्रम में व्यवस्थित रहते हैं, जिसे पदसोपानिक व्यवस्थित क्रम कहा जाता है। इस तथ्य का भी स्मरण रखना चाहिए कि औपचारिक संगठन बहुत से छोटे-छोटे संगठनों से मिलकर निर्मित होता है। बिना छोटे संगठनों को आत्मसात किये बड़ा संगठन बनना असम्भव होता है।

वस्तुतः औपचारिक संगठन के अन्तर्गत वे सभी उप-संगठन आते हैं। जिनके सभी अवयव, लाइन एवं स्टाफ के आधार पर पदसोपनिक क्रम में व्यवस्थित होते हैं, तथा जिसमें काफी तादाद में कर्मचारियों को रोजगार प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त औपचारिक संगठन संवैधानिक कानून से जकड़े हुए होते हैं, जिनके उल्लंघन पर कठोर दंण्ड का प्रावधान होता है।

10.6.2 अनौपचारिक संगठन

संगठन के अनौपचारिक विचार के मुख्य प्रवर्तक एल्टन मेयो है, जिन्होंने 'वेस्टर्न इलेक्ट्रानिक कम्पनी' के हाथोर्न संयन्त्र के विषय में कुछ प्रयोगों के बाद पाया कि कुछ व्यक्तियों के अधिक समय तक एक साथ मिलकर कार्य करने के कारण उनमें औपचारिक सम्बन्ध से विपरीत सम्बन्ध विकसित हो गये हैं। जिसे उन्होंने अनौपचारिक संगठन कह कर सम्बोधित किया।

अनौपचारिक संगठन उस संगठन को कहते हैं, जिनका निर्माण व्यवस्थित एवं नियोजित रूप में नहीं होता है, बल्कि इसका निर्माण स्वयं में हो जाता है। इन्हें सामाजिक मनोवैज्ञानिक संगठन भी कहा जाता है।

दूसरे शब्दों में यदि कर्मचारियों के पारस्परिक सम्बन्धों को स्पष्ट करने के लिय किसी प्रकार की औपचारिकता नहीं बरती जाये, तो उसे अनौपचारिक संगठन कहा जायेगा। एक संगठन उस दशा में अनौपचारिक कहा जाता है, जबकि अन्तर व्यैक्तिक सम्बन्धों की स्थापना संयुक्त उद्देश्यों के लिए अनजाने में ही विकसित हो जाती है। अतः अनौपचारिक संगठन ऐसी प्रक्रिया है, जिसमें व्यक्ति निरन्तर एक-दूसरे से अन्त: सम्पर्क करते हैं।

अनौपचारिक संगठनों को अक्सर प्रतिरूप संगठन और औपचारिक संगठनों का 'छाया संगठन' माना जाता है। उनकी कोई स्पष्ट परिभाषा नहीं है और ऐसा करना बहुत कठिन भी है। उसके कोई निश्चित संगठनात्मक लक्ष्य भी

नहीं होते। सदस्यों के परस्पर सम्बन्ध भी निश्चित नहीं होते। स्वतः स्फूर्त, गैर-सरकारी और आकारहीन सम्बन्धों से अनुकूल भावनाऐं उत्पन्न होती हैं, जिनसें परस्पर सम्पर्क बढ़ता है और जान-पहचान के बंधन मजबूत होते हैं। लक्ष्यों के अभाव और आकारहीन सम्बन्धों के कारण अनौपचारिक संगठनों में औपचारिक व्यवस्था के कानून-कायदों का आभाव पाया जाता है। विभिन्न विचारकों ने इस सम्बन्ध में अनेक मत प्रस्तुत किये हैं। जिनमें से कुछ महत्वपूर्ण विचार निम्नलिखित हैं-

1. बर्नार्ड के मतानुसार, एक संगठन, उस समय अनौपचारिक माना जाता है, जब अर्न्तवैयक्तिक सम्बन्धों का समूह संयुक्त उद्देश्य के लिए अनजाने में स्थापित हो जाता है।
2. प्रो0 डेविस के मतानुसार, अनौपचारिक संगठन ऐसे व्यक्तिगत तथा सामाजिक सम्बन्धों का जाल है, जिसकी स्थापना औपचारिक संगठन द्वारा नहीं की जाती है।
3. साइमन के मतानुसार, अनौपचारिक संगठन का अर्थ संगठन में अर्न्तवैयक्तिक सम्बन्धों का होना है, जो उसके अन्दरूनी फैसलों को प्रभावित करते हैं।
4. एल0 डी0 व्हाइट के मतानुसार, अनौपचारिक संगठन ऐसे कार्यात्मक सम्बन्ध है, जो लम्बे समय तक एक साथ कार्य करने वाले लोगों की आपसी अन्तः क्रियाओं के परिणामस्वरूप विकसित होते हैं।

उपरोक्त मतों के सुव्यवस्थित विश्लेषण के अनुसार हम अनौपचारिक संगठन की निम्नलिखित विशेषताओं का निरूपण कर क्रमबद्ध अध्ययन कर सकते हैं-

- अनौपचारिक संगठन का निर्माण स्वतः होता है। प्रायः इनका निर्माण निजी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु किया जाता है।
- अनौपचारिक संगठन, औपचारिक संगठन का पूरक होता है।
- इसका विकास आपसी सम्बन्धों, रीति-रिवाजों और सामूहिक समूहों के द्वारा होता है। इसके नियम एवं पद्धतियां अलिखित होती हैं।
- अनौपचारिक संगठन को चार्ट या मैन्युअल के द्वारा प्रदर्शित नहीं किया जाता है।
- ये सामाजिक संगठन होते हैं। इसमें मनुष्य की इच्छा, आकांक्षा, पसन्द और नापसन्द का पूर्व ध्यान रखा जाता है, क्योंकि यह मान्यता है कि संगठन निर्माण में मनुष्य की सशक्त भूमिका होती है, जिससे सामाजिक संतुष्टि मिलती है।
- यह सम्पूर्ण संगठन का एक आंतरिक भाग होता है।
- यह प्रबन्ध के सभी स्तरों पर पाया जाता है।
- यह पदों की क्रमता से पूर्ण रूप से मुक्त होता है।

अभी तक हम औपचारिक तथा अनौपचारिक दोनों प्रकार के संगठन का विस्तार से अध्ययन कर चुके हैं किन्तु यह अध्ययन तब तक पूर्ण नहीं होता जब तक इनके मध्य अन्तरों को आत्मसात न कर लिया जाये।

अभ्यास प्रश्न-

1. 'संगठन' शब्द का वास्तविक अर्थ क्या है?
2. किस विद्वान के अनुसार 'संगठन, विशिष्ट उद्देश्यों की प्रप्ति के लिये स्वेच्छा से निर्मित मानवीय समूह हैं।'
3. किस विद्वान के अनुसार 'संगठन, कर्मचारियों और उनके कार्यों में एकीकरण व सामंजस्य स्थापित करने की क्रिया है।'
4. औपचारिक संगठन के कितने उप-भाग होते हैं?

5. किस विद्वान के अनुसार 'अनौपचारिक संगठन ऐसे व्यक्तिगत तथा सामाजिक सम्बन्धों का जाल है, जिसकी स्थापना औपचारिक संगठन द्वारा नहीं की जाती है।'

10.7 सारांश

लोक प्रशासन विषय के अन्तर्गत संगठन को सम्भवतः सर्वाधिक महत्वपूर्ण व गम्भीर अवधारणा के रूप में पहचाना जाता है, क्योंकि संगठन की अवधारणा को स्पष्ट रूप से समझने के पश्चात ही लोक प्रशासन के अन्य सिद्धान्तों तथा अवधारणाओं को आत्मसात किया जा सकता है।

आधुनिक युग में संगठन प्रशासन का एक आवश्यक कार्य बन गया है क्योंकि इसके बिना निर्धारित लक्ष्यों को पाना असम्भव है। प्रशासन की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि संगठन में काम करने वाले व्यक्ति मिल-जुलकर उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए कार्य करें। संगठन को क्रमशः दो भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है, यथा-औपचारिक तथा अनौपचारिक।

10.8 शब्दावली

अधिकार- आदेश देने की शक्ति तथा यह निश्चित कर लेना कि इन आदेशों का पालन किया जा रहा है।

केन्द्रीकरण- वह बिंदु अथवा स्तर जहाँ सभी निर्णय लेने वाले अधिकार केन्द्रित रहते हैं।

नियंत्रण- अधीनस्थों के कार्यों का मापन तथा सुधार जिससे यह आश्वस्त हो सके कि कार्य नियोजन के अनुसार किया गया है।

प्रशासन- नियमों तथा कानूनों के अन्तर्गत प्रकार्यों को सुनिश्चित करने वाली संस्था।

पदसोपान- संगठन में उच्चतम शिखर से निम्नतम तथा निम्नतम से उच्चतम शिखर तक पदों, कर्तव्यों तथा अधिकारों की व्यवस्था।

समन्वयात्मक- कार्य विशेष/संगठन से सम्बन्धित समस्त तत्वों के मध्य सामन्जस्य, जिससे पूर्व निर्धारित उद्देश्यों को प्राप्त किया जा सके।

10.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. व्यवस्थित संरचना, **2.** इटजियोनि, **3.** मिलबर्ड, **4.** चार, **5.** प्रो0 डेविस

10.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. Arora, Ramesh k, 1972 Comparative Public Administration: An Ecological Approach: Adociate Publishing House: New Delhi.
2. Bhattacharya, Mohit, 1987 Publi Administration "The World Press Private Ltd: Calcutta.
3. Prasad, Ravindra D. Etc. al 9eds.) 1989 Administrative thinkers: Sterling Publishers : New Delhi.

10.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. Riggs, Fres W., 1961. The Ecolgy of Public Administration: Asia Publishing House : New Delhi.
2. चतुर्वेदी, त्रिलोक नाथ, 1989 तुलनात्मक लोक प्रशासन, रिसर्च पब्लिकेशन, नई दिल्ली।
3. Gulick L. and Urwick L. (rds.) 1937 Papers on Science of Administeation ; The Institute of Public Adminisration ; Columbia Unviersity : New York

10.12 निबंधात्मक प्रश्न

1. भारत में संगठन विकास के विभिन्न कालक्रमों को विस्तार से समझाइये।
2. क्या संगठन को सुव्यवस्थित रूप से चलाने के लिये सिद्धान्तों की आवश्यकता है? इसके विभिन्न सिद्धान्तों को अपने शब्दों में समझाइये।
3. संगठन का सर्वप्रथम उद्देश्य क्या होना चाहिए?
4. औपचारिक संगठन तथा अनौपचारिक संगठनों के मध्य अन्तर को समझाइये।
5. औपचारिक संगठन के विभिन्न उपसंगठनों को समझाते हुए उनके महत्व को रेखांकित करिये।

इकाई-11 संगठन की विचारधाराऐं

इकाई की संरचना

11.0 प्रस्तावना
11.1 उद्देश्य
11.2 शास्त्रीय विचारधारा
11.2.1 हेनरी फेयोल का योगदान
11.2.2 मेरी पार्कर फॉलेट का योगदान
11.2.3 लूथर गुलिक का योगदान
11.2.4 लिण्डाक उर्विक का योगदान
11.3 मानव सम्बन्धी विचारधारा
11.3.1 एल्टन मेयो का योगदान
11.3.2 डगलस मैग्रेगर का योगदान
11.4 व्यवस्था सम्बन्धी विचारधारा
11.5 सारांश
11.6 शब्दावली
11.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
11.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
11.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
11.10 निबंधात्मक प्रश्न

11.0 प्रस्तावना

पिछली इकाई में आपने संगठन सम्बन्धी विभिन्न अवधारणाओं तथा परिभाषाओं को विस्तार से समझा। संगठन को समग्र रूप से समझने के लिये सिद्धान्तों की आवश्यकता होती है और सिद्धान्तों का वर्णन विचारधाराओं की अभिव्यक्ति से होता है। इन विभिन्न सिद्धान्तों और विचारधाओं का सम्बन्ध संगठन की संरचना तथा इसके विभिन्न कार्यों से होता है। जिसे विभिन्न प्रकार के कर्मचारी सम्पादित करते हैं।

वास्तव में विचारधाएं विद्वानों के अवधारणात्मक अनुभवों तथा प्रशासनिक परिथितियों के निरीक्षण से पैदा हुए विश्लेषणात्मक ज्ञान का परिणाम होता है। वैसे यह तुलनात्मक अध्ययनों से भी प्राप्त किये जा सकते हैं। प्रशासनिक विचारकों के अनुसार हमें सदैव उन विचारधाराओं को ही क्रियात्मक रूप में परिणित करनी चाहिए, जो तथ्यों पर आधारित हो। जिससे समयानुसार उसे परिणामों की कसौटी पर रखा जा सके। इनका सुव्यवस्थित, सुसंगत तथा तार्कित होना भी सफलता का प्रतीक होता है। इस इकाई के अन्तर्गत हम संगठन की तीन प्रमुख विचारधाराओं को विश्लेषित करने का प्रयास करेंगे- 1.शास्त्रीय विचारधारा, 2.मानव सम्बन्धी विचाराधारा, 3.व्यवस्था सम्बन्धी विचाराधारा।

11.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- संगठन सम्बन्धी शास्त्रीय विचारकों के बहुमूल्य विचारों का विश्लेषण कर सकेंगे।
- संगठन की मानव सम्बन्धी विभिन्न विचारधाराओं को समझ सकेंगे।

- संगठन से जुड़ी व्यवस्था सम्बन्धी विचारधारा को आत्मसात कर सकेंगे।

11.2 शास्त्रीय विचारधारा

लोक प्रशासन को समग्र रूप से समझने के लिए प्रशासनिक सिद्धान्त की आवश्यकता होती है। प्रशासनिक सिद्धान्त का सम्बन्ध प्रशासनिक संरचना तथा सरकार के कार्यों से होता है। इसके अर्थ को स्पष्ट करते हुए विलोबी ने लिखा है कि ''प्रशासनिक सिद्धान्त, प्रशासकों के अवधारणात्मक अनुभवों तथा प्रशासनिक परिस्थितियों के निरीक्षण से पैदा हुई विचारधाराओं पर आधारित होती है।''

संगठन सम्बन्धी सर्वाधिक प्राचीन विचारधाराओं को ही शास्त्रीय विचारधारा की संज्ञा दी जाती है। इसे यांत्रिक दृष्टिकोण भी कहा जाता है, यह संगठन का पुराना दृष्टिकोण है, इसलिए इसे परम्परागत दृष्टिकोण पर आधारित सिद्धान्त भी कहा जाता है। इस विचारधारा के प्रबल समर्थकों में हेनरी फेयोल, उर्विक, फालेट तथा लूथर गुलिक आदि विचारकों को रखा जाता है।

शास्त्रीय विचारकों ने गम्भीरतापूर्वक उन आधारों की खोज का प्रयत्न किया है, जिनके अनुसार संगठन में कार्य विभाजन, कार्यों के समन्वयन, इनकी सुव्यवस्थित परिभाषा, कर्मचारियों पर नियंत्रण, आदि के सन्दर्भ में अपने विचारों को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। इस विचारधारा के समर्थकों का मानना है कि संगठन के किसी कार्य को सम्पादित करने से पूर्व उसके कार्यों की रूपरेखा या ढाँचा तैयार कर लेना चाहिए।

सभी ने एक स्वर में कहा कि प्रशासन, प्रशासन होता है, चाहे उसके द्वारा किसी प्रकार के कार्य किसी परिप्रेक्ष्य में क्यों न सम्पादित किया जाए। प्रशासन बिना सुव्यवस्थित संगठनात्मक संरचना के नहीं कियाजा सकता है।

वस्तुतः इस विचारधारा में मनुष्यों की अपेक्षा कार्यों पर अधिक ध्यान दिया जाता है। यह दृष्टिकोण अवैयक्तिक है, जिसमें दक्षता पर अत्यधिक बल दिया जाता है। इस अवधारणा का मुख्य लक्षण है- अवैयक्तिकता, कार्य-विभाजन, पदसोपान एवं दक्षता। इस विचारधारा से जुड़े प्रमुख विद्वानों की विचारधाराओं को विस्तार से समझने का प्रयास करें-

11.2.1 हेनरी फेयोल का योगदान

हेनरी फेयोल का जन्म फ्रांस में 1841 में हुआ था। फेयोल ने 19 वर्ष की आयु में खनिज अभियन्ता की विशेष योग्यता प्राप्त करने के बाद 1860 में फ्रान्स की एक कोयला खान में इंजीनियर पद पर कार्य प्रारम्भ किया। हेनरी फयोल ने कई पुस्तकों की रचना की। इनकी अधिकांश पुस्तकें फ्रेंच भाषा में थी। इनकी सर्वाधिक महत्वपूर्ण पुस्तक ''जनरल एण्ड इंडस्ट्रियल मैनजमेंट'' है, जिसमें इनके विचारों की अभिव्यक्ति मिलती है, जो मूल रूप से सन् 1919 में फ्रेंच भाषा और सन् 1929 में अंग्रेजी में प्रकाशित हुई। इन्हें प्रशासन एवं 'प्रबन्ध के सिद्वान्तों के जनक' के नाम से जाना जाता है।

फेयोल पहले ऐसे व्यक्ति थे, जिन्होंने कहा था कि प्रशासनिक कार्य अन्य कार्यों की अपेक्षा बिल्कुल अलग है। अतः प्रशासक वही हो सकता है, जिसमें कुछ विशेष प्रतिभा हो। फेयोल के विचारानुसार प्रत्येक क्रिया-समूह के साथ एक विशेष क्रिया रहती है। ऐसी योग्यता को तकनीकी योग्यता के नाम में सम्मिलित किया जा सकता है। फेयोल ने प्रबन्ध के स्थान पर प्रशासन शब्द का प्रयोग किया है और उन्होंने इसके पाँच तत्व बताये हैं जो क्रमशः भविष्यवाणी, नियोजन, संगठन, समन्वय, आदर्श एंव नियंत्रण हैं। संगठन के सफल संचालन के लिये आपने निम्नलिखित 14 सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। इन्हें क्रमशः इन्हें समझने का प्रयास करें-

1. **कार्य-विभाजन का सिद्धान्त-** इस सिद्धान्त के अनुसार उद्देश्य प्राप्ति हेतु कर्मचारियों में उनकी योग्यता और कुशलतानुसार कार्य का विभाजन सुनिश्चित किया जाना चाहिए। इससे उत्पादकता बढ़ती है और तकनीकी तथा प्रशासकीय कार्य निष्पादन का स्तर ऊँचा होता है।

2. **अधिकार एवं दायित्व-** यदि किसी व्यक्ति को कोई कार्य करने का दायित्व सौंपा जाए तो कार्य के सुव्यवस्थित निष्पादन हेतु आवश्यक अधिकार भी दिये जाने चाहिए। बिना अधिकार के कोई भी व्यक्ति कुशलतापूर्वक अपने कर्तव्यों का निर्वाह सुनिश्चित नहीं कर सकता।
3. **अनुशासन-** फेयोल के अनुसार अनुशासन से अभिप्राय संगठन के नियमों के प्रति आस्था, आज्ञाकारिता तथा श्रद्धा से है। कर्मनिष्ठा तथा आदेश का पालन करना ही अनुशासन है। अनुशासन प्रशासकों के व्यक्तिव पर निर्भर करता है। इसके अभाव में कोई भी संगठन समृद्ध नहीं हो सकता। अनुशासन बनाये रखने के लिए अच्छा पर्यवेक्षण, अनुशासन के नियमों की स्पष्टता, पुरस्कार तथा दण्ड की व्यवस्था का होना आवश्यक है।
4. **आदेश की एकता-** संगठन में एक व्यक्ति, एक अधिकारी के सिद्धान्त का पालन होना चाहिए। इससे यह लाभ होता है कि कर्मचारी एक ही अधिकारी के प्रति उत्तरदायी होता है तथा निर्देशों में स्पष्टता रहती है।
5. **निर्देशन की एकता-** इस सिद्धान्त के अनुसार यदि संगठन का उद्देश्य एक है तो प्रबन्धक को सभी क्रियाओं के लिए एक ही निर्देशों का पालन करना चाहिए। यह सिद्धान्त कार्य में एकरूपता लाने, समन्वय तथा प्रयासों पर उचित ध्यान देने के लिए अत्यन्त आवश्यक है।
6. **उचित पारिश्रमिक-** हेनरी फेयोल के मतानुसार, कर्मचारियों की पारिश्रमिक दर तथा भुगतान की विधि उचित व सन्तोषप्रद होनी चाहिए। उन्होंने संगठन में कर्मचारियों को प्रोत्साहन देने के लिए गैर-वित्तीय प्रेरणाएं अपनाने पर भी बल दिया है।
7. **सामुदायिक हितों के लिए व्यक्तिगत हितों का समर्पण-** सदस्यों के व्यक्तिगत हितों तथा संकीर्ण विचारों को संगठन के सामूहिक हितों पर सदैव प्राथमिकता दी जानी चाहिए। यद्यपि कुशल प्रशासकों को सामान्य एवं व्यक्तिगत हितों में समन्वय रखना चाहिए, परन्तु यदि दोनों में संघर्ष हो जाये तो व्यक्तिगत हितों की अपेक्षा सामुदायिक हितों को प्राथमिकता देनी चाहिए।
8. **पदाधिकारी सम्पर्क श्रृंखला-** 'पदाधिकारी सम्पर्क श्रृंखला' का तात्पर्य सर्वोच्च पदाधिकारी से लेकर निम्नतम पदाधिकारी के बीच सम्पर्क की व्यवस्था के क्रम से है। वरिष्ठ एवं अधीनस्थ के मध्य सम्बन्धों की स्पष्ट श्रृंखला निर्धारित होनी चाहिए और श्रृंखला का उल्लंघन नहीं किया जाना चाहिए।
9. **केन्द्रीकरण-** संगठन के प्रशासन में केन्द्रीकरण को अपनाया जाए या विकेन्द्रीकरण को, इसका निर्णय संस्था के हितों, कर्मचारियों की मनोभावनाओं तथा कार्य-प्रकृति आदि सभी बातों का ध्यान रख कर किया जाना चाहिए।
10. **व्यवस्था-** प्रत्येक वस्तु, यन्त्र तथा कर्मचारियों के लिए एक नियत स्थान व्यवस्थित क्रम में होना चाहिए।
11. **समता-** कार्य करने में लगे सभी कर्मचारियों के साथ उचित व्यवहार करने को समता कहा जाता है। समता का आशय कर्मचारियों के प्रति न्यायोचित तथा उदारता का भाव रखने से है। अर्थात समता, न्याय तथा दया का मिश्रण है। कर्मचारियों के साथ समानता का व्यवहार करने से कर्मचारियों में कार्य के प्रति लगन तथा संस्था के प्रति सम्मान पैदा होती है।
12. **स्थायित्व-** जहाँ तक सम्भव हो सके कर्मचारियों के कार्यकाल में स्थायित्व होना चाहिए, जिससे वे निश्चित होकर समर्पण से कार्य कर सकें। कर्मचारियों द्वारा जल्दी-जल्दी संस्था को छोड़कर चले जाना भी प्रायः कुप्रबन्ध न का ही परिणाम होता है। किसी कर्मचारी को नए कार्य को सीखने तथा कुशलतापूर्वक उसका निर्वहन करने में समय लगना स्वाभाविक है। अतः यदि उसे काम सीखने का समुचित समय न दिया जाय तो यह न्याय न होगा।

13. **पहल क्षमता-** पहल क्षमता से अभिप्राय किसी योजना को सोचने, प्रस्तावित करने और उसके क्रियान्यवयन की स्वतन्त्रता से है। प्रत्येक प्रबन्धक को अपने अधीन काम करने वाले व्यक्तियों में पहल की भावना को जाग्रत करना चाहिए। अधीनस्थ कर्मचारियों के अच्छे सुझाव एवं योजनाओं को क्रियान्वित करने की सराहना की जानी चाहिए। इससे कर्मचारी को बल मिलेगा, सीखने का अवसर प्राप्त होगा और उनमें उत्तरदायत्वि की भावना का विकास होगा।
14. **सहकारिता एवं संघ शक्ति की भावना-** संगठन की शक्ति उसकी एकता, सहयोग और एकसूत्र में बंधे रहने में ही है। यदि सभी एक सूत्र में बंधकर कार्य नहीं करेंगे तो संगठन शीघ्र ही बिखर जायेगा और सामान्य उद्देश्यों की उपलब्धि सम्भव नहीं होगी। इसके लिए आदेश में एकता, सहयोग तथा संघीय शक्ति की ताकत में अटूट विश्वास आवश्यक है।

फेयोल को प्रशासनिक प्रबन्ध के क्षेत्र का एक महान विद्वान माना जाता है। उसके विचारों से प्रशासनिक सिद्धान्त के विकास हेतु मार्ग निर्धारण हुआ, नियोजन कार्य को महत्व दिया, अधिकार अन्त:करण की महत्वपूर्ण समस्या पर जोर डाला और स्पष्ट किया कि संगठन के सिद्धान्त सर्वव्यापी हैं जो प्रशासन के प्रत्येक क्षेत्र में लागू हो सकते हैं। इस प्रकार फेयोल के विचारों से पूर्ण रूप से स्पष्ट है कि ''आधुनिक प्रशासनिक संगठन के वास्तविक पिता हेनरी फेयोल ही है।''

11.2.2 मेरी पार्कर फॉलेट का योगदान

एम0 पी0 फोलेट एक प्रसिद्ध सामाजिक और राजनैतिक दार्शनिक थी। फॉलेट का जन्म अमेरिका के बोस्टन नगर में सन् 1868 में हुआ था। फॉलेट के अनुसार व्यक्तियों का एक समूह केवल समूह मात्र ही नहीं होता, अपितु समूह में एक सामूहिक शक्ति भी होती है। समूह की सामूहिक शक्ति उसके सदस्यों द्वारा किये गये प्रयत्नों से प्रकट होती है। व्यक्तिगत समूहों के मानवीय प्रयत्नों द्वारा समाज को विभिन्न प्रकार की उपयोगी सेवाऐं प्रदान की जाती हैं। उन्होंने समन्वयन पर अपना ध्यान केन्द्रित किया और इस प्रक्रिया से संबंधित कुछ सिद्धान्तों को प्रतिपादित किया। इन सिद्धान्तों को क्रमवार समझने का प्रयास करें-

1. **मानवीय दृष्टिकोण-** फोलेट के अनुसार संगठन की समस्त समस्याओं के विवरण के लिये मानवीय दृष्टिकोण के सिद्धान्त को अपनाया जाना चाहिये। उन्होंने यह भी बताया कि नियोक्ता और कर्मचारियों के बीच क्रियात्मक सहयोग की स्थापना करके प्रबन्ध को अत्यधिक प्रभावी बनाने का प्रयत्न किया जाना चाहिए।
2. **प्रत्यक्ष सम्पर्क का सिद्धान्त-** किसी भी प्रकार का समन्वय करने में प्रबन्धकों व अन्य व्यक्तियों को एक-दूसरे के साथ प्रत्यक्ष सम्पर्क करना चाहिए। उन्होनें प्रशासकों द्वारा अपनाई जाने वाली पदानुक्रमिका को त्याग देने का सुझाव दिया था। जिससे देरी करने, अधिक समय लेने वाली संवहन की विधियों से छुटकारा मिल जाता तथा प्रशासन में भ्रष्टाचार की संभावना क्षीण हो जायेगी।
3. **समन्वय-** फोलेट ने बताया कि समन्वय न तो एक बार करने की प्रक्रिया है और न ही निर्धारित समय के पश्चात यह तो एक सतत् प्रक्रिया है। प्रशासकों को तो संगठन के कार्यों को सुव्यवस्थित रूप से चलानेके लिए सदैव ही सर्तक रहना पड़ता है। कर्मचारी, उच्च अधिकारी एवं जनता आदि सभी पक्षों के हित में समन्वय होना अति आवश्यक है।
4. **नियन्त्रण-** फोलेट के अनुसार एक प्रशासक को संगठन में नियन्त्रण तथ्यों का किया जाना चाहिये, न कि मनुष्यों का। इसके अतिरिक्त उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि प्रशासक अपनी योग्यता, कुशलता एवं दूदर्शिता के आधार पर परिस्थितियों को सही ढंग से समझने में सक्षम होना चाहिए।

5. **नेतृत्व-** फोलेट आक्रात्मक नेतृत्व के विरूद्ध थी। उनके अनुसार नेतृत्व सद्-भावना और सहयोग पर आधारित होना चाहिये। आपके अनुसार एक अच्छा नेतृत्व केवल अपने अनुगामियों का मार्गदर्शन ही नहीं करता, अपितु उससे स्वयं भी मार्गदर्शन प्राप्त करता है। नेता इस बात का प्रयत्न करता है कि उसके अनुगामी अपनी योग्यता का सर्वश्रेष्ठ प्रदर्शन करें।

11.2.3 लूथर गुलिक का योगदान

लूथर गुलिक ने अपने अनुभवों तथा अध्ययनों को समन्वित करके संगठन के सामान्य सिद्धान्तों का निर्माण किया। गुलिक संगठनात्मक कुशलता के स्तर को बढ़ाने वाले तटस्थ सिद्धान्तों के समर्थक थे। गुलिक ने 'पेपर्स आन साईन्स ऑफ एडमिनिस्ट्रेशन'(1937) नामक पुस्तक का सम्पादन किया। गुलिक राष्ट्रपति की प्रशासनिक प्रबन्ध समिति के सदस्य भी थे।

लूथर गुलिक, टेलर एवं फेयोल से बहुत अधिक प्रभावित थे। गुलिक ने फेयोल के प्रशासन के पाँच तत्वों- योजना, संगठन, आदेश, समन्वय तथा नियंत्रण को अपने तटस्थ सिद्धान्तों के रूप में प्रयोग किया। गुलिक ने प्रशासन के कर्तव्यों को संक्षिप्त रूप से 'पोस्डकार्ब' शब्द(एक्रोनिम) की संज्ञा देकर प्रस्तुत किया। इसे विस्तार को समझने का प्रयास करें-

1. **योजना-** इसका तात्पर्य सम्पन्न किए जाने वाले कार्यों का निर्धारण तथा संगठन के निर्धारित उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उन्हें सम्पन्न करने के तरीकों का निर्धारण से है।
2. **संगठन-** से तात्पर्य औपचारिक सत्ता संगठन की स्थापना करना जिसके माध्यम से निर्धारित उद्देश्य के कार्य-उपभागों को व्यवस्थित, परिभाषित या समन्वित किया जाता है।
3. **कार्मिक सम्बन्धी कार्य-** से तात्पर्य कर्मचारियों की भर्ती तथा प्रशिक्षण कार्य के अनुकूल स्थिति बनाना।
4. **निर्देशन करना-** इसका अर्थ निर्णय करना और इन्हें विशिष्ट और सामान्य आदेशों और निर्देशों का रूप प्रदान करना।
5. **समन्वय करना-** इसके अन्तर्गत कार्य के विभिन्न भागों में पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करना आता है, संगठन में यह सर्वाधिक महत्वपूर्णकार्य है।
6. **प्रतिवेदन देना-** कार्यपालिका जिसके प्रति उत्तरदायी होती है, उन्हें प्रशासन की गतिविधियों से अवगत रखने की प्रक्रिया को प्रतिवेदन की संज्ञा दी जाती है।
7. **बजट बनाना-** संगठन के आय-व्यय हेतु वार्षिक बजट सम्बन्धी कार्यों को सम्पादित करना।

11.2.4 लिण्डॉल उर्विक का योगदान

शास्त्रीय विचारधारा के महत्वपूर्ण विचारकों में आपको सम्मिलित किया जाता है। आपने संगठन के निम्न सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। आइये इन्हें क्रमशः समझने करने का प्रयास करें-

1. **उद्देश्य का सिद्धान्त-** आपके अनुसार संगठन के उद्देश्यों की पूर्ण एवं स्पष्ट परिभाषा दी जानी चाहिए। इसके सहायक उद्देश्यों में स्पष्ट अन्तर किया जाना चाहिए जिससे कि प्रशासकीय कार्यों को मुख्य उद्देश्य के प्रति अधिक प्रभावपूर्ण बनाया जा सके। संगठन के स्वरूप का निर्माण इस प्रकार किया जाना चाहिए, जिससे संगठन के उद्देश्यों की प्राप्ति में व्यक्तिगत प्रयासों का अधिकतम सहयोग मिल सके।
2. **नियन्त्रण के क्षेत्र का सिद्धान्त-** इस सिद्धान्त के अनुसार किसी वरिष्ठ अधिकारी के अधीन अधीनस्थों की संख्या केवल उतनी ही होनी चाहिए कि कार्यों पर वह उचित नियन्त्रण स्थापित कर सके। जिससे कार्य सुव्यवस्थित रूप से सम्पन्न हो सके।

3. **व्याख्या का सिद्धान्त-** एक कुशल संगठन के लिए यह भी आवश्यक है कि प्रत्येक अधिकारी के अधिकार, कर्तव्य, दायित्व की स्पष्ट व्याख्या हो, जिससे कार्य के निष्पादन में किसी प्रकार की भ्रान्त धारणा न रहे।
4. **समन्वय का सिद्धान्त-** संगठन का उद्देश्य प्रशासन के विभिन्न कार्यों, साधनों तथा व्यक्तियों की क्रियाओं में समन्वय स्थापित करना है।
5. **विशिष्टीकरण का सिद्धान्त-** इस सिद्धान्त के अनुसार संगठन के प्रत्येक व्यक्ति को वही कार्य आवंटित करना चाहिए, जिसके लिए वह शारीरिक व मानसिक दृष्टि से क्षमतावान हो। जिससे वह अपना सर्वोतम योगदान प्रस्तुत कर सके।
6. **पदाधिकारियों में सम्पर्क का सिद्धान्त-** इस सिद्धान्त के अनुसार संगठन ऊपर से नीचे की ओर वरिष्ठता तथा अधीनता के क्रम से परस्पर सम्बद्ध होना चाहिए। जहाँ तक सम्भव हो, अधीनस्थ को अपने वरिष्ठ की सत्ता का उल्लंघन नहीं करना चाहिए। इससे अनुशासन को बनाये रखने में सहायता मिलती है।
7. **निरन्तरता का सिद्धान्त-** संगठन एवं पुर्नसंगठन की विधि निरन्तर चालू रहती है। अतः इसके लिए प्रत्येक इकाई में विशिष्ट व्यवस्थाओं को निर्माण होना चाहिए। संगठन व्यवस्था न केवल तात्कालिक क्रियाओं के लिए, अपितु भविष्य में इन क्रियायों को बनाये रखने के लिए भी पर्याप्त होनी चाहिए।

संगठन के शास्त्रीय सिद्धान्त की यह कह कर विद्वानों ने आलोचना की है कि इस सिद्धान्त से यह स्पष्ट नहीं होता है कि किस विशेष स्थिति में कौन सा सिद्धान्त महत्व देने योग्य है? साइमन ने प्रशासन के सिद्धान्तों को प्रशासन की कहावतें मात्र कह कर इनका उपहास किया है, क्योंकि यह एक संकुचित विचार है जो व्यक्तियों के संगठन में उनके साथियों से अलग रखकर निरीक्षण करता है। अर्थात यह व्यक्ति परक है।

इन कमियों के बावजूद प्रशासन के क्षेत्र में शास्त्रीय विचारधार के योगदान की उपेक्षा नहीं की जा सकती। इस दृष्टिकोण की कमियों ने संगठन तथा उसके व्यवहार के भावी शोध की प्रेरणा प्रदान की इस प्रकार यह दृष्टिकोण संगठन की विचारधाराओं के विकास क्रम में में मील आधार का कार्य करता है।

11.3 मानव सम्बन्धी विचारधारा

मानवीय सम्बन्धों से हमारा तात्पर्य मुख्यतः नियोक्ताओं और कार्मिकों के उन सम्बन्धों से है, जो कानूनी मानकों द्वारा नियंत्रित नहीं होते। ये सम्बन्ध कानूनी तत्वों की अपेक्षा नैतिक और मनोवैज्ञानिक तत्वों से अधिक संबंधित है। इस विचारधारा के समर्थकों का यह दृष्टिकोण इस तथ्य पर आधारित है कि प्रशासन का कार्य व्यक्तियों को समझने तथा वे क्या करते हैं और क्यों करते हैं, पर अधिक केन्द्रीत करने की आवश्यकता पर बल दिया है।

इस विचारधारा के अनुसार, संगठन की समस्याओं के समाधान के लिए सामाजिक और मनोविज्ञान के व्यवहार को प्रयोग में लाया जाता है। वास्तव में मानवीय सम्बन्ध अभिप्रेरणा, सम्प्रेषण व्यवस्था, प्रशिक्षण, नेतृत्व आदि प्रबन्धकीय विधियों के अंतर्गत आते हैं। इसलिए इस दृष्टिकोण को मानवीय सम्बन्ध, नेतृत्व व व्यावहारिक विज्ञान की संज्ञा भी दी जाती है।

11.3.1 एल्टन मेयो का योगदान

अमेरिका के हार्वर्ड यूनिवर्सिटी के समाजशास्त्री जार्ज ईल्टन मेयो ने अपने विचारों की स्थापना 1920 से लेकर 1930 तक वैस्टर्न इलैक्ट्रिक कम्पनी के हाथोर्न कारखाने में विभिन्न प्रयोगों के आधार पर की। हाथोर्न प्रयोगों ने उद्योगों में मानवीय सम्बन्धों की नींव डाली और यह सिद्ध कर दिया कि भौतिक तत्वों की तुलना में उत्पादकता में वृद्धि की दृष्टि से मानवीय तथा सामाजिक तत्व अधिक प्रभावपूर्ण होते हैं। परन्तु बाद में किये गये अनेक शोध अध्ययनों ने यह इंगित किया है कि हाथोर्न प्रयोगों द्वारा प्रतिपादित मानवीय सम्बन्ध सिद्धान्त यद्यपि उपयोगी हैं,

परन्तु वे आज की बदली हुई परिस्थितियों में कर्मचारियों तथा संगठन के विकास सम्बन्धी समस्याओं का पूर्ण निराकरण करने में पूर्णतः सक्षम सिद्ध नहीं हो पा रहे हैं।

अमेरिका की वैस्टन इलेक्ट्रिक कम्पनी के हाथोर्न कारखाने में मानवीय समबन्धों के बारे में जो परीक्षण किये गये हैं, उन्हें हाथोर्न प्रयोग के नाम से जाना जाता है। इस कारखाने के कर्मचारियों में अत्यधिक असन्तोष व्याप्त था। जिसके कारण कारखाने में उत्पादन लगातार कम होता जा रहे थी। अधिकारियों ने उत्पादन बढ़ाने के लिए अनेक प्रयत्न किये, किन्तु परिणाम विपरीत ही रहा। अन्त में परेशान होकर अधिकारियों ने 'हार्वर्ड स्कूल ऑफ बिजनेस एडमिनिस्ट्रेशन' से इस सम्बन्ध में सहयोग माँगा।

इस सम्बन्ध में जार्ज एल्टन मेयो ने अनेक अध्ययन किये। परिणामतः इस तथ्य का खुलासा हुआ कि कार्यशील घण्टों, मजदूरी अथवा कार्य की दशाओं से भी अधिक महत्वपूर्ण कोई कारक हैं और वह हैं, कर्मचारियों की अपने कार्यों के प्रति अभिवृत्तियाँ, जो कि कर्मचारियों की उत्पादकता में प्रत्यक्ष रूप से वृद्धि करता है।

एल्टन मेयो एवं उनके सहयोगियों ने चार से बारह सप्ताह की अवधि में विभिन्न प्रयोग किये। जिनमें कर्मचारियों को भिन्न-भिन्न प्रकार की कार्य-दशाऐं दी गयी। संक्षेप में इन प्रयोगों से प्राप्त परिणामों को निम्नलिखित क्रम से प्रस्तुत कर आत्मसात किया जा सकता है-

1. सामान्य कार्य-दशाओं के अन्तर्गत 48 घण्टे प्रति में प्रत्येक महिला कर्मचारी ने प्रति सप्ताह 2,400 रिलेज यन्त्र का उत्पादन किया।
2. इसके पश्चात महिला कर्मचारियों से कार्यानुसार मजदूरी पर उत्पादन कराया गया , जिसके परिणामस्वरूप उत्पादन में वृद्धि हुई।
3. इसके पश्चात पाँच सप्ताह तक पाँच-पाँच मिनट के दो विश्राम दिये गये। इसके परिणामस्वरूप उत्पादन में पुनः वृद्धि हुई।
4. इसके पश्चात दोनों विश्राम के समय को बढ़ाकर दस-दस मिनट कर दिया गया। इसके परिणामस्वरूप उत्पादन में तेजी से वृद्धि हुई।
5. इसके पश्चात पाँच-पाँच मिनट के छः विश्राम दिये गये। जिसके परिणामस्वरूप उत्पादन में कमी आयी और महिला कर्मचारियों ने यह शिकायत की कि बार-बार विश्रामों के कारण उनके कार्य का क्रम टूट जाता है।
6. इसके पश्चात विश्रामों की संख्या घटाकर दो कर दी गई और प्रथम विश्राम के दौरान कम्पनी ने नाश्ते की व्यवस्था की जिसके परिणामस्वरूप उत्पादन में तेजी से वृद्धि हुई।
7. इसके पश्चात महिला कर्मचारियों के कार्य का समय आधा घण्टा प्रतिदिन घटा दिया गया, अर्थात् अब उनकी छुट्टी सायं 5 बजे के स्थान पर 4:30 बजे होने लगी। इसके परिणामस्वरूप उत्पादन में वृद्धि हुई।
8. इसके पश्चात महिला कर्मचारियों की छुट्टी आधा घंटा और घटाकर 4 बजे होने लगी लेकिन उत्पादन पहले के समान ही रहा।

अन्त में सारी सुविधायें समाप्त करके उन्हें पुरानी दशाओं में ही कार्य कराया जाने लगा और यह आश्चर्यजनक तथ्य सामने आया कि उत्पादन का सबसे ऊँचा रिकार्ड रहा, जो कि प्रत्येक महिला कर्मचारी का 48 घण्टे का प्रति सप्ताह का औसत 3,000 रिलेज यन्त्र हो गया।

परिणामतः यह कहा जा सकता है कि हाथोर्न प्रयोगों ने इस बात को सिद्ध कर दिया है कि यदि कर्मचारियों के साथ मानवीय व्यवहार किया जाये तो उनसे अधिक सहयोग प्राप्त किया जा सकता है और संगठन के पूर्व निर्धारित लक्ष्यों को प्राप्त किया जा सकता है। मेयो के अन्य योगदानों में निम्नलिखित को सम्मिलित किया जा सकता है-

- मानवीय सम्बन्ध विचारधारा का प्रतिपादन,

- कर्मचारियों को गैर-आर्थिक प्रेरणा,
- सम्प्रेषण की व्यवस्था,
- संगठन का एक सामाजिक व्यवस्था के रूप में होना,
- रचनात्मक नेतृत्व का पाया जाना,
- कर्मचारियों का विकास होना।

11.3.2 डगलस मैग्रेगर का योगदान

डगलस मैग्रेगर अमेरिका में मिशीगन विश्वविद्यालय के प्रोफेसर थे। आपने प्रशासकों की कर्मचारियों के प्रति प्रशासकीय समस्याओं का समाधान करने के लिये व्यावहारिक विज्ञान को आधार बनाया। आपने 'एक्स'(X) सिद्धान्त और 'वाई'(Y) सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जो कि काफी लोकप्रिय है। आइये इन दोनों सिद्धान्तों को क्रमशः समझने का प्रयास करें-

1. **'एक्स'(X) सिद्धान्त-** इस सिद्धान्त के अनुसार, मनुष्य स्वभावतः आलसी होता है, न्यूनतम कार्य करना चाहता है। उत्तरदायित्व से दूर रहता है। स्वार्थी होता है। महत्वाकांक्षी नहीं होता है। अपनी सुरक्षा को अधिक महत्व देता है, उसे नवीनता ग्राहय नहीं होती है एवं संगठन के लक्ष्यों के प्रति उदासीन रहता है। अतः प्रशासकों को चाहिये कि वे कर्मचारियों को उपयुक्त पुरस्कार द्वारा अधिक कार्य करने के लिये प्रेरित करें। समय-समय पर आवश्यकतानुसार उन्हें दण्डित भी करें और उन पर पूर्ण नियन्त्रण स्थापित रहेगा।
2. **'वाई'(Y) सिद्धान्त-** इस सिद्धान्त के अनुसार, मनुष्य स्वभाव से निष्क्रिय नहीं होते। अपितु उनमें यह गुण संगठन में काम करते-करते अनेक अनुभव का परिणाम होता है। सभी श्रमिकों में आशा, आकांक्षा, साहस एवं उत्साह आदि के गुण विद्यमान होते हैं। अतः प्रशासकों को चाहिये कि कर्मचारियों के इस गुण को विकसित करने के लिये पूर्ण अवसर प्रदान करें।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि 'एक्स सिद्धान्त' निर्देशन एवं नियन्त्रण की तकनीक पर आधारित है और इसमें सत्ता के केन्द्रीयकरण पर अधिक बल दिया जाता है। आधुनिक युग में 'एक्स सिद्धान्त' की कोई उपयोगिता नहीं हैं। 'वाई सिद्धान्त' संगठनात्मक वातावरण के निर्माण और सत्ता के विकेन्द्रीयकरण पर अधिक बल देता है। आधुनिक युग में 'वाई सिद्धान्त' अधिक उपयोगी है

11.4 व्यवस्था सम्बन्धी विचारधारा

व्यवस्था का तात्पर्य, ऐसी इकाइयों से है जो अन्तर्सम्बन्धित होती हैं तथा प्रत्येक एक-दूसरे को प्रभावित करती हैं। व्यवस्था उपागम के मुताबिक प्रत्येक व्यवस्था कई उपव्यवस्थाओं से मिलकर बनती है, जिसमें अगर कोई भी उपव्यवस्था ठीक से कार्य नहीं करती है, तो सम्पूर्ण व्यवस्था पर उसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। जैसे- मानव शरीर का निर्माण पंच तत्वों से होता है और शरीर में स्थित हृदय इस व्यवस्था की एक उप-व्यवस्था है। इस उपागम का सर्वप्रथम प्रयोग मानव विज्ञान शास्त्री रेटली ब्राउन द्वारा किया गया था।

लोक प्रशासन के विद्वानों ने भी प्रशासनिक तथ्यों तथा घटनाओं के विश्लेषण में व्यवस्था उपागम के प्रयोग का प्रारम्भ किया। लोक प्रशासन के अन्तर्गत इस दृष्टिकोण को प्रचलित करने में चेस्टर बर्नार्ड का नाम सर्वप्रथम है। चेस्टर बर्नार्ड ने संगठन को एक सहकारी व्यवस्था माना है, क्योंकि वह संगठन को लोगों के सहकारी प्रयासों के प्रतिफल की भावना उन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए होती है, जिन्हें वह अकेले प्राप्त नहीं कर सकता। उसके मतानुसार भौतिक सीमाऐं समूह को सहयोग हेतु आकर्षिक करती हैं और सहयोग की भावना सहयोगातमक व्यवस्था को कायम करती है।

बर्नार्ड ने संगठन को एक ऐसी व्यवस्था के रूप में समझा है, जिसमें कार्य करने वाले व्यक्तियों के व्यवहार व्यक्तित्व और अभिलाषा भावनात्मक विकास की पारस्परिक क्रिया होती है और उन्हीं के फलस्वरूप सामूहिक क्रिया का विकास होता है, परिणामस्वरूप संगठन लोगों के सहयोग की सूची के रूप में तब्दील हो जाता है। चूँकि बहुत से लोग सहयोगी व्यवहार में शामिल होते हैं, इसलिए यह प्रक्रिया निरन्तर बदलती रहती है। स्पष्टतः संगठन और व्यक्ति दोनों ही इस उपागम के महत्वपूर्ण अंग बन जाते हैं। व्यवस्था प्रणाली की निम्नलिखित विशेषताओं को सूचिबद्ध किया जा सकता है। इन्हें समझनें का प्रयास करते हैं-

1. प्रत्येक प्रणाली के अन्तर्गत अनेक उपप्रणालियाँ समाहित होती हैं।
2. प्रत्येक प्रणाली के ऊपर अन्य बड़ी प्रणालियाँ स्थित हो सकती है।
3. प्रत्येक उपप्रणाली अन्तर्सम्बंधित प्रकृति की होती है।
4. प्रत्येक प्रणाली लक्ष्योन्मुख होती है तथा समस्त उपप्रणालियाँ उसे सुव्यवस्थित, क्रमबद्ध रूप से पाने में सहयोग करती हैं।
5. सभी प्रणालियों को दो भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है, खुली व बन्द प्रणाली।
6. बन्द प्रणाली अपने वातावरण से कोई सम्बन्ध नहीं रखती अर्थात वह ना तो प्रभावित होती है और ना ही प्रभावित करती है। इसके विपरीत खुली प्रणाली प्रभावित होती है और प्रभावित भी करती है।
7. समस्त प्रणालियों में साधन व उत्पादन दोनों व्यवस्था होती है।
8. खुली प्रणाली में प्रतिपुष्टि निरन्तर चलती रहती है। जिससे समय-समय पर आवश्यक समायोजन एवं संशोधन चलता रहता है।

उपरोक्त विवेचन के पश्चात हम कह सकते हैं कि इस विचारधारा की दृष्टि में प्रशासनिक संगठन भी एक प्रणाली है तथा इसकी प्रकृति खुली है। अतः प्रशासन को अपने संगठन की सफलता के लिए एकीकृत प्रणाली अपनानी चाहिए। संगठन रूपी प्रणाली के निरन्तर प्रवाह के लिए पाँच प्रमुख कारक आवश्यक होते हैं, यथा- संसाधन, रूपान्तरण, सम्प्रेषण व्यवस्था, उत्पादन तथ प्रतिपुष्टि।

इन कारकों को ध्यान में रखते हुए व्यवस्था उपागम अधिक संतोषप्रद है, क्योंकि इसमें औपचारिक और अनौपचारिक दोनों दृष्टिकोण से लाभ उठाने का प्रयास किया गया है। औपचारिक सिद्धान्त जो संगठन की संरचनाओं, प्रक्रियाओं, नियमों आदि को महत्व देता है उसे भी इस उपागम में सम्मिलित किया गया है। दूसरी ओर औपचारिक सिद्धान्त जो मानवीय व्यवहार की उपेक्षा है, किन्तु इस कमी को व्यवहारवादी सिद्धान्त द्वारा दूर किया गया है, उसके महत्व को भी व्यवस्था उपागम स्वीकार करता है। इस संगठन के क्रियाशील सभी तत्वों का समावेश व्यवस्था उपागम में किया गया है।

व्यवस्था उपागम की कई आलोचनाऐं की जाती हैं। सर्वप्रथम इस उपागम में अन्तर्निर्भरता पर आवश्यकता से अधिक बल दिया जाता है, जो सही नहीं है। दूसरे इस उपागम के अन्तर्गत प्रशासन संगठन को व्यापक स्तर पर खड़ा किया जाता है, जिससे इस सिद्धान्त के तकनीकी सम्बन्ध में कर्मचारियों एवं प्रशासनिक अधिकारियों को पूर्णतः प्रशिक्षित किया जा सके।

अभ्यास प्रश्न-

1. हेनरी फेयोल का जन्म कब और कहाँ हुआ था?
2. फेयोल ने संगठन के कितने सिद्धान्त बताये हैं?
3. 'जनरल एण्ड इण्डस्ट्रियल मैनेजमेन्ट' नामक पुस्तक किसने लिखी है?
4. 'पोस्डकार्ब' सूत्र किस विद्वान द्वारा प्रतिपादित किया गया था?
5. संगठन के मानवीय दृष्टिकोण से निम्न में से कौन सा विद्वान जुड़ा हुआ माना जाता है?

6. हाथोर्न प्रयोग किस विद्वान द्वारा किये गये थे?

7. 'एक्स' तथा 'वाई' सिद्धान्त के प्रतिपादक कौन थे?

8. हाथोर्न प्रयोग किस इलेक्ट्रिक कम्पनी में किये गये थे?

11.5 सारांश

संगठन सम्बन्धी सर्वाधिक प्राचीन विचारधाराओं को ही शास्त्रीय विचारधारा की संज्ञा दी जाती है। इसे यांत्रिक दृष्टिकोण भी कहा जाता है, यह संगठन का पुराना दृष्टिकोण है, इसलिए इसे परम्परागत दृष्टिकोण पर आधारित सिद्धान्त भी कहा जाता है।

मानवीय सम्बन्धों से हमारा तात्पर्य मुख्यतः नियोक्ताओं और कार्मिकों के उन सम्बन्धों से है, जो कानूनी मानकों द्वारा नियंत्रित नहीं होते। ये सम्बन्ध कानूनी तत्वों की अपेक्षा नैतिक और मनोवैज्ञानिक तत्वों से अधिक संबंधित है। इस विचारधारा के समर्थकों का यह दृष्टिकोण इस तथ्य पर आधारित है कि प्रशासन का कार्य व्यक्तियों को समझने तथा वे क्या करते हैं ओर 'क्यों करते हैं' पर अधिक केन्द्रीत करने की आवश्यकता पर बल दिया है।

व्यवस्था का तात्पर्य, ऐसी इकाइयों से है जो अन्तर्सम्बन्धित होती हैं तथा प्रत्येक एक दूसरे को प्रभावित करती है। व्यवस्था उपागम के मुताबिक प्रत्येक व्यवस्था कई उप-व्यवस्थाओं से मिलकर बनती है, जिसमें अगर कोई भी उप-व्यवस्था ठीक से कार्य नहीं करती है, तो सम्पूर्ण व्यवस्था पर उसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। जैसे- मानव शरीर का निर्माण पंच तत्वों से होता है और शरीर में स्थित हृदय इस व्यवस्था की एक उप-व्यवस्था है। इस उपागम का सर्वप्रथम प्रयोग मानव विज्ञापन शास्त्री रेटली ब्राउन द्वारा किया गया था।

11.6 शब्दावली

अधिकार- आदेश देने की शक्ति तथा यह निश्चित कर लेना कि इन आदेशों का पालन किया जा रहा है।

केन्द्रीयकरण- यह बिंदु अथवा स्तर जहाँ सभी निर्णय लेने वाले अधिकार केन्द्रित रहते हैं।

नियंत्रण- अधीनस्थों के कार्यों का मापन तथा सुधार जिससे यह आश्वस्त हो सके कि कार्य नियोजन के अनुसार किया गया है।

समन्वय- व्यक्ति तथा समूह के प्रयासों में सामूहिक कार्यों तथा उद्देश्यों को पूरा करने के लिए सामंजस्य स्थापित करना।

विकेन्द्रीकरण- उपक्रम के नीचे के स्तरों पर निर्णय लेने की शक्ति को सोंपना।

निर्णयन- किसी कार्य को करने के विभिन्न विकल्पों में से सर्वश्रेष्ठ विकल्प का चयन या किसी कार्य के निष्पादन के लिए विवेकपूर्ण चयन।

अधिकार का प्रयोजन- निर्धारित कार्यों के निष्पादन के लिए आवश्यक अधिकारों को अन्य व्यक्तियों को सौंपना।

नेतृत्व- समूह के लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए व्यक्तियों को प्रभावित करने की प्रक्रिया की कला।

अभिप्रेरणा- एक व्यक्ति के बीच इच्छा अथवा अनुभव का होना जिसके कारण वह कार्य करने के लिए उद्यत होता है।

दायित्व- एक व्यक्ति की बाध्यता अथवा सौंपे गए कार्य को निष्पादित करने की उसकी बाध्यता।

नियोजन- किन कार्यों को कहाँ और कैसे करना है का पूर्व निर्णय।

सिद्धान्त - मूल सत्य अथवा किसी निश्चित समय पर विश्वास योग्य सत्य, जो दो अथवा अधिक चलों के सेट के बीच सम्बन्धों की व्याख्या करता है, ये वर्णनात्मक भी हो सकते हैं जो यह बतलाते हैं कि क्या होगा अथवा आदेशात्मक (अथवा नियामक) भी होते हैं जो व्यक्ति को क्या करना है का आदेश देते हैं।

आदेश की एकता- प्रत्येक अधीनस्थ को एक ही अधिकारी के प्रति जवाबदेही के लिए बाध्य किया जाना चाहिए। यह सिद्धान्त बतलाता है कि जितना अधिक एक व्यक्ति एक ही अधिकारी के प्रति जवाबदेही करेगा, उतना ही कम विवाद की समस्या उत्पन्न होने की संभावना होगी।

निर्देश की एकता- इस सिद्धान्त का आशय एक अधिकारी, एक योजना अर्थात एक से ही उद्देश्य वाली सामूहिक क्रियाओं के लिए एक ही अधिकारी द्वारा निदेश किया जाना चाहिए।

11.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. फ्रान्स, 1841, **2.** 14, **3.** हेनरी फेयोल, **4.** गुलिक, **5.** एम0पी0 फोलेट, **6.** मेयो, **7.** मैग्रेनर, **8.** वेस्टर्न इलेक्ट्रिक

11.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. डॉ0 सी0वी0 गुप्ता, व्यापारिक संगठन और प्रबन्ध, सुल्तान चन्द एण्ड सन्स, नई दिल्ली-1996,
2. मामोरिया एवं मामोरिया, व्यापारिक योजना और नीति, हिमालया पब्लिशिंग हाउस, मुम्बई-1996,
3. हारोल्ड कून्टज एवं हेनीज विचरिच, इशनशियल्स ऑफ मैनेजमेन्ट, मैग्राहिल इन्टरनेशनल, नई दिल्ली-2000,

11.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. प्रशान्त के0 घोष, कार्यालय प्रबन्धन, सुल्तान चन्द एण्ड सन्स, 2000,
2. डॉ0 जे0 के0 जैन, प्रबन्ध के सिद्धान्त, प्रतीक पब्लिकेशन, इलाहाबाद-2002,
3. डॉ0 एल0 एम0 प्रसाद , प्रबन्ध के सिद्धान्त, सुल्तान चन्द एण्ड सन्स, नई दिल्ली।

11.10 निबंधात्मक प्रश्न

1. प्रबन्ध की शास्त्रीय विचारधार के प्रवर्तन हेनरी फेयोल के योगदानों को विस्तार से समझाइये।
2. फोलेट द्वारा प्रस्तुत प्रत्यक्ष सम्पर्क के सिद्वान्ता का वर्णय करिये।
3. गुलिक द्वार प्रतिपादित 'पोस्डकार्ब' की अवधारणा को विवेचित करिये।
4. ऐल्टन में मो द्वारा प्रस्तुत हाथोर्न प्रयोग को विस्तार से समझाइये।
5. डगलस मैग्रेगर द्वारा प्रस्तुत 'एक्स' तथा 'वाई' सिद्वान्तों के महत्व को रेखांकित करिये।

इकाई- 12 संगठन के सिद्धान्त- I

इकाई की संरचना

12.0 प्रस्तावना
12.1 उद्देश्य
12.2 पदसोपान
12.3 नियंत्रण का क्षेत्र
12.4 आदेश की एकता
12.5 सारांश
12.6 शब्दावली
12.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
12.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
12.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
12.10 निबंधात्मक प्रश्न

12.0 प्रस्तावना

अभी तक के अध्ययन में आप पूर्णतया संगठन की अवधारणा तथा इसकी विभिन्न विचारधाराओं से जुड़े विद्वानों के मतों का विस्तृत अध्ययन कर चुके हैं। प्रस्तुत इकाई संगठन से वास्तविक तथा कार्यात्मक सिद्धान्तों का विस्तार से विवेचना करने का प्रयास करेगी। अध्ययन की सुविधा तथा क्रमबद्धता को ध्यान में रखते हुये इन सिद्धान्तों में पदसोपान, नियंत्रण का क्षेत्र तथा आदेश की एकता को सम्मिलित किया गया है।

12.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- संगठन के प्रथम सिद्धान्त पदसोपान के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
- नियंत्रण के क्षेत्र की अवधारणा का विश्लेषण कर सकेंगे।
- आदेश की एकता सम्बन्धी सिद्धान्त की विवेचना कर सकेंगे।

12.2 पदसोपान

प्रशासनिक दृष्टि से देखा जाय तो पदसोपान का अर्थ किसी अधीनस्थ पर वरिष्ठ की सत्ता या उच्चता से है। यह एक ऐसा बहुस्तरीय संगठन है, जिसमें क्रमवार कई स्तर होते हैं जो आपस में एक-दूसरे से जुड़े होते हैं। यह एक ऐसी व्यवस्था है, जिससे किसी संगठन के विभिन्न व्यक्तियों के प्रयासों को एक-दूसरे से समन्वित ढंग से सम्बन्धित किया जाता है। संगठन के विभिन्न सिद्धान्तों में का पदसोपान स्थान महत्वपूर्ण एवं प्रथम है। दूसरे शब्दों में यह अधिकार और आदेश की शीर्ष स्तरीय व्यवस्था है।

संगठन का एक सार्वभौमिक सिद्धान्त है, पदसोपान। पदसोपान के अभाव में किसी संगठन की कल्पना सम्भव नहीं हो सकती है। इसलिए यह सभी संगठनों की एक आधारभूत आवश्यकता होती है। प्रत्येक प्रशासकीय संगठन पदसोपान के रूप में गठित होता है। अतः शिखर से नीचे तक उच्च अधिकारियों एवं अधीनस्थों के सम्बन्धों को परस्पर सम्बद्ध करने की व्यवस्था को ही पद-सोपान की संज्ञा दी जाती है।

संगठन सिद्धान्त के पितामह फेयोल के अनुसार उच्चतम प्रबन्ध से न्यूनतम पदों तक की श्रृखला ही पद सोपान के नाम से जानी जाती है। इसमें आदेश ऊपर से नीचे तथा एक क्रम में चलने चाहिये। पदसोपान में उत्तरदायित्व के

अनेक स्तर होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्तव्य होता है कि जहाँ तक सम्भव हो अधीनस्थ को अपने वरिष्ठ की सत्ता का उल्लंघन नहीं करना है। परन्तु आवश्यकता पड़ने पर तथा शीघ्र निर्णय लेने के लिये, फेयोल के अनुसार कभी-कभी इस क्रम को तोड़ा भी जा सकता है। है।

संगठन में इन सम्बन्धों से पिरामिड आकार की संरचना की स्थापना हो जाती है। इस संरचना को मूने और रैले ने सीढ़ीनुमा प्रक्रिया की संज्ञा दी है। संगठन में ''सीढ़ीनुमा'' का तात्पर्य है, अधिकारी तथा संबन्धित दायित्वों के अनुपात में दायित्वों का स्तर निर्धारित करना। मूने के अनुसार यह सीढ़ीनुमा श्रृंखला समस्त संगठनो में पायी जाती है, अतः जहाँ कहीं भी वरिष्ठ और कनिष्ठों के मध्य सम्बन्धों की स्थापना होगी, एक संगठन होगा, वहाँ सीढ़ीनुमा सिद्धान्त भी क्रियात्मक रूप से लागू होगा।

इस सिद्धान्त के अनुसार सभी पदाधिकारियों के मध्य प्रत्यक्ष सम्पर्क होना चाहिये। किसी भी सूचना का संचार सभी सम्बन्धित प्रबन्धकीय पदाधिकारियों के स्तर से होना चाहिये। वरिष्ठ एवं अधीनस्थों के मध्य सम्बन्धों की स्पष्ट श्रृंखला निर्धारित होनी चाहिए और श्रृंखला का उल्लंघन कदापि नहीं किया जाना चाहिए। आज्ञा व लेने-लेने के मार्ग बिल्कुल स्पष्ट होने चाहिये। इस प्रकार पद-सोपान आदेशों का एक प्रवाह बन जाता है।

पदसोपान में चूँकि सत्ता के अनेक स्तर होते हैं। अतः उसमें सत्ता का हस्तान्तरण करना अनिवार्य होता है। उच्च अथवा प्रवर अधिकारी द्वारा प्रत्येक अधीनस्थ कर्मचारी को कार्य का एक क्षेत्र आवंटित किया जाता है। इस आवंटित क्षेत्र में उसे निर्णय लेने का पूर्ण अधिकार होता है। प्रत्यायोजन द्वारा उच्च अधिकारी जो कुछ भी करता है उसके लिये सदा अपने उच्च अधिकारी के प्रति उत्तरदायी होता है।

प्रत्येक आज्ञा, पत्र-व्यवहार, तथा संचार आदि उचित मार्ग द्वारा ही आना जाना चाहिये। अर्थात् तत्काल उच्च अधिकारी द्वारा शिखर अधिकारी तक क्रम से जाना चाहिये। एक लिपिक, प्रधान लिपिक के अधीन है, प्रधान लिपिक एक कार्यालय अधीक्षक के अधीन है तथा कार्यालय अधीक्षक अनुभाग अधिकारी के अधीन है आदि। यदि लिपिक को कोई बात अनुभाग अधिकारी से कहनी है, तो वह प्रधान लिपिक के माध्यम से कार्यालय अधीक्षक तक पहुँचेगा और तब उसके द्वारा अनुभाग-अधिकारी तक पहुँचेगा।

इसी प्रकार यदि अनुभाग अधिकारी लिपिक की कोई आदेश देना चाहता है तो वह आदेश कार्यालय अधीक्षक के द्वारा ही प्रधान लिपिक तक पहुँचना चाहिए और तब उसके माध्यम से लिपिक तक आना चाहिए। उपरोक्त निर्वचन के उपरान्त पद सोपान सिद्धान्त की निम्नलिखित विशेषताओं का प्रतिपादन किया जा सकता है। इन्हें क्रमबद्ध कर समझने का प्रयास करें-

1. प्रशासनिक संगठन की क्रिया-कलाप को इकाइयों और उप-इकाइयों में विभाजित करना सम्भव हो जाता है।
2. इन इकाइयों की स्थापना एक के नीचे एक की जाती है, जिससे पिरामिड के आकार की संरचना का निर्माण होता है।
3. विभिन्न स्तरों को से सम्बन्धित अधिकारों एवं उत्तर-दायित्वों का निर्धारण सम्भव हो पाता है।
4. सोपानक्रम पर आधारित संगठन सुव्यवस्थित रूप से उचित माध्यम से सिद्धान्त का पालन करता है।
5. कर्मचारी केवल अपने से निकटतम वरिष्ठ अधिकारी से आदेश माँगता है किसी भी अन्य अधिकारी से नहीं।
6. अधिकार और उत्तरदायित्व में समुचित समन्वय एवं ताल-मेल रेखा जाता है, क्योंकि बिना उत्तरदायित्व के अधिकार खतरनाक होते हैं तथा बिना अधिकार के उत्तरदायित्व महत्वहीन बन जाते हैं।

सोपानक्रम के बिना किसी संगठन की कल्पना करना कठिन है। एक प्रशासनिक संगठन में विभिन्न कर्मचारी एक साथ काम करते हैं। अतः यह वांछनीय है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने-अपने कर्तव्यों एव उत्तरदायित्वों का बोध

हो। यही नहीं, प्रत्येक व्यक्ति को इस बात का भी ज्ञान होना चाहिये कि उसके अन्य व्यक्तियों के साथ क्या सम्बन्ध हैं? उसके मस्तिष्क में यह तथ्य स्पष्ट होना चाहिये कि उसे किसकी आज्ञा का अनुपालन करना है। केवल ऐसा होने पर ही संगठन से भ्रम, विवाद तथा मतभेद दूर किये जा सकते हैं और इसे प्रभावी रूप से जनता के प्रति जावबदेह बनाया जा सकता है।

इस प्रकार जो संगठन पदसोपान के अनुसार कार्य करते हैं, उनमें अधिकार एवं सत्ता ऊपर से नीचे की ओर एक-एक सीढ़ी या एक-एक स्तर से उतरते हुए आते हैं। इस सीढ़ीनुमा व्यवस्था की आवश्यकता दो कारणों से पूरी होती है, पहला- कार्य में विशेषज्ञता प्राप्त करने के उद्देश्य से कार्य को उसके आवश्यक हिस्सों में बाँटवारा। और दूसरा- विशेषाताओं के व्यवहार तथा कार्यों को एक संयुक्त प्रयास में समन्वित ढंग से जोड़ने की प्रक्रिया को प्राप्त करना। पदसोपान में ऊपर या नीचे एक-एक स्तर चढ़ कर या उतर कर आया जाता है। इस प्रकार सोपानक्रम संगठन में संचार तथा सत्ता के विभिन्न स्तरों के मध्य आदेशों की एक श्रृंखला का सशक्त बन जाता हैं। सोपानक्रम सिद्धान्त में यह आवश्यक है कि ऊपर यी नीचे के स्तर से सम्पर्क स्थापित करते समय बीच के किसी भी स्तरा को अनेदेखा न किया जाए। संगठन में सोपानक्रम सिद्धान्त के प्रयोग से होने वाले लाभों को निम्नलिखित ढंग से क्रमबद्ध कर आत्मसात् किया जा सकता है-

1. प्रशासनिक संगठन में उद्देश्यों में एकता होनी चाहिए। यह एकता पद सोपान द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है।
2. संगठन में कार्यों का विभाजन होता है, जिससे विभिन्न कार्य इकाइयाँ अस्तित्व में आती हैं। सोपानक्रम, संगठन की विभिन्न इकाइयों को आपस में समन्वित कर एक संयुक्त ढाँचे की रचना करता है। जिससे संगठनात्मक एकीकरण एवं समन्वय द्वारा संगठन को और प्रभावी बनाया जाता है।
3. इस सिद्धान्त में संगठन में नीचे से ऊपर तक एवं ऊपर से नीचे तक आवश्यक संचार व्यवस्था स्थापित की स्थापना होती है। जिससे प्रत्येक कार्मिक को यह स्पष्ट हो जाता है कि उसका अगल सम्बन्ध किस कर्मचारी से हैं।
4. यह सिद्धान्त प्रत्येक स्तर और पद पर उत्तरदायित्व निर्धारित करने में सहायक होता है। प्रत्येक कर्मचारी को संगठन में अपनी स्थिति और उत्तरदायित्वों का ज्ञान होता है तथा यह भी मालूम होता है कि वह किसके प्रति प्रत्यक्ष तौर पर उत्तरदायी है।
5. इसके द्वारा उचित माध्यम से व्यवस्था में प्रक्रिया का कड़ाई से नियमानुसार पालन किया जाता है, जिससे आसान तथा भ्रष्ट रास्तों का प्रयोग प्रतिबन्धित हो जाता है।
6. सोपानक्रम के फलस्वरूप उच्चतम स्तर पर काम का भार कम हो जाता है तथा विकेन्द्रीकरण द्वारा निर्णय लेने की प्रक्रिया आसान हो जाती है। संगठन का प्रत्येक कर्मचारी निर्णय लेने और अपने अधीनस्थों के मार्गनिर्देशन के लिए प्रशिक्षित किया जाता है, जिससे अधीनस्थ कर्मचरियों एवं अधिकारियों में भी संगठन में अपने महत्व की भावना उत्पन्न होती है।
7. सुव्यवस्थित व्यवस्था तथा नियमों का कड़ाई से पालन किये जाने के कारण कर्यों की गति आसान हो जाती है और यह जानना आसान हो जाता है कि किसी कार्य से सम्बन्धित पत्रावली किस कर्मचारी विशेष के पास तथा किन कारणों से अवरूद्ध है।

यद्यपि पदसोपान व्यवस्था की उपयोगिता को सामान्य रूप से स्वीकार किया जाता है। परन्तु साथ ही साथ इस बात का भी ध्यान रखा जाना चाहिए कि सिक्के के दो पहलू होते हैं। अर्थात इस व्यवस्था के निम्नलिखित दोषों को भी रेखांकित करना आवश्यक है-

यह सिद्धान्त कार्य के निष्पादन में अनावश्यक विलम्ब करता है। इस व्यवस्था में कई दिन सप्ताह तथा महीने लग सकते है। अतः यह सिद्धान्त लालफीताशाही को बढ़ावा मिलता है तथा भ्रष्टाचार का जन्म होता है।

अत्यधिक औपचारिक के कारण संगठन में उच्च अधिकारियों एवं अधीनस्थों के मध्य औपचारिक सम्बन्ध पैदा हो जाते है। ऐसे सम्बन्धों के कारण उच्चतर पदाधिकारियों एवं निम्न पदाधिकारियों के मध्य पारस्परिक सहयोग की भावना में कमी हो जाती है तथा सभी यांत्रिक बनकर मूकदर्शक बने रहते है।

वस्तुतः इस सिद्धान्त के गुणों एवं दोषों को देखते हुए यह सिद्ध हो जाता है कि संगठनमें पदसोपान के दोषों की अपेक्षा उसके लाभ की अधिकता है। यदि उच्च एवं निम्न अधिकारियों के मध्य समुचित निष्ठा एवं विश्वास पैदा हो जाये, तो कार्य के विलम्ब के दोषों तथा उच्चाधिकारियों एवं अधीनस्थ से उत्पन्न दोषों को निश्चित रूप से कम किया जा सकता है। जिससे एक प्रशासनिक संगठन को अधिक पारदर्शी, जवाबदेह तथा प्रभावी बनाया जा सकता है।

12.3 नियंत्रण का क्षेत्र

यह अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रश्न है कि प्रशासनिक संगठन में किसी अधिकारी का कार्य-क्षेत्र कितना होना चाहिए? नियन्त्रण के माध्यम क्या होने चाहिये? इन प्रश्नों के उत्तर के रूप में 'नियंत्रण का क्षेत्र' नामक सिद्धान्त की स्थापना की गयी है। संगठन में आधिकारी के पास अधिक कार्य भी नहीं होना चाहिये और कम भी नहीं, क्षमता के अनुसार ही कार्य-क्षेत्र निर्धारित होना चाहिये।

लोक प्रशासन के चिन्तकों के अनुसार अधिकारियों का नियन्त्रण क्षेत्र सीमित होना चाहिये, क्योंकि नियन्त्रण क्षेत्र के व्यापक होने पर नियत्रण का प्रभाव कम हो जाता है।

'स्पैन' का शाब्दिक अर्थ वह दूरी है, जो किसी व्यक्ति के अंगूठे और कनिष्ठ ऊंगली को फैलाये जाने से बनती है। जबकि नियंत्रण शब्द का मतलब आदेश-निर्देश या नियंत्रित करने वाले अधिकार या सत्ता से है। लोक प्रशासन में नियंत्रण के क्षेत्र का तात्पर्य उन अधीनस्थ कर्मचारियों से है, जिन पर एक अधिकारी कारगर एवं प्रभावी ढंग से नियंत्रण करता है।

संगठन में एक उच्च अधिकारी को अपने अधीनस्थ कर्मचारी वर्ग की क्रियाओं पर नियन्त्रण रखना होता है। इससे वह आश्वस्त होता है कि प्रत्येक कार्य नियमों एवं निर्देशों के अनुसार किया जा रहा है या नहीं। परन्तु उस नियन्त्रण के क्षेत्र की भी शारीरिक व मानसिक सीमाऐं होती हैं, जोकि एक उच्च अधिकारी अपने अधीनस्थ कर्मचारियों पर लागू कर सकता है।

नियन्त्रण के क्षेत्र पर एक महत्वपूर्ण सीमा मानवीय ध्यान-क्षेत्र द्वारा लागू होती है। उदाहरण के तौर पर यह देखा जाता है कि एक व्यक्ति केवल सीमित कर्मचारियों, जैसे- सात, नौ अथवा बारह का ही सक्रिय पर्यवेक्षक कर सकता है। यदि एक उच्च अधिकारी से आशा की जाये कि वह उससे अधिक व्यक्तियों की क्रियाओं का नियन्त्रण करेगा, जितनी कि वह वास्तव में कर सकता है तो उसका परिणाम होगा कार्य में देरी तथा अकुशलता।

अनुसंधानकर्ताओं ने इस तथ्य की खोज के अनेक प्रयास किये हैं कि व्यक्तियों की वह आदर्श संख्या क्या होनी चाहिये जिनकी क्रियाओं पर एक उच्च अधिकारी द्वारा प्रभावी नियन्त्रण किया जा कर सके वस्तुतः ऐसा अनुसन्धान पूर्णतः निरर्थक है। एक अधिकारी द्वारा कितने व्यक्तियों पर प्रभावी नियन्त्रण किया जा सकता है। यह तथ्य नियन्त्रणकर्ता की शक्ति, सौंपे गये कार्य की प्रवृति और कर्मचारियों की शारीरिक स्थिति पर निर्भर करता हैं आइये सम्बन्ध में महत्वपूर्ण विचार को के मतों को जानने व समझने का प्रयास करें-

- एल0 उर्विक के मतानुसार एक व्यक्ति अधिक से अधिक पाँच या छः सहायक कर्मचारियों की क्रियाओं पर सफलतापूर्वक नियन्त्रण रख सकता है।

- ई0 एफ0 एल0 ब्रीच के मतानुसार एक उच्चधिकारी के अधीन अधीनस्थों की संख्या पर्याप्त है। लिण्डाल के मतानुसार, कोई एक व्यक्ति अपने तुरन्त अधीन अधिक से अधिक पाँच सहायक कर्मचारियों की क्रियाओं का प्रबन्ध कर सकता है।
- हेमिल्टन ने अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा है, सामान्यतया एक मानव तीन से छः मस्तिष्क पर प्रभावी ढंग से नियंत्रण रख सकता है।
- हेनरी फेयोल के विचारानुसार प्रबन्धक पर्यवेक्षक के नियंत्रण में अधिक से अधिक पाँच या छः अधीनस्थ होने चाहिए।

वस्तुतः यह कहा जा सकता है कि सभी विचारकों में यह सहमति प्रदर्शित होती है कि क्षेत्र जितना छोटा होगा, सम्पर्क उतना ही ज्यादा होगा और परिणाम स्वरूप नियंत्रण अधिक कारगर होगा, क्योंकि शारीरिक और मानसिक दोनों ही दृष्टियों से मानव क्षमता की एक सीमा होती है। इसलिए कोई वरिष्ठ अधिकारी कितनी भी सक्षम क्यों न हो वह असीमित संख्या में अधीनस्थों का निरीक्षण नहीं कर सकता। एक प्रबन्धक अधिक से अधिक छः या सात अधीनस्थों के कार्य का नियंत्रण कर सकता है।

12.4 आदेश की एकता

लोक प्रशासन की महत्वपूर्ण समस्याओं में से एक है सामूहिक साहयोग और समन्वय से काम करवाना, जिससे संगठन के सदस्य एक उद्देश्य के लिये, एक शक्ति से, एक स्वर से निरन्तर कार्य करें न कि एक-दूसरे के विरूद्ध कार्य निष्पादन में।

इस सिद्धान्त के अनुसार आदेश में एकता होनी चाहिये। इसके लिये यह आवश्यक है कि प्रत्येक कर्मचारी को आदेश एक ही अधिकारी द्वारा दिये जाये। जिससे वह उसके प्रति जावबदेह रहे। इससे उनके मन में कोई आशंका नहीं होती, क्योंकि अनेक अधिकारियों द्वारा दिये गये आदेश एक-दूसरे के प्रतिकूल भी हो सकते हैं। इससे वह अपने उत्तरदायित्व का ठीक प्रकार से निर्वाह नहीं कर पाता, अनुशासन खतरे में पड़ जाता है। जिससे उपक्रम में शान्ति एवं स्थिरता का खतरा पैदा हो जाता है।

आदेश की एकता से कर्मचारियों में कार्य के प्रति न हो भ्रान्तियाँ पैदा होती हैं, न ही गलतियाँ और न ही कार्यसम्पन्न करने में अनावश्यक विलम्ब होता है, जिससे वे सदैव आत्मविश्वास के साथ कार्य करते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार वह स्थिति बड़ी अवांछनीय होती है जब संगठन में किसी सदस्य को ऐसी स्थिति में रख दिया जाता है, जबकि उसे एक से अधिक उच्च अधिकारियों के आदेश प्राप्त होते हैं।

एक महत्वपूर्ण तथा आवश्यक प्रश्न यह है कि क्या व्यवहार में संगठनों में आदेश की एकता को अपनाया जा सकता है। एक उदाहरण द्वारा इस प्रश्न पर विचार करें- मुख्य सचिव प्रदेश स्तर पर कृषि, पशुपालन, सहकारिता, कानून-व्यवस्था, शिक्षा, चिकित्सा और स्वास्थ्य सेवाओं जैसे सभी विभागों और कार्य-कलापों का प्रमुख होता है। इस प्रकार अगर देखा जाये तो प्रदेश के सभी विभागों के कर्मचरियों को सीधे उसी से आदेश लेने चाहिये, लेकिन व्यवहार में वे अपने प्रमुख सचिवों और विभागीय प्रमुखों दोनों से आदेश लेते हैं। विभागीय प्रमुख सचिव तथा मंत्री महोदय दोनों से आदेश लेते हैं। इस तरह, आधुनिक संगठनों की एकता लागू कर पाना मुश्किल होता है।

इस तरह समावेश की एकता में महत्व एकता का है न कि समावेश का। एकता का मतलब संगठन के काम में एकरूपता से है। आदेश में एकता का क्षेत्र अधिकारियों या सामान्य प्रशासकों और तकनीकी अधिकारियों द्वारा कर्मचारियों को आदेश दिये जाने से है, जब तक समावेश संगठन के उद्देश्य की एकरूपता के अनुकूल होते है। यह बात महत्वपूर्ण नहीं रहती कि कौन-कौन अधिकारी क्या आदेश दे रहे हैं? उपरोक्त विवेचन से इस सिद्धान्त की निम्नलिखित विशेषताओं का अध्ययन किया जा सकता है। इसे क्रमबद्ध कर समझनें का प्रयास करें-

- आदेश की एकता से सत्ता या संगठन से सम्बद्ध सूत्रों का स्पष्टीकरण होता है।
- आदेश की एकता से कार्य व आदेश के उत्तरदायित्व का निर्धारण होता है।
- आदेश की एकता से इन बात की भी सम्भावना हो जाती है कि अनेक विरोधी आदेशे का लाभ उठाकर कर्मचारी व अधिकारियों के बीच मनमुटाव पैदा करा सकते हैं।
- निर्देशों में परस्पर विरोध का अभाव दृष्टिगत हो सकता है।
- कर्मचरियों का प्रभावपूर्ण निरीक्षण, पर्यवेक्षण व नियंत्रण सम्भव होता है।
- विभिन्न कार्यों के लिये उत्तरदायित्व का स्पष्ट निर्धारण किया जाता है, जिससे कार्य निस्पादन गुण से युक्त होता है।

वस्तुतः आदेश की एकता कार्मचारियों को उद्देश्य के प्रति सजग, समर्पित और कार्य-कुशल बनाती है।

अभ्यास प्रश्न-

1. 'संगठन सिद्धान्त' के पितामह किसे माना जाता है?
2. संगठन संरचना की तुलना सीढ़ी सरंचना से किस विद्वान ने की है?
3. पदसोपान व्यवस्था में कितने स्तर होते हैं?
4. लोक प्रशासन में 'नियंत्रण का क्षेत्र' किससे सम्बन्धित है?
5. नियंत्रण के लिये किसने कहा कि 'यह पाँच या छः सह कर्मियों की क्रियाओं को सुव्यवस्थित कर सकता है।'

12.5 सारांश

वर्तमान युग सूचना प्रोद्योगिक और ज्ञान का युग है, जब प्रशासनिक संगठनों की जवाबदेही ही सुनिश्चित करना एक राज्य का सर्वोच्तम प्रयास माना जाने लगा है। ऐसी संगठनात्मक कार्यकुशलता, पारदर्शिता और प्रभावपूर्णता बनाये रखने के लिये संगठन की संरचना में लोक प्रशासन के विचार को वर्णित सिद्धान्तों द्वारा कठोरता से अनुपालन किया जाना अनिवार्य है।

12.6 शब्दावली

प्रशासनिक दृष्टिकोण- प्रबन्ध के कार्यों तथा उनके निष्पादन के लिए आवश्यक गुणों के सन्दर्भ में प्रबन्ध न प्रक्रिया का विश्लेषण करना।

तंत्र विचारधारा- संतुलित तथा एकीकृत तंत्र के रूप में प्रबन्ध को समझना।

समग्र अध्ययन- किसी कार्य का निष्पादन करने में लगने वाले समय का मापन व विश्लेषण करने के लिए प्रयोग की जाने वाली तकनीक।

नियंत्रण का विस्तार- एक प्रबन्ध क के द्वारा प्रभावपूर्ण पर्यवेक्षण करने के लिए सीमित कर्मचारियों की संख्या का निर्धारण।

आदेश की सोपान श्रृंखला- उच्चतम अधिकारी से लेकर नीचे के स्तर तक उपक्रम में कार्य करने वाले व्यक्तियों के बीच अधिकार सम्बन्ध का यह सोपान बोध कराती है। इसमें अधिकारियों की कड़ी होती है, जो दोनों ही दिशाओं, (ऊपर से नीचे तथा नीचे से ऊपर) में संवहन के लिए कड़ी के रूप में कार्य करते हैं।

प्रबन्ध की सार्वभौमिकता- प्रबन्ध विज्ञान के मूल अथवा प्रमुख तत्व, सिद्धान्त अवधारणाऐं सभी प्रकार की परिस्थितियों में सभी स्थानों पर लागू होते हैं। व्यवहार में उनका प्रयोग सांस्कृतिक अंतरों, संभाव्यताओं अथवा परिस्थितियों के अनुसार किया जाता है।

आदेश की सोपान श्रृंखला- उच्चतम अधिकारी से लेकर नीचे के स्तर तक उपक्रम में कार्य करने वाले व्यक्तियों के बीच अधिकार सम्बन्ध का यह सोपान बोध कराती है, इसमें अधिकारियों की एक श्रंखला होती है जो दोनों ही दिशाओं(ऊपर से नीचे तथा नीचे से ऊपर) में संवहन के लिए कड़ी के रूप में कार्य करते हैं।

प्रबन्ध अथवा नियंत्रण का विस्तार- एक प्रबन्ध क के द्वारा प्रभावपूर्ण पर्यवेक्षण करने के लिए सीमित कर्मचारियों की संख्या निर्धारण।

12.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. फेयोल, **2.** मूने तथा रेले , **3.** संगठन की आवश्यकता एवं प्रकृति के अनुसार, **4.** आदेश, **5.** उर्विक

12.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. Bhattacharya, Mohit, 1987 Publi Administration, The World Press Private Ltd: Calcutta.
2. Prasad, Ravindra D. Etc. al 9eds.) 1989 Administrative thinkers:Sterling Publishers: New Delhi.
3. चतुर्वेदी, त्रिलोक नाथ, 1989 तुलनात्मक लोक प्रशासन, रिसर्च पब्लिकेशन, नई दिल्ली।
4. Avasth, A., & maheshwari S, 1984 Public Adiministration; Lakshmi Narain Agarwal; Agra

12.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. Baker R.J.S. 1972 Adiministrative Theory and Aublic Administration; Hut Chinos: London.
2. Gros Betras, 1964 the Managing Organisations: The Administrative Struggle Vol: The Fee Press of Glencoe: London.
3. Gulick L. and Urwick L. (rds.) 1937 Papers on Science of Administeation; The Institute of Public Adminisration; Columbia Unviersity: New Yrk.
4. Prasad, Ravindra, D.(ed) 1989 Adninistrative Thinkers: Sterling Pulishers; New Delhi.

12.10 निबंधात्मक प्रश्न

1. पदसोपन की अवधारण को समझाते हुए स्पष्ट करिये कि पदसोपान किसी संगठन के लिये क्यों आवश्यक है?
2. नियंत्रण तथा पर्यवेक्षण एक ही सिक्के के दो पहलू हैं, टिप्पणी करें।
3. संगठन के लिये आदेश की एकता का क्या महत्व है? प्रशासनिक संगठन में इसे कैसे स्थापित किया जा सकता है?
4. नियंत्रण का विस्तार करते समय किन तथ्यों की जानकारी होना आवश्यक है?
5. क्या प्रभावी नियोजिन ही प्रभावी नियंत्रण का आधार बन जाता है? टिप्पणी करें।

इकाई- 13 संगठन के सिद्धान्त-II

इकाई की संरचना

13.0 प्रस्तावना
13.1 उद्देश्य
13.2 संगठन के सिद्धान्त
    13.2.1 समन्वय
    13.2.2 प्रत्यायोजन
    13.2.3 पर्यवेक्षण
    13.2.4 केन्द्रीकरण
    13.2.5 विकेन्द्रीकरण
13.3 सारांश
13.4 शब्दावली
13.5 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
13.6 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
13.7 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
13.8 निबंधात्मक प्रश्न

13.0 प्रस्तावना

यह सर्वविदित है कि प्रशासनिक संगठन नियमों और सिद्धान्तों के आधार पर अपनी संरचना और दैनिक क्रिया कलापों को अगली जामा पहनाते हैं पिछली इकाई ने संगठन के आधार भूत तीन सिद्धान्तों को विस्तृत विवेचना प्रस्तुत की है। वर्तमान इकाई वस्तुतः उन सिद्धान्तों का विवेचन करेगी जिनका उपयोग क्रियात्मक रूप से संगठन को प्रत्यायोजन, पर्यवेक्षण, केन्द्रीकरण तथा विकेन्द्रीकरण को सम्मिलित किया गया है।

13.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- संगठन में समन्वय के सिद्धान्त और प्रत्यायोजन के सिद्धान्त के समझ सकेंगे।
- संगठन में पर्यवेक्षण के सिद्धान्त की विवेचना कर सकेंगे।
- संगठन में केन्द्रीकरण की अवधारणा का विवेचन कर सकेंगे।
- संगठन में विकेन्द्रीकरण के सिद्धान्त के आत्मसात कर सकेंगे।

13.2 संगठन के सिद्धान्त

संगठन के सिद्धान्तों को निम्नलिखित बिन्दुओं के माध्यम से समझने का प्रयास करते हैं-

13.2.1 समन्वय

समन्वय से आशय विभिन्न उत्पन्ति के साधनों और उनकी क्रियाओं को इस तरह से क्रमबद्ध से है, जिससे कि प्रभावी ढंग से संगठन के लक्ष्यों को प्राप्त किया जा सके। एक प्रशासक अपने अधीनस्थ कर्मचारियों एवं अधिकारियों के मध्य सामूहिक प्रयासों को इस प्रकार सुव्यवस्थित करता है कि सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति में सभी का योगदान सकारात्मक हों।

सामान्यतः समन्वय यह सुनिश्चित करता है कि एक कर्मचारी दूसरे कर्मचारी के कार्यों में सहयोग दे। इसके अभाव में सामूहिक प्रयासों की सही दिशा नहीं दी जा सकती है। यह संगठन का हृदय है, जिसमें सर्वोच्च अधिकारी से लेकर नीचे स्तर तक के श्रमिकों को उद्देश्य प्राप्ति के लिए समन्वित प्रयास हेतु प्रेरित किया जाता है। इससे गुणवत्ता के साथ- समय-बद्ध कार्य का निष्पादन सम्भव हो पाता है।

इस प्रकार संगठन के लक्ष्य को ध्यान में रखकर संगठन के अधीनस्थों तथा विभागों में एकीकरण करने की प्रक्रिया इसमें समाहित होती है। संगठन में प्रशासक के अनेक कार्य होते हैं, जैसे- नियोजन, नियंत्रण, नियुक्तियाँ, संगठन, अभिप्रेरणा आदि। इन सभी में समन्वय रखना उसके लिये अति महत्वपूर्ण प्रकार्य होता है। अतः सामूहिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए संस्था के मानवीय एवं भौतिक संसाधनों में समन्वय स्थापित करने का प्रयास कियाजाता है। इसे एक उदाहरण द्वारा समझने का प्रयास करें-

जिस प्रकार भारतीय क्रिक्रेट टीम के खिलाड़ी दूसरी टीम पर उसी दशा में जीत प्राप्त प्राप्त करतें हैं, जबकि टीम के समस्त खिलाड़ी आपस में समन्वय रखते हुए अपनी भूमिकाओं का निर्वहन करें। ठीक उसी प्रकार संगठन के कर्मचारी भी संगठन के पूर्व-निर्धारित लक्ष्यों को तभी प्राप्त कर सकते हैं, जब उनके कार्यों में समन्वय हो। इस प्रकार समन्वय प्रशासन का महत्वपूर्ण कार्य है। समन्वय को विभिन्न विद्वानों ने अपने-अपने ढंग से समझाने का प्रयास किया है। अत: इसकी विभिन्न परिभाषाओं को समझने का प्रयास करें-

हेनरी फेयोल के शब्दों में, ''समन्वय से अभिप्राय किसी संगठन की सभी क्रियाओं में एकरूपता स्थापित करने से है, जिससे उसकी कार्यशीलता तथा सफलता सम्भव हो सके।''

मूने तथा रैले के अनुसार, ''कार्य की एकता की स्थापना हेतु सामूहिक प्रयास का व्यवस्थित आयोजन ही समन्वय कहलाता है।''

न्यूमैन के अनुसार, ''समन्वय का सम्बन्ध व्यक्तियों के एक समूह के कार्यों को व्यवस्थित ढंग से जोड़ने तथा उनमें एकरूपता लाने से है।''

कूण्टज 'ओ' डोनेल के अनुसार, ''समन्वय प्रबन्ध का सार है, जो एक समूह के लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए व्यक्तिगत प्रयासों में एकरूपता लाने के लिए किया जाता है।''

मैरी पार्कर फोलेट के अनुसार, ''यह एक निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है। अतः प्रारम्भ से ही संस्था की क्रियाओं में समन्वय स्थापित करना चाहिए, क्योंकि बाद में इसकी स्थपना करना अत्यन्त कठिन हो जाता है।''

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि समन्वय संगठन में पारस्परिक विरोध व कटुता को दूर करता है, जिससे सहयोग पूर्ण वातावरण का निर्माण करता है। चूँकि प्रत्येक संगठन में विभिन्न योग्यताओं, इच्छाओं, दृष्टिकोणों तथा आकांक्षाओं वाले व्यक्ति कार्य करते हैं, अतः यदि इस विविधता को उद्देश्य की एकता में रूपान्तरित न किया जाये तो परिणाम नकारात्मक होंगे। वस्तुतः समन्वय ही वह कला है जो अनेकता को एकता में परिवर्तित कर संगठन को कार्यकुशल एवं प्रभावी बनाता है। लोक प्रशासन के विचारक समन्वय के अन्तर्गत निम्नलिखित क्रियाओं को सम्मिलित करते हैं-

- संगठन की समस्त क्रियाओं में प्रारम्भ से ही समन्वय स्थापित करना चाहिए।
- विभिन्न अधिकारियों द्वारा किसी निर्णय पर सामूहिक विचार-विमर्श करना चाहिए।
- अधिकारियों एवं कर्मचारियों के मध्य प्रत्यक्ष सम्प्रेषणव्यवस्था स्थापित करना चाहिए।
- सेवी-वर्गीय विभागों की आन्तरिक क्रियाओं में समन्वय स्थापित करना चाहिए।

उपरोक्त क्रियाओं के पश्चात समन्वय को निम्नलिखित ढंग से सूची-बद्ध कर आत्मसात् किया जा सकता है। इन्हें समझने का प्रयास करें-

- समन्वय एक सतत् चलने वाली प्रक्रिया है। यह स्थिर न होकर गत्यात्मक हैं जो कि किसी निश्चित उद्देश्य के लिए क्रियान्वित की जाती है।
- समन्वय आयोजना, संगठन, अनुमान तथा नियन्त्रण के समन्वय का मूर्त विज्ञान है।
- समन्वय की आवश्यकता सभी व्यावसायिक, गैर-व्यावसायिक, राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक संगठनों में उनेक प्रारम्भिक कार्यो से ही प्रारम्भ हो जाती है।
- संगठन की कार्यकुशलता उचित समन्वय पर ही निर्भर करती है। जितना कुशल समन्वय होगा, संगठन उतना ही सुचारू रूप से अपने कार्यों का निष्पादन करेगा।

इस प्रकार कार्य की एकता की स्थापना हेतु सामूहिक प्रयास की नियमित व्यवस्था ही समन्वय का मूल आधार है। एक ओर जहाँ समन्वय के विभिन्न लाभ हैं, वही दूसरी ओर इसके महत्वपूर्ण कार्य भी है। जिन्हें अध्ययन को पूर्णता प्रदान करने हेतु वर्गीकृत कर अध्ययन किया जाना आवश्यक हैं। इन्हें विश्लेषित करने का प्रयास करें-

- बिना समन्वय के एक संस्था के कर्मचारी विभिन्न दिशाओं में भटक सकते हैं, समन्वय समूह के सदस्यों में समान उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए सामूहिकतर की भावना को जगाने का प्रयास करता है।
- सामान्यतया यह देखा गया है कि एक ही संगठन के विभागीय उद्देश्य व वैयक्तिक उद्देश्य परस्पर विरोधी होते हैं। जिससे संसाधनों का दुरूपयोग प्रारम्भ हो जाता है। ऐसे विरोधों को दूर कर संसाधनों का सदुपयोग संभव बनाने का कार्य करता है।
- निजीकरण उदारीकरण और भूमण्डलीकरण के कारण प्रशासनिक संगठन के आकार में बहुत अधिक वृद्धि होने लगी है। इनका बढ़ता हुआ आकार जटिल संगठन संरचना तथा दोषपूर्ण सम्प्रेषण को जन्म देता है और ऐसी दशा में संगठन में प्रवाहपूर्ण कार्य-प्रणाली के लिये समन्वय की आवश्यकता बढ़ जाती है।
- जब समूह का मिला-जुला प्रभाव समूह के प्रत्येक सदस्य के पृथक-पृथक किये जा सकने वाले योगदान के योग से अधिक हो तो इसे सिनर्जी लाभ कहा जाता है। समन्वय द्वारा एक संगठन को सिनर्जी लाभ होता है, क्योंकि समन्वय द्वारा वैयक्तिक प्रयास समूह प्रयास में बदल दिये जाते हैं और संगठन की कुल कार्यक्षमता बढ़ जाती है।
- समन्वय के अन्तर्गत ऐसी योजनाओं का निर्माण किया जाता है जो कि अधीनस्थ कर्मचारियों की गतिविधियों में उचित समन्वय स्थापित करने में सर्वथा सक्षम हों तथा जो उनकी गतिविधियों का नियमन कर सकें।

अब तक के विश्लेषण से आप समन्वय के सिद्धान्त के अनुप्रयोगों से भली-भाँति परिचित हो चुके हैं। अब प्रश्न यह उठाता है कि क्या समन्वय लागू करने की कोई प्रक्रिया भी है? समन्वय को क्रियान्वित करने की निम्नलिखित विधियाँ हैं। इन्हें क्रमबद्ध कर समझनें का प्रयास करें-

- नियोजन- नियोजन को समन्वय की तरफ बढ़ा हुआ प्रथम कदम मानते हैं। यह साधन, कर्मचारी-वर्ग एवं उनके व्यवहार आदि से प्रत्यक्ष सम्बन्धित होता है। एक अच्छे नियोजन का कार्य आधी सफलता की गारण्टी होता है। अतः संगठन में कुशल समन्वय के लिये प्रभावी नियोजन का होना अवश्यक है।
- समन्वय- संगठन के समस्त अनुभाग समन्वय में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं, प्रशासन में विभिन्न प्रकार के विवाद उठते हैं, जिनका समाधान समन्वय के द्वारा किया जाता है। अतः विभागीय स्तर पर समन्वय की स्थापना, प्रभावी समन्वय का द्वितीय चरण है।

- लेखा विभाग- किसी भी संगठन का 'लेखा विभाग मंत्रालय' स्वयं एक महत्वपूर्ण समन्वयकर्ता है। प्रशासकीय विभाग लेखा विभाग में अपनी वित्त सम्बन्धी माँगे प्रस्तुत करते हैं और ऐसा करने में वे अक्सर समन्वयात्मक दृष्टिकोण अपनाते हैं। बजट-निर्माण के क्रम में लेखा विभाग को विभिन्न प्रकार की समन्वयकारी भूमिका निभानी पड़ती है। अतः आवश्यकतानुसार समन्वय स्थापना में लेखा एवं वित्त अनुभाग की सहायता ली जा सकती है।
- अन्तर्विभागीय समितियां- प्रशासनिक विभागों के बीच उत्पन्न होने वाले विवादों और मतभेदों को सुलझाने में प्रशासनिक क्रियाओं और विभागीय समितियों का महत्वपूर्ण स्थान होता है। अतः इन समितियों की स्थापना एवं कुशल प्रयोग समन्व्य को प्रभावी बनाता है।
- संचार के साधन- संचार के साधन भी समन्वय स्थापना में महत्वपूर्ण होते हैं। संचार के साधनों द्वारा लिखित या अलिखित सूचनाओं, आज्ञाओं, निर्देशों आदि को एक अधिकारी से दूसरे अधिकारी तक पहुँचाया जाता है, जिससे समन्वय की प्रक्रिया आसान हो जाती है।

13.2.2 प्रत्यायोजन

आज सूचना-क्रान्ति के युग में किसी एक व्यक्ति के लिये उपक्रम की सम्पूर्ण व्यवस्था पर नियन्त्रण रखना सम्भव नहीं है। इसलिये व्यक्ति अपना कार्य अन्य व्यक्तियों को सौंप देते हैं। इस प्रकार से अपने कार्य-भार को दूसरे व्यक्तियों को सौंपना ही प्रत्यायोजन कहलाता है। अतः यदि कोई अधिकारी स्वयं कार्य करने में समर्थ नहीं है तो उसके लिए उसे अपने अधिकारों को हस्तान्तरित करना होता है।

दूसरे शब्दों में, प्रत्येक व्यक्ति को जिसे कुछ कार्य सौंपे जायें तो आवश्यक है कि उसे कुछ अधिकार भी प्रदान किये जायें, क्योंकि अधिकारों के बिना कोई भी व्यक्ति अपने कर्तव्यों का पूर्णतया पालन करने में असमर्थ रहेगा। अतः यह आवश्यक है कि यदि किसी व्यक्ति को कोई कार्य सौंपा जाये तो उसे कुछ अधिकार भी प्रदान किये जाये। अधिकारों के इस प्रकार के हस्तान्तरण को ही अधिकारों के प्रत्यायोजन की संज्ञा दी जाती है। इस सम्बन्ध में लोक प्रशासन के विद्वानों ने विभिन्न परिभाषाऐं प्रस्तुत की हैं-

एफ0 जी0 मूरे के अनुसार, ''अधिकार प्रत्यायोजन का आशय, कार्यों का अन्य व्यक्तियों को हस्तान्तरण तथा उस कार्य को करने की शक्ति का हस्तांतरण है।''

लुईस ए0 ऐलन के अनुसार, ''प्रत्यायोजन एक क्रियात्मक संचालन शक्ति है। यह एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसका अनुसरण करते हुए एक प्रशासक अपने कार्य को इस तरह विभाजित करता है कि इसका ऐसा भाग जो केवल वह स्वयं ही संगठन में अपनी अद्वितीय स्थिति के कारण प्रभावपूर्णता के साथ कर सकता है, वह स्वयं करता है और अन्य भागों के सम्बन्ध में ही दूसरों से सहायता लेता है।''

उपरोक्त दृष्टिकोणों के आधार पर प्रत्यायोजन की निम्नलिखित विशेषताओं की स्थापना की जा सकती है-

- प्रत्यायोजन संगठन की वह प्रक्रिया है, जिसके द्वारा अधिकारों या सत्ता का एक भाग अधीनस्थों को सौंपा जाता है। इसमें अधिकारों का स्तान्तरण किया जाता है।
- प्रत्यायोजन के बाद भी इस क्रिया को करने वाले अधिकारी के पास अधिकार बने रहते हैं। इस प्रकार यह अधिकारों का वितरण है, ना कि विकेन्द्रीकरण।
- प्रत्यायोजन उपरिगामी तथा पार्श्विक प्रकृति का भी हो सकता है। जिससे अधीनस्थों की अधिकार-सीमा स्पष्ट होती है।

- प्रत्यायोजन का अर्थ अधिकार त्यागना नहीं है, बल्कि अधिकारों को सौंपना होता है जिससे निष्पादन सरल हो सके।
- प्रत्यायोजन सौंपे गये अधिकारों को कभी भी कम या अधिक कर सकता है।
- प्रत्यायोजन में उस व्यक्ति के कार्य की सीमाऐं भी निश्चित की जाती हैं, जिसे अधिकार सौंपे गये हैं।
- प्रत्यायोजन का उद्देश्य प्रशासकीय एवं क्रियात्मक दक्षता को बढ़ाना होता है। यह सदैव सिद्धान्तों के आधार पर किये जाते हैं।
- ऐसे अधिकारों का प्रत्यायोजन कदापि नहीं किया जा सकता जो स्वयं के पास न हो।
- प्रत्यायोजन में कार्य निष्पादन हेतु अधिकारों का प्रत्यायोजन किया जाता है, न कि पद का।

अब तक हम यह अच्छी तरह जान चुके हैं कि व्यस्तताओं एवं जटिलताओं के कारण कोई भी प्रशासक संगठन की समस्त क्रियाओं का सफल संचालन नहीं कर सकता, क्योंकि प्रायः एक प्रशासक को संगठन की समस्त क्रियाओं का ज्ञान थोड़ा ही होता है। आधुनिक समय में प्रशासक के लिये निम्नलिखित कारणों से प्रत्यायोजन करना आवश्यक होता है। उन कारणों को क्रमबद्ध कर समझने का प्रयास करें-

- कोई भी प्रशासक कितना ही योग्य क्यों न हो, वह संगठन की समस्त क्रियाओं पर अकेला नियन्त्रण नहीं रख सकता। इसके अतिरिक्त यदि कोई प्रशासक संगठन की विविध क्रियाओं को करना भी चाहे तो, वह अनेक महत्वपूर्ण कार्यों को समय पर पूरा नहीं कर सकेगा। अतः हम कह सकते हैं कि प्रत्येक मानव अपूर्ण है। अतः इस मानवीय अपूर्णता के कारण प्रत्यायोजन करना आवश्यक हो जाता है।
- आधुनिक युग विशिष्टीकरण का युग है और किसी भी एक व्यक्ति के लिये यह सम्भव नहीं है कि वह सभी क्षेत्रों की क्रियाओं में विशिष्टता प्राप्त कर ले। अतः प्रशासकों को विशेषज्ञों के कार्यों का प्रत्यायोजन करना पड़ता है।
- आधुनिक संचार और सूचनाक्रान्ति के युग में समाज की बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिये संगठन को अपने कार्यात्मक-क्षेत्र के आकार में विस्तार करना पड़ता है। विस्तार करने के लिये अनेक शाखाऐं अथवा उप-विभागों की स्थापना करनी पड़ती है। इन नये उप-विभागों की क्रियाओं को संचालित करने के लिये प्रत्यायोजन की निरन्तर आवश्यकता पड़ती है।
- उच्च अधिकारी अपने अधिकारों एवं कर्तव्यों का प्रत्यायोजन करके निम्न स्तर के प्रबन्ध अधिकारियों को महत्वपूर्ण विषयों एवं समस्याओं पर निर्णय लेने के अवसर प्रदान करते हैं। इसे निम्न स्तर के कर्मचारियो में भी आवश्यक गुणों का विकास होता है और भविष्य में अच्छे कर्मचारी आसानी से उपलब्ध हो जाते हैं।

उपयुक्त विवेचन के आधार पर प्रत्यायोजन की आवश्यकता के समबन्ध में कहा जा सकता है कि जिस प्रकार अधिकार प्रशासन के कार्य की कुन्जी है, ठीक उसी प्रकार अधिकार का प्रत्यायोजन संगठन की कुन्जी है। आधुनिक समय में प्रशासनिक संगठन अधिकारों का प्रत्यायोजन किये बिना सफलता प्राप्त नहीं कर सकता।

उपरोक्त आवश्यकताओं के आधार पर लोक प्रशासन के विभिन्न विद्वानों ने प्रत्यायोजन का वर्गीकरण प्रस्तुत किया है। इसके वर्गीकरण को विस्तार से समझने का प्रयास करें -

- **सामान्य प्रत्यायोजन-** जब संगठन की समस्त क्रियाओं का कार्य-भार किसी एक व्यक्ति को सौंप दिया जाता है, तो यह सामान्य प्रत्यायोजन कहलाता है।

- **निश्चित प्रत्यायोजन-** जब एक व्यक्ति को निश्चित क्रियाओं के सम्बन्ध में ही कार्य-भार सौंपा जाता है, तब निश्चित प्रत्यायोजन अस्तित्व में आता है।
- **लिखित प्रत्यायोजन-** जब कार्य-भार का प्रत्यायोजन लिखित रूप में सौंपा जाये तो इसे लिखित भारार्पण की संज्ञा दी जाती है।
- **मौखिक प्रत्यायोजन-** जब कार्य-भार मौखिक रूप में सोंपा जाये तो उसे मौखिक प्रत्यायोजन के नाम से जानते हैं। इसकी तुलना में लिखित प्रत्यायोजन को संगठन में अधिक श्रेष्ठ माना जाता है।
- **औपचारिक प्रत्यायोजन-** जब प्रत्यायोजन संगठन की अधिकार-रेखा द्वारा निर्धारित सीमाओं के आधार पर होता है तो उसे औपचारिक प्रत्यायोजन के नाम से जाना जाता है।
- **अनौपचारिक प्रत्यायोजन-** इसके अन्तर्गत अधीनस्थ कर्मचारी उच्च-अधिकारियों की आज्ञा पर नहीं, अपितु स्वतः प्रेरणा से कार्य करते हैं। इसका मुख्य उद्देश्य लालफीताशाही को समाप्त कर भ्रष्टाचार का अन्त करना होता है।
- **पार्श्विक प्रत्यायोजन-** जब प्रत्यायोजन समस्तरीय अधिकारी को किया जाये तो उसे पर्श्विक प्रत्यायोजन कहा जाता है।
- **अधोगामी प्रत्यायोजन-** अधोगामी प्रत्यायोजन के अन्तर्गत प्रत्यायोजन प्राय उच्च अधिकारी से नीचे के अधिकारी की ओर होता है।

प्रशासकीय संगठनों में प्रत्यायोजन की सफलता से क्रियान्यवयन हेतु, विभिन्न प्रकार के सिद्धान्तों का निरूपण किया गया है। ज्ञातव्य हो कि वे सिद्धान्त संगठन की प्रकृति और उसकी आवश्यकतानुसार परिवर्तनीय हैं। कभी-कभी एक से अधिक सिद्धान्तों का प्रयोग भी लक्ष्यों की सफलता एवं सुव्यवस्थित प्राप्ति के लिये किया जा सकता है।

आइये प्रभावी प्रत्यायोजन के लिये निरूपित कुछ सिद्धान्तों को समझने का प्रयास करें-

- **प्रत्याशित परिणामों के द्वारा कर्तव्यों को सौंपने का सिद्धान्त-** उच्च अधिकारी अपने कर्तव्यों का प्रत्यायोजन अपने अधीनस्थों को करता है। परन्तु ऐसा करते समय उच्च-अधिकारी को चाहिये वह अधीनस्थों को उन उद्देश्यों को स्पष्ट कर दे जिन्हें वह प्राप्त करना चाहता है।
- **अधिकार एवं दायित्व का सिद्धान्त-** इस सिद्धान्त के अनुसार अधीनस्थों को प्रत्यायोजन करते समय उनके अधिकारों एवं दायित्वों को ध्यान में रखा जाता है।
- **पूर्ण उत्तरदायित्व का सिद्धान्त-** कोई भी अधिकारी केवल अपने अधिकारों को प्रत्यायोजन कर सकता है, उत्तरदायित्वों का नहीं। प्रत्येक अधिकारी जो अपने कार्य को अधीनस्थों को सौंपता है, सौंपे गये कार्यों के सम्बन्ध में पूर्ण उत्तरदायित्व उसी अधिकारी का होता है, अधीनस्थों को नहीं।
- **आदेश की एकता का सिद्धान्त-** प्रत्यायोजन की प्रक्रिया सम्पन्न करते समय इस तथ्य को ध्यान में रखना चाहिए कि अधीनस्थों को आदेश केवल उच्च-स्तर से ही प्राप्त हों तथा एक ही अधिकारी आदेश दे।

प्रायः सामान्यज्ञों द्वारा यह प्रश्न उठाया जाता है कि क्या प्रत्यायोजन वास्तव में लाभकारी है? इस सम्बन्ध में लोक प्रशासन के विभिन्न विद्वानों ने एक स्वर में निम्नलिखित लाभों को सूचिबद्ध किया है, जिनके आधार पर प्रशासनिक संगठनों में प्रत्यायोजन किया जाना लाभप्रद होता है। इनको समझने का प्रयास करें-

- प्रत्यायोजन संगठन में प्रभावशाली आधार का कार्य करता है।
- प्रत्यायोजन निर्णय की प्रक्रिया को प्रभावशाली आधार तक पहुँचाने में सहायता होता है, जिससे पारस्परिक सहयोग बढ़ता है।
- इसके द्वारा अधीनस्थों को प्रशिक्षण प्रदान करने में सहायता मिलती है।
- यह पदोन्नति से सम्बन्धित निर्णय लेने में सहायक होता है।
- यह प्रशासनिक पर्यवेक्षण को अधिक प्रभावी बनाता है।
- इसके उपयोग से प्रशासन को नीति-निर्माण करने का पर्याप्त समय मिलता है।
- प्रत्यायोजन के द्वारा संगठन विस्तार में सुगमता होती है।
- इसका क्रियान्वयन उपकरण प्रत्यायोजन को ही माना जाता है।
- यह सदैव अधीनस्थों के मनोबल में वृद्धि कर कार्य-निष्पादन को सुगम बनाता है। इससे अधीनस्थों को व्यक्तिगत विकास में भी सहायता मिलती है।

उपरोक्त लाभों के विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि अधिकारों का प्रत्यायोजन अधिकारी एवं अधीनस्थों दोनों के ही हित में है और इससे सम्पूर्ण उपक्रम लाभान्वित होता है तथा जनता के प्रति जवाबदेही सुनिश्चित होती है।

13.2.3 पर्यवेक्षण

जब प्रशासनिक संगठनों में निर्णय निम्न अधिकारियों तक संचारित कर दिये जाये तो पदसोपान में उच्चाधिकारी को अगला कार्य पदसोपान में यह देखना होता है कि उन्हें प्रभावी रूप से क्रियान्वित किया जाये। उनका यह दायित्व है कि वे इस सम्बन्ध में आश्वस्त करते रहें कि संगठन सुचारू रूप से कार्य करता रहे तथा निर्दिष्ट उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये समन्वित प्रयास निरन्तर किये जाते रहें। प्रशासनिक संगठन की इसी आवश्यकता को ही पर्यवेक्षण कहा जाता है।

इस प्रकार किसी संगठन के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए किये जाने वाले सामूहिक प्रयास का पर्यवेक्षण करना आवश्यक हो जाता है। दूसरे शब्दों में पर्यवेक्षण से अभिप्राय होता है, कार्यरत कर्मचारियों पर निगरानी रखना। यह ऐसी प्रक्रिया है जिसके अंतर्गत कोई व्यक्ति अन्य व्यक्तियों के कार्य का निर्देशन और निरीक्षण करता है। इसका मुख्य प्रयोजन यह सुनिश्चित करना है कि कर्मचारियों को जो कार्य सौंपे जाते हैं, वे उन्हें भली-भाँति और कुशलता पूर्वक करते हैं या नहीं।

कार्यालय प्रभारी या उसके ऊपर के अधिकारियों से मिले सामान्य आदेशों और निर्देशों को कार्यालय के पर्यवेक्षण स्तर पर कार्यान्वित किया जाता है। रिपोर्टों का तैयार होना, उनको टाइप किया जाना, पत्रों का फाइल होना, बैठकों की व्यवस्था, आगंतुकों का सत्कार कर विवरणियों को तैयार किया जाना तथा इसी प्रकृति के अन्य कार्यों को किया जाना और इन कार्यों के होने वाले परिणाम बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करते हैं कि कार्यालय पर्यवेक्षण किस प्रकार का है।

पर्यवेक्षण के दोषपूर्ण या उसमें कमी होने से नीतियों और कार्यक्रमों के सुचारू रूप से कार्यान्वयन में अनेक बाधाऐं आ सकती है। यदि पर्यवेक्षण न किया जाए तो प्रत्येक कर्मचारी कार्यालय के उद्देश्यों को ध्यान में रखे बिना ही अपनी सुविधा के अनुसार मनमनाने ढंग से काम करेगा। कार्यालय के कार्यों में बढ़ती जटिलता के कारण अब पर्यवेक्षण के महत्व को अधिक स्वीकारा जाने लगा है। केवल किताबी ज्ञान प्राप्त व्यक्ति यदि कार्यालय में काम करने आता है तो वह वहाँ हो रहे काम को देखकर ही उन्हें नहीं सीख सकता। इसके लिए तो आवश्यक है कि उसे

सतत् मागदर्शन और निर्देशन प्राप्त होता रहे तथा कार्य को सीखने और कुशलता पूर्वक करने की उसे प्रेरणा मिले। कार्यालय पर्यवेक्षण के फलस्वरूप नये तथा पुराने सभी प्रकार के कर्मचारी कार्य को अच्छी तरह से कर पाते हैं। कार्यालय के पर्यवेक्षण के फलस्वरूप कार्यालय के कार्य समन्वित ढंग से हो पाते हैं। ये कार्य दिन-प्रतिदिन अधिकाधिक विशेषीकृत होते जा रहे हैं। जिम्मेदारी विभिन्न स्तरों के अधिकारियों के मध्य विभक्त होती है और एक-दूसरे पर निर्भरता भी होती है। इन सबके फलस्वरूप रिपोर्टों, बीजकों और पत्रों के मसोदों को अच्छी तरह से तैयार करने के कार्य में पर्यवेक्षण आवश्यक हो जाता है। चूँकि कार्य अनेक विभागों में होता है, अतः आवश्यक होता है कि काम के सम्बन्ध में कर्मचारी एक-दूसरे से विचार-विमर्श करते रहें।

इस प्रकार पर्यवेक्षण का कार्य करने वाले अधिकारी/कर्मचारी संगठन में कड़ी का काम करते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार नेता एवं कर्मचारियों के मध्य जितना अधिक व्यक्तिगत व प्रत्यक्ष सम्पर्क होगा, नेतृत्व भी उतना ही अधिक प्रभावशाली होगा।

उपरोक्त विवेचन के उपरान्त पर्यवेक्षण की निम्नलिखित विशेषताऐं दृष्टिगत होती हैं। इनको क्रमशः समझने का प्रयास करें-

1. संगठन में काम करने वाले कर्मचारियों को निरंतर निर्देशित और अभिप्रेरित करना होता है, जिससे वे और अच्छे तरह से काम कर सकें। प्रबन्ध के सबसे नीचे के स्तर पर पर्यवेक्षक होते हैं, जिनका कर्मचारियों के साथ लगातार सम्पर्क होता है तथा उनके दिन-प्रतिदिन के कार्य में वे उनका निर्देशन करते हैं। इस प्रकार पर्यवेक्षक एक सतत् गतिशील प्रक्रिया है।
2. कार्यालय पर्यवेक्षण प्रत्यायोजित कार्य है। कार्यालय के पर्यवेक्षक के पास जो शक्ति होती है, वह उसे अपने ऊपर के अधिकारियों से मिली होती है। कार्यालय का प्रबन्ध क वहाँ के कर्मचारियों के काम के निर्देशन का अधिकार पर्यवेक्षक को सौंप देता है। पर्यवेक्षण प्रत्यायोजित कार्य तो है, परन्तु इसके सम्बन्ध में मुख्य बात यह है कि पर्यवेक्षक के पास अधिकार तो होता है और उसके साथ ही साथ कार्य में लगे हुए कर्मचारियों के काम के सम्बन्ध में जिम्मेदारी भी उसी की होती है।
3. कार्यालय पर्यवेक्षण प्रबन्ध का पहला स्तर है। प्रबन्ध की अनेक श्रेणियों में से पर्यवेक्षण पहली श्रेणी है। पर्यवेक्षक योजना बनाने वाले और उन्हें कार्यान्वित करने वालों के बीच कड़ी का काम करता है। प्रबन्ध के प्रथम स्तर के अधिकारी होने के नाते पर्यवेक्षक के पास कार्य की प्रगति के सम्बन्ध में मूल स्रोत से प्राप्त सूचना होती है और वह कार्य को निर्धारित समय में पूरा कराता है।

   आधुनिक युग में प्रशासकीय संगठन में पर्यवेक्षण का महत्व और भी बढ़ गया है। लोक प्रशासन में नीतियों की रचना, कार्यक्रमों का निर्धारण, बजट-निर्माण तथा कर्मचारियों की नियुक्ति इत्यादि कार्य तभी सफल हो सकता है, यदि उनके कार्यों के पर्यवेक्षण किया जाये। आज के युग में पर्यवेक्षण का स्वरूप पहले की तुलना में बदल गया है। अब इसका उद्देश्य पहले की तरह केवल गलतियों को खोजना नहीं, बल्कि यह देखना है कि कार्य करने की सुविधाऐं कर्मचारी को प्राप्त हैं, या नहीं।

13.2.4 केन्द्रीकरण

जब उपक्रम के उच्च-प्रबन्धकों के द्वारा अधीनस्थों को अधिकारों का भारार्पण नहीं किया जाता है और अधीनस्थ उच्च-प्रबन्ध के निर्देशानुसार ही कार्य करते हैं, तब इस संगठन के प्रारूप को केन्द्रीयकरण की संज्ञा देते हैं। केन्द्रीयकरण एक ऐसी स्थिति होती है, जिसके अन्तर्गत सभी प्रमुख अधिकार किसी एक व्यक्ति या विशिष्ट पद के पास सुरक्षित रहते हैं। अर्थात् इस व्यवस्था के अन्तर्गत अधिकारों का सहायकों को भारार्पण नहीं किया जाता है। वास्तव में कार्य के सम्बन्ध में अधिकांश निर्णय उन व्यक्तियों द्वारा नहीं लिये जाते जो कि कार्य में संलग्न हैं, अपितु संगठन में एक उच्चतर बिन्दु पर लिये जाते हैं। यह अधिकार सत्ता का न्यूनतम प्रत्यायोजन है। केन्द्रीकरण का

तात्पर्य है, सत्ता को संगठन के उच्च स्तर पर केन्द्रित करना। इस व्यवस्था के अन्तर्गत नीति-निर्धारण एवं निर्णय लेने की शक्ति को प्रशासनिक संगठन के उच्च अधिकारियों के अधिकार-क्षेत्र में रखा जाता है तथा संगठन के निचले स्तर के अधिकारी निर्देश, सलाह तथा स्पष्टीकरण हेतु ऊपरी स्तर के अधिकारियों पर निर्भर रहते हैं।
लोक प्रशासन के विभिन्न विचारकों ने इस सम्बन्ध में विभिन्न दृष्टिकोण प्रस्तुत किये हैं। इन्हें समझने का प्रयास करें-

1. हेनरी फेयोल के अनुसार, ''संगठन में अधीनस्थों की भूमिका को कम करने के लिए जो भी कदम उठाये जाते हैं, वे सब विकेन्द्रीयकरण के अन्तर्गत आते हैं।''
2. कुण्टज 'ओ' डोनेल के अनुसार, "केन्द्रीयकरण और विकेन्द्रीकरण में ठीक उतना ही अन्तर है, जितना कि ठण्डे और गरम में पाया जाता है।"
3. लुइस ए0 ऐलन के शब्दों में, "केन्द्रीयकरण से आशय है कि किये जाने वाले कार्य के सम्बन्ध में अधिकांश निर्णय उन व्यक्तियों द्वारा नहीं लिये जाते हैं जो कि कार्य कर रहे हैं, अपितु संगठन के उच्चतर बिन्दु पर लिये जाते हैं।"

उपरोक्त परिभाषाओं के विवेचन के उपरान्त संगठन की निम्नलिखित विशेषताऐं सामने आती हैं। जो इस प्रकार हैं-

1. केन्द्रीयकरण के अन्तर्गत संगठन के समस्त अधिकार एक ही व्यक्ति के पास केन्द्रित कर दिये जाते हैं और वह व्यक्ति ही उपक्रम के सम्पूर्ण कार्यों का निर्देशन करता है।
2. केन्द्रीयकरण व्यक्तिगत नेतृत्व में सहयोगी होता है।
3. एकीकरण व समन्वय सुगम व श्रेष्ठतर होता है।
4. नीतियों, व्यवहारों व कार्यवाहियों में एकरूपता रहती है।
5. आपातकालीन परिस्थितियों और संकट का सामना आसानी से हो सकता है।
6. योजनाओं तथा प्रस्तावों की गोपनीयता बनाई रखी जा सकती है।
7. इसके अन्तर्गत निर्णय परिचालन स्तर पर लेने के बजाए शीर्ष प्रबन्धकों के स्तर या उच्चतर बिन्दु पर लिये जाते हैं।
8. अधिकारों का केन्द्रीयकरण केवल उसी सीमा तक किया जाना चाहिए जो कि श्रेष्ठतम निष्पादन के लिए आवश्यक हो। केन्द्रीयकरण की कोटि का निश्चय संगठन की प्रकृति तथा उसके आकार को ध्यान में रखकर किया जाता है। केन्द्रीयकरण से संगठन को निम्नलिखित लाभ प्राप्त होते हैं।
    - **एकीकृत व्यवस्था-** संस्था के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए उच्च अधिकारियों द्वारा अपने अधीनस्थों को केन्द्रीयकृत आदेश एवं निर्देश देना अत्यन्त आवश्यक होता है। चूँकि केन्द्रीकरण के अन्तर्गत निर्णय शीर्ष अधिकारियों द्वारा लिये जाते हैं, जिससे आदेशों एवं निर्देशों में एकता बनी रहती है। एक क्रम में चलते हुए यह एकीकृत व्यवस्था को जन्म देता है।
    - **क्रियाओं की एकरूपता-** केन्द्रीकरण के अन्तर्गत संस्था के समस्त विभागों को आदेश एक ही केन्द्र-बिन्दु से प्राप्त होते हैं, जिससे इन विभागों की क्रियाओं में एकरूपता बनी रहती है। निर्णयों में भी एकरूपता रहती है। इस प्रकार सम्पूर्ण संगठन की क्रियाओं में एकरूपता का प्रदर्शन होता है।
    - **संकटकाल में सहायक-** प्रशासन जितना केन्द्रित होगा, आपातकालीन निर्णय उतना ही शीघ्रता से लिया जा सकेगा। आपातकाल में सोचने-विचारने का समय कम होता है तथा गलत

निर्णय लेने पर परिणाम नकारात्मक भी हो सकते हैं। अतैव केन्द्रीकरण के द्वारा संकटकालीन समस्त निर्णय शीर्षस्थ अधिकारी लेते हैं, जिससे अधीनस्थ चिन्तामुक्त रहते हैं।

यूँ तो केन्द्रीकरण से उपरोक्त लाभ एक संगठन के होते हैं, फिर भी प्रत्येक अवधारणा के जहाँ लाभ होते हैं, वहीं उसकी कुछ हानियों भी होती है। अध्ययन की पूर्णता की दृष्टि से इसके निम्नलिखित दोषों को समझने का प्रयास करें-

- **विकास में बांधक-** उच्च अधिकारियों पर कार्यभार अधिक हो जाने से विलम्ब के साथ-साथ अकुशलता भी बढ़ सकती है।
- **उच्च स्तरीय प्रबन्ध का बोलबाला-** केन्द्रीकरण में शीर्ष प्रबन्ध एवं विभागीय प्रबन्ध के बीच सदैव टकराव की स्थिति बनी रहती है, क्योंकि समस्त अधिकार एवं निर्णय लेने की दक्षता वरिष्ठ अधिकारियों में समाहित कर दी जाती है।
- **संदेशवाहन में अप्रभावी-** अधिकारों और उत्तरदायित्वों के मध्य असन्तुलन भी होता है। केन्द्रीकरण का यह असन्तुलन अधिकारियों और कर्मचारियों के मध्य सम्प्रेक्षण प्रणाली को भी हानि पहुँचता है।
- **संगठन में निराशा-** केन्द्रीकरण में कर्मचारी प्रेरणा का अभाव रहता है तथा उनका मनोबल बढ़ाने के लिए कोई स्पष्ट युक्ति का प्रयोग नहीं होता, जिससे कर्मचारियों का उत्साह व मनोबल गिरता है, जिससे नियन्त्रण शिथिल हो जाता है।
- **निर्णयों में देरी-** वरिष्ठों एवं कर्मचारयों के बीच संघर्ष की आशंका निरन्तर बनी रहती है तो निर्णयों में विलम्ब सामने आता है। कागजी कार्यवाही जटिल हो जाती है।

संक्षेप में केन्द्रीकरण की अवधारणा का लक्ष्य केन्द्रीयकृत कार्य करना है। जिसके लिए अधिकारियों की शाक्ति संगठन के शीर्ष स्तर पर केन्द्रीकृत कर ली जाती है। किन्हीं परिस्थितियों में ये अच्छा परिणाम दे सकते हैं और कभी नकारात्मक परिणाम भी दे सकते हैं।

13.2.5 विकेन्द्रीकरण

आज प्रशासनिक संगठन का सम्पूर्ण कार्य एक व्यक्ति द्वारा सम्पादित नहीं किया जा सकता है, अपितु संगठन के विभिन्न व्यक्तियों को सौंप दिये जाते हैं। इस प्रकार संगठन में केन्द्रीकरण के स्थान पर विकेन्द्रीकरण की अवधारणा जन्म लेती है। यह एक ऐसी व्यवस्था होती है, जिसके अन्तर्गत सभी अधिकार किसी विशिष्ट व्यक्ति या पद के पास एकत्रित न कर उन व्यक्तियों को प्रत्यायोजित कर दिये जाते हैं, जिनसे यह सम्बन्धित होते हैं। संगठन में विकन्द्रीकरण की मात्रा जितनी अधिक होगी उतनी ही अधिक अधीनस्थों की संख्या पर नियंत्रण किया जाना सम्भव हो सकेगा।

1. लुइस ए0 ऐलन के शब्दों में, विकेन्द्रीकरण से आशय केवल केन्द्रीय बिन्दुओं पर ही प्रयोग किये जाने वाले अधिकारों के अतिरिक्त सभी अधिकारों को व्यवस्थित रूप से निम्न स्तरों को सौंपने से है। विकेन्द्रीकरण का सम्बन्ध उत्तरदायित्व के सन्दर्भ में अधिकार प्रदान करने से है।
2. कुण्ट्ज एवं ओ0 डोनेल के अनुसार, अधिकार सत्ता का विकेन्द्रीकरण प्रत्यायोजन का प्राथमिक पहलू है तथा जिस सीमा तक अधिकारों का प्रत्यायोजन नहीं होता है वे केन्द्रित हो जाते हैं।
3. हेनरी फेयोल के शब्दों में, अधीनस्थ वर्ग की भूमिका के महत्व को बढाने के लिये जो भी कदम उठाये जाये, वे सब विकेन्द्रीकरण के अन्तर्गत आते हैं।

उपर्युक्त परिभाषाओं के विश्लेषणात्मक अध्ययन के आधार पर कहा जा सकता है कि विकेन्द्रीकरण एक ऐसी व्यवस्था है, जिसमें अधीनस्थों का महत्व बढ़ता है। निर्णयन प्रणाली का महत्वपूर्ण हिस्सा बनते हैं। इसकी कुछ महत्वपूर्ण विशेषताओं को समझने का प्रयास करें-

- उच्च अधिकारी का ध्यान बड़े कार्यों पर केन्द्रित होता है।
- युवा अधिकारियों को स्वतंत्र निर्णय लेने का अवसर मिलता है।
- समन्वय की भावना का प्रसार होता है।
- विकेन्द्रीकरण में विविधीकरण आसान हो जाता है।
- योग्य प्रबन्धक व कर्मचारी संस्था की ओर आकर्षित होते हैं।
- निम्न स्तर के प्रबन्धकों को कार्यभार सुपुर्द किए जाने के कारण उनमें प्रबन्धकीय क्षमता विकसित होती है।
- निर्णय लेने में सुविधा व शीघ्रता होती है।

उपरोक्त विशेषताओं के सन्दर्भ में लोक प्रशासन के विचारकों ने विकेन्द्रीकरण के कुछ महत्वपूर्ण उद्देश्यों की स्थापना की है। इन्हें क्रमबद्ध कर विश्लेषित करने का प्रयास करें-

- **उच्च प्रबन्धकों का कार्यभार कम करना-** यदि संगठन में सभी छोटे-बड़े कार्यों पर निर्णय उच्च अधिकारियों को ही करना होगा, तो ऐसी स्थिति में उनका कार्यभार तो बढ़ेगा ही साथ ही ऐसा भी हो सकता है कि महत्वपूर्ण कार्यों या योजनाओं के सम्बन्ध में वे सुव्यवस्थित निर्णय न कर सकें। ऐसी स्थिति में विकेन्द्रीकरण अत्यन्त आवश्यक हो जाता है।
- **अधीनस्थों का विकास करना-** सहायक अधिकारियों की योग्यता, कार्यकुशलता, अनुभवों, तकनीकियों आदि को परखने तथा विकसित करने के लिए विकेन्द्रीकरण अत्यन्त आवश्यक है। इस प्रकार इनका सही उपयोग एवं उत्तरदायित्व निर्धारित किया जाता है।
- **प्रतिस्पर्धा का सामना करना-** आज की गलाकाट प्रतिस्पर्धा के युग में जहाँ तुरन्त निर्णय लेने की आवश्यकता होती है, ऐसी स्थिति में केन्द्रीकरण के ऊपर पूर्णरूप से निर्भर नहीं रहा जा सकता है। विकेन्द्रीकरण निर्णय को सरल, प्रभावी एवं मितव्ययी बनाता है।
- **विविधीकरण की सुविधा के लिए-** यदि किसी संगठन के पास कार्यों की विविधता है तो उसे विकेन्द्रीकरण के सिद्धान्तों पर आधारित विभागीकरण को अपनाना आवश्यक होगा। इस प्रकार विभागीकरण, विकेन्द्रीकरण अवधारणा के अन्तर्गत ही अस्तित्व में लाया जा सकता है।

भारतीय गणराज्य जहाँ संवैधनिक व्यवस्था का मूल आधार लोककल्याण है। सभी राज्यों और केन्द्र प्रशासन में विकेन्द्रीकृत व्यवस्था क्रियान्वित है। किन्तु ये व्यवस्था कुछ निश्चित सिद्धान्तों के आधार पर क्रमशः आगे बढ़ती है। लोक प्रशासन में राल्फ जे0 कार्डीनर ने विकेन्द्रीकरण के निम्नलिखित सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। इन्हें समझने का प्रयास करें-

- विकेन्द्रीकरण से सम्बन्धित निर्णय लेने का अधिकार सदैव उच्च-प्रबन्ध को दिया जाना चाहिए।
- अधीनस्थों में निर्णय लेने की क्षमता होनी चाहिए, तभी इसे क्रियान्वित करना चाहिए।
- विकेन्द्रीकरण व्यवस्था को क्रियान्वित करने के लिए अधिकारों का प्रत्यायोजन किया जाना चाहिए।

- अधीनस्थों को अधिकारों के साथ-साथ उत्तरदायित्व भी उचित मात्रा में सौंपे जाने चाहिए।
- विकेन्द्रीकरण के लिए ऐसी आपसी साझेदारी का होना आवश्यक है, जिसमें स्टाफ का प्रमुख कार्य अनुभवी लोगों के माध्यम से कर्मचारियों को सहायता एवं परामर्श प्रदान करना होता है, ताकि कर्मचारी स्वतंत्रता पूर्वक निर्णय ले सकें और यदि आवश्यकता हो तो उसमें सुधार कर सकें।
- विकेन्द्रीकरण इस मान्यता पर आधारित है कि एक व्यक्ति द्वारा लिये गये निर्णय की तुलना में, सामूहिक रूप से लिये गये निर्णय व्यवसाय में अधिक श्रेष्ठ होते हैं।
- इसमें निर्णय लेते समय अधिकतम ज्ञान व अनुकूलतम साझेदारी से काम लेना चाहिये अन्यथा विकेन्द्रीकरण की व्यवस्था सफल नहीं होगी।
- इसके लिये सेवीवर्गीय नीतियाँ प्रामाणिक आधार पर हानी चाहिए तथा उनमें समय-समय पर आवश्यक संशोधन किये जाने चाहिए। इसमें श्रेष्ठ कार्य करने वाले व्यक्ति को पुरस्कार तथा खराब कार्य करने वाले व्यक्ति को दण्ड देने का प्रावधान होना चाहिए।
- विकेन्द्रीकरण की व्यवस्था सामान्य व्यावसायिक उद्देश्यों, संगठन, संरचना, उपक्रम की नीतियों की जानने व समझने की आवश्यकता पर निर्भर करती है।

लोक प्रशासन में विचारकों ने विकेन्द्रीकृत व्यवस्था के निम्नलिखित लाभों को रेखांकित किया है। भारतीय प्रशासनिक प्रणाली इस तथ्य की प्रत्यक्ष गवाह है कि विकेन्द्रीकृत व्यवस्था ने सदैव ही अप्रत्याशित परिणाम दिये हैं। इसके कुछ प्रमुख लाभों को जानने का प्रयास करें-

- इस अवधारणा से निर्णय लेने में सुविधा रहती है।
- इसमें उच्च-प्रबन्ध व अधीनस्थों के मध्य सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध होते हैं।
- इस अवधारणा से संगठन में राजनीति का अभाव रहता है, जिससे अधिकारियों एवं कर्मचारियों में टकराहट नहीं होती।
- इससे अनौपचारिकता व लोकतन्त्र को बढ़ावा मिलता है।
- इसमें अधीनस्थों के अच्छे कार्य की प्रशंसा की जाती है।
- इसमें विभागों के मध्य स्वस्थ प्रतिस्पर्धा से, उनकी कमजोरियों का ज्ञान प्राप्त होता है, जिसमें उन्हें तुरन्त दूर किया जा सकता है। जिससे निरीक्षण कार्य प्रभावी ढंग से किया जा सकता है।
- इसमें निर्णय लेते समय अधिकारी को सभी बातों का ज्ञान रहता है।

इस प्रकार प्रशासनिक संगठन के विकेन्द्रीकरण में कर्मचारियों के मनोबल में वृद्धि होती है और योग्य कर्मचारियों की प्राप्ति होती है। इसमें उच्च अधिकारियों पर कार्य-भार भी कम रहता है।

अभ्यास प्रश्न-

1. समन्वय का शाब्दिक अर्थ क्या है?
2. किस विद्वान के अनुसार समन्वय संगठन की विभिन्न क्रियाओं में एकरूपता लाता है?
3. अपने कार्यों को दूसरे कर्मचारियों को सौंपना क्या कहलाता है?
4. किस विद्वान के अनुसार प्रत्यायोजन एक क्रियात्मक संचालन शक्ति है?
5. जब प्रत्यायोजन उच्च अधिकारी से निम्न अधिकारी को होता है तो यह किस प्रकार का प्रत्यायोजन कहलाता है?

6. जब प्रत्यायोजन संगठन की अधिकार रेखा द्वारा निर्धारित सीमाओं के आधार पर होता है तो यह किस प्रकार का प्रत्यायोजन कहलाता है?

13.3 सारांश

अभी तक के समस्त सिद्धान्तों का अभिप्राय केवल संगठन के कार्य को प्रभावी बनाना है। वर्तमान समाज ज्ञान आधारित समाज है, यहाँ संगठन में पारदर्शिता, जवाबदेही और कार्यकुशलता की अपेक्षा प्रत्येक नागरिक से होती है। वस्तुतः संगठन में समन्वय, प्रत्यायोजन, पर्यवेक्षक, केन्द्रीकरण तथा विकेन्द्रीकरण आदि ऐसे सिद्धान्त हैं, जो संगठन को प्रभावी बनाने में सहयोग करते हैं। इस प्रकार एक संगठन और उसमें कार्यरत कर्मचारी ढंग से पूर्व निर्धारित उद्देश्यों को पूर्ण करने में सफलता प्राप्त करते हैं।

13.4 शब्दावली

नियोजन- किन कार्यों को कहाँ और कैसे करना है का पूर्व निर्णय।

अधिकार का प्रत्यायोजन- निर्धारित कार्यों के निष्पादन के लिए आवश्यक अधिकारों को अन्य व्यक्तियों को सौंपना।

समन्वय- व्यक्ति तथा समूह के प्रयासों में सामूहिक कार्यों तथा उद्देश्यों को पूरा करने के लिए सामंजस्य स्थापित करना।

विकेन्द्रीकरण- उपक्रम के नीचे के स्तरों पर निर्णय लेने की शक्ति को सौंपना।

अधिकार का दायित्व के साथ मेल- अधिकार कार्य निष्पादन करने का विवेकाधिकार है तथा दायित्व अधिकार प्राप्त करने वाले व्यक्ति का कार्य निष्पादन करने का दायित्व है, अतः यह तार्किक ढंग पर निष्कर्ष निकलता है कि कार्य करने का दायित्व हस्तांतरित अधिकार से अधिक नहीं होना चाहिए और न ही यह कम रहना चाहिए। यह सम रहना चाहिए।

केन्द्रीकरण- यह बिंदु अथवा स्तर जहाँ सभी निर्णय लेने वाले अधिकार केन्द्रित रहते हैं।

नियंत्रण- अधीनस्थों के कार्यों का मापन तथा सुधार जिससे यह आश्वस्त हो सके कि कार्य नियोजन के अनुसार किया गया है।

अधिकार- आदेश देने की शक्ति तथा यह निश्चित कर लेना कि इन आदेशों का पालन किया जा रहा है।

13.5 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. सहयोग, **2.** फेयोल, **3.** प्रत्यायोजन, **4.** लुईस एवं ऐलन, **5.** उर्ध्वगामी, **6.** औपचारिक

13.6 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. Prasad, Ravindra D. Etc. al 9eds., 1989 Administrative thinkers:Sterling Publishers : New Delhi.
2. Avasthi, A., & maheshwari S, 1984 Public Adiministration; Lakshmi Narain Agarwal ; Agra.
3. डॉ0 जे0 के0 जैन, प्रबन्ध के सिद्धान्त, प्रतीक पब्लिकेशन, इलाहाबाद-2002,
4. डॉ0 एल0 एम0 प्रसाद , प्रबन्ध के सिद्धान्त, सुल्तान चन्द एण्ड सन्स, नई दिल्ली- 2005,

13.7 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. Gulick L. and Urwick L. (rds.) 1937 Papers on Science of Administeation; the Institute of Public Adminisration; Columbia Unviersity: New Yrk.

2. Prasad, Ravindra, D (ed) 1989 Adninistrative Thinkers: Sterling Pulishers; New Delhi.

13.8 निबंधात्मक प्रश्न

1. प्रशासक के लिये संगठन में आन्तरिक समन्वय होना क्यों आवश्यक है?
2. प्रत्यायोजन की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए इसकी आवश्यकता को रेखांकित करिये।
3. पर्यवेक्षण की विभिन्न विशेषताओं को विस्तार से समझाइये।
4. केन्द्रीकरण तथा विकेन्द्रीकरण के बीच अन्तर को समझाइये।
5. ''भारत जैसे विशाल देश में प्रशासन को केन्द्रीकृत व्यवस्था का पालन करना चाहिए या विकेन्द्रीकृत'' अपना मत तर्कों सहित प्रस्तुत करें।

इकाई- 14 मुख्य कार्यपालिका

इकाई की संरचना

14.0 प्रस्तावना
14.1 उद्देश्य
14.2 मुख्य कार्यपालिका का अर्थ एवं परिभाषा
14.3 मुख्य कार्यपालिका के विभिन्न प्रकार
14.4 मुख्य कार्यपालिका के अधिकार व कार्य
14.5 मुख्य कार्यपालिका के प्रशासकीय कार्य
14.6 सफल मुख्य कार्यपालिका के गुण
14.7 मुख्य कार्यपालिका में प्रशासनिक शक्तियों को निहित करने के लाभ
14.8 सारांश
14.9 शब्दावली
14.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
14.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
14.12 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
14.13 निबंधात्मक प्रश्न

14.0 प्रस्तावना

मुख्य कार्यपालिका किसी भी संगठनात्मक ढ़ाँचे का केन्द्र बिन्दु होता है। मुख्य कार्यपालक संगठन के उद्देश्य, प्रक्रिया एवं नीतियों को पूर्णतया अपने सहयोगियों से विमर्श कर मूर्त रूप देता है। प्राचीन काल में राजतांत्रिक व्यवस्था में सम्राट या साम्राज्ञी के व्यक्तित्व किसी भी राज्य के दिशा एवं दशा को निर्धारित करते थे। वर्तमान में प्रजातांत्रिक परिवेश में राष्ट्रपति या प्रधानमंत्री, मुख्यमंत्री या गवर्नर, महापौर इत्यादि किसी भी संगठन के स्वरूप एवं विकास को तय करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। उनकी सफलता एवं असफलता लोगों के जीवन स्तर या अपेक्षाओं को काफी प्रभावित करते हैं। किसी भी राष्ट्र या संगठन की सफलता का रहस्य मुख्य कार्यपालिका के नीति एवं व्यवहारों पर निर्भर करेगा।

14.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- मुख्य कार्यपालिका के अर्थ, अवधारणा एवं कार्यों को जान सकेंगे।
- कार्यपालिका के आकार, प्रकार, प्रक्रिया, एवं उनकी भूमिका के सम्बन्ध में जान पायेंगे।
- मुख्य कार्यपालिका के उद्देश्यों, अधिकारों के सम्बन्ध में जान पायेंगे।

14.2 मुख्य कायपालिका का अर्थ एवं परिभाषा

प्रत्येक देश के शासन के सर्वोच्च शिखर पर जो व्यक्ति अथवा व्यक्ति समूह विराजमान होता है, उसे मुख्य कार्यपालिका कहा जाता है। मुख्य कार्यपालक का स्थान पदसोपान और पिरामिड के सर्वोच्च नुकीले बिन्दु पर होता है। मुख्य कार्यपालक राज्य का राजनीतिक नेतृत्व करता है। किसी भी देश की मुख्य कार्यपालिका का रूप वहाँ की संवैधानिक व्यवस्था के अनुरूप निर्धारित होता है। भारत में राष्ट्रपति, इंग्लैंड में सम्राट और सम्राज्ञी, अमेरिका में राष्ट्रपति और स्विटजरलैण्ड में संघीय परिषद प्रमुख कार्यपालिका होता है। राज्यों में राज्यपाल तथा

महानगरों में महापौर वहाँ के मुख्य कार्यपालक होते हैं। इसी प्रकार व्यावसायिक संगठनों के मुख्य प्रशासक को महाप्रबन्धक कहा जाता है। मुख्य कार्यपालिका जिस प्रकार से राज्यों के संगठनों को संचालित, निर्देशित, पर्यवेक्षित एवं नियन्त्रित करता है, उसी प्रकार महाप्रबन्धक भी व्यावसायिक संगठनों में प्रबन्धमण्डल की नीतियों को कार्यान्वित, नियन्त्रित एवं निर्देशित करता है। दोनों की स्थितियों की तुलना नीचे दिय गए चार्ट के द्वारा हम कर सकते हैं।

मुख्य कार्यपालक	महाप्रबन्धक
मतदाता	शेयरहोल्डर्स
विधायिका	निदेशक मण्डल
पर्यवेक्षण	पर्यवेक्षण
निर्देशन	निर्देशन
पदसोपान के शीर्ष पर	पदसोपान के शीर्ष पर

मुख्य कार्यपालक का कार्य सरकारी या निजी संस्थाओं में समान प्रतीत होता है। अन्तर दोनों के लक्ष्यों एवं प्रक्रियाओं ने भिन्नता की वजह से दिखाई देता है। मुख्य कार्यपालक के लिए जो महत्त्व मतदाताओं का है, वही महत्त्व महाप्रबन्धक के लिए शेयरहोल्डर्स का है। सरकारी परिप्रेक्ष्य में मुख्य कार्यपालक विधयिका द्वारा पारित नीतियों को लागू करता है, वहीं महाप्रबन्धक निर्देशक मण्डल द्वारा आदेशित नीतियों को क्रियान्वित करता है। 'POSDCORB' का सिद्धान्त भी दोनों पर समान रूप से लागू होता है। हम यह भी देखते हैं की पर्यवेक्षण, निर्देशन और नियन्त्रण की प्रक्रिया भी काफी समान है।

कई कार्य मुख्य कार्यपालिका और महाप्रबन्धक के एक जैसे ही हैं, जो की नीचे इंगित हैं-

1. किसी भी प्रशासकीय संगठन के सम्पूर्ण कार्यो में सामंजस्य तथा समन्वय करना मुख्य कार्यपालिका का महत्वपूर्ण कार्य होता है। उसी प्रकार व्यावसायिक संगठनों के समस्त कार्यों और उपविभागों में समन्वय स्थापित करने का दायित्व महाप्रबन्धक का होता है।
2. आवश्यक आदेश, निर्देश और आज्ञायें मुख्य निष्पादक और महाप्रबन्धक दोनों ही के द्वारा जारी की जाती हैं।
3. योजना, संगठन निर्माण, नियन्त्रण, निर्देशन और पर्यवेक्षण जैसे महत्वपूर्ण कार्य तो मुख्य कार्यपालिका और महाप्रबन्धक दोनों के लिए ही आवश्यक होते हैं।
4. महाप्रबन्धक और मुख्य कार्यपालक दोनों ही पदसोपान के शीर्ष पर होते हैं। इनके ऊपर कोई नहीं होता।

14.3 कार्यपालिका के विभिन्न प्रकार

किसी भी देश की मुख्य कार्यपालिका वहाँ के संवैधानिक इतिहास सामाजिक व्यवस्था, दलीय व्यवस्था एवं आर्थिक आधारों पर निर्भर करती है। कार्यपालिका के मुख्य प्रकार निम्नलिखित हैं-

1. राजनीतिक और स्थायी कार्यपालिका,
2. नाममात्र की एवं वास्तविक कार्यपालिका,
3. एकल एवं बहुल कार्यपालिका,
4. वंशानुगत एवं निर्वाचित कार्यपालिका, और
5. संसदात्मक और अध्यक्षयात्मक कार्यपालिका।

भारत में राजनीतिक और स्थायी कार्यपालिका दृष्टिगोचर होता है। राजनीतिक कार्यपालिका का सम्बन्ध नीतिनिर्धारण और निर्देशन से होता है। भारत में प्रधानमन्त्री और मन्त्रिमण्डल राजनीतिक कार्यपालिका हैं, जबकि

स्थाई कार्यपालिका में वे हैं जो सिविल सेवा तथा अधीनस्थ भर्ती से आते हैं। इन्हें अस्थाई और स्थाई कार्यपालिका भी कहा जाता है। राजनैतिक कार्यपालिका का कार्यकाल मतदाता, चुनावों द्वारा निश्चित करते हैं। उनका कार्यकाल निश्चित नहीं है। वहीं पर स्थाई कार्यपालिका के सदस्यों का चयन निश्चित कार्यकाल के लिए होता है। उन्हें हटाने की प्रक्रिया जटिल होती है।

यदि कार्यपालिका की समस्त शक्ति एक ही व्यक्ति के हाथ में अंतिम रूप से आ जाती है, तो उसे एकल कार्यपालिका कहते हैं। वहीं इसके विपरीत जब ये शक्तियाँ कुछ लोगों की समिति में निहित की जाती है तो उसे बहुल कार्यपालिका कहते हैं।

प्राचीन एथेन्स और स्पार्टा में बहुल कार्यपालिका थी। वर्तमान में स्विट्जरलैण्ड में इसका रूप देखने को मिलता है। अमेरिका में राष्ट्रपति सर्वोपरि रहता है। स्विजटलैंड में कार्यपालिका की सत्ता सदस्यों में निहितार्थ रहती है। इस परिषद का ही एक सदस्य वरिष्ठता के क्रम से एक साल के लिए अध्यक्ष की भूमिका निभाता है। कुछ लोगों का मत है कि इंलैण्ड व भारत के संसदीय शासनों की कार्यपालिका भी एकल कार्यपालिका के उदाहरण हैं। यद्यपि इन देशों में कार्यपालिका की शक्ति मन्त्रिमण्डल के हाथों में होती है, जो बहुत सारे व्यक्तियों की संस्था है। किन्तु यह मन्त्रिपरिषद सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त के आधार पर एक ईकाई की भाँति कार्य करती है और मन्त्रिपरिषद का प्रधान मन्त्रिमण्डल का अध्यक्ष तथा प्रभावशाली नियन्त्रणकर्ता होता है। अतः प्रधानमंत्री को कार्यपालिका का वास्तविक प्रधान कहा जा सकता है।

राजतन्त्रीय व्यवस्था में प्रायः ऐसी कार्यपालिका पायी जाती थी जो वंश-परंपरा के आधार पर गद्दी प्राप्त करते थे, उन्हें वंशानुगत कार्यपालिका कहा जाता है। जिस कार्यपालिका को प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष ढंग से निर्वाचन द्वारा चुना जाय, वह निर्वाचित कार्यपालिका है। ब्रिटेन की सम्राज्ञी या सम्राट वंशानुगत कार्यपालक है, जबकि अमेरिका और भारत का राष्ट्रपति निर्वाचित कार्यपालिका है।

नाममात्र की कार्यपालिका का अर्थ उस पदाधिकारी से होता है, जिसे संविधान के द्वारा समस्त प्रशासनिक शक्ति प्रदान की गयी हो लेकिन जिसके द्वारा व्यवहार में इस प्रशासनिक शक्ति का प्रयोग अपने विवेक के अनुसार न किया जा सके। प्रशासन का सम्पूर्ण कार्य उसके नाम पर होता है, परन्तु व्यवहार में इन कार्यों को वास्तविक तौर पर वास्तविक कार्यपालिका द्वारा किया जाता है। भारत का राष्ट्रपति और इग्लैण्ड का सम्राट नाममात्र की कार्यपालिका के उदाहरण है। इग्लैण्ड और भारत की मन्त्रिपरिषद इस प्रकार की वास्तविक कार्यपालिका के उदाहरण है।।

संसदात्मक और अध्यक्षात्मक कार्यपालिका वर्तमान में सबसे लोकप्रिय और व्यावहारिक दृष्टि से कामयाब संगठन के उदाहरण हैं।

संसदीय कार्यपालिका को उत्तरदायी कार्यपालिका कहा गया है, क्योंकि अपने समस्त कार्यकलापों के लिए वह विधायिका के प्रति जवाबदेह होती है। संसदीय शासन प्रणाली में संसदीय सर्वोच्चता के सिद्धान्त का अनुसरण किया जाता है। व्यवस्थापिका, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका प्रथक्करण के साथ-साथ समन्वयन के सिद्धान्त का अनुपालन करते हैं। संसदीय व्यवस्था में राष्ट्रपति या सम्राट संवैधानिक और संवैधानिक रूप सेपूर्ण शक्ति-सम्पन्न होता है। लेकिन प्रायः राष्ट्रपति इन शक्तियों का प्रयोग नहीं कर पाता। संसदीय शासन व्यवस्था के अन्तर्गत व्यवस्थापिका और कार्यपालिका में घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। मन्त्रिमण्डल के सदस्यों की नियुक्ति व्यवस्थापिका के सदस्यों में से ही अनिवार्य रूप से की जाती है। अगर प्रधानमंत्री या कोई मंत्री विधायिका का सदस्य नहीं है, तो उसे एक समय-सीमा के अन्दर इसकी सदस्यता ग्रहण कर के आना पड़ता है। कार्यपालिका अपने कार्यों व नीतियों के लिए व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होती है। अध्यक्षात्मक कार्यपालिका, इस शासन व्यवस्था में व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका एक-दूसरे से स्वतन्त्र रह कर कार्य करते हैं। सबकी शक्तियाँ अपने क्षेत्र में पहले से

निर्धारित रहती है। मुख्य कार्यपालक इंगित विषयों में विधायिका के प्रति उत्तरदायी नहीं होता है। राष्ट्रपति अपने मंत्रिमंडल में जिसे चाहे उसे शामिल कर सकता है, क्योंकि मंत्रीपरिषद के सदस्यों को विधायिका का सदस्य होने की आवश्यकता नहीं है। इस व्यवस्था में व्यवस्थापिका का कार्यपालिका के ऊपर प्रत्यक्ष नियंत्रण नहीं होता है और न ही कार्यपालिका को अपने कार्यकाल के सम्बन्ध में व्यवस्थापिका से यह भय रहता है कि वह अविश्वास प्रस्ताव के द्वारा अपदस्थ कर देगी। संसदात्मक व्यवस्था में मंत्रिमंडल के सदस्य प्रधानमंत्री के सहयोगी के रूप में कार्य करते हैं, जबकि अध्यक्षात्मक प्रणाली में वे राष्ट्रपति के रहमोकरम पर रहते हैं। दोनों प्रणालियों की प्रासंगिकता देश की एतिहासिक पृष्ठभूमि एवं उद्देश्यों पर आधारित रहती है। अध्यक्षात्मक व्यवस्था के लिए जागरूक नागरिकों का होना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि राष्ट्रपति के तानाशाही प्रवृत्तियों पर वे एक लगाम का काम करते हैं। विकासशील एवं बहुजातीय राष्ट्रों के लिए संसदात्मक व्यवस्था उचित है, क्योंकि सभी की सहभागिता सुनिश्चित की जा सकती है। मंत्रीमंडल पर विधायिका अंकुश लगाती है जिससे तानाशाही प्रवृत्तियों पर लगाम लगाई जा सकती है।

14.4 मुख्य कार्यपालिका के अधिकार व कार्य

वर्तमान संगठनात्मक ढाँचे में मुख्य कार्यपालिका नीतियों के गठन से लेकर निष्पादन में एक केन्द्र-बिन्दु की भूमिका निभाता है। मुख्य कार्यपालक देश की शासन-व्यवस्था के लिए अन्तिम रूप से उत्तरदायी होता है। उसे असंख्य जिम्मेदारियों का पालन करना पड़ता है। मुख्यतः उसके कामों की प्रकृति के आधार पर दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। पहला- राजनीतिक प्रकृति के कार्य और दूसरा- प्रशासनिक प्रकृति के कार्य

मुख्य कार्यपालिका को अपने अस्तित्व को कायम रखने के लिए सर्वप्रथम राजनीतिक कार्यों की तरफ ध्यान देना पड़ता है। जनादेश के बिना मुख्य कार्यपालक का रहना नामुमकिन है, इसलिए उसे राजनैतिक संगठन की प्रक्रिया एवं उद्देश्यों को निरंतर ध्यान में रखना पड़ता है।

राजनैतिक संगठन एवं पार्टी की प्राथमिकताओं को उसे वरीयता देना पड़ता है, क्योंकि इसी से उसे प्रशासकीय प्राथमिकताओं को चयनित करना पड़ता है। मुख्य कार्यपालिका को उस राजनीतिक दल की मजबूती के बारे में भी सोचना पड़ता है, जिस दल के बहुमत और नेतृत्व के आधार पर वह मुख्य कार्यपालिका की भूमिका का निर्वाह करता है। उसे शासन की नीतियों एवं कार्यक्रमों के लिए विभिन्न राजनैतिक दलों से सम्पर्क कर उनका विचार जानना तथा समर्थन लेना पड़ता है। देश की जनता को सरकार के प्रमुख कार्यक्रमों के बारे में बताना, राष्ट्र को सफल नेतृत्व प्रदान करना, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में प्रभाव स्थापित करना आदि मुख्य कार्यपालिका के राजनीतिक कार्य कहे जाते हैं। उसे जनता की आवश्यकताओं के अनुरूप लोकसम्पर्क भी स्थापित करना पड़ता है। राजनीतिक दृष्टि से मुख्य कार्यपालक को जनता के राजनैतिक चेतना एवं राजनैतिक शैक्षिकीकरण का उत्तरदायित्व भी होता है। अन्तर्राष्ट्रीय पटल पर राष्ट्र की साख को स्थापित करने का दायित्व भी इसी पर रहता है।

14.5 मुख्य कार्यपालिका के प्रशासकीय कार्य

मुख्य कार्यपालिका देश का शीर्षतम अधिकारी होता है। देश के सम्पूर्ण प्रशासन का रखरखाव एवं जिम्मेदारी उसकी होती है। लूथर गुलिक के अनुसार मुख्य कार्यपालक के निम्नांकित कार्य है।

1. **योजना बनाना-** इसका मतलब है की उन सभी कार्यों की रूपरेखा तैयार करना, जिससे किया जाना आवश्यक है। योजना सफल क्रियान्वन की कुंजी है।
2. **संगठन बनाना-** इसका अर्थ है, उद्देश्यों की कार्यपूर्ति के लिए के लिए मानवीय एवं भौतिक ढाँचे का निर्माण।

3. **कर्मचारी रखना-** इसके अन्तर्गत कर्मचारी की नियुक्ति, प्रशिक्षण, पदोन्नति, तथा वे सेवा-शर्तें शामिल हैं, जिसके आधार पर कर्मचारी कार्य कर सकें।
4. **निर्देशन देना-** इसका अर्थ है संगठन का नेतृत्व करना तथा प्रशासन सम्बन्धी निर्णय लेकर आदेश और निर्देश जारी करना है।
5. **समन्वय करना-** इसका तात्पर्य है कि प्रशासन के विभिन्न क्षेत्रों को परस्पर सम्बद्ध करना और उसमें सामंजस्य स्थापित करना है।
6. **प्रतिवेदन देना-** इसका अर्थ है कि जिन लोगों के प्रति कार्यपालिका उत्तरदायी है, इनको अपने कार्यों और परिस्थितियों के सन्दर्भ में समय-समय पर अवगत कराते रहना।
7. **बजट बनाना-** इसमें शामिल है, वितीय योजनाएँ एवं आय-व्यय का लेखा-जोखा।

लूथर गुलिक द्वारा बताये गए कार्य अपने आप में सम्पूर्ण और तर्कसंगत नहीं है अपितु वर्तमान परिदृष्य में मुख्य कार्यपालिका अनेकों दूसरे कार्य को भी सम्पादित करती है, जो निम्नलिखित हैं-

1. **प्रशासकीय नीति का निर्धारण करना-** मुख्य कार्यपालक का प्रशासकीय नीति-निर्धारण में मुख्य भूमिका रहती है। मुख्य कार्यपालक जनता के मध्य अपनी कार्य-योजनाओं का मसौदा देता है, जिस पर उसे जनादेश प्राप्त होता है। व्यवस्थापिका में मसौदों की रूपरेखा का जिन्मा मुख्यतौर पर मुख्य कार्यपालक का होता है। डिमॉक का कहना है कि, अमेरिका के सन्दर्भ में ''नीति से सम्बन्धित सभी विषयों में राष्ट्रपति ही प्राथमिकता निर्धारित करता है।''
2. **प्रशासकीय कार्य का नियोजन-** प्रशासकीय योजनाओं को बनाने में अंतिम अधिकार मुख्य कार्यपालक का होता है। मुख्य कार्यपालक के इच्छा अनुसार सभी योजनाओं का बारीकी से अध्ययन किया जाता है। परार्मश के तौर पर विशेषज्ञों की सेवाओं को योजनाओं को बनाने में लिया जाता है। भारत में स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात नेहरू की छाप सभी योजनाओं को बनाने में दिखाई देता है। मिश्रित अर्थव्यवस्था की बात हो या भारी उद्योगों की, उनकी दृष्टि की छाप सभी योजनाओं के बनाने में प्रतिबिंबित होती है। प्रस्तावित कार्य को कैसे किया जायेगा, उसे पूरा करने के लिए किस प्रकार के संगठन की आवश्यकता पड़ेगी, कितना व्यय लगेगा, कितने कार्मिकों की आवश्यकता होगी, यह सारी चीजें मुख्य कार्यपालक तय करता है।
3. **संगठन की संरचना को प्राधिकार प्रदान करना-** संगठन के सभी सत्रों एवं भागों की संरचनाओं को प्राधिकार प्रदान किया जाता है, ताकि प्राप्त शक्तियों और सत्ता के आधार पर वे संरचनाओं, अपने कर्त्तव्यों एवं अधिकारों का उपयोग कर सकें। सत्ता में प्राधिकार को प्रदत करना, कार्मिकों के अधिकार, क्षेत्र को तय करना, मुख्य कार्यपालक की जिम्मेदारी होती है। किसी भी संगठन की सफलता उसमें वैज्ञानिक प्रबन्धीकरण पर होती है, जिसे मूर्तरूप देने का उत्तरदायित्व मुख्य कार्यपालक का है।
4. **कार्मिकों की नियुक्ति एवं पदच्युत-** मुख्य कार्यपालक को शासन को उच्च पदाधिकारियों की नियुक्ति करने का अधिकार रहता है। भारत में राष्ट्रपति, राज्यपाल उच्चतम न्यायपाल के न्यायधीशों, राजदूतों, संघ लोक सेवा आयोग के सदस्यों, इत्यादि को नियुक्ति करने का अधिकार मुख्य कार्यपालक का है। इन पदाधिकारियों को पदच्युत करने का अधिकार भी मुख्य प्रशासक का है। लेकिन हटाने का अधिकार, संविधान की सीमाओं में रहकर ही किया जा सकता है।
5. **संगठन में समन्वय स्थापित करना-** प्रशासन के अन्तर्गत अनेक विभाग, उप-विभाग एवं अभिकरण कार्य करते हैं। इनके मध्य अधिकार एवं कार्यक्षेत्र को लेकर अक्सर आपस में मतभेद उत्पन्न होते हैं। इन मतभेदों को दूर कर कार्यों को आगे बढ़ाने की जिम्मेदारी मुख्य कार्यपालक पर है। किसी भी कार्ययोजना

की सफलता के लिए आपसी तालमेल एवं समन्वय एक जरूरी आधार है। इसके बिना लक्ष्य प्राप्ति में विलम्ब एवं व्यय सरकार को कटघरे में खड़ा कर सकती है। इन सभी विषम परिस्थितियों से उबारने का दायित्त्व मुख्य कार्यपालक का है।

6. **आदेश एवं निर्देश देना-** मुख्य कार्यपालक का एक प्रमुख उत्तरदायित्व है, संगठनों एवं विभागों को समय-समय पर आदेश एवं निर्देश जारी करना। विभिन्न विभागों के पदाधिकारियों को उनकी जिम्मेदारियों एवं कर्त्तव्यों का बोध कराना एवं उनके कार्यों की आख्या लेना, मुख्य कार्यपालक के अधीन किया जाता है। स्थितियों में सुधार न आने पर वह समुचित फेरबदल करने का अधिकार रखता है।
7. **प्रशासन पर नियन्त्रण एवं निरीक्षण करना-** प्रशासन के विभिन्न विभागों के कार्यकलापों की जानकारी मुख्य कार्यपालिका को बराबर प्रतिवेदनों और अन्य माध्यमों से प्राप्त होती है। कार्यों के सम्पादन में कहाँ असावधानी बरती जा रही है, कहाँ पर निर्धारित नियमों की अवहेलना की जा रही है, इन सभी बातों के लिए मुख्य कार्यपालक निरंतर निरीक्षण एवं पर्यवेक्षण करता रहता है। भ्रष्टाचार के मामले उजागर होने पर वह कार्यवाही कर सकता है। विभिन्न जाँच आयोगों का गठन, न्यायिक जाँच इसके ईशारे पर होती है। हाल ही में आदर्श घोटाला एवं स्पेक्ट्रम घोटाले की जाँच मुख्य कार्यपालक मनमोहन सिंह द्वारा आदेशित की गई एवं सम्बद्ध विभाग के मन्त्रियों को अपने पद से हटना पड़ा।
8. **वित्तीय अधिकार-** किसी भी प्रशासन की क्रियाओं का आधार वित्त है। वित्त की व्यवस्था करना, आय-व्यय की रूप रेखा तैयार करना, बजट को व्यवस्थापिका के सम्मुख प्रस्तुत करना, राजस्व की इकाइयों को निश्चित करना, अन्तर्राष्ट्रीय वित्त संस्थाएं जैसे- अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष, विश्व बैंक एवं विश्व व्यापार संगठन के साथ वित्त नीतियों को निर्धारित करना, राष्ट्रीय बैंक की योजनाओं इत्यादि को नियंत्रित करने का अधिकार है।
9. **जन-सम्पर्क स्थापित करना-** वर्तमान जगत में राष्ट्रों का स्वरूप प्रजातान्त्रिक है। इसकी वजह से तमाम राष्ट्रों का नियोजन जन कल्याणकारी है। शासन को अपनी नीतियों को हमें जनता को केन्द्रित कर बनानी होती है। अपेक्षित जनसहयोग प्राप्त करने के लिए सरकार को जनइच्छा के तहत नीतियाँ बनानी होती हैं, जिससे सरकार लोकप्रिय हो। इन सब कोशिशों का उत्तरदायित्व मुख्य कार्यपालिका का होता है।
10. **विपदाओं में अविलम्ब हस्तक्षेप करना-** यह मुख्य कार्यपालिका का कार्य है कि देश के समक्ष अगर किसी भी प्रकार की प्राकृतिक या मानवीय विपदा आती है, तो वो पूरे प्रशासकीय तन्त्र को क्रियाशील करके लोगों को आपदाओं में सहयोग दें। अगर कहीं भुकंप, बाढ़, सूखा, या अन्य विपदाऐं आती हैं तो मुख्य कार्यपालिका सम्बन्ध विभाग को तत्काल सेवाओं को पहुँचाने के लिए निर्देशित कर सकता है। इसी तरह वाह्य आक्रमण के तहत वह अध्यादेश जारी कर सकता है, जिससे की विपत्ति का सामना प्रभावशाली पूर्वक किया जा सके।

14.6 सफल मुख्य कार्यपालिका के गुण

मुख्य कार्यपालक का कद एवं व्यक्तित्त्व किसी भी राष्ट्र के भविष्य को तय करता है। अमेरिका के राष्ट्रपति जार्ज वाशिगंटन एवं रूसवेल्ट ने जहाँ अमेरिका को विश्व शक्ति बनने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई, वहीं स्टेलिन ने रूस को एक कृषि प्रधान देश से परिवर्तित कर, एक विश्व शक्ति के रूप में उभारने में बहुत कम समय लिया। अगर हम जर्मनी के इतिहास का अध्ययन करें तो ज्ञात होगा की अगर हिटलर नहीं आता तो शायद जर्मनी भी एक विश्व शक्ति के रूप में उभरता। प्रशासनिक सफलता और असफलता मुख्य प्रशासक की व्यक्तिगत क्षमता, कार्यकुशलता

एवं नेत्तृत्व पर निर्भर करती है। एक प्रशासक में किन-किन गुणों का होना आवश्यक है, इस पर विद्वानों में कोई मतैक्य नहीं है, फिर भी हम कुछ आवश्यक गुणों को इंगित कर सकते हैं।

सी0 राजगोपालचारी, जिनका नाम बहुत सम्मान से लिया जाता है और जो की अपने में खुद एक योग्य एवं कुशल प्रशासक थे, ने प्रशासक के छह गुणों का उल्लेख किया है। ये निम्न हैं-

1. अच्छे प्रशासक को उच्च चरित्र का व्यक्ति होना चाहिए।
2. कार्यपालिका सम्बन्धी समस्याओं का सही ढंग से और शीघ्रता से समाधान करने की क्षमता होनी चाहिए।
3. उसे अपने अधीनस्थ कर्मचारियों में अपने प्रति विश्वास उत्पन्न करने की क्षमता होनी चाहिए।
4. प्रशासक को सोच-समझकर निर्णय लेना चाहिए और निर्णय लेने के बाद विचलित नहीं होना चाहिए।
5. प्रशासक को सन्तुलित मस्तिष्क वाला होना चाहिए।
6. प्रशासक के भीतर यह योग्यता होनी चाहिए कि वह विभिन्न स्तरों पर काम करने वाले अधीनस्थ कर्मचारियों के भीतर सामाजिक उद्देश्य की भावना भर सके।

प्रशासकीय कौशल होना एक कठिन चुनौती है और यह आम आदमियों के बस की बात नहीं है। एक सफल प्रशासक बनने के लिए एक व्यक्ति के पास प्रशासकीय अनुभव के साथ-साथ उसे अच्छा सुनने वाला होना चाहिए। उसकी निर्णयन शक्ति तीव्र एवं स्पष्ट होना चाहिए। जनता से संवाद कायम करने में माहिर होना चाहिए। अच्छे कार्यों का श्रेय लेने के साथ-साथ गलत निर्णयों का उत्तरदायित्व उठाने की ताकत उसके पास होनी चाहिए। इस सन्दर्भ में अमेरिका के राष्ट्रपति रूसवेल्ट, इंग्लैण्ड के प्रधानमंत्री विनस्टन चर्चिल और भारत के प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ज्वलंत उदाहरण हैं, जिन्होंने अपने समय में बड़ी जिम्मेदारियों को प्रभावशाली तरीके से निभाया। चर्चिल के नेतृत्व से इंग्लैंड ने जर्मनी को परास्त किया, तथा रूसवेल्ट के निर्देशन में अमेरिका ने जापान एवं जर्मनी को निर्णायक रूप से द्वितीय महायुद्ध में परास्त किया। पॉल एपलब्बी ने प्रशासक के गुणों के बारे में बताया है कि प्रशासक शक्ति और अधिकार को सुरक्षित सम्पत्ति मानता है और उनसे सिर्फ भाव उत्पन्न करने का प्रयास करता है। वह अच्छे समाचार सुनकर अधिक प्रसन्न नहीं होता है और बुरे समाचार सुनकर विचलित नहीं होता है। प्रशासक अपने अधीनस्थ व्यक्तियों का सम्मान करता है। प्रशासक अपनी गलतियों को स्वीकार भी करता है।

प्रो0 टीड मानते हैं कि सफल प्रशासक में दस गुण होने चाहिए। उनके अनुसार शारीरिक क्षमता, उद्देश्य की स्पष्टता, ज्ञान एवं निर्देशन, उत्साह, भिन्नता व भावनाएँ, ईमानदारी, तकनीकि विशेषज्ञता, बुद्धि शिक्षा देने की योग्यता, विश्वास एवं निर्णय लेने की क्षमता का होना एक सफल प्रशासक का होना आवश्यक है।

मुख्य कार्यपालक के अन्दर योग्यता एवं क्षमता होनी चाहिए। उसे सबल एवं सन्तुलित व्यक्तित्व का मालिक होना चाहिए।

डिमॉक के अनुसार, नेतृत्व वह साधन है जिसके द्वारा व्यक्तियों को सामूहिक लक्ष्य प्राप्त करने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। सफल नेतृत्व अपने अनुदायियों में एक ऐसी भावना उत्पन्न करता है जिससे वे उसके आदेशों और आदर्शों को सहर्ष स्वीकार करते हैं। नेतृत्व के अन्दर ऐसी क्षमता होनी चाहिए कि देश की जनता और शासन के लोग प्रशासक की नीतियों में विश्वास प्रकट करें, ताकि जनहित और राष्ट्रहित में मुख्य प्रशासक सही समय पर फैसला कर सकें।

एक अन्य गुण जिस के बारे में फिफनर ने चर्चा की है, वह है, प्रशासनिक प्रतिभा का होना। एक प्रशासक में दूसरों से कुशलतापूर्वक और मितव्ययतापूर्ण काम कराने की क्षमता होनी चाहिए। अनावश्यक विलम्ब तथा बिना

हिचकिचाहट के निर्णय लेने की सूझबूझ, हँसमुख व्यक्तित्व, लोगों के साथ मिलजुल कर काम करने की कुशलता, योग्य प्रशासक के निर्णायक तत्व हैं।

साथ ही मुख्य प्रशासक को समय एवं परिस्थिति को जानने वाला और दूरदर्शी भी होना चाहिए। किस कार्य के लिए कौन सा समय उपयुक्त होना चाहिए और उसका भविष्य में क्या बुरा प्रभाव पड़ेगा, अगर प्रशासक इन बातों का आकलन करने में सफल है तो वह सही सिद्ध होगा। इसके अलावा वह एक अच्छे चरित्र तथा तीक्ष्ण बुद्धि का होना का होना चाहिए। अगर उसका चरित्र अच्छा नहीं है तो वह जनता के बीच में अपने विश्वास को स्थापित नहीं कर पायेगा। उक्त बातों से यह स्पष्ट है कि केवल संवैधानिक अधिकार और पर्याप्त विशेषाधिकार प्राप्त कर लेने मात्र से ही कोई व्यक्ति सफल प्रशासक की कसौटियों पर खरा नहीं उतर सकता। अपितु विलक्षण योग्यता और क्षमता वाला व्यक्ति ही सफल प्रशासक बन सकता है।

14.7 मुख्य कार्यपालिका में प्रशासनिक शक्तियों को निहित करने के लाभ

प्रशासन को मितव्ययता तथा कार्यकुशलता के साथ चलाने के लिए शक्तियों को मुख्य कार्यकारी में निहित करना आवश्यक है। शासन के मुख्य तीन अंग होते हैं- व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका। न्यायपालिका एक ऐसी संस्था है, जो कार्यपालिका और व्यवस्थापिका से स्वतंत्र रहकर न्याय से संबंधित मामलों का निपटारा करती है। न्यायपालिका को इस कार्य से हटकर किसी भी प्रकार की शक्ति देने के भयंकर परिणाम हो सकते हैं। इसी प्रकार व्यवस्थापिका को शक्ति प्रदत्त करने से कार्यकुशलता एवं विशेषज्ञता पर प्रतिकूल असर पड़ सकता है। व्यवस्थापिका का पर्यवेक्षण एवं नियन्त्रण का अधिकार कार्यपालिका की जवाबदेही सुनिश्चित करता है।

कार्यपालिका के हाथों में प्रशासनिक सत्ता को रखने का एक अन्य लाभ यह है कि उसके द्वारा व्यवस्थापिका को जो जनता के प्रतिनिधि हैं, प्रशासन के सम्बन्ध में समस्त सूचनाऐं प्राप्त होती रहती है तथा प्रशासनिक कर्मचारी मनमानी नहीं कर पाते। इन पर कार्यपालिका का पूरा नियन्त्रण होता है तथा उनके मन में भय बना रहता है कि गलत काम करने पर वे पकड़े जायेंगे और उन्हें दण्डित किया जायेगा। विभिन्न प्रशासनिक विभागों एवं घटकों में समन्वय एवं एकता बनाए रखने के लिए भी मुख्य कार्यकारी को शक्तियाँ प्रदान करना आवश्यक है। कार्यपालक प्रशासन की विभिन्न इकाइयों में सहयोग, सामंजस्य एवं तालमेल बनाए रखतीहै और उनमें आपस में संघर्ष नहीं होने देती। इससे प्रशासन के एकीकरण के सिद्धान्त में सहायता मिलती है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि कार्यपालिका में प्रशासनिक शक्तियाँ प्रदत्त करना सार्वजनिक एवं प्रशासनिक हितों की दृष्टि से सर्वथा उचित एवं तर्कसंगत है।

अभ्यास प्रश्न-

1. इंगलैण्ड में राष्ट्रपति शासन पद्धति है। सत्य/असत्य
2. स्विटजरलैण्ड में बहुल कार्यपालिका पायी जाती है। सत्य/असत्य
3. मुख्य कार्यपालिका जनता और शासन के बीच की मुख्य कड़ी है। सत्य/असत्य
4. अध्यादेश मुख्य कार्यपालक के द्वारा जारी की जाती है। सत्य/असत्य
5. मुख्य कार्यपालक को दूरदर्शी नहीं होना चाहिए। सत्य/असत्य
6. मुख्य कार्यपालक को सबल एवं संतुलित व्यक्तित्व का होना चाहिए। सत्य/असत्य

14.8 सारांश

मुख्य कार्यपालिका वर्तमान में आधुनिक संगठनात्मक ढ़ाँचे का मुख्य केन्द्र बिन्दु है। मुख्य कार्यपालिका पदसोपान के सर्वोत्तम शिखर पर होता है। प्रशासन की सम्पूर्ण धुरी उसके इर्द-गिर्द घूमती है। इन्हें कई नामों से पुकारा जाता है, जैसे- राज्याध्यक्ष, राष्ट्राध्यक्ष, मुख्य प्रशासक आदि। भारत में राष्ट्रपति, इंग्लैण्ड में सम्राट या सम्राज्ञी और

अमेरिका में राष्ट्रपति। राज्यों में राज्यपाल एवं शहरों में महापौर प्रचलित नाम हैं। जिस तरह देश के अध्यक्ष को मुख्य कार्यपालक कहा जाता है उसी प्रकार व्यावसायिक संगठनों में उसे महाप्रबन्धक की संज्ञा दी जाती है।
मुख्य कार्यपालिका प्रमुख रूप से प्रशासनिक संगठन के सम्पूर्ण कार्यों मेंसामंजस्य एवं समन्वय स्थापित करता है। व्यावसायिक संगठन के समस्त कार्यों और उपविभागों में समन्वय स्थापित करने की अन्तिम जिम्मेदारी महाप्रबन्धक की ही होती है। वह योजना, संगठन निर्माण, नियन्त्रण, निर्देशन और पर्यवेक्षण जैसे महत्वपूर्ण कार्यों को सुनिश्चित करता है। समय-समय पर आवश्यक निर्देश जारी करना उसकी जिम्मेदारी है। चूँकि मुख्य कार्यपालिका जनता और प्रशासन के बीच में एक कड़ी की भूमिका निभाता है, इसलिए प्रशासन की दशा एवं दिशा को वह निर्धारित करता है।
किसी शासन व्यवस्था के तहत किस पदाधिकारी को सर्वोच्च मुख्य कार्यपालिका कहा जायेगा, यह बहुत कुछ उस देश में वर्तमान कार्यपालिका व्यवस्था या शासन व्यवस्था पर निर्भर करता है। अतः यह जरूरी है की कार्यपालिका के विभिन्न प्रकारों के बारे में जानकारी प्राप्त कर ली जाय ताकि उस देश में मौजूद मुख्य कार्यपालिका को पहचाना जा सके और उनका अध्ययन किया जा सके।
कार्यपालिका के मुख्य प्रकार हैं- राजनीतिक और स्थायी कार्यपालिका, नाममात्र एवं वास्तविक कार्यपालिका, एकल और बहुल कार्यपालिका, वंशानुगत एवं निर्वाधित कार्यपालिका एवं संसदात्मक एवं अध्यक्षात्मक कार्यपालिका।
प्रशासनिक सफलता और असफलता मुख्य प्रशासक की योग्यता एवं क्षमता पर निर्भर करता है। एक सफल प्रशासक होने के लिए उसमें शारीरिक क्षमता, ज्ञान एवं निर्देशन, उत्साह, ईमानदारी, तकनीकी विशेषता, बुद्धि, शिक्षा देने की योग्यता, विश्वास एवं निर्णय लेने की क्षमता, का होना एक सफल प्रशासक के लिए आवश्यक है।

14.9 शब्दावली

पदसोपान- पद की क्रमबद्धता।
कार्यपालक- शासन का वह भाग जो संसद द्वारा पारित विधियों को कार्यरूप में परिणित करना तथा उसका निष्पादन करता हो।
अधीनस्थ- जो किसी की अधीनता में हो। किसी के अधीन या नीचे रहने रहने वाला।

14.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. असत्य, **2.** सत्य, **3.** सत्य, **4.** सत्य, **5.** असत्य, **6.** सत्य

14.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. अग्रवाल, एच0 एन0, (1988): माडर्न पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन, किताब महल, इलाहाबाद।
2. सिंह, बीरकेश्वर प्रसाद (1989): पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन, स्टूडेन्ट फ्रैन्ड्स, पब्लिशर्स, पटना।
3. फाड़िया, बी0 एल0 (1999): लोक प्रशासन, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा।
4. दुबे आर0 के0 (1992): आधुनिक लोक प्रशासन, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा।

14.12 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. त्यागी ए0 आर0 (1960): पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली।
2. अरोरा, रमेश (1954): एडमिनिस्ट्रेशन थीयरी, नई दिल्ली।

14.13 निबंधात्मक प्रश्न

1. आधुनिक प्रशासन में मुख्य कार्यपालक के कार्यों की समीक्षा कीजिए।

2. किसी देश की प्रशासन व्यवस्था में मुख्य कार्यपालिका की भूमिका का वर्णन कीजिए।
3. सफल मुख्य कार्यपालक के कौन-कौन से गुण होते हैं?
4. मुख्य कार्यपालिका के विभिन्न प्रकारों एवं उनके अधिकारों और कार्यों का वर्णन कीजिए।

इकाई- 15 सूत्र तथा स्टाफ

इकाई की संरचना

15.0 प्रस्तावना
15.1 उद्देश्य
15.2 सूत्र एवं स्टाफः अर्थ एवं परिभाषा
15.3 स्टाफ अभिकरण
15.3.1 स्टाफ अभिकरणों के प्रकार
15.3.2 स्टाफ अभिकरण के कार्य
15.4 सूत्र अभिकरण
15.4.1 विभाग
15.4.2 लोक निगम
15.4.3 स्वतंत्र नियामकीय आयोग
15.5 स्टाफ तथा सूत्र के पारस्परिक सम्बन्ध
15.6 स्टाफ अभिकरण के उदाहरण
15.6.1 भारत में स्टाफ अभिकरण
15.6.2 ब्रिटेन में स्टाफ अभिकरण
15.6.3 संयुक्त राज्य अमेरिका में स्टाफ अभिकरण
15.7 सारांश
15.8 शब्दावली
15.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
15.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
15.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
15.12 निबंधात्मक प्रश्न

15.0 प्रस्तावना

सूत्र तथा स्टाफ शब्द सैनिक विज्ञान से लिया गया है। सैनिक प्रशासन में सैनिकों का एक वर्ग युद्ध स्थल पर युद्ध लड़ता है तथा दूसरा वर्ग लड़ने वाले सैनिकों को भोजन कपड़ा, चिकित्सा, यातायात व अन्य युद्ध सामग्री उपलब्ध कराता है। दोनों वर्ग के सैनिकों का अपना महत्व है। एक वर्ग दूसरे वर्ग के बिना कार्य नहीं कर सकता। युद्ध स्थल पर लड़ने वाले सैनिक युद्ध सामग्री व अन्य आवश्यक वस्तुएं उपलब्ध कराने वाले सैनिक की सहायता के बिना नहीं लड़ सकते। इस प्रकार सैनिकों का एक वर्ग वास्तविक युद्ध लड़ने में कार्यरत रहता है और दूसरा वर्ग इसको सहायता पहुँचाता है। क्रियाशील वर्ग को सैनिक प्रशासन की शब्दावली में 'सूत्र' कहते हैं तथा सहायक वर्ग को 'स्टाफ' की संज्ञा दी जाती है। इन अर्थों को लोक प्रशासन में भी प्रयोग किया जाने लगा। प्रशासन में पदाधिकारियों का वह वर्ग जो अधिकारी को उसके निर्णय लेने में सहायता करता है, स्टाफ कहलाता है तथा वह वर्ग जो उसके निर्णयों को कार्यरूप देता है सूत्र कहलाता है।

15.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- सूत्र एवं स्टाफ की परिभाषा, अवधारणा एवं विकास के सम्बन्ध में जान पायेंगे।

- लोक प्रशासन में इनके प्रकार एवं प्रक्रिया के सम्बन्ध में जान पायेंगे।
- सूत्र तथा स्टाफ में भेद के सम्बन्ध में जान पायेंगे।

15.2 सूत्र एवं स्टाफः अर्थ एवं परिभाषा

लोक प्रशासन में कार्यों को क्रियान्वित करने के लिए सूत्र एवं स्टाफ की समानान्तर सेवाओं की आवश्यकता होती है। प्रशासन चाहे कितना भी सरल व साधारण क्यों न हो प्रशासक के पास निर्णय लेने के अतिरिक्त निर्देशन, निरीक्षण व नियन्त्रण का कार्य रहता है। उसको सदैव सहायता की आवश्यकता रहती है। उसके पास कार्य की अधिकता के कारण इतना समय नहीं होता कि वह निर्माण से सम्बन्धित सामग्री का विस्तार में विश्लेषणात्मक अध्ययन कर सके। वह कार्यों की हर शाखा का विशेषज्ञ भी नहीं हो सकता। वह तो केवल अपने सामान्य ज्ञान के आधार पर अधीनस्थ पदाधिकारियों का नेतृत्व करके प्रशासन को एक निश्चित दिशा प्रदान करता है। यही कारण है कि हम देखते हैं कि प्रशासन में अधिकारियों की सहायता देने के लिए व्यक्तिगत सहायक, गोपनीय सहायक, आशुलिपिक आदि की व्यवस्था होती है। इन सभी के कार्यों को हम स्टाफ अभिकरण की संज्ञा देते हैं। स्टाफ लाइन (सूत्र) को सहायता दे सकता है, परामर्श दे सकता है, पर आदेश नहीं दे सकता है। डॉ0 एम0 पी0 शर्मा के अनुसार '' स्टाफ का अर्थ है, वह छड़ी जो सहायता तो दे सकती है, लेकिन दिशाओं को निर्धारित नहीं कर सकती है।''

चार्ल्सवर्थ का कथन है कि ''स्टाफ वह अधिकारी है जो अनुसन्धान निरीक्षण तथा अध्ययन में विशेषज्ञ हो तथा जो अपने से सम्बन्धित मुख्य कार्यकारी अधिकारी के अनुमोदन के लिए योजनाऐं तथा प्रस्ताव तैयार करता है।''

मूने के अनुसार ''स्टाफ कार्यपालिका के व्यक्तित्व का ही विस्तार है। इसका अर्थ है अधिक आँखें, अधिक कान और अधिक हाथ, जो योजना बनाने तथा लागू करने में सहायता दे सके।''

उपयुक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्टाफ संस्थागत एवं परामर्शदायी कार्यों से सम्बन्धित होता है। स्टाफ, लाइन के उद्देश्यों और योजनाओं को सम्पन्न करने में मदद पहुँचाता है। योजना, आदेश, निर्देश, नियन्त्रण और समन्वय जैसे कार्यों में यह उच्च अधिकारियों की सहायता करता है।

डॉ0 बी0 एल0 फाड़िया के अनुसार सूत्र तथा स्टाफ अभिकरण में अन्तर निम्न है-

1. स्टाफ का सम्बन्ध सूत्र के प्रतिकूल परामर्श देने तथा नियोजन से है और सूत्र का सम्बन्ध कार्यों को करने से है।
2. स्टाफ अधिकारियों तथा स्टाफ इकाइयों एवं सूत्र अधिकारियों और सूत्र इकाइयों के मध्य दूसरा भेद यह है कि स्टाफ अधिकारी और स्टाफ इकाइयाँ सत्ता अथवा आदेश देने की शक्ति का प्रयोग नहीं करते। ये केवल परामर्श देते हैं तथा सहायता करते हैं। इसके विपरीत, सूत्र अधिकारी और सूत्र इकाइयाँ आदेश देने का कार्य करती हैं।
3. सूत्र क्रियात्मक है और स्टाफ संस्थागत है।
4. सूत्र का कर्त्तव्य लक्ष्य को प्राप्त करने से है तथा स्टाफ का कर्त्तव्य सूत्र को लक्ष्य प्राप्त करने योग्य बनाने से है।
5. स्टाफ सदा पृष्ठभूमि में रहता है। वह निर्णयों के लिए भूमिका तैयार करता है, परन्तु स्वयं निर्णय नहीं करता। निर्णय करने की समूची शक्ति सूत्र अधिकारियों के हाथों में ही होती है। सूत्र अभिकरण के व्यक्ति सामने से कार्य करते हैं।
6. सूत्र के कार्य प्राथमिक रूप से होते हैं, जिसके लिए सरकार का अस्तित्व होता है तथा स्टाफ का कार्य विभागों की सार्थकता को बनाए रखने से है।

7. सूत्र के कार्य साध्य हैं और स्टाफ का कार्य साधन। स्टाफ का मुख्य सम्बन्ध अनुसंधान करनेतथा मालूम करने, उनका संग्रह करने, योजना बनाने तथा सूत्र अधिकारियों को मदद देने से है।
8. सूत्र का कार्य नीतियों का क्रियान्वन करना है, जबकि स्टाफ का कार्य नीतियों के निर्माण में केवल सहायता देना है।

15.3 स्टाफ अभिकरण

असैनिक सेवाओं में स्टाफ अभिकरण से तात्पर्य उन अधिकारियों और कर्मचारियों के समूह से है, जो मुख्य कार्यपालिका या उच्च पदाधिकारियों को योजना निर्माण, निर्देशन, नियन्त्रण इत्यादि प्रमुख कार्यों में सहायता प्रदान करते हैं। मूने का कहना है कि मुख्य रूप से स्टाफ तीन प्रकार के कार्य करती है। पहला- सूचना सम्बन्धी, दूसरा- परामर्श सम्बन्धी और तीसरा- पर्यवेक्षण सम्बन्धी।

सूचना सम्बन्धी कार्य का अभिप्राय है कि स्टाफ, सूत्र अधिकारी को आवश्यक सूचनाऐं प्रदान करता रहता है। इससे संगठन को प्राथमिकता के आधार पर कार्य करने में सुविधा रहती है। इससे प्रशासकीय निरंतरता बनाये रखने में आसानी होती है।

परामर्श सम्बन्धी कार्य का अभिप्राय है कि स्टाफ, सूत्र अभिकरण को आवश्यकतानुसार प्रत्येक कार्य के सम्बन्ध में अपनी राय से अवगत कराता है। स्टाफ की सलाह को मानना या न मानना सूत्र के विवेक पर निर्भर करता है।

पर्यवेक्षण सम्बन्धी कार्य का अभिप्राय है कि स्टाफ अभिकरण द्वारा लिए गए निर्णयों को उसके उद्देश्यों तक पहुँचाये एवं उसमें उत्पन्न कठिनाइयों को दूर करें। कार्यों के शिथिलता से सम्बन्धित प्रतिमानों को सूत्र तक पहुँचाये। फिफनर ने स्टाफ के सात कार्यों का उल्लेख किया है, ये निम्न हैं- 1. सूत्र अभिकरण को परामर्श देना, 2. प्रशासन में समन्वय स्थापित करना, 3. खोज तथा अन्वेषण करना, 4. योजनाऐं बनाना, 5. लोकसम्पर्क स्थापित करना तथा सूचनाऐं एकत्रित करना, 6. विभागों की सहायता करना और 7. विभागीय अध्यक्ष से प्राप्त शक्तियों को उनकी सीमाओं के अन्तर्गत क्रियान्वित करना।

15.3.1 स्टाफ अभिकरणों के प्रकार

फिफनर और प्रेस्थस ने स्टाफ को तीन प्रकारों में विभाजित किया है- सामान्य स्टाफ, तकनीकी स्टाफ और सहायक स्टाफ।

1. **सामान्य स्टाफ-** लोक प्रशासन में सामान्य स्टाफ पदाधिकारियों का वह वर्ग है, जो अधिकारियों को प्रशासन की प्रत्येक समस्या का समाधान निकालने में सहायता पहुँचाता है। कोई भी समस्या जिस पर अधिकरी को निर्णय लेना है, सामान्य स्टाफ के माध्यम से अधिकारी के सामने निर्णय के लिए जायेगी। सामान्य स्टाफ अधिकारी को उस समस्या से सम्बन्धित अपेक्षित सामग्री, सूचना, सुझाव तथा परामर्श आदि उपलब्ध करता है। अधिकारी इस सामग्री के आधार पर ही समस्या पर निर्णय लेता है। हर अधिकारी अपने कार्यभार के अनुपात में स्टाफ पदाधिकारी रखता है। साधारणतः सामान्य कर्मचारी को उसके कार्य में सहायता देने के लिए एक व्यक्ति सहायक की आवश्यकता होती है। परन्तु यदि कर्मचारी के पास अधिक कार्य है तथा कार्य की प्रगति जटिल है तो उसके लिए एक से अधिक पदाधिकारियों की आवश्यकता की जाती है। जब यह संख्या अधिक हो जाती है तो इसको एक स्वतन्त्र विभाग में विकसित कर दिया जाता है। यही कारण है कि प्रत्येक मन्त्रालय के साथ एक सचिवालय होता है। भारत में सुख्य कार्यपालिका का सामान्य स्टाफ इस प्रकार है- 1. मन्त्रिमण्डल सचिवालय, 2. प्रधानमंत्री कार्यालय, 3. योजना आयोग, 4. केन्द्रीय सचिवालय संगठन और 5. लोकसेवा आयोग इत्यादि। अमेरिका में व्हाइट हाउस, सचिवालय तथा ब्यूरो आफ द बजट इसके प्रमुख उदाहरण हैं।

2. **तकनीकी स्टाफ-** विशिष्ट तकनीकी ज्ञान प्राप्त कर्मचारियों को तकनीकी स्टाफ की श्रेणी में रखा जाता है। विशेषज्ञ व्यक्ति ही तकनीकी और प्राविधिक मामलों में परामर्श दे सकते हैं। इस प्रकार चिकित्सक, इन्जीनियर, वैज्ञानिक, लेखांकन, लेखा परीक्षण, वित्त, प्रतिरक्षा आदि विशेषज्ञ कार्यकारी की सहायता के लिए उपलब्ध कराए जाते हैं। आज के वर्तमान परिप्रेक्ष्य में तकनीकी कर्मचारियों की आवश्यकता और उपयोगिता हर मुख्य कार्यपालक के लिए अनिवार्य बन गई है।
3. **सहायक स्टाफ-** इसके अन्तर्गत वे इकाइयाँ आती हैं, जो विभागों की सामान्य समस्याओं से जुड़ी हुई सामान्य सेवाएं प्रदान करती हैं। इनका सम्बन्ध विभागों के मुख्य कार्य एवं उद्देश्यों से नहीं होता है। प्रत्येक विभाग को कार्य चलाने के लिए फर्नीचर, लेखन सामग्री, टाइपमशीन, लेटरपैड, फार्म, रबर स्टाम्प बनबाना तथा प्रलेखों को छपवाना होता है। अपने-अपने विभागीय कार्य के संचालन के लिये कर्मचारियों की नियुक्ति करनी पड़ती है। सहायक क्रियाओं को सम्पन्न करने वाली इन इकाईयों को सहायक स्टाफ की श्रेणी में रखा जाता है। जैसे- भारत सरकार का प्रेस, संघ लोक सेवा आयोग जो विभिन्न विभागों के लिए कार्मिकों की नियुक्ति का कार्य करता है, इत्यादि।

15.3.2 स्टाफ अभिकरण के कार्य

विभाग में स्टाफ अभिकरण की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण होती है। इनकी कार्यकुशलता एवं आवश्यकतानुरूप संगठनात्मक संरचना, विभाग के उद्देश्य की पूर्ति में निर्णायक भूमिका होती है। अतः इनके मुख्य कार्यों पर हम दृष्टिपात करेंगे।

जे0 डी0 मूने, के अनुसार स्टाफ के कार्यों को तीन भागों में बाँटा जा सकता है- 1.सूचनात्मक, 2. परामर्शदात्री तथा 3. निरीक्षणात्मक।

फिफनर ने स्टाफ के सात प्रकार के कार्यों का उल्लेख किया है- 1.मुख्य कार्यपालक को परामर्श देना, 2. सूत्र की सहायता करना, 3. मानवीय सम्पर्कों और योजनाओं के द्वारा प्रशासन में समन्वय स्थापित करना, 4. किसी भी मामले के सम्बन्ध में खोज तथा अन्वेषण करना, 5. योजनाओं का निर्माण करना, 6. अन्य दूसरे संगठनों तथा व्यक्तियों के साथ सम्पर्क करना तथा उनसे सम्बन्धित सूचनाओं को प्राप्त करना, 7. कभी-कभी विभागीय अध्यक्ष से प्राप्त शक्तियों को उनकी सीमाओं के अन्तर्गत क्रियान्वित करना।

प्रो0 व्हाइट ने स्टाफ के निम्न कार्य बतलाए हैं- 1. आवश्यक निर्णय लेने योग्य प्रश्नों का अध्ययन करना, 2. प्रलेखों एवं रचनाओं को एकत्रित करना, 3. कार्यविधि के सम्बन्ध में योजना बनाना एवं इस सम्बन्ध में अपने प्रमुख अधिकारी को सलाह देना और जब कार्यपालक अधिकारी द्वारा निर्णय हो जाय तो उस निर्णय को दूसरे तक पहुँचाना, 4. आदेशों की व्याख्या करना तथा परिणामों का अवलोकन करना और रिपोर्ट देना। सिद्धान्ततः उसकी अपनी कोई स्वतन्त्र शक्तियाँ सत्ता प्रमुख अधिकारी से हटकर नहीं है।

15.4 सूत्र अभिकरण

संगठन के कार्यात्मक एवं प्राथमिक कार्य सूत्र अभिकरण सम्पन्न किये जाते हैं। संगठन के उद्देश्यों को प्राप्त करने एवं प्राथमिकताओं को तय करने की मुख्य उत्तरदायित्व सूत्र के ऊपर होती है। संगठन का प्राथमिक कार्य सूत्र अभिकरण द्वारा सम्पन्न किया जाता है। प्रत्येक बड़ा प्रशासनिक संगठन इकाईयों या खण्डों में बँटा होता है। सूत्र इकाईयों का सम्बन्ध नीति के निर्माण से होता है। इनके हाथों में शक्ति होती है, जिसके आधार पर ये निर्णय ले सकती है तथा आज्ञायें प्रसारित कर सकते हैं।

सूत्र अभिकरणों के प्रमुख उदाहरण हैं-

15.4.1 विभाग

विभाग इकाइयों का प्रयोग सबसे अधिक किया जाता है। अधिकतर सरकारी कार्य विभाग द्वारा किया जाता है। विभाग का शाब्दिक अर्थ है, वृहद् वस्तु का लघु अंग। यह शब्द अनेक प्रकार से प्रयोग किया जाता है। प्रशासनिक ढाँचे का निर्माण, विभाग के निर्माण से आरम्भ होता है। विभाग प्रशासनिक संगठन की पहली इकाई होने के नाते यह राजनीतिक कार्यपालिका के तुरन्त नीचे होता है तथा उसके पूरे नियन्त्रण में कार्य करता है। विभाग व विभाग के भीतर अन्य इकाइयाँ राजनीतिक कार्यपालिका के निर्देशन में कार्य करती हैं, तथा उसी के प्रति उत्तरदायी होती है। विभाग राजनीतिक कार्यपालिका द्वारा प्रदत्त सत्ता के आधार पर कार्य सम्पन्न करता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि विभाग राज्य के लक्ष्य तथा कार्यपालिका के दायित्वों को सम्पन्न करने वाला महत्वपूर्ण अंग है। सामान्यतः विभाग चार प्रकार के होते हैं। विभागों के मध्य आकार, ढाँचा, कार्य की प्रकृति अथवा आन्तरिक सम्बन्ध के आधार पर भेद किया जा सकता है। इसी प्रकार विभागों को हम कृत्य, प्रक्रिया, व्यक्ति या स्थान के आधार पर वर्गीकरण कर सकते हैं। विलोबी के अनुसार ''यह एक स्वीकृत तथ्य है कि विभागीय प्रणाली लगभग हर दृष्टि से अधिक श्रेष्ठ है।'' इनकी श्रेष्ठता निम्न गुणों पर आधारित है-

1. इस प्रणाली द्वारा विभिन्न सरकारी विभाग अपने कार्यक्रमों को अधिक अच्छी तरह तैयार कर सकते हैं, तथा उन्हें सुचारू रूप से पूरा कर सकते हैं।
2. यह प्रणाली अधिकार तथा उत्तरदायित्व को पूरी तरह निश्चित करती है।
3. इस प्रणाली में संगठन, सामग्री, संयन्त्र, कर्मचारी व कार्यों के दोहरेपन को रोकने का पर्याप्त उपाय रहता है।
4. चूंकि सारा संगठन इस प्रणाली में एक ही व्यक्ति की अधीनता में काम करता है, अतः प्रशासकीय इकाइयों के आपसी झगड़े आसानी से सुलझाये जा सकते हैं।

15.4.2 लोक निगम

सार्वजनिक निगम अथवा लोक निगम का उदय इस शताब्दी की प्रशासनिक स्रोत की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है। लोक निगम सूत्र अभिकरण होते हुए भी विभागों तथा स्वतन्त्र नियामकीय आयोगों से भिन्न होता है। इसमें सार्वजनिक प्रशासन तथा व्यक्तिगत प्रशासन दोनों के गुण पाये जाते हैं तथा यह दोनों प्रशासनों के अन्तर को कम करने में पुल का काम करता है। डिमॉक के अनुसार ''लोकनिगम वह सरकारी उद्यम है, जिसकी स्थापना किसी निश्चित व्यापार को चलाने अथवा वित्तीय उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए किसी संघीय, राज्य अथवा स्थानीय कानून के द्वारा की गई हो।'' अर्नेस्ट डेवीज के अनुसार ''सरकारी निगम सत्ता द्वारा निर्मित एक संयुक्त निकाय है, जिसकी शक्तियों और कार्य परिभाषित होते हैं और जो आर्थिक रूप से स्वतन्त्र होते हैं।''

लोक निगम की विशिष्टताऐं निम्नलिखित हैं-

1. **लोक उद्देश्य-** इनका मुख्य उद्देश्य पैसा या मुनाफा कमाना नहीं, अपितु लोक सेवा करना है। व्यापारिक पद्धति पर चलते हुए भी लोक-निगम सार्वजनिक सेवा को अपना उद्देश्य मानता है।
2. **कानून द्वारा स्थापित-** इन्हें संसद द्वारा विशेष अधिनियम के अन्तर्गत पारित किया जाता है। इससे लोक निगम का अपना अलग से वैधानिक अस्तित्व होता है।
3. **सरकारी स्वामित्व-** लोक निगम सरकारी स्वामित्व के अधीन होता है। इसमें अधिकांश या सम्पूर्ण पूंजी सरकार की लगी होती है, लेकिन औद्योगिक वित्त निगम और राज्य आदि मिश्रित स्वामित्व वाले निगम भी हैं।
4. **सरकारी नियंत्रण से मुक्त-** लोक निगम सरकारी विभागों की तरह सरकार के नियन्त्रण में नहीं होते हैं।
5. **वित्तीय स्वायत्तता-** लोक निगम को वित्तीय स्वायत्तता प्राप्त रहती है। राष्ट्रीय वित्त एवं बजट से पृथक वित्तीय व्यवस्था का होना इसकी स्वायत्तता को सिद्ध करता है।

6. **बोर्ड द्वारा प्रबन्धन-** लोक निगम के प्रबन्ध के लिए एक बोर्ड अथवा निकाय का गठन किया जाता है, जिसमें सरकारी व्यक्तियों के अलावा निजी क्षेत्र के भी व्यक्ति सदस्य रहते हैं।

15.4.3 स्वतंत्र नियामकीय आयोग

स्वंतत्र नियामकीय आयोग का जन्म अमेरिका में विशिष्ट परिस्थितियों में निर्मित किया गया। बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक में औद्योगिकीकरण तथा समाजवादी विचारधारा की प्रगति के फलस्वरूप राज्य के कार्यक्षेत्र का निरन्तर विस्तार होने लगा। परन्तु अमरीका का संविधान शक्तिपृथक्करण सिद्धान्त पर आधारित है, जिसमें कार्यपालिका और व्यवस्थापिका के बीच अविश्वास एवं स्पर्द्धा की भावना रहती है। इस स्थिति में वहाँ की विधायिका ने एक नया रास्ता निकाला, जिसके अन्तर्गत स्वतंत्र नियामकीय आयोग की स्थापना की गई। इन आयोगों को स्वतन्त्र इसलिए कहा जाता है, क्योंकि ये वहाँ कार्यपालिका से अपने प्रदत्त अधिकारों के क्षेत्र में पूर्णतया स्वतंत्र होते हैं। डिमॉक के अनुसार, स्वतन्त्र नियामक आयोग के दो प्रमुख लक्षण होते है। पहला- वे प्रमुख कार्यकारी के नियन्त्रण से मुक्त रहते हैं। ये अपने कार्यो के लिए राष्ट्रपति के प्रति उत्तरदायी नहीं होते तथा उन्हें कभी प्रतिवेदन भी नहीं भेजते। दूसरा- इनके कार्य प्रशासनिक, अर्ध-विधायी एवं अर्ध-न्यायिक हैं। इनको शासन की ‘‘चौथी शाखा’’ भी कहा जाता है।

15.5 स्टाफ तथा सूत्र के पारस्परिक सम्बन्ध

औपचारिक एवं परम्परागत दृष्टि से निर्णयन एवं प्राथमिकता तय करना सूत्र का एकाधिकार माना जाता है, परन्तु व्यावहारिक रूप से यह देखने को मिलता है कि स्टाफ, सूत्र के क्षेत्रों में हस्तक्षेप करने लगे हैं। प्रायः हम देख रहे हैं कि सम्बन्धों में सुधार की जगह आपसी वैमनस्य एवं कटुता बढ़ती जा रही है। इनमें आपस में प्रतिद्वंदता चलती रहती है। इसलिए डिमॉक तथा कोईंग ने कहा है कि सूत्र तथा स्टाफ में समायोजन करना आज कठिनतम समस्या बनती जा रही है। कई ऐसी स्थितियाँ उत्पन्न होती हैं जब स्टाफ, सूत्र को आवश्यक जानकारी समय से उपलब्ध नहीं करते तथा तथ्यों के संग्रह में जानबूझ कर लापरवाही बरतते हैं, जिसका खामियाजा सूत्र अभिकरण चलाने वाले अधिकारियों को भरना पड़ता है। कई परिस्थितियाँ ऐसी भी उत्पन्न होती हैं जब सूत्र अधिकारी अपने अधिकार-क्षेत्र से बाहर जा कर स्टाफ अधिकरियों को नीचा दिखाने का प्रयत्न करते हैं। इन प्रवृत्तियों से संगठन में सामंजस्य स्थापित करने की नई चुनौतियों उत्पन्न हो जाती हैं, जिससे संगठन की कार्यकुशलता पर प्रतिकूल असर पड़ता है। इन समस्याओं के समाधान के लिए दो उपाय बताए जाते हैं, प्रथम- दोनों प्रकार के अधिकारियों द्वारा अपने कार्य-क्षेत्र में मर्यादा को समझना और सामूहिक हित की भावना को सर्वोपरि स्थान देना। द्वितीय- सूत्र एवं स्टाफ अधिकारियों के पदों का पारस्परिक विनिमय और स्थानान्तरण, जिससे उन्हें एक-दूसरे की समस्याऐं और कठिनाइयां मालूम होती रहे। यह पद्धति अमेरिका के कई बड़े निगमों में विशेषतः अमेरिकी टेलीफोन कम्पनियों में अपनाई जाती है।

15.6 स्टाफ अभिकरण के उदाहरण

स्टाफ अभिकरण के उदाहरणों को निम्न बिन्दुओं के माध्यम से समझने का प्रयास करते हैं।

15.6.1 भारत में स्टाफ अभिकरण

1. **प्रधानमंत्री कार्यालय-** प्रधानमंत्री कार्यालय की स्थापना 15 अगस्त, 1947 को स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद की गई। इस कार्यालय का निर्माण उन समस्त कार्यो का सम्पादन करने के उद्देश्य से किया गया, जिन्हें 15 अगस्त 1947 से पूर्व गवर्नर जनरल के सचिव द्वारा किया जाता था। इस कार्यालय का प्रधान कार्य प्रधानमंत्री को सब मामलों में आवश्यक सचिवीय सहायता और परामर्श देना है और इसके साथ ही-

- संसद के कार्य संचालन के नियमों के अन्तर्गत प्रधानमंत्री के सम्मुख प्रस्तुत किये जाने वाले सभी प्रश्नों पर आवश्यक सामग्री और परामर्श उपलब्ध कराना।
- शासन के कार्यकारी अध्यक्ष के रूप में विभिन्न मन्त्रालयों और राज्य सरकारों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने और अपना उत्तरदायित्व पूरा करने में सहयोग देना।
- प्रेस और जनता के प्रतिवेदनों को प्रधानमंत्री के संज्ञान में ले जाना।

2. **मन्त्रिमण्डल सचिवालय-** इसकी स्थापना अगस्त 1947 में गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी परिषद के स्थान पर की गई थी। यह मन्त्रिमण्डल और साथ ही मन्त्रिमण्डल की लगभग एक दर्जन स्थायी समितियों के कार्यों की देखभाल करता है। यह मन्त्रिमंडल की बैठकों का एजेंट एवं ब्यौरा तैयार करता है। मन्त्रिमण्डल सचिवालय का अध्यक्ष कैबिनेट सचिव होता है। उसकी सलाह के लिए एक सलाहकारों की पूरी श्रखला होती है, जिनमें विज्ञान सलाहकार, ऊर्जा, सलाहकार, संस्कृति और विरासत सलाहकार, सुरक्षा सलाहकार तकनीकि मिशन सलाहकार जैसे उच्च स्तरीय पदाधिकारी होते हैं। प्रधानमंत्री को विशिष्ट सलाह देने के अलावा इस सचिवालय के अधिकारी मन्त्रिमण्डल द्वारा गठित विभिन्न स्थायी समितियों की भी मदद करते हैं। फिलहाल इस प्रकार की छः समितियां है- राजनीतिक आर्थिक, व्यय, निर्यात, समायोजन एवं संचरना से सम्बन्धित। एक प्रकार से ये सचिवालय मुख्य कार्यपालिका का केन्द्र बिन्दु है, जिसके अन्तर्गत सम्पूर्ण भारत की प्रशासनिक प्रक्रिया इससे होकर गुजरती है।
3. **योजना आयोग-** इसे 1950 में भारत सरकार के एक प्रस्ताव द्वारा स्थापित किया गया। यह देश की वर्तमान एवं दीर्घकालीन उद्देश्यों हेतु योजनाओं को मूर्तरूप देता है। यह प्रणाली रूस में स्टैलिन द्वारा बनाई गई प्रणाली एवं तत्पश्चात रूस के विकास को देखते हुए रचित की गई। इस आयोग का अध्यक्ष प्रधानमंत्री होता है। इसके उपाध्यक्ष को कैबिनेट स्तर के मंत्री का दर्जा प्राप्त होता है। यह आयोग देश के लिए पंचवर्षीय योजनाऐं तैयार करता है। समय-समय पर विकास के प्रतिमानों को निर्धारित करना इस विभाग का कार्य है। यह विभाग राज्यों की वार्षिक योजनाऐं तथा उनके लिए आवश्यक पूँजी पर भी विचार करता है।
4. **राष्ट्रीय विकास परिषद-** भारत में संविधान द्वारा संघ प्रणाली की स्थापना की गयी है। अतः केन्द्र सरकारों को सरकारों पर पंचवर्षीय योजनाओं को बिना उनकी इच्छा के लादने का अधिकार नहीं है। अगर राज्यों को यह प्रतीत होता है कि पंचवर्षीय योजनाएँ उनकी आवश्यकता के अनुकूल नहीं हैं तो वे उसे अस्वीकार्य कर सकते हैं। ऐसी स्थिति में राज्यों का सहयोग हासिल करने के लिए राष्ट्रीय विकास परिषद की स्थापना की गई है। प्रधानमंत्री इसका अध्यक्ष एवं राज्य के मुख्यमंत्री इसके सदस्य होते हैं। इस व्यवस्था के अंतर्गत राज्य एवं केन्द्र सरकार में योजनाओं के उद्देश्यों एवं क्रियान्वयन पर आम सहमति बनाने में सहायता मिलती है।
5. **संघ लोक सेवा आयोग-** संघ लोक सेवा आयोग केन्द्र की सेवाओं में नियुक्ति के लिए परीक्षाओं का संचालन करता है। वह भारतीय संविधान की धारा- 320 के अनुपालन में बनाया गया है। यह प्रधानमंत्री और सरकार को सरकारी कर्मचारियों की भर्ती तथा नियुक्ति के सम्बन्ध में सभी प्रकार के विषयों में आवश्यक परामर्श देता है।

15.6.2 ब्रिटेन में स्टाफ अभिकरण

ब्रिटेन में प्रधानमंत्री की सहायता के लिए निम्न स्टाफ अभिकरण विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

1. **मन्त्रिमण्डलीय सचिवालय-** ब्रिटेन में मन्त्रिमण्डलीय सचिवालय की स्थापना प्रथम विश्व युद्ध (1916) के कारण उत्पन्न कार्यभार के लिए की गयी थी। इसका महत्व बढ़ता गया और यह शासन का अपरिहार्य अंग बन गया।

   यह सचिवालय मन्त्रिमण्डल तथा मन्त्रिमण्डलीय समितियों के लिए आवश्यक सचिवीय कार्य करने के अतिरिक्त मन्त्रिमण्डल के सम्मुख विचारणीय विषयों के लिए आवश्यक सामग्री के एकत्रित और उसकी खोजबीन करने तथा विभागों में समन्वय तथा ताल-मेल बैठाने का कार्य करता है। यह मन्त्रिमण्डल में होने वाली सभी बैठकों का पूरा विवरण और लिए गए निर्णयों का रिकार्ड रखता है। इस प्रकार यह मन्त्रिमण्डल के पिछले अनुभव के आधार पर प्रशासन की समस्याओं पर व्यापक तथा विशाल दृष्टि से देखने में तथा इसका समाधान करने में सहायता करता है। अंत में यह कह सकते हैं कि यह अभिलेख रखने का निकाय है और मन्त्रिमण्डल की स्मृति के रूप में काम करता है।
2. **कोष विभाग-** ब्रिटिश कोष विभाग भी एक स्टाफ अभिकरण है। पूर्व में यह राजस्व एवं राजकीय करों के संग्रह करने, कर लगाने और वित्तीय नियन्त्रण करने के साथ सभी राजकीय कर्मचारियों की नियुक्ति, नियन्त्रण और देखभाल का भी पूरा कार्य किया करता था। उन दिनों कोष विभाग का स्थायी सचिव सिविल सर्विस का अध्यक्ष हुआ करता था। सन 1968 के बाद सरकारी कर्मचारियों की नियुक्ति से सम्बन्धित कार्य सिविल सर्विस विभाग को दे दिए गये हैं। वर्तमान में सरकारी कर्मचारियों के वेतन तथा उनके कार्य के मूल्यांकन आदि का कार्य कोष विभाग के पास है।
3. **मन्त्रिपरिषद समितियाँ-** मन्त्रियों के कार्यभार को कुछ कम करने के लिए मन्त्रिमण्डलीय समितियों का विकास हुआ। इन समितियों के मन्त्री ही सदस्य होते हैं, लेकिन इनमें से कुछ समितियों में गैर-मन्त्रिमण्डलीय मन्त्री, लोक सेवा के सदस्य, विभागाध्यक्ष आदि भी शामिल होते हैं। ये समितियाँ मन्त्रिपरिषद को नीतियों के निर्माण में सहायक होती हैं, विभाग के मतभेदों तथा पेरशानियों को दूर करती हैं तथा मन्त्रिपरिषद के कार्यों का एकीकरण करती हैं।

   मन्त्रीपरिषद समितियां दो प्रकार की होती हैं- स्थायी समितियां तथा तदर्थ समितियां। इनके कारण मन्त्रिमण्डल का कार्य बहुत हल्का हो जाता है। अब छोटी-छोटी समस्याओं पर विभिन्न समितियों की बैठकों में पूरा विचार हो जाता है।

15.6.3 संयुक्त राज्य अमेरिका में स्टाफ अभिकरण

सन् 1857 से पहले संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति को अपना कार्य स्वयं ही करना पड़ता था।1857 में उसके लिए एक निजी सचिव, एक भण्डारी तथा एक सन्देशवाहक की नियुक्ति की गयी थी। 1937 में नियुक्त राष्ट्रपति की प्रशासनिक प्रबन्ध की समिति ने सिफारिश की कि राष्ट्रपति के स्टाफ में ऐसे लोगों को होना चाहिए जो उसके सामने प्रस्तुत की जाने वाली समस्याओं में उसे आवश्यक सामग्री को संकलन करके उसको समुचित परार्मश दे सके।

1959 के पुर्नव्यवस्था के कानून में कांग्रेस ने राष्ट्रपति के कार्यकारी कार्यालय की व्यवस्था की जो निम्न प्रकार है-

1. **व्हाइट हाउस कार्यालय-** व्हाइट हाउस कार्यालय में राष्ट्रपति का सम्पूर्ण क्षेत्र आ जाता है। इसमें अनेक सहायक और सचिव कार्य करते हैं। इनकी नियुक्ति स्वयं राष्ट्रपति करता है। व्हाइट हाउस में राष्ट्रपति का सचिव, वैयक्तिक सचिव, कानूनी परामर्शदाता, आर्थिक परामर्शदाता आदि जो प्रशासनिक कार्यों के विशेषज्ञ होते हैं। ये राष्ट्रपति के सामने आने वाली समस्याओं पर विचार कर उसे तत्सम्बन्धी सलाह देते हैं। राष्ट्रपति तथा अन्य विभागों के बीच यह कार्यालय आवश्यक कड़ी का कार्य करता है।

2. **ऑफिस ऑफ मनैजमेंट एण्ड बजट-** 1921 में स्थापित बजट ब्यूरो का स्थान अब 'ऑफिस ऑफ मनैजमेंट एण्ड बजट' ने ले लिया। वार्षिक बजट तैयार करने तथा उसके निष्पादन में राष्ट्रपति को सहायता देना इस कार्यालय का प्रमुख कर्त्तव्य है। इसके अन्य कार्य हैं, सरकार के वित्तीय कार्यों में राष्ट्रपति की सहायता करना, निष्पादक अभिकरणों को परामर्श देना, सरकारी सेवाओं के संचालन में क्षमता तथा मितव्ययिता लाने के सुझाव देना, विभिन्न निष्पादक विभागों में समन्वय स्थापित करना।
3. **अन्य संगठन-** राष्ट्रपति को मन्त्रणां एवं सहायता देने के लिए कुछ अन्य कार्यालय अभिकरण भी हैं जैसे ऑफिस ऑफ पालिसी डेवलपमेंट, ऑफिस एण्ड एडमिनिस्ट्रेशन, ऑफिस ऑफ साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी पॉलिसी आदि। संक्षेप में यह संगठन राष्ट्रपति की कार्यकारी भुजाओं के रूप में कार्य करते हैं।

अभ्यास प्रश्न-

1. व्हाइट हाउस किस देश में स्थित है?
2. स्टाफ और सूत्र में प्रतिद्वन्दिता बिल्कुल नहीं रहती है। सत्य/असत्य

15.7 सारांश

सूत्र एवं स्टाफ शब्द सैनिक संगठन में प्रयुक्त शब्दावली से लिए गये हैं। ये दोनों संगठन की कार्यकारीरचना एवं संगठनात्मक उद्देश्यों के आधार पर प्रयुक्त होते हैं। किसी अभिकरण के अनेक सम्भागों अथवा इकाइयों द्वारा सम्पादित क्रियाओं का लक्ष्य विभाग के उद्देश्यों को प्राप्त करना होता है। इस प्रकार की सभी सेवाओं को सूत्र सेवाओं के नाम से जाना जाता है।

उनके अतिरिक्त प्रत्येक बड़े आकार के विभाग अथवा अभिकरण में कुछ सेवाऐं ऐसी भी होती हैं, जिनका सम्बन्ध संस्था मूलक अथवा गृहसम्बन्धी क्रियाओं के साथ होता है। इस प्रकार की क्रियाओं के अन्तर्गत वे समस्त कार्य आते हैं जो विभाग के अस्तित्व के अनुरक्षण के लिए आवश्यक माने जाते हैं। संगठन के क्षेत्र में प्रयुक्त प्राविधिक शब्दावली में सूत्र अभिकरणों को परिभाषित करते हुए यह कहा जा सकता है कि उनका मुख्य उद्देश्य उन कार्यो को सम्पादित करना हैं जिनकी अपेक्षा संगठन से की जाती है। जबकि स्टाफ अभिकरणों का मुख्य कार्य प्रबन्धकीय अथवा गृह सम्बन्धी क्रियाओं को निष्पादित करना है, जिनके माध्यम से संगठन अपनी लक्ष्य की प्राप्ति के लिये क्षमता विकसित करता है। सूत्र का मुख्य कार्य, उद्देश्यों को तय करना एवं निर्णयन हैं। उदाहरण के लिए विभाग, लोक निगम एवं स्वतंत्र नियामकीय आयोग। स्टाफ का उद्देश्यनियोजन में मदद करना, परामर्श देना एवं फाइलों का संकलन करना है।

15.8 शब्दावली

शक्ति प्रथक्करण- शक्ति का बंटवारा।

व्यवस्थापिका- विधान सभा या व्यवस्था देने वाली संस्था।

पर्यवेक्षण- बराबर यह देखते रहना कि कोई काम ठीक तरह से चल रहा है या नहीं।

15.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1.संयुक्त राज्य अमेरिका, **2.** असत्य

15.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. फाड़िया, बी0 एल0 (1999): लोक प्रशासन, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा।
2. दुबे आर0 के0 (1992): आधुनिक लोक प्रशासन, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा।
3. सिंहल, एस0 सी0 (2002): लोकप्रशासन के तत्व, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा।

15.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. बासु, रूम्की, पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन (1990): कान्सेप्ट एण्ड थीयरी, स्टर्लिंग पब्लिशर्स।
2. अवस्थी, ए0 एवं माहेश्वरी, एस0 (1991): पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा।

15.12 निबंधात्मक प्रश्न

1. लाइन और स्टाफ से आप क्या समझते हैं? उदाहरण के साथ प्रकाश डालिए।
2. स्टाफ अभिकरण का अर्थ स्पष्ट कीजिए? संगठन के कार्यों की दृष्टि से इनका क्या महत्व है?
3. सूत्र अभिकरण से क्या अभिप्राय है? इनके कार्यों की समीक्षा कीजिए।
4. भारत में स्टाफ अभिकरणों के स्वरूप पर निबन्ध लिखिए।

इकाई- 16 भर्ती, प्रशिक्षण एवं प्रोन्नति

इकाई की संरचना

16.0 प्रस्तावना

16.1 उद्देश्य

16.2 भर्ती

16.2.1 भर्ती का अर्थ एवं परिभाषा

16.2.2 भर्ती के प्रकार

16.2.3 भर्ती करने की विधि एवं आधार

16.2.3.1 भर्तीकर्ता की नियुक्ति

16.2.3.2 कार्मिकों की योगयताऐं

16.2.3.2.1 योगयता निर्धारित करनक वाली रीतियां

16.3 प्रशिक्षण

16.3.1 प्रशिक्षण का अर्थ एवं परिभाषा

16.3.2 प्रशिक्षण के उद्देश्य

16.3.3 प्रशिक्षण की पद्धतियाँ

16.4 प्रोन्नति

16.4.1 प्रोन्नति का अर्थ एवं परिभाषा

16.4.2 प्रोन्नति का महत्त्व

16.4.3 प्रोन्नति के सिद्धान्त

16.4.3.1 वरिष्ठता का सिद्धान्त

16.4.3.2 योग्यता का सिद्धान्त

16.5 सारांश

16.6 शब्दावली

16.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

16.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

16.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

16.10 निबंधात्मक प्रश्न

16.0 प्रस्तावना

भर्ती एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा प्रशासन में रिक्त हुए स्थान भरे जाते हैं। यह रिक्त पद के लिए उपयुक्त एवं योग्य व्यक्ति को आकर्षित करने की प्रक्रिया है। भर्ती का निश्चित और वैज्ञानिक तरीका विकसित करने का प्रयास सबसे पहले चीन के शासकों को जाता है। ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी में प्रतियोगिता के आधार पर भर्ती प्रणाली आरम्भ की गई थी। भारत में 1853 में ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत योग्यता के सिद्धान्त को मान्यता प्रदान की गई। लोक सेवकों की भर्ती के पश्चात उनके प्रशिक्षण की समस्या सेवीवर्ग प्रशासन में एक महत्वपूर्ण तत्व माना जाता है। जिस कार्य के लिए लोक-सेवक की भर्ती की गयी है, उस कार्य को सम्पन्न करने के लिए प्रशिक्षण प्राप्त करना आवश्यक माना जाता है। प्राचीन और मध्य-युग में प्रशासकीय कार्य बहुत जटिल, विशिष्ट और तकनीकी प्रकृति के नहीं होते थे, इसलिए उस समय प्रशिक्षण को ज्यादा महत्व नहीं दिया जाता था। लेकिन आज प्रशासक का

कार्य इतना अधिक तकनीकी जटिल और विशिष्ट प्रकृति का हो गया है कि लोक-सेवक केवल विश्वविद्यालयों से प्राप्त डिग्री के ज्ञान के आधार पर उनका सम्पादन नहीं कर सकते हैं। सरकार और प्रशासन की बदलती हुई आवश्यकताओं और जटिलताओं को ध्यान में रखकर भारत के पांचवे वेतन आयोग ने प्रशिक्षण के साथ-साथ रीफ्रेशर कोर्स तथा ओरियण्टेशन कोर्स को सभी स्तर के अधिकारियों व कर्मचारियों के लिए आवश्यक माना है।
प्रोन्नति पदाधिकारियों एवं कर्मचारियों की रूचि एवं कार्यकुशलता को बनाए रखने का एक महत्वपूर्ण साधन है। इसमें सेवा में कार्य करने वाले व्यक्तियों में से अच्छा कार्य करने वाले तथा योग्य व वरिष्ठ व्यक्तियों को उच्च पद प्रदान कर दिया जाता है, जिससे पदाधिकारी व संगठन दोनों को लाभ होता है। लोक सेवकों को कुशल बनाये रखने के लिए एवं मनोबल को बनाए रखने के लिए कुछ प्रेरणाओं और आकर्षणों की आवश्यकता होती है, इन आकर्षण में उसके पद प्रतिष्ठा एवं वेतनमान में वृद्धि उसकी संगठन के प्रति लगाव पैदा करता है।

16.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- भर्ती, प्रशिक्षण एवं प्रोन्नति का अर्थ एवं महत्व को जान सकेंगे।
- भर्ती की विभिन्न विधियों, प्रकारों का मूल्यांकन कर सकेंगे।
- प्रशिक्षण के अर्थ, उद्देश्य एवं उसकी विभिन्न पद्धतियों का आकलन कर सकेंगे।
- प्रोन्नति के अर्थ, महत्त्व एवं सिद्धान्तों को समझ सकेंगे।

16.2 भर्ती

आज के वर्तमान आधुनिक युग में भर्ती के लिए पहले की अपेक्षा अधिक योग्य और तकनीकी विशेषज्ञों की आवश्यकता महसूस की जाने लगी है। प्रशासन की सफलता, कार्य संचालन और प्रबन्ध योग्य एवं कुशल लोक सेवकों पर ही निर्भर करता है। इन कुशल लोक सेवकों को भर्ती की प्रक्रिया से चुना जाता है।

16.2.1 भर्ती का अर्थ एवं परिभाषा

भर्ती का सामान्य अर्थ होता है- किसी कार्य के लिए व्यक्तियों को प्रतियोगिता के आधार पर किसी निर्धारित वेतन दर पर रखना।
किन्गस्ले, के अनुसार ''लोक भर्ती एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा उपयुक्त व्यक्तियों को सरकारी पद पर नियुक्ति प्राप्त करने हेतु प्रतियोगिता में सम्मिलित होने के लिए प्रेरित करना है।''
डिमॉक के अनुसार, ''भर्ती का अर्थ है, विशिष्ट पदों के लिए उपयुक्त व्यक्तियों को पाना।''
आज के वर्तमान आधुनिक युग में भर्ती के लिए पहले की अपेक्षा ज्यादा योग्य और तकनीकी विशेषज्ञों की आवश्यकता महसूस की जाने लगी है। फिफनर और प्रेस्थस ने इस नवीन भर्ती की तरफ इंगित करते हुए कहा है कि ''बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में क्रामिक भर्ती नाभिकीय भौतिकीय विश्व की ओर प्रेरित करनी होगी जिसमें मानवीय समस्याओं के समाधान के लिए सर्वाधिक मानवीय योग्यता की अपेक्षा होगी। इसमें केवल व्यक्तियों को खोज पाने पर ही नहीं, बल्कि ऐसे व्यक्तियों के निर्माण पर बल दिया जायेगा जो अधिकाधिक जटिल होती जा रही संस्थाओं को समेकित करने का जटिल कार्य करने की योग्यता रखते हैं। भर्ती की प्रक्रिया आधुनिक विश्व के जटिल वर्गीकरण एवं संगठनात्मक चुनौतियों के निस्तारण में सहायक होगी।'

16.2.2 भर्ती के प्रकार

भर्ती के निम्नलिखित प्रकार हैं-

1. **सचेष्ट भर्ती-** इस प्रकार की भर्ती में प्रत्याशियों को पद प्राप्त करने के लिए अधिक से अधिक अवसर प्रदान किया जाता है। इस पद्धति में पद के हित को ध्यान में रखते हुए व्यक्तियों को समाचार पत्रों, आकाशवाणी व अन्य साधनों के माध्यम से पद के बारे में सूचित किया जाता है। आवेदन पत्र प्राप्त करने के बाद उनमें से सबसे उपयुक्त व्यक्तियों का चयन कर लिया जाता है। इनमें निम्न तरीके अपनाये जाते हैं। पोस्टर, परिचय पत्र, समाचार पत्र-पत्रिकाओं तथा सिनेमा से विज्ञापन करके एवं प्रदर्शनी लगाकर।
2. **नकारात्मक भर्ती-** इस प्रकार की भर्ती में अयोग्य व्यक्तियों को संगठन के बाहर रखने का प्रयत्न किया जाता है। यही कारण है कि इस प्रकार की भर्ती में प्रत्याशियों के लिए अनेक प्रकार की अर्हताओं का उल्लेख किया जाता है। जिस भर्ती में जितनी अधिक अर्हताऐं होती हैं, वह भर्ती उतनी हो अधिक नकारात्मक कहलायेगी, क्योंकि अर्हताओं के निर्धारण से अधिक से अधिक व्यक्तियों को पद पर आने के अवसर से वंचित कर दिया जाता है।
3. **व्यक्तिगत तथा सामूहिक भर्ती-** जब व्यक्तियों का पृथक-पृथक साक्षात्कार, परीक्षा आदि के द्वारा चयन किया जाता है तो इस प्रकार की भर्ती, व्यक्तिगत भर्ती कहलाती है। परन्तु जब समुह के सामान्य गुणों की जाँच करके बड़ी संख्या में प्रत्याशियों का चयन किया जाता है, तो वह सामूहिक भर्ती कहलाती है।
4. **निष्क्रिय भर्ती-** ऐसी भर्ती जिसमें भर्ती करने वाले अधिकारियों को प्रयास न करना पड़े, निष्क्रिय भर्ती कहलाती है। इस प्रकार की भर्ती में प्रत्याशी स्वयं ही अधिकारियों से सम्पर्क स्थापित करके उनकी अपनी-योग्यता आदि से सन्तुष्ट करके नियुक्ति प्राप्त कर लेता है।

16.2.3 भर्ती करने की विधि एवं आधार

भर्ती के तमाम पहलुओं को हम निम्न बिन्दुओं के अन्तर्गत अध्ययन कर सकते हैं।

16.2.3.1 भर्तीकर्ता की नियुक्ति

प्रायः सभी का मानना है की भर्ती करने वाली सत्ता का निर्धारण केवल कार्मिक प्रशासन का ही नहीं वरन देश की राजनीतिक व्यवस्था का अनिवार्य लक्षण है। इसीलिए भर्तीकर्ता की नियुक्ति की आचार-संहिता का निर्धारण लोकतन्त्रीय देश के संविधान में कर दिया जाता है। भर्तीकर्ता का स्वरूप चाहे कुछ भी हो उसमें निम्न विशेषताऐं अवश्य होनी चाहिए- वह स्वतंत्र हो और बाहरी दबाव से मुक्त हो। वह ईमानदार एवं कत्तव्यनिष्ठ हो। वह योग्य एवं कुशल होना चाहिए, ताकि आवश्यक गुण से परिपूर्ण व्यक्ति को परख सके। प्रशासनिक एवं सामाजिक जीवन में स्थापित कार्यों एवं मूल्यों पर खरा उतरा हुआ हो।

16.2.3.2 कार्मिकों की योग्यताऐं

लोक सेवा में प्रवेश पाने के लिए पदाधिकारियों तथा कर्मचारियों के लिए व्यक्तिगत अर्हताओं को निश्चित करना एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। लोकसेवा में प्रवेश पाने के लिए दो प्रकार की अर्हताएं रखी जा सकती हैं-

पहला- सामान्य अर्हताऐं, प्रत्येक लोक सेवक के लिए जिन सामान्य योग्यताओं की आवश्यकता होती है वे हैं-

- **नागरिकता-** सामान्यतः लोकसेवा के लिए आवेदन करने वालों के लिए राज्य का नागरिक होना आवश्यक है। यह उम्मीद की जाती है कि नागरिक अपने आचरण में कर्त्तव्यनिष्ठ एवं पूरी तरह से समर्पित होगा। ऐसी उम्मीद हम गैर-नागरिकों से नहीं कर सकते।
- **अधिवास या निवास-** ऐसी मान्यता है कि व्यक्ति के क्षेत्र के बारे में जानकारी होना आवश्यक है, जिससे की प्रशासनिक कुशलता हासिल की जा सके। स्थानीकरण की राजनीति की वजह से कई पदों को अधिवास के आधार पर नियुक्त किया जाता है। स्थानीय लोगों की ऐसी माँग रहती है कि उनके बीच सेवा करने वाला व्यक्ति उनके ही क्षेत्र का निवासी हो।

- **लिंग की योग्यता-** विशिष्ट पदों के लिए लिंग का विभेदीकरण भी आवश्यक हो जाते हैं। हवाई जहाजों, में परिचायिकाओं की नियुक्ति के लिए केवल महिलाओं को लिया जाता है। उसी प्रकार सेनाओं में खास पदों के लिए केवल पुरूषों को ही लिया जाता है। आजकल लिंग के अन्तर को धीरे-धीरे सेवाओं में काफी कम किया जा रहा है।
- **आयु की योग्यता-** सरकारी कर्मचारी की भर्ती के लिए आयु का प्रश्न अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इस सम्बन्ध में दो विपरीत प्रथाऐं हैं, एक- प्रत्याशियों को कम आयु में सेवा में प्रवेश देना। यह ब्रिटिश पद्धति है। दूसरी- उन्हें अधिक परिपक्व आयु में नियुक्त करना, यह पद्धति अमरीका में है। पहले विकल्प में दिए गये आधारों पर विद्वानों का मानना है कि अल्प आयु कर्मियों की नियुक्ति से उनके अंदर निर्दिष्ट भावनाओं को विकसित करने में आसानी होती है तथा वे सेवा मूल्यों से पूरी तरह ढल जाते हैं। इनका मानना है कि प्राकृतिक प्रतिभा सम्पन्न व्यक्तियों का कम उग्र में पहचान करके उन्हें सेवा युक्त कार्यों एवं अनुशासन में आसानी से ढाला जा सकता है। दूसरे विकल्प के बारे में मत है कि प्राविधिक एवं विशेष गुणों से सम्पन्न व्यक्ति कार्यों के साथ बेहतर न्याय कर सकता है। पहला लोकसेवा की शैक्षणिक प्रणाली से सम्बद्ध करता है, दूसरा इसे निजी उद्योग में रोजगार के आकार के उतार-चढ़ाव से सम्बद्ध करता है। पहला सरकारी विभागों की आवश्यकताओं को पूरी करता है वहीं दूसरा निजी उद्योग की आवश्यकताओं की आपूर्ति करता है।

दूसरा- विशिष्ट अर्हताऐं, ये अतिआवश्यक अर्हताऐं होती हैं जो इस प्रकार हैं-

- **शिक्षा सम्बन्धी अर्हताऐं-** शिक्षा से सम्बन्धित अर्हताऐं काफी महत्वपूर्ण आधार होती हैं, कर्मियों के नियुक्ति में। प्रायः हम देखते हैं की उच्च पदों के लिए शिक्षा के मापदण्ड एवं योग्यता अधिक होती है, एवम् निम्न स्तर के पदों के लिए ट्रीकूलेशन या हायर सेकेन्ड्री को पर्याप्त माना जाता है। प्रशासनिक सेवा में भर्ती के लिए न्यूनतम अर्हता ग्रेजुएशन है, वहीं लिपिकों एवं कनिष्ठ वर्ग के लिए मात्र हायर सेकन्ड्री।
- **अनुभव-** अनुभव कई सेवाओं में एक बाध्यकारी नियम है। अनुभव प्राप्त व्यक्ति की सेवाऐं किसी भी क्षेत्र के लिए एक वरदान का काम करता है, क्योंकि उस क्षेत्र को उस व्यक्ति के विवेक का लाभ प्राप्त होता है।
- **वैयक्तिक योग्यताऐं-** लोकसेवक में ईमानदारी, निष्ठा, परिश्रम, सूझबूझ, दूरदर्शिता, सच्चरित्र, कर्तव्यपरायणता, समयपालन आदि अनेक वैयक्तिक गुणों का होना आवश्यक है।
- **प्राविधिक अनुभव-** आजकल सरकार को जटिल एवं विशिष्ट प्रकार के अनेकों कार्य करने पड़ते हैं। इनको करने के लिए सरकारी सेवाओं में विभिन्न प्रकार के विशेषज्ञों की आवश्यकता पड़ती है। जैसे- वैज्ञानिक, इंजीनियर, अर्थशास्त्री इत्यादि। सरकार इनके महत्व को स्वीकार्य कर, ऐसे लोगों को नियुक्त करती है, जिससे कार्यों में तेजी लायी जा सके। उदाहरण के लिए भारत सरकार ने टेक्नोलजी मिशन के लिए सैमपिट्रोदा की नियुक्ति उनकी इन विशिष्टताओं की वजह से किया था।

16.2.3.2.1 योग्यता निर्धारित करने की रीतियाँ

अभ्यार्थी की योग्यता का अनुमान लगाने के लिए विधि निर्धारित करते समय इस बात का ध्यान रखता चाहिए कि विधि ऐसी होनी चाहिए जो पद से सम्बन्धित कार्य करने की क्षमता को भली-भाँति माप सके। दूसरे विधि

विश्वसनीय होनी चाहिए और विधि न्यायसंगत होनी चाहिए। इस आधार पर अधिकतर देशों में योग्यता का अनुमान लगाने के लिए निम्नलिखित विधियाँ अपनाई जाती हैं-

1. **लिखित परीक्षाएँ-** प्रत्याशियों की योग्यता की जाँच करने के लिए प्रायः सभी देशों में सामान्यतः लिखित परीक्षाओं को काम में लाया जाता है। कुछ देशों में परीक्षा का उद्देश्य अभ्यार्थी की सामान्य कुशलता एवं बुद्धिमत्ता का अनुमान लगाना होता है। लिखित परीक्षा दो प्रधान उद्देश्यों से ली जाती है। पहला उद्देश्य व्यक्ति से सामान्य बौद्धिक गुणों और और मानसिक क्षमता का पता लगाना है, दूसरा उद्देश्य व्यक्ति के तकनीकि अथवा व्यावसायिक ज्ञान की जाँच करना होता है। भारत व ब्रिटेन में अभ्यार्थी को सामान्य बुद्धि अथवा उसके कोष्ठ मानसिक स्तर का अनुमान लगाने के लिए लिखित परीक्षायें आयोजित करते हैं। इन परीक्षाओं में वही विषय होते हैं जो विद्यालयों व विश्वविद्यालियों में पढाये जाते हैं। इन देशों में यह विचार प्रचलित है कि श्रेष्ठ मानसिक स्तर का व्यक्ति किसी भी कार्य को कुशलतापूर्वक कर सकता है तथा अपने आपको परिस्थिति के अनुकूल ढाल सकता है।

लिखित परीक्षाऐं निम्न प्रकार की होती हैं-

- **निबंधात्मक अथवा संक्षिप्त उत्तरात्मक परीक्षा-** ऐसी परीक्षा जिसमें प्रश्नों के उत्तर विस्तार में लिखने होते हैं उन्हें निबंधात्मक परीक्षा कहलाती है। इसके विपरीत यदि परीक्षा में प्रश्नों के संक्षिप्त उत्तर अपेक्षित होते हैं तो वह संक्षिप्त उत्तरात्मक परीक्षा कहलाती है। निबंधात्मक परीक्षा का उद्देश्य अभ्यार्थी की भाषा, विषय ज्ञान, तर्क करने की शक्ति, समस्या विश्लेषण की क्षमता, चिन्तन की शक्ति, सामग्री प्रस्तुतीकरण आदि गुणों का अनुमान लगाना होता है।

  इस प्रकार की परीक्षाओं में अभ्यार्थी से किसी विषय पर निबन्ध अथवा टिप्पणी आदि लिखने को कहा जाता है। इन परीक्षाओं का मुख्य दोष है कि यह अधिक खर्चीली होती है तथा इनके परिणामों में आत्मपरक का दोष रहता है। इसमें उत्तरों के मुल्यांकन में भी अधिक समय लगता है। संक्षिप्त उत्तरात्मक परीक्षाओं में उत्तर कई प्रश्नों के हाँ या ना में देने होते हैं। इसमें अनेक तरीकों से परीक्षाओं के प्रश्नों की रचना की जाती है, जिसका मुख्य उद्देश्य काम से कम समय में परीक्षार्थीयों के अधिक से अधिक ज्ञान का परीक्षण किया जा सकता है। इसमें अधिक से अधिक लोगों की परीक्षा एक साथ ली जा सकती है तथा परिणाम भी जल्दी निकाले जा सकते हैं। इसका मुख्य दोष यह है कि परीक्षक के बहुत सारे गुण इसके द्वारा परिलिक्षित नहीं हो पाते।
- **सामान्य बुद्धि परीक्षा-** बिने तथा साइमन ने सामान्य बुद्धि परीक्षा की नींव डाली। आजकल अभ्यार्थी की मानसिक परिपक्वता को मापने के लिये इस पद्धति को अपनाया जाता है। इस परीक्षा के आधार पर परीक्षार्थी की मानसिक आयु निकाली जाती है। मानसिक योग्यताओं का अनुमान लगाने के लिए टस्मन ग्रूप टेस्ट तथा थर्सटन द्वारा बनाई गई परीक्षा प्रयोग में लाई जाती है।
- **सामाजिक योग्यता परीक्षा-** इस परीक्षा में सामाजिक योग्यता को परखा जाता है। यह देखा जाता है कि व्यक्ति का सामाजिक समुह में किस प्रकार का व्यवहार होना है। इससे सामाजिक समस्याओं के प्रति उसकी समझ का अंदाज लगाया जाता है।
- **प्रशासनिक योग्यता परीक्षा-** इस प्रकार की परीक्षा में व्यक्ति की प्रशासनिक क्षमता को जानने पर बल दिया जाता है। इसमें प्रशासन की समस्याओं से सम्बन्धित प्रश्न पूछे जाते हैं तथा व्यक्ति की इन समस्याओं के समाधान निकालने की क्षमता व धैर्य का अनुमान लगाया जाता है।

- **यांत्रिक योग्यता परीक्षा-** इस प्रकार की परीक्षा यन्त्र से सम्बन्धित व्यक्ति के ज्ञान को मापने के लिए आयोजित की जाती है। इसका उद्देश्य व्यक्ति का तकनीकी ज्ञान परखना होता है।
- **अभियोग्यता परीक्षा-** इस प्रकार की परीक्षा का उद्देश्य अभ्यार्थी में पद से सम्बन्धित कार्य में रूचि का अनुमान लगाना है। अधिकतर इनका प्रयोग पुलिस अथवा सेना की भर्ती में किया जाता है।
- **उपलब्धि परीक्षा-** इस परीक्षा का उद्देश्य विभिन्न पदों के लिए निर्धारित शिक्षा स्तर की जाँच करना है, अर्थात अभ्यार्थी में इस बात का अनुमान लगाना है कि अमुक व्यक्ति की योग्यता निर्धारित शिक्षा स्तर से कम तो नहीं है।
- **व्यक्तिगत सम्बन्धी परीक्षा-** इस परीक्षा से व्यक्ति के गुणों का अनुमान लगाया जाता है। इसके लिए लेयर्ड-इन्वेन्टरी का प्रयोग किया जाता है। इसमें संवेग भावनाओं, नेतृत्व आदि गुणों से सम्बन्धित प्रश्नों की एक सूची तैयार की जाती है। इस सूची के द्वारा उसका परीक्षा किया जाता है और निष्कर्ष निकाला जाता है।

2. **मौखिक परीक्षाएँ-** व्यक्ति के व्यक्तित्व की जाँच के लिए मौखिक परीक्षाऐं की जाती हैं। लिखित परीक्षा के पश्चात मौखिक परीक्षा के द्वारा ही व्यक्ति का सही व पूर्ण मूल्यांकन हो पाता है। इन परीक्षाओं का मुख्य उद्देश्य अभ्यार्थी के सम्बन्ध में सकारात्मक एवं निषेधात्मक गुणों का पता लगाना होता है, क्योंकि यह हो सकता है कि एक व्यक्ति लिखित परीक्षा में बहुत योग्य हो तथापि उसके भीतर धैर्य, सतर्कता, निश्चय की क्षमता, तथा कर्त्तव्यपरायणता का अभाव हो। अतः एक सफल प्रशासक के चयन के लिए मौखिक परीक्षा आवश्यक है। प्रायः चार प्रकार की मौखिक परीक्षाऐं प्रचलित हैं-
    - **सेवा चयन मण्डल प्रक्रिया-** इसमें एक मण्डल अथवा बोर्ड जिसमें विभागाध्यक्ष तथा सम्बन्धित विषयों के विशेषज्ञ होते हैं, अभ्यर्थियों में से चयन करते हैं। यह मण्डल साक्षात्कार के द्वारा व्यक्ति की योग्यता व विषय ज्ञान का मूल्यांकन करके रिक्त पदों के लिए चयन कर लेता है।
    - **साक्षात्कार-** इसमें अभ्यार्थी के गुण एवं दोषों का आकलन बोर्ड में नियुक्त सदस्यों के द्वारा किया जाता है। इस बोर्ड में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण एवं अन्य सदस्य अभ्यार्थी की क्षमताओं का मूल्यांकन करते हैं।
    - **मौखिक प्रश्नोत्तर प्रणाली-** इसका उद्देश्य अभ्यार्थी के विषय सम्बन्धित ज्ञान का अनुमान लगाना होता है। अभ्यार्थी के व्यक्तित्व के मापने पर इस प्रणाली में जोर नहीं दिया जाता। यह प्रणाली अधिकतर तकनीकी पदों पर कार्य करने के लिये व्यक्तियों के चयन में उपयोग की जाती है।
    - **छंटनी साक्षात्कार-** इस प्रणाली का मुख्य उद्देश्य अभ्यार्थियों की संख्या को कम करना है। न्यूनतम योग्यता रखने वाले अभ्यार्थियों में से केवल ऐसे व्यक्ति जो पद के लिए उपयुक्त हो सकते हैं, उनका चयन इस पद्धति के द्वारा किया जाता है। इसके उपरान्त इन छठे हुए व्यक्तियों में से अन्तिम चयन पद पर नियुक्ति के लिए किया जाता है।
    - **निष्पादन अथवा कार्यकुशलता परीक्षण-** इस पद्धति में अभ्यार्थियों से सम्बन्धित मशीन पर वास्तविक कार्य को कराकर अनुमान लगाया जाता है, कि कौन से व्यक्ति पद पर कुशलतापूर्वक कार्य कर सकेंगे। यह प्रणाली उन व्यक्तियों के चयन में की जाती है जिनका सम्बन्ध व्यवहारिक कार्य से है।

- **योग्यता एवं अनुभव का मुल्यांकन-** जब विभागीय प्रोन्नति करनी होती है तो इस प्रणाली का उपयोग किया जाता है। इसमें विभागीय पदोन्नति समितियों का गठन किया जाता है। उनकी समय-समय पर बैठक होती रहती है। अपनी बैठक में ये अभ्यार्थियों की योग्यताओं एवं अनुभव का अनुमान प्रमाण-पत्रों व विभागाध्यक्षों की गोपनीय प्रतिवेदनों आदि के आधार पर लगाते हैं तथा उपयुक्त व्यक्ति के चयन के लिए संतुति देते हैं।

16.3 प्रशिक्षण

प्रशिक्षण को हम निम्नलिखित विन्दुओं के माध्यम से समझने का प्रयास करते हैं।

16.3.1 प्रशिक्षण का अर्थ एवं परिभाषा

प्रशिक्षण का शब्दिक अर्थ है कि किसी कला, व्यवसाय अथवा हस्तकला में व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करना। विलियम जी0 टोरपी ने प्रशिक्षण के अर्थ को स्पष्ट करते हुए लिखा है ''प्रशिक्षण एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा कार्मिकों की उनके वर्तमान पदों पर दक्षता बढाने हेतु उनके ज्ञान कौशल एवं उनकी रूचियों तथा आदतों को विकसित किया जाता है, ताकि वे भावी सरकारी पदों पर भी अपने कार्य को उचित ढंग से पूरा कर सके। लोक-सेवकों में जो कुशलता, योग्यता तथा ज्ञान पहले से पाया जाता है, उन्हें वर्तमान कार्य के सन्दर्भ में उपयोगी बनाना प्रशिक्षण के द्वारा ही सम्भव हो सकता है।'' स्टाल ने भी कहा है कि कर्मचारी वर्ग का विकास एवं प्रशिक्षण मानवीय प्रयास के निर्देशन का एक मूल तत्व है और इस रूप में यह उस समय अधिक प्रभावशाली हो जाता है जब इसे नियोजित, व्यवस्थित एवं मूल्यांकित किया जाता है।

16.3.2 प्रशिक्षण के उद्देश्य

प्रशिक्षण के उद्देश्य के बारे में मेण्डेल ने कहा है कि ''प्रशिक्षण का उद्देश्य नये कार्य के लिए अभिनवीकरण, वर्तमान कार्य हेतु कार्यकुशलता तथा ज्ञान का विकास एवं भावी उत्तरदायित्वों के लिए तैयारी करना है।'' प्रशिक्षण का मुख्य उद्देश्य प्रशासन के कार्यों और आवश्यकताओं के अनुकूल लोक-सेवकों में ज्ञान एवं कार्यकुशलता को विकसित करना है। लोक-सेवकों को प्रशिक्षित करने के सम्बन्ध में इंग्लैण्ड में 1944 ई0 में ऐशेटन समिति ने अपने प्रतिवेदन में कहा था कि किसी भी बड़े पैमाने के संगठन में कार्यकुशलता दो प्रमुख तत्वों पर निर्भर करती है- व्यक्ति को सौंपे गये किसी खास काम को कर सकने की उसकी तकनीकी कार्यकुशलता पर और किसी निकाय के सदस्यों के सामूहिक उत्साह पर। हमें प्रशिक्षण के इन तत्वों पर ध्यान देना चाहिए। इस समिति ने निम्न उद्देश्यों की चर्चा की है-

1. ऐसे लोक-सेवकों का निर्माण करना जो अपने कार्य को कार्य-निष्पादन की यर्थाथता, शुद्धता और स्पष्टता के साथ सम्पादित कर सकें।
2. लोक-सेवकों को यन्त्रवत् होने से रोका जा सके और उनको सामाजिक कार्यों के प्रति सजीव और उदार बनाया जा सके।
3. प्रशिक्षण के द्वारा हम ऐसे लोक-सेवकों का निर्माण कर सकते हैं, जो अपने कार्यों के निष्पादन की यर्थाथता, शुद्धता और स्पष्टता के साथ सम्पादित कर सके।
4. प्रशिक्षण लोक-सेवकों को केवल वर्तमान कर्त्तव्यों को अधिक दक्षतापूर्वक करने योग्य ही नहीं बनाता है अपितु उन्हें भविष्य में उच्चतर उत्तरदायित्वों तथा और अधिक कार्य को करने के लायक बनाता है।
5. प्रशिक्षण का मुख्य उद्देश्य लोक-सेवकों के मनोबल, चरित्र, साहस एवं विवेक को आगे बढ़ाना है, क्योंकि मानवीय समस्या की दृष्टि से प्रशिक्षण योजनाओं की सफलता के लिए यह आवश्यक माना जाता है कि लोक-सेवकों के मनोबल को बनाये रखा जाये।

6. ऐशेटन समिति ने कहा था कि यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि लोक-सेवा तथा जनता अपने को दो अलग-अलग ग्रुपों में बंटा समझे। जनता के प्रति तथा अपने कार्य के प्रति ठीक अभिवृत्ति का संचार लोक-सेवा प्रशिक्षण का मुख्य उद्देश्य होना चाहिए। ऐशेटन समिति के अनुसार प्रशिक्षण के कुछ अन्य उद्देश्य इस प्रकार हैं-
    - लोक-सेवकों को उनके कार्यक्षेत्र के विषय में नवीनतम सूचना प्रदान करना है।
    - प्रशिक्षण के द्वारा लोक-सेवकों में जनता के साथ मिलकर काम करने की भावना का विकास किया जाता है।
    - प्रशिक्षण में लोक-सेवकों की क्षमताओं का विकास करके उनके कार्यकुशलता को बढाया जाता है तथा अनुपात में विभाग की प्रतिष्ठा और कार्यकुशलता बढ़ती जाती है, जिसमें निर्धारित कार्यों और लक्ष्यों को पूरा करना आसान हो जाता है।
    - विभागीय लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए विशेष प्रकार की तकनीक एवं व्यावसायिक प्रशिक्षण प्रदान करके लोक-सेवकों के भविष्य को उज्जवल बनाना।
    - प्रशिक्षण के द्वारा लोक-सेवकों को पदोन्नति और उच्च स्थिति के योग्य बनाना।
    - प्रशिक्षण के द्वारा लोक-सेवकों के आचरण व्यवहार को व्यापक एवं उदार बनाया जाता है ताकि लोक-सेवकों के प्रति जन-समुदाय में अच्छी निष्ठा कायम हो सके।
    - परम्परागत और पुरानी लोक-सेवकों में जब आधुनिक प्रयोग किये जाते हैं, तो उस आधुनिक परिस्थिति के अनुसार लोक-सेवकों के बीच एक अच्छी विकसित सोच और समानता पैदा होती है।
    - लोक-सेवकों को पूरी सेवा करनी पड़ती है, जिसमें प्रगति आवश्यक है। इसलिए प्रशिक्षण के द्वारा एक मजबूत आधार प्रदान किया जा सकता है।

उपर्युक्त उद्देश्यों से प्रशिक्षण की अनिवार्यता व महत्व और बढ़ जाता है।

16.3.3 प्रशिक्षण की पद्धतियाँ

प्रशिक्षण के उद्देश्यों को जानने के बाद अब दिमाग में यह प्रश्न उठता है कि विधियों का प्रयोग हम प्रशिक्षण के लिए कर सकते हैं। प्रशिक्षण की विधियों का प्रशिक्षण की आवश्यकताओं के साथ अवश्य ही सम्बन्ध होना चाहिए। टोरपे का मत है कि प्रशिक्षण का सही तरीका चुनने का मापदण्ड स्वस्थ शिक्षा सिद्धान्तों के आधार पर तय किया जाना चाहिए। प्रशिक्षण की क्रिया को सम्पन्न करने के लिए लोक प्रशासन में जिन अनेक तरीकों का प्रयोग किया जाता है, वे इस निर्णय के साथ-साथ परिवर्तित होते रहते हैं कि प्रशिक्षण व्यक्तिगत रूप से दिया जाना है अथवा सामूहिक रूप से। प्रशिक्षण की प्रणाली बहुत हद तक सरकारी और प्रशासकीय नीति पर भी निर्भर करती है। प्रशिक्षण की कुछ निम्न विधियाँ जो प्रशिक्षण के दौरान लोक-सेवकों को दी जाती है-

1. **सामूहिक प्रशिक्षण-** इस पद्धति में कई लोग एक साथ मिलकर समूह में प्रशिक्षण दिया जाता है और इस विधि में वार्ता, विचार-विर्मश,भाषण, औपचारिक पाठ्यक्रम, प्रयोगशाला के व्यवहार इत्यादि का सहारा लिया जाता है।
2. **कार्य पर निर्देश-** इस विधि में नये लोक-सेवक को उसके कार्यालय के पर्यवेक्षक द्वारा कार्य से सम्बन्धित पूरा-पूरा ज्ञान तथा निर्देष दिया जाता है।

3. **लिखित प्रपत्र-** इसमें विभागों के कर्मचारियों को समय-समय पर अनेक प्रकार के लिखित निर्देश दिये जाते हैं। संगठन के अधिकारी भी इस बात के प्रति जागरूक रहते हैं कि विभिन्न प्रकार के निर्देशों और परिपत्रों के जरिए नये कर्मचारियों के ज्ञान में बढ़ोत्तरी की जाय।
4. **पत्राचार-पाठ्यक्रम-** इसके द्वारा यह प्रयास किया जाता है कि लोगों के काम में बिना रूकावट के उन्हें पत्राचार के जरिए प्रशिक्षण दिया जाये। इस विधि में समय-समय पर पूरा पाठ्यक्रम तैयार कराकर नये लोक-सेवक को यह डाक से भेज दिया जाता है। इस विधि में लोक-सेवक को न तो प्रशिक्षण-स्थल पर जाना पड़ता है और न ही प्रशिक्षक के साथ समय देना पड़ता है और साथ-साथ ज्ञान में अभिवृद्धि होती रहती है।
5. **श्रव्य-दृश्यों साधनों के प्रयोग-** इस विधि में कर्मचारियों को तस्वीर, चलचित्र, टी0वी0, रेडियो, टेपरिकॉर्डर तथा विडियो फिल्मों के द्वारा उनके कार्य से सम्बन्धित अनेक प्रकार का सैद्धान्तिक और व्यावहारिक ज्ञान कराया जाता है।
6. **निर्देशित सम्मेलन-** विश्वविद्यालयों की परिसम्वाद कक्षाओं जैसे ही होते हैं, निर्धारित विषय के सम्बन्ध में सभी कर्मचारी पूरा-पूरा अध्ययन करके तैयार होकर आते हैं तथा प्रशिक्षक और कर्मचारी दोनों ही विचारों का आदान-प्रदान करते हैं। इस आपसी परिसम्वाद के द्वारा उनके ज्ञान में बढोत्तरी होती है।
7. **सिण्डीकेट पद्धति-** इसमें लोक-सेवकों को छोटे-छोटे कई दलों में बाँट दिया जाता है और प्रत्येक दल में चार-पाँच सदस्य और एक अध्यक्ष होता है। अध्यक्ष अपने दल के साथ-विचार-विर्मश कर किसी समस्या के सम्बन्ध में प्रतिवेदन प्रस्तुत करता है। उस पर वाद-विवाद किया जाता है तथा प्रत्येक पक्ष अपने दल का बचाव और दूसरे दल पर प्रहार करता है। यह आधुनिक पद्धति है तथा विकसित देशों में ज्यादा प्रचलित है।

इन पद्धतियों के अलावा कुछ अन्य तरीके भी प्रयोग किये जाते हैं। जैसे- प्रशैक्षणिक भ्रमण, केस पद्धति, कार्यस्थल प्रशिक्षण, अनुभव द्वारा प्रशिक्षण। लोक-सेवकों को दिये जाने वाले प्रशिक्षण को किसी खास निर्धारित सीमा में बाँधना आसान नहीं है, क्योंकि यह कई बातों पर निर्भर करता है, कि उसे किस प्रकार का प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए? प्रो0 वी0 एम0 सिन्ध ने प्रशिक्षण के सात प्रकार बताये- 1. व्यावसायिक प्रशिक्षण, 2. पृष्ठभूमि का प्रशिक्षण, 3. प्रारम्भिक प्रशिक्षण, 4. अग्रिम शिक्षा, 5. गतिशीलता के लिए प्रशिक्षण, 6. पर्यवेक्षण के लिए प्रशिक्षण और 7. उच्च प्रशासकीय प्रशिक्षण।

प्रो0 अवस्थी एवं माहेश्वरी ने प्रशिक्षण को अनौपचारिक और औपचारिक प्रशिक्षण में विभक्त करते हुए पुनः औपचारिक प्रशिक्षण के चार प्रकारों की चर्चा की है- प्रवेश-पूर्व प्रशिक्षण, पुनरावलोकन प्रशिक्षण, सेवाकालीन प्रशिक्षण तथा प्रवेशोत्तर प्रशिक्षण।

डॉ0 एम0 पी0 शर्मा ने प्रशिक्षण के जिन पाँच प्रकारों का वर्णन किया है वे ज्यादा उपयोगी लगते है-

- **औपचारिक और अनौपचारिक प्रशिक्षण-** औपचारिक प्रशिक्षण में व्यवस्थित तथा नियोजित रूप में लोक-सेवकों को उनके कार्यो के सम्बन्ध में सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक ज्ञान दिया जाता है, जिससे वे अपने उत्तरदायित्वों का पालन अच्छी तरह से कर सके। इस विधि में कर्मचारियों को सुनिश्चित पाठ्यक्रम और निर्धारित योजना के तहत एक विशेष प्रकार के कौशल एवं कार्यविधि की शिक्षा दी जाती है।

  अनौपचारिक प्रशिक्षण सामान्य अनुभव और व्यवहार से प्राप्त होता है। लोक-सेवक अनुभवी अधिकारी के साथ काम करता है तो वह खुद-प्रशिक्षित होता है। नवनियुक्त लोक-सेवक अपने अधिकारों के साथ काम करते-करते बहुत सी अच्छी आदतें व बातें सीख जाता है। टिकनर का मानना है कि यह पद्धति

सीखने का कठिन मार्ग है और पूर्णतया सफल होने के लिए यह आवश्यक है कि सीखने वाला सीखने पर तुला रहे।

- **अल्पकालीन और दीर्घकालीन प्रशिक्षण-** लोक-सेवा द्वारा सम्पन्न किये जाने वाले कार्य की प्रकृति सामान्य और सरल है तो लोक-सेवक को सामान्य अल्पकालीन प्रशिक्षण देकर उन्हें कार्य पर भेज दिया जाता है, इसमें ज्यादातर सैद्धान्तिक और जरूरी विषयों की जानकारी दी जाती है।
  ऐसे अनेक कार्य होते हैं जो काफी जटिल और विशेष होते है, जिन्हें पूरा करने के लिए केवल कालेज और विश्वविद्यालयों का ज्ञान ही पर्याप्त नहीं होता। तब दीर्घकालीन प्रशिक्षण की व्यवस्था की जाती है। भारतीय प्रशासनिक सेवा तथा भारतीय पुलिस सेवा के अधिकारियों को विशिष्ट और दीर्घकालीन प्रशिक्षण दिया जाता है।
- **प्रवेश के पूर्व और प्रवेशोपरान्त प्रशिक्षण-** लोक-सेवा में आने के पूर्व महाविद्यालयों, तकनीकी स्कूलों, चिकित्सा एवं प्रौद्योगिकी संस्थाओं और विश्वविद्यालयों के द्वारा जो प्रशिक्षण दिये जाते हैं, उसे पूर्व-प्रवेश प्रशिक्षण कहा जाता है। लोक-सेवा में प्रवेश के बाद जो प्रशिक्षण उसे सम्बन्धित विभाग और प्रशासन द्वारा दिया जाता है, वह प्रवेश के उपरान्त प्रशिक्षण कहलाता है। इसमें लोक-सेवक और सरकार दोनों ही जागरूक रहते हैं।
- **विभागीय और केन्द्रीय प्रशिक्षण-** जब कार्यालय अथवा विभाग के ही द्वारा प्रशिक्षण का प्रबन्ध किया जाता है तो उसे विभागीय प्रशिक्षण कहते हैं। जब किसी विशिष्ट प्रकार के कार्य के लिए विभाग अपनी आवश्यकता के अनुसार प्रशिक्षण का प्रबन्ध कराता है तो विभाग के अनुभवी अधिकारी ही प्रशिक्षक होते हैं।
  अधिक सामान्य तथा उच्च पदों के लिए जब एक साथ एक ही जगह पर सबको प्रशिक्षण दिया जाता है तो उसे हम केन्द्रीय प्रशिक्षण कहते हैं। भारतीय सेवा के लिए लालबहादुर राष्ट्रीय प्रशासन संस्थान, मसूरी में केन्द्रीय प्रशिक्षण दिया जाता है। इस प्रशिक्षण में एक साथ वैसे प्रशिक्षण दिये जाते हैं, जिनका उपयोग भिन्न-भिन्न प्रकार की सेवाओं में हो सके।
- **कौशल और आधारभूत प्रशिक्षण-** विशेष प्रकार के विभागों के लिए विशेषीकृत प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है जिसमें कुछ सैद्धान्तिक और व्यावहारिक जानकारी दी जाती है। जिससे लोक-सेवक उस विशेष कौशलपूर्ण उत्तरदायित्व को पूरा करने में सक्षम होता है। जैसे- पुलिस अधिकारियों की प्रशिक्षण संस्था में अपराध सम्बन्धी नयी तकनीकों तथा अपराधियों से निबटने के लिए नयी-नयी विधियों की जानकारी दी जाती है। ये प्रशिक्षण विशेष प्रकार के कौशल पर आधारित होते हैं।
  आधारभूत प्रशिक्षण में लोक-सेवकों को ऐसे विषय सिखाये जाते हैं, जिसमें राजनीतिक, प्रशासकीय, सामाजिक, आर्थिक और संवैधानिक पृष्ठभूमि की जानकारी दी जाती है। इस प्रशिक्षण में मूलभूत या आधारभूत जानकारी दी जाती है जो सामान्यतः सभी प्रकार की उच्च सेवाओं के लिए आवश्यक है। इस प्रकार का प्रशिक्षण प्रायः सैद्धान्तिक पाठ्यक्रमों और मौखिक व्याख्यानों के द्वारा दिया जाता है।

16.4 प्रोन्नति

प्रोन्नति को निम्नलिखित बिन्दुओं के माध्यम से समझने का प्रयास करते हैं-

16.4.1 अर्थ एवं परिभाषा

किसी भी व्यवस्था को प्रभावकारी एवं कार्यकुशल बनाये रखने के लिए यह अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि उसके अन्तर्गत कार्यरत व्यक्तियों को उन्नति एवं प्रगति के पर्याप्त अवसर प्रदान किये जायें। उनकी कुशलता एवं मनोबल

को ऊँचा उठाने के लिए प्रोन्नति एक आकर्षण का कार्य करती है। प्रोन्नति का शाब्दिक अर्थ है- पद, स्तर या सम्मान में वृद्धि। एल0 डी0 व्हाइट ने प्रोन्नति का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा है कि ''एक स्थान से कर्मचारी को अधिक कठिन कार्य, एवं गुरूतर दायित्व के स्थान पर नियुक्ति जहाँ इसका पद बदल जाय और प्रायः वेतन भी बढ़ जाय।''

निलियान जी0 टोरपे, का मानना है कि, ''पदाधिकारी के एक पद से ऐसे दूसरे पद पर पहुँचने की ओर संकेत करती है जो उच्चतर श्रेणी या उच्चतर न्यूनतम वेतन वाला होता है।''

इस प्रकार उपयुक्त परिभाषाओं के आधार पर प्रोन्नति का अर्थ है- एक निम्न स्तर पद से उच्चतर पद पर नियुक्ति, कर्तव्यों और दायित्वों में वृद्धि और पूर्व के वेतनमान से ऊँचे वेतनमान में प्रवेश।

16.4.2 प्रोन्नति का महत्व

प्रोन्नति का मुख्य उद्देश्य प्रशासनिक कार्यकुशलता का विकास करना है। प्रोन्नति द्वारा अनुभव व योग्य व्यक्तियों को उच्च पद प्राप्त करने का अवसर प्रदान किया जाता है। इससे अधिकारियों में काम करने की लगन बनी रहती है। उनको उच्चतम पद तक पहुँचने की आशा रहती है। वह अपने परिश्रम व योग्यता से उच्च पद प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। प्रोन्नति की व्यवस्था से लोकसेवा में स्थायित्व बना रहता है और वे व्यक्तिगत प्रशासन की तरफ भागना नहीं चाहते हैं, क्योंकि एक योग्य व्यक्ति को सरकारी सेवा में अच्छी सेवा-शर्तें उपलब्ध नहीं तो वह इसमें नहीं रहना चाहेगा। अपने अच्छे भविष्य के लिए वह अन्य सेवाओं में जाना पसन्द करेगा जो सरकारी प्रशासन और समस्त संगठन के लिए हानिप्रद है। नियोक्ता के लिए भी प्रोन्नति लाभदायक है। क्योंकि उन्हें वर्तमान कर्मचारियों में से महत्वपूर्ण उत्तरदायित्वों का निर्वाह करने के लिए अनुभवी कर्मचारी प्राप्त हो जाते हैं जो निश्चय ही नवनियुक्त कर्मचारियों से बेहतर और उपयोगी होती है। पदोन्नति के उपर्युक्त महत्व एवं उपयोगिता इस बात की ओर संकेत करती है कि कार्मिक प्रशासन में प्रोन्नति का विशिष्ट महत्व है तथा इसके अभाव में संगठनके उद्देश्यों को प्राप्त करने में बांधा उत्पन्न होगी। प्रो0 विलोबी ने कहा कि प्रोन्नति दो दृष्टियों से लाभदायक है, प्रथम- सरकारी पदों के लिए योग्य एवं अनुभवी व्यक्ति प्राप्त होते हैं, दूसरे- इससे उनमें अच्छे कार्य करने की उत्तेजना बनी रहती है।

16.4.3 प्रोन्नति के सिद्धान्त

प्रोन्नति के लिए लोक सेवकों का चयन किस प्रकार किया जाय तथा प्रोन्नति किसे दिया जाय, यह एक महत्वपूर्ण समस्या है, कुछ विद्वानों का मत है कि पदोन्नति लोकसेवकों के सेवाकाल के आधार पर किया जाना चाहिए, यानि की ज्येष्ठता आधार होना चाहिए। वहीं कुछ विद्वानों का मत है कि योग्यता प्रमुख आधार होना चाहिए प्रोन्नति के लिए। अतः हम दोनों के तर्कों के आधार का परीक्षण करेंगे।

16.4.3.1 वरिष्ठता का सिद्धान्त

1. ज्येष्ठता एक वास्तविकता होने के कारण इस सिद्धान्त के पालन में बेईमानी की सम्भावना कम रहती है।
2. ज्येष्ठ व्यक्ति अधिक अनुभवी होता है।
3. वरिष्ठता को आधार बनाने से पक्षपात, भाई भतीजावाद और राजनीतिक दबाव की सम्भावनाऐं नहीं के बराबर होती हैं।
4. प्रोन्नति का यह सिद्धान्त स्वचालित होता है। कर्मचारियों को अपने कैरियर के प्रति एक निश्चितता रहती है।
5. इस व्यवस्था से पुराने, अनुभवी और वरिष्ठ कर्मचारियों की प्रतिष्ठा और मान बना रहता है। इस व्यवस्था में अधिक आयु वाले व्यक्ति उच्च पदों पर और कम आयु वाले व्यक्ति, उनके अधीन निम्न पदों पर काम करते है। वरिष्ठ एवं अनुभवी कर्मचारियों को ''नये छोकरों'' के अधनिस्थ के रूप में काम करने का अपमान नहीं सहना पड़ता।

6. वरिष्ठता के सिद्धान्त में पदोन्नति इतनी निश्चित और निर्धारित रहती है कि अधिकांशतः योग्य व्यक्ति लोकसेवा को ही अपनी जीवनवृत्ति के रूप में अपनाते हैं। यह लोकसेवा के प्रति आकर्षण पैदा करता है।
7. कार्य का अनुभव अपने आप में स्वयं प्रभावशाली प्रशिक्षण होता है अतः वरिष्ठता सिद्धान्त के अन्तर्गत पदोन्नत किए गए व्यक्ति को व्यापक प्रशिक्षण नहीं देना पड़ता जो संगठन के व्यय और समय दोनों की बचत करता है।
8. वरिष्ठता के सिद्धान्त की वजह से लोकसेवकों एवं नियोक्ताओं के मध्य अच्छे एवं मधुर सम्बन्ध बने रहते हैं। इसके साथ ही साथ कर्मचारियों के मध्य दुर्भावना एवं ईर्ष्या कम देखने को मिलती है।
9. कार्य का अनुभव अपने आप में स्वयं प्रभावशाली प्रशिक्षण होता है। अतः वरिष्ठता सिद्धान्त के अन्तर्गत पदोन्नत किए गये व्यक्ति को व्यापक प्रशिक्षण नहीं देना पड़ता, जो संगठन के व्यय और समय दोनों की बचत करता है।

वरिष्ठता सिद्धान्त के दोष पर फिफनर का मानना है कि ज्येष्ठता को केवल प्रोन्नति के लिए आधार मानना अयोग्यता को बढ़ावा देना होगा। इस विधि को महत्व देने से असमर्थ व्यक्तियों का बोलबाला होगा। संगठन आलस्य एवं उदासनता का शिकार होगा। कर्मचारियों की महत्वाकांक्षा नष्ट हो जायेगी व प्रेरणाऐं समाप्त हो जायेगी।

जो तर्क इनके विपक्ष में दिए गए हैं वे निम्न हैं-

- यह आवश्यक नहीं कि वरिष्ठ व्यक्ति सदैव योग्य, निपुण, परिश्रमी व कार्य में रूचि लेने वाला हो। कम अनुभव वाले पदाधिकारी वरिष्ठ पदाधिकारी से अधिक परिश्रमी व योग्य हो सकते हैं। अतः पदोन्नति का आधार योग्यता व कार्यकुशलता होनी चाहिए।
- यह सिद्धान्त योग्य व निपुण पदाधिकारियों के उत्साह को नष्ट कर देता है। जब पदाधिकारियों को यह विश्वास हो जाता है कि उनकी प्रोन्नति अपने समय पर मिलेगी, अच्छे व अधिक कार्य का कोई लाभ नहीं है व कार्य न करने अथवा गलत करने से स्थिति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता तो उनमें कार्य के प्रति अरूचि पैदा होने लगती है।
- इस व्यवस्था में व्यक्ति में आत्मसुधार की भावना लगभग लुप्त हो जाती है, क्योंकि सुधार या बढ़िया कार्य करने का कोई प्रतिफल नहीं प्राप्त होता।
- वरिष्ठता के सिद्धान्त की वजह से प्रशासन में स्थूलता या स्थिरता आ जाती है। कर्मचारियों के उत्साह एवं साहस में उत्तरोत्तर कमी आ जाती है जो प्रशासन की गतिशीलता को प्रभावित करता है।
- इस विधि में योग्य कर्मचारी का चुनाव नहीं हो पाता, क्योंकि सीमित व्यक्तियों में से ही पदोन्नति देनी पड़ती है। बाहर से प्रतिभावान व्यक्ति को लाने का दायरा सीमित हो जाता है।

16.4.3.2 योग्यता का सिद्धान्त

प्रोन्नति के सम्बन्ध में दूसरा सिद्धान्त योग्यता का सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रोन्नति वरिष्ठतम को नहीं अपितु योग्य व्यक्ति को दी जानी चाहिए। इसमें प्रत्याशियों की व्यक्तिगत योग्यता, क्षमता, दक्षता और कार्यकुशलता को ही महत्व दिया जाना चाहिए। योग्यता सिद्धान्त के पक्ष में निम्न तर्क दिए जा सकते हैं-

1. इसको आधार बनाने से लोकसेवा को योग्य, कुशल, दूरदर्शी एवं प्रगतिशील लोकसेवक प्राप्त होते हैं।
2. इस व्यवस्था में लोकसेवक ईमानदारी एवं कर्त्तव्यपरायणता की अद्भुत मिसाल प्रस्तुत करते हैं क्योंकि उन्हें पता है कि उनकी ये खूबियाँ आगे चलकर उनकी योग्यता सिद्ध करेंगे।

3. योग्यता का सिद्धान्त अधिक न्यायसंगत तथा वैज्ञानिक माना जाता है, क्योंकि इसमें कर्मचारियों के गुणों और क्षमताओं को महत्व दिया जाता है। जो अधिक योग्य हैं उसे अधिक महत्व एवं जो कम योग्य है उसे कम महत्व।
4. योग्य और प्रतिभाशाली व्यक्ति इसे अपनी आजीविका के रूप में इसलिए अपनाते हैं कि उन्हें उन्नति और प्रगति का बहुत बड़ा क्षेत्र नजर आता है।
5. योग्यता का सिद्धान्त संगठन को गतिशील बनाता है। भारत का निजी क्षेत्र विकास के नए प्रतिमान स्थापित कर रहा है। वहीं लोक इकाइयाँ जहाँ प्रोन्नति का आधार वरिष्ठता है, को सफेद हाथी आदि की संज्ञा से सम्बोधित किया जाता है।

इन इंगित खूबियों के बावजूद योग्यता के सिद्धान्त को भी कई आलोचनाओं का शिकार बनना पड़ा है। इसमें यह माना जाता है कि कोई भी योग्यता निर्धारण की पद्धति पूर्ण नहीं है। इसमें पक्षपात, चापलूसी जैसे अवगुण सन्निहित होने की सम्भावना बनी रहती है।

योग्यता निर्धारण की निम्नलिखित विधियाँ हैं-

- **पदोन्नति के लिए परीक्षाएँ-** पदोन्नति के लिए निम्नलिखित परीक्षाओं का आयोजन होता है। पहला- खुली प्रतियोगिता परीक्षा, इस परीक्षा में सभी को अवसर दिया जाता है। दूसरा- सीमित प्रतियोगिता परीक्षा, इस परीक्षा में बाहर के व्यक्ति को अवसर नहीं मिलता है। तीसरा- उत्तीर्णतः परीक्षा, इसमें न्यूनतम अंक प्राप्त होने पर प्रोन्नति होती है।
- **सेवा अभिलेख अथवा दक्षता मापन-** इस व्यवस्था के अंतर्गत हर विभाग में कर्मचारी के कार्य संबंधी विवरण सेवा अभिलेख को सम्बन्धी पुस्तिका में दर्ज किया जाता है। प्रोन्नति के समय इस पुस्तिका में दर्ज विवरण को आधार बनाकर कर्मचारी के प्रोन्नति संबंधी निर्णय लिए जातेहैं। इसके अन्तर्गत निम्न प्रकार की श्रेणियां हैं। पहला, उत्पादन अभिलेख- इसमें कर्मचारी के कार्य उत्पादन के आधार पर उसकी कार्यकुशलता मापी जाती है। उदाहरण के लिए टाइपिंग यन्त्रचालन इत्यादि। दूसरा, ग्राफिक रेटिंग स्केल पद्धति- इसमें कर्मचारी को विभिन्न बिन्दुओं जैसे यथार्थता, परिशुद्धता, विश्वसनीयता, परिश्रमशीलता, कार्य का ज्ञान आदि आधारों पर अंक प्रदान किए जाते हैं, जिसके आधार पर उसकी प्रोन्नति तय की जाती है। तीसरा, व्यक्तित्व तालिका- इसमें मानव स्वभाव के तत्वों की एक विस्तृत सूची तैयार की जाती है, जिसमें गुण एवं अवगुण दोनों तत्वों को शामिल किया जाता है। इन के आधार पर उसकी दक्षता का अवलोकन कर के प्रोन्नति संबंधी निर्णय लिए जाते हैं।
- **विभागाध्यक्ष का व्यक्तिगत निर्णय अथवा पदोन्नति मण्डल का निर्णय-** इस पद्धति में विभागाध्यक्ष को अधिकार दिया जाता है कि वह कर्मचारी की योग्यता, सक्रियता, अनुशासन व कार्यकुशलता के आधार पर कर्मचारी के प्रोन्नति के सम्बन्ध में निर्णय ले सके। इस व्यवस्था में यह मान कर चला जाता है कि विभागाध्यक्ष के अंतर्गत कर्मचारी की पूरी रिपोर्ट का उसे ज्ञान होगा।

अभ्यास प्रश्न-

1. भर्ती के लिए सामान्य अर्हताएँ में कौन सा महत्वपूर्ण नहीं है?
2. मौखिक परीक्षाएँ एक व्यक्ति के व्यक्तित्व को परखने के लिए की जाती हैं। सत्य/ असत्य
3. ऐशेटन समिति .... क्षेत्र से सम्बन्धित थी।
4. लोक सेवकों के प्रशिक्षण से उनका संगठनात्मक नवीनीकरण होता रहता है। सत्य/ असत्य
5. प्रोन्नति द्वारा व्यक्ति के दायित्व एवं वेतन में वृद्धि की जाती है। सत्य/ असत्य

6. प्रोन्नति का मूल आधार प्रेरणा या आकर्षण है। सत्य/ असत्य
7. प्रोन्नति से सेवा में स्थायित्व बना रहता है। सत्य/ असत्य

16.5 सारांश

प्रशासन की प्राविधिक शब्दावली में भर्ती का अर्थ है किसी पद के लिए समुचित तथा उपयुक्त प्रकार के उम्मीदवारों को आकर्षित करना। भर्ती की विधि से सम्बन्धित सामान्यतः तीन प्रकार की विचारधाराऐं पायी जाती हैं। पहली श्रेणी में वह लोग हैं, जो लोग लोकतन्त्र में विश्वास रखते हैं। उनके अनुसार सरकारी पदों पर नियुक्तियाँ खुली प्रतियोगिताओं के आधार पर होनी चाहिए। दूसरी श्रेणी में वे लोग आते हैं , जो नौकरशाही में विश्वास रखते हैं। ये लोग व्यावसायिकता को महत्व देते हैं। इनके अनुसार भर्ती, पदोन्नति के आधार पर होनी चाहिए। तीसरी श्रेणी में वे लोग हैं, जिनका मत है कि भर्ती खुली प्रतियोगिता एवं प्रोन्नति दोनों पर आधारित होना चाहिए। भर्ती करने के लिए कुछ सामान्य आधार होते हैं तथा कुछ विशिष्ट आधार। सामान्य आधार में नागरिकता, अधिवास, आयु एवं लिंग आते हैं। विशिष्ट अर्हताओं में शिक्षा, अनुभव एवं व्यक्तिगत योग्यताऐं आती हैं। अर्हताएँ एवं योग्यताओं को निर्धारित करने के लिए प्रायः लिखित परीक्षायें, मौखिक परीक्षायें, निष्पादन परीक्षायें, योग्यता, अनुभव इत्यादि के द्वारा व्यक्तियों का चयन किया जाता है। योग्यताओं का अनुमान लगाने के लिए आवश्यकता है कि विधि, विश्वसनीयता, पद की क्षमता के अनुरूप एवं न्यायसंगत हो।

प्रशिक्षण लोक सेवकों में सब स्तरों पर उस ज्ञान, कार्यकुशलता तथा दृष्टिकोण को निरन्तर तथा सुनियोजित ढंग से विकसित करता है जो प्रशासन में कुशलता को सम्भव बनाने में योगदान देता है। प्रशिक्षण में उन विधाओं का अध्यापन अन्तर्निहित है जो विचारों की अपेक्षा उपकरणों, साधनों तथा शारीरिक क्षमताओं के समन्वित प्रयोग की अपेक्षा करती है। संक्षेप में प्रशिक्षण का मूल उद्देश्य दक्षता है, अर्थात प्रशासन के हित में अधिकारी के कार्य को अधिक प्रभावपूर्ण बनाना है। विभिन्न व्यक्तियों अथवा समुदायों के लिए विभिन्न प्रकार का प्रशिक्षण उपयुक्त होता है। उदाहरण के लिए, सेना के सदस्यों को दिया जाने वाला प्रशिक्षण अत्यधिक विशेषित और प्राविधिक होता है। परन्तु इससे भिन्न लोक सेवाओं में दिया जाने वाला प्रशिक्षण सामान्य प्रकार का होता है। प्रशिक्षण अनेक प्रकार के होते हैं। उसे उसकी कलाविधि, काल, प्रशिक्षण तथा उद्देश्य के आधार पर वर्गीकरण किया जा सकता है। जैसे कि औपचारिक, अल्पकालीन, दीर्घकालीन, सेवाकालीन एवं विभागीय।

प्रोन्नति किसी भी व्यवस्था में कर्मचारियों एवं अधिकारियों के उत्साह, मनोबल एवं गतिशीलता बनाए रखने के लिए एक आवश्यक विधान है। प्रोन्नति से तात्पर्य है कि एक निम्न श्रेणी से उच्च श्रेणी के पद पर उन्नत होना और उसके साथ ही साथ कर्तव्यों व उत्तरदायित्वों में भी परिवर्तन होना। प्रोन्नति के आधार को तय करना एक जटिल प्रश्न है। साधारण तथा प्रोन्नति के दो सिद्धान्त प्रचलन में हैं। पहला वरिष्ठता का सिद्धान्त और दूसरा योग्यता का सिद्धान्त। वरिष्ठता के सिद्धान्त में कर्मचारियों के सेवाकाल के आधार पर प्रोन्नति की जाती है। इससे यह लाभ रहता है कि पक्षपात, भाई-भतीजावाद और राजनीतिक दबाव जैसे अवगुण सन्निहित नहीं हो पाते। इसके अलावा संगठन स्वचलित तरीके से चलता रहता है। योग्यता के सिद्धान्त के अन्तर्गत, योग्य, क्षमतावान एवं दक्ष व्यक्ति को ही प्रोन्नति में महत्व मिलता है। इससे संगठन की उत्पादकता एवं प्रेरणा क्षमता का विकास होता है। दक्षता मापने का कोई सर्वसम्मत आधार न होने से भिन्न-भिन्न प्रकार की विधियाँ प्रयोग में लाई जाती हैं। जैसे- खुली प्रतियोगिता परीक्षा, सेवा अभिलेख या विभागाध्यक्ष द्वारा निर्णयन।

16.6 शब्दावली

निष्पादन- आज्ञा, आदेश या नियम के अनुसार ठीक से कोई काम करना।

स्थूलता- भारी-भरकम, सूक्ष्मता के विपरीत।

परिवीक्षा- कुछ समय के लिए व्यक्ति को देख-रेख में रखना।

अर्हताएँ- निश्चित मानदण्डों के अनुरूप होना, अधिवास- रहने का स्थान।

16.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. रंग, **2.** सत्य, **3.** प्रशिक्षण, **4.** सत्य, **5.** सत्य, **6.** सत्य, **7.** सत्य

16.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. चोपड़ा, आर0 के0 (1985): आफिस आर्गेनाइजेशन एण्ड मैनेजमेंट, हिमालय पब्लिशिंग हाउस, गुणगांव, बाम्बे।
2. सिंहल, एस0 सी0, (2002): लोकप्रशासन के तत्व, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा।
3. फाड़िया, बी0 एल0, (1999): लोकप्रशासन, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा।

16.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. शरण, परमात्मा, (1981), माडर्न पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन, मीनाक्षी प्रकाशन, मेरठ।
2. गोयल, एस0 एल0,(1987), पब्लिक पर्सनल एडमिनिस्ट्रेशन, स्टर्लिंग पब्लिशर्स, नई दिल्ली।
3. शंकर, सिद्धार्थ, (1987), पब्लिक पर्सनल एडमिनिस्ट्रेशन, गायत्री पब्लिकेशन, बाम्बे।

16.10 निबंधात्मक प्रश्न

1. भर्ती से क्या अभिप्राय है? प्रशासन में इसके महत्व को बताते हुए भर्ती की विभिन्न विधियों पर चर्चा करें।
2. भर्ती में सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न लिखित परीक्षाओं के महत्व पर प्रकाश डालिये।
3. लोक प्रशासन में लोक सेवकों के प्रशिक्षण की विधियों एवं महत्व का वर्णन कीजिए।
4. प्रोन्नति क्या है? प्रोन्नति के विभिन्न सिद्धान्तों का वर्णन कीजिए।
5. किसी भी संगठन में प्रोन्नति की आवश्यकता एवं महत्व पर लेख लिखिये।

इकाई- 17 सूत्र अभिकरण- विभाग

इकाई की संरचना

17.0 प्रस्तावना
17.1 उद्देश्य
17.2 विभाग- अर्थ एवं परिभाषा
17.3 विभागों के प्रकार
17.4 विभागीय संगठन के आधार
17.4.1 भारतीय सरकार के विभागों के आधार
17.5 विभाग का आंतरिक संगठन
17.5.1 विभागाध्यक्ष
17.5.2 ब्यूरो, मण्डल तथा आयोग
17.5.2.1 ब्यूरो प्रणाली के गुण
17.5.2.2 ब्यूरो प्रणाली के दोष
17.5.2.3 आयोग अथवा बोर्ड के प्रकार
17.5.2.4 आयोग अथवा बोर्ड प्रणाली के गुण
17.5.2.5 आयोग अथवा बोर्ड प्रणाली के दोष
17.6 ब्यूरो तथा मण्डलीय पद्धति: तुलनात्मक अध्ययन
17.7 भारत में विभागीय संगठन
17.8 भारत सरकार के मंत्रालय एवं विभाग
17.9 सारांश
17.10 शब्दावली
17.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
17.12 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
17.13 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
17.14 निबंधात्मक प्रश्न

17.0 प्रस्तावना

सरकार के कार्य विभागों द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं। शाब्दिक दृष्टि से विभाग का अर्थ होता है, सम्पूर्ण का अंश। मुख्य कार्यपालिका के अधीन रहने वाले समस्त सरकारी कार्यों को अनेक खण्डों में विभाजित कर लिया जाता है। इसके प्रत्येक खण्ड को विभाग कहा जाता है। विभाग, सरकारी कार्यों का विभाजन तथा सम्पादन करने का परम्परागत तथा महत्वपूर्ण प्रकार है। विभाग प्रशासनिक संगठन की पहली इकाई होने के कारण यह राजनीतिक कार्यपालिका के तुरन्त नीचे होता है तथा उसके पूरे नियन्त्रण में कार्य करता है।

विभाग तथा विभाग के भीतर अन्य इकाईयां राजनीतिक कार्यपालिका के निर्देशन में कार्य करती हैं तथा उसी के प्रति उत्तरदायी होती हैं। विभाग, राजनीतिक कार्यपालिका द्वारा प्रदत्त सत्ता के आधार पर कार्य करता है। विभागों के संगठन का अधिकार संविधान, संसद या कार्यपालिका में निहित होता है।

17.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- विभाग के अर्थ, संरचना एवं प्रकारों के संबंध में जान पायेंगे।
- विभाग के आधार, संरचना एवं विभागीय संगठन का अध्ययन कर पायेंगे।
- बोर्ड, ब्यूरो एवं आयोग प्रणालियों के बारे में जान सकेंगे।
- भारत में विभागों के विवरण के बारे में जान सकेंगे।

17.2 विभाग- अर्थ एवं परिभाषा

सरकार के समस्त कार्य 'विभाग' के द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं। विभाग, किसी भी कार्य को सम्पन्न किये जाने की एक इकाई है। विभाग, किसी बड़े संगठन अथवा इकाई का भाग है। प्रशासन की तकनीकी शब्दावली में 'विभाग' शब्द का एक विशेष अर्थ होता है। मुख्य कार्यपालिका के अधीन होने वाले समस्त कार्यो को अनेक खण्डों में विभाजित कर लिया जाता है और इसके प्रत्येक खण्ड को विभाग कहते हैं।

डिमॉक के शब्दों में ''प्रशासन में श्रम विभाजन की आवश्यकता विभागीय प्रणाली के जन्म का स्वाभाविक कारण है।''

डॉ0 महादेव प्रसाद के अनुसार, ''प्रशासन की विशेष प्राविधिक शब्दावली में विभाग के विशेष अर्थ होते हैं। इसका अर्थ है, मुख्य प्रशासक के तुरन्त अधीन निकाय अथवा खण्ड जिनमें समस्त सरकारी कार्य विभाजित होते हैं।''

विलोबी के अनुसार, ''विभागीय व्यवस्था के द्वारा अधिकार-क्षेत्र के झगड़े, कार्यो का प्रतिपादन तथा संगठन, यन्त्र तथा क्रियाओं के दोहराव से बच जाता है।''

उनका कहना है कि विभागीय प्रणाली हर दृष्टि से श्रेष्ठ है। उन्होंने इसके निम्न कारण बताए हैं-

1. इस प्रणाली द्वारा अधिकार तथा उत्तरदायित्व को सम्पूर्ण रूप से निश्चित किया जा सकता है।
2. इस प्रणाली में संगठन, सामग्री, संयन्त्र, कर्मचारी व कार्यों के दोहरापन को रोकने का पर्याप्त उपाय रहता है।
3. इस प्रणाली में संस्थागत कार्यकलापों के केन्द्रीकरण में सुविधा होती है। जैसे की क्रम करना, नियुक्त करना इत्यादि।
4. कार्यों को योजनाबद्ध करने में आसानी होती है, क्योंकि एक प्रकार की प्रक्रियाओं का सामना करना पड़ता है।

17.3 विभागों के प्रकार

विभागों में आकार, संरचना, कार्य की प्रकृति, एवं भौगोलिक वितरण के आधार पर विभाग को चार प्रकार से विभाजित किया जा सकता है।

1. **आकार-** आकार, के आधार पर विभाग का छोटे-बड़े में इनका वर्गीकरण किया जा सकता है। उदाहरण के लिए भारत सरकार के रेलवे, डाक एवं तार विभाग, रक्षा विभाग बड़े विभाग हैं, जबकि स्थानीय स्तर पर बिजली एवं पानी विभाग छोटे विभागों में गिने जाते हैं।
2. **संरचना-** संचरना की दृष्टि से विभागों को एकात्मक अथवा संघात्मक दो भागों में बाँटा जा सकता है। एकात्मक विभाग, वे विभाग हैं जो एक निश्चित प्रयोजन की पूर्ति के लिए संगठित किए जाते हैं जैसे- प्रतिरक्षा, शिक्षा अथवा पुलिस विभाग। संघात्मक विभाग को अनेक कार्य करने होते है, ये वास्तव में अनेक उपविभागों के संघ होते हैं और इनमें से प्रत्येक उप-विभाग का अपना पृथक कार्य होता है। इस प्रकार संघात्मक विभाग कार्य की दृष्टि से बहुमुखी होते हैं।

3. **कार्य की प्रकृति-** कार्य के स्वरूप के आधार पर भी विभागों का गठन किया जाता है, जैसे- डाक एवं तार विभाग का कार्य डाक ले जाना और उसका वितरण करना है। पुलिस विभाग, शांति और व्यवस्था से जुड़ी रहती है।
4. **क्षेत्र-** क्षेत्र के अनुसार भी विभागों का वर्गीकरण किया जाता है। कुछ विभागों के पास सहायक अभिकरण नहीं होते और न ही उनके पास श्रेणी अभिकरण होते हैं, जैसे- स्थानीय विभाग और वित्त विभाग, केन्द्रीय कार्यालय पर ही काम करते हैं। इसके विपरीत वे विभाग जो कई सोपानों पर फैले होते हैं तथा जिनमें प्रत्येक स्तर पर सहायक एवं श्रेणी अभिकरणों की व्यवस्था होती है, जैसे- डाक तार विभाग।

17.4 विभागीय संगठन के आधार

विभागीय संगठन से सम्बन्धित एक विवादास्पद प्रश्न यह उठता है कि विभागीय संगठन के वर्गीकरण के क्या सिद्धान्त होने चाहिए? हाल्डेन समिति (1919) ने विभागीय संगठन के केवल दो आधार माने थे, व्यक्ति तथा प्रयोजन। लेकिन हाल के वर्षों में विभागीय संगठन के चार आधार माने गए हैं, जो निम्न हैं-

1. **कृत्य अथवा प्रयोजन-** प्रयोजन के आधार पर संगठन की संरचना की जा सकती है। उदाहरण के लिए, शैक्षिकीकरण के प्रयोजन को प्राप्त करने के लिए शिक्षा विभाग, नागरिकों के स्वास्थ्य की देखभाल के लिए स्वास्थ्य विभाग, देश की सुरक्षा के लिए रक्षा विभाग।
2. **प्रक्रिया अथवा विशिष्ट ज्ञान-** प्रक्रिया के आधार पर विभागीय संगठन करने का अभिप्राय व्यावसायिक अथवा विशिष्ट योग्यता के आधार पर सेवाओं को निर्धारित करने का है। इस व्यवस्था में एकसी पद्धति से कार्य करने वाली एकसी सामग्री का उपयोग करने वाली सेवाओं को एक विभाग के अन्तर्गत संगठित किया जाता है। उदाहरण के तौर पर विधि विभाग, इस्पात एवं खान, विज्ञान एवं तकनीकी विभाग इसमें आते हैं।
3. **व्यक्ति-** वे व्यक्ति जिनकी सेवा की जाती है। जैसे- श्रम मन्त्रालय, युवा एवं खेलकूद तथा भारत के विभाजन के बाद स्थापित पुनर्वास मन्त्रालय जिसकी रचना विस्थापितों की विभिन्न समस्याओं का समाधान करना है। इसके अलावा अल्पसंख्यक विभाग भी इसी के अन्तर्गत आता है।
4. **क्षेत्र-** यह भौगोलिक दृष्टिकोण के अन्तर्गत स्थापित किया जाता है। इसमें विदेश विभाग आता है। इसी प्रकार जनजातीय क्षेत्र का मन्त्रालय भी इसी सन्दर्भ में आता है।

उक्त वर्गीकरण के पश्चात हम यह कह सकते हैं कि विभागीय संगठन, का कोई एक सर्वसम्मत आधार नहीं है। सभी विभागों को किसी एक आधार पर विशेषित करना आवश्यकताओं के अनुसार तर्कसंगत नहीं होगा। शायद ही सरकार का कोई ऐसा विभाग हो, जो केवल एक सिद्धान्त पर केन्द्रित हो। यह हो सकता है कि उनके निर्माण में एक ही आधार की प्रधानता हो। परन्तु अन्य आधार उनमें छिपे रह सकते हैं। यह बताना एक कठिन कार्य है कि विभागीय संगठन का सर्वोत्तम आधार कौन सा है। फिर भी लोक प्रशासन के अधिकांश विद्वानों ने कार्यात्मक आधार की प्रशंसा की है। उनके अनुसार यदि विभागीकरण का आधार प्रमुख उद्देश्य अथवा कार्य होता है तो कार्यों के दोहराव तथा अतिव्यापन से बचा जा सकता है और कार्य में श्रेष्ठ समन्वय तथा कार्यवाहियों में अधिक एकता स्थापित की जा सकती है। अगर विभाग उद्देश्य के आधार पर बनाया जाता है तो उसका प्रयोज्य स्वतः ही पता चल जाता है।

17.4.1 भारत सरकार के विभागों के आधार

भारत सरकार द्वारा कार्यों के आधार पर अलग-अलग विभागों का गठन किया है।

आधार	विभाग
कार्य-	प्रतिरक्षा, रेल, स्वास्थ्य विभाग
प्रक्रिया-	विद्यार्थी विभाग, इस्पात, योजना, विज्ञान एवं तकनीकी, इलेक्ट्रानिक विभाग
व्यक्ति-	पुनर्वास, आदि जाति कल्याण, ग्रामीण विकास, महिला एवं बाल विकास विभाग
क्षेत्र-	विदेशी मामले का विभाग, अप्रवासी भारतीय मामलों का विभाग

17.5 विभाग का आन्तरिक संगठन

विभागीय संगठन की संरचना के सम्बन्ध में मार्क्स ने लिखा है- विभागीकरण यथार्थ में श्रम-विभाजन का ही सार तत्व है। अतः इसका उद्देश्य समग्र को अधिक प्रभावी बनाना है न कि इसका विघटन करना है। जब संघटनों का विकास इस सीमा तक हो जाता है कि आमने-सामने के सम्पर्क के द्वारा उन्हें निर्देशित और नियन्त्रित न किया जा सके तो उस समय यह आवश्यक हो जाता है कि निकटस्थ चरण के लिए भी नेतृत्व की व्यवस्था की जाये। यह सही है कि इस प्रकार के प्रबन्ध में समग्र में अंगभूत अंग निर्दिष्ट हो जाते हैं तथा विभाजन रेखाओं का आन्तरिक रूप से अस्तित्व पाया जाता है। प्रत्येक निकटस्थ चरण अथवा प्रत्येक उपसम्भाग के प्रत्येक बिन्दु पर उत्तरदायित्व के क्षेत्र को निर्धारित करते समय दो बुनियादी बातों पर ध्यान दिया जाना आवश्यक है। प्रथम, प्रत्येक उपसम्भाग में अधिकतम मात्रा में परिचालनात्मक की एकता को प्राप्त करने का प्रयास किया जाना चाहिए। द्वितीय, समस्त उपसम्भागों के बीच प्रचालन सम्बन्धों को स्थापित किया जाना आवश्यक है। विभाग के आन्तरिक संगठन को निम्न बिन्दुओं के आधार पर समझने का प्रयास करते हैं-

17.5.1 विभागाध्यक्ष

जब हम विभागों की विवेचना करते हैं तो विभागीय संगठन के अध्यक्ष या सर्वोच्च अधिकारी का पद अत्यन्त महत्वपूर्ण हो जाता है। दरअसल समूचे विभाग के निर्देशन, समन्वय एवं नियन्त्रण का उत्तरदायित्व विभागीय अध्ययन का ही होता है। विभागीय ढाँचे में अध्यक्ष का ठीक वही स्थान होता है जो मस्तिष्क का मानव शरीर में होता है। विभागाध्यक्ष उस व्यक्ति या व्यक्ति समूह को कहते हैं, जो प्रशासकीय दृष्टि से विभाग का नेतृत्व या निर्देशन करता है।

कुछ लोगों का कहना है कि अध्यक्ष केवल एक ही होना चाहिए, परन्तु कुछ लोगों का मत है कि बहुल अध्यक्ष प्रणाली ज्यादा उपयुक्त विधा है। एकल पद्धति में सम्पूर्ण अधिकार एक ही व्यक्ति में समायोजित होते हैं, जबकि बहुल अध्यक्षीय पद्धति में कई लोगों में निर्देशन का अधिकार समायोजित होता है। इसके विभाग की सम्पूर्ण सत्ता अनेक व्यक्तियों के समूह में निहित होती है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत आयोग या मण्डलीय पद्धति इसके उदाहरण हैं।

विभाग को शाखाओं, प्रभागों, ब्यूरो, अनुभागों तथा संगठन की विभिन्न अन्य इकाइयों में बांटा जा सकता है। इसके साथ एक या उससे अधिक संलग्न कार्यालय भी जुड़े हो सकते हैं। यहाँ उल्लेखनीय बात यह है कि विभागों के आन्तरिक संगठन के सम्बन्ध में किसी एक देश के भीतर भी किसी एक सर्वमान्य प्रतिमान का अनुसरण नहीं किया जाता। परन्तु बड़े आकार के विभागों में दो शाखाऐं सामान्यतः पायी जाती हैं- वित्तीय शाखा तथा संस्थापन शाखा। विभाग के निर्देशन संयन्त्र में स्टाफ कार्मिक भी शामिल है। विलोबी के अनुसार, विभागीय संगठन की मानक योजना में निम्न तत्त्व शामिल होने चाहिए- मुख्य लिपिक का कार्यालय, पत्रों फाइलों का प्रभाग, कार्मिक प्रभाग, आपूर्ति प्रभाग, लेखा प्रभाग और मुद्रण एवं प्रकाशन प्रभाग।

17.5.2 ब्यूरो, मण्डल तथा आयोग

किसी संगठन में उत्तरदायित्व को या तो किसी एक व्यक्ति में अथवा व्यक्तियों के किसी निकाय में केन्द्रित किया जा सकता है। यदि उत्तरदायित्व एक व्यक्ति में अन्तर्निहित है तो उस संगठन को 'ब्यूरो' के नाम से जाना जाता है और यदि उसे व्यक्तियों के निकाय को सौंपा गया है, तो उस स्थिति में संगठन को 'मण्डल' अथवा 'आयोग' का नाम दिया जाता है। एल0 डी0 व्हाइट के अनुसार, ब्यूरो, विभाग की प्रमुख आन्तरिक इकाई है। उसका अध्यक्ष अपने कार्यों के लिए संगठन के अध्यक्ष की देख-रेख में काम करता है और वह अपने कामों के लिए उसी के प्रति उत्तरदायी भी होता है। ब्यूरो की संरचना सम्भागी होती है तथा उसका निर्माण एक-दूसरे से सम्बद्ध कार्यों अथवा किसी एक काम के निष्पादन के लिए होता है। वह प्रशासन की एक अनिवार्य प्रचालन इकाई है और विभाग समन्वयन का साधन है। यह प्रणाली अमेरिका में पाई जाती है।

17.5.2.1 ब्यूरो प्रणाली के गुण

ब्यूरो प्रणाली के निम्नलिखित गुण हैं-

1. शीघ्र निर्णयन, विभागध्यक्ष की एकल व्यवस्था की वजह से निर्णय लेने में देरी नहीं होती है।
2. उद्देश्य की एकरूपता, इस व्यवस्था में उद्देश्य की एकरूपता बनी रहती है। क्योंकि विभागाध्यक्ष अपने अधीन विभाग की नीतियों को निष्पादित कराने में अपनी समस्त बुद्धिमता एवं शक्ति का प्रयोग करता है
3. अनुशासन, एक अध्यक्षीय व्यवस्था में अनुशासन बना रहता है।
4. उत्तरदायित्व, इस व्यवस्था में उत्तरदायित्त्व एवं उसका स्थान निधारिण में पर्याप्त स्पष्टता बनी रहती है।
5. मितव्ययिता, एक ही व्यक्ति के रखरखाव पर खर्च होने से मितव्ययिता कारगर रूप से स्थापित होती है।
6. योजनाबद्ध कार्य सम्भव, एक व्यक्ति की अध्यक्षता में योजनाबद्ध एवं अधिक कुशलता से कार्यो के निष्पादन में मदद मिलती है।
7. उत्साह एवं लगन, इस प्रणाली में उत्साह एवं लगन स्वभाविक रूप से दिखाई देता है, क्योंकि अध्यक्ष, विभाग के कार्यों को व्यक्तिगत तौर पर लेता है।
8. नीतियों एवं उद्देश्यों की सुनिश्चिता, अगर नीतियाँ तथा उद्देश्य सुनिश्चित हों तो इनके क्रियान्वन के लिए एक विभागध्यक्ष ही उपयुक्त होता है।

17.5.2.2 ब्यूरो प्रणाली के दोष

उपरोक्त गुणों के साथ-साथ ब्यूरो प्रणाली में दोष भी हैं। ब्यूरो प्रणाली के निम्नलिखित दोष हैं-

1. निरंकुशता, इस व्यवस्था में प्राधिकार चूँकि एक ही व्यक्ति में विद्यमान रहती है, इसलिए निरंकुशता की सम्भावना बनी रहती है।
2. विलम्ब, इस व्यवस्था में विलम्ब की सम्भावना से इंकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि सम्पूण कार्यों की जिम्मेदारी एक ही व्यक्ति पर निर्भर रहती है।
3. विवेकशून्यता, ब्येरो प्रणाली में एक व्यक्ति पर दांव लगा होता है, क्योंकि यह जरूरी नहीं है कि उक्त विभाग का अध्यक्ष हमेशा गुणी और विवेकवान हो।
4. अलोकतान्त्रिक पद्धति, यह प्रणाली लोकतन्त्रात्मक व्यवस्था के विरूद्ध है, क्योंकि इसमें केन्द्रीकरण होने की सम्भावना बनी रहती है।
5. त्रुटियों की सम्भावना, इस प्रणाली में एक व्यक्ति के ऊपर सारा दारोमदार रहने से त्रूटियों की सम्भवना से इंकार नहीं किया जा सकता।

17.5.2.3 आयोग अथवा बोर्ड के प्रकार

इस प्रकार के संगठन का उपयोग उन अवस्थाओं में किया जाता है जब प्रशासकीय कार्य के संचालन में बड़े पैमाने पर विवेक को काम में लाया जाय, या उसका सम्बन्ध नीतियों की रचना तथा ऐसे नियमों और विनियमों के निर्माण से हो, जिनका वैयक्तिक अधिकारों पर प्रभाव पड़ता हो, क्योंकि ऐसे मामलों में एक व्यक्ति के निर्णय की अपेक्षा कुछ व्यक्तियों का सामूहिक निर्णय निस्सन्देह अधिक श्रेष्ठ होगा।

विलोबी के अनुसार, जिन प्रकार की सेवाओं के लिए मण्डल अथवा आयोग प्रणाली का संगठन वांक्षनीय और उपयोगी हैं, वे निम्नलिखित हैं-

1. वे सेवाऐं जिनकी प्रकृति अर्द्ध-न्यायिक तथा अर्द्ध-विधायी है, जैसे- सार्वजनिक उपयोगिता के निगम जो मुख्यतः दो प्रकार के काम सम्पादित करते हैं, अर्द्ध-विधायी- नियमों और विनियमों की रचना जिनसे सेवा की परिस्थितियों का निर्धारण होता है और अर्द्ध-न्यायिक, नियमों और विनियमों के अधीन उन मामलों को तय करना जो सार्वजनिक और वैयक्तिक अधिकारों को प्रभावित करते हैं।
2. वे सेवाऐं जिनमें कर्त्तव्य पालन के लिए बड़े पैमाने पर स्वनिर्णय का प्रयोग अपेक्षित है अथवा जिनकी प्रकृति सामान्य नियन्त्रण की है। जैसे- लोक सेवा आयोग।
3. यह व्यवस्था उन स्थितियों में भी कारगर सिद्ध होती है, जहाँ पर भिन्न-भिन्न हितों को प्रतिनिधित्व देना आवश्यक है।
4. उन स्थितियों में जहाँ कार्य के परिचालन के लिए दलगत राजनीति का निराकरण अपेक्षित है। जैसे- सीमा शुल्क आयोग।

आयोग या बोर्ड की संरचना मुख्यतः चार भागों में विभाजित की जा सकती है, जो निम्न प्रकार की हैं-

1. **प्रशासनिक बोर्ड-** जहाँ किसी विभाग का अध्यक्ष बोर्ड हो उसे प्रशासनिक बोर्ड कहा जाता है। जैसे रेलवे बोर्ड, केन्द्रीय उत्पादन शुल्क और सीमा शुल्क बोर्ड।
2. **सलाहकार बोर्ड-** इसे अक्सर विभाग के अध्यक्ष के साथ सम्बन्द्ध किया जाता है, जिससे की उसे सामान्य या विशिष्ट परिस्थितियों में सलाह दी जा सके। सलाह की बाधता उस पर नहीं रहती। अक्सर देखा गया है कि सलाहकार बोर्ड में तकनीकि विशेषज्ञ सम्मिलित किए जाते हैं। ये विभाग की पदक्रम संगठन से बाहर होते हैं तथा नीति निर्माण में उनका कोई योगदान नहीं रहता। उदाहारण के लिए केन्द्रीय सलाहकार बोर्ड, लोक सेवा आयोग, प्रत्यक्ष कर बोर्ड।
3. **पदसोदान में सम्मिलित बोर्ड-** कई बार कोई बोर्ड अथवा आयोग मध्यवर्ती स्तर पर पदक्रम में व्यवस्थित होते हैं। इसे विभाग चलाने की शक्ति तो नहीं दी जाती, किन्तु इसे सौंपें गए विशिष्ट क्षेत्र में यह अर्द्धविधायी तथा अर्द्धन्यायिक कार्य करता है। स्कूल बोर्ड आंशिक रूप से शिक्षा विभाग के साथ सम्बन्धित रहते हैं तथा बिजली बोर्ड बिजली वितरण का कार्य करते हैं।
4. **नियामकीय आयोग-** संयुक्त राज्य अमेरिका में नियामकीय आयोग अर्द्ध-विधायी तथा अर्द्ध-न्यायिक कार्यों का सम्पादन करते हैं।

17.5.2.4 आयोग अथवा बोर्ड प्रणाली के गुण

आयोग प्रणाली के निम्नलिखित गुण हैं-

1. यह प्रशासन को लगभग बिना किसी व्यक्ति के उन लोगों का परामर्श उपलब्ध करा देती है जो अति-विशेषज्ञ होते हुए भी सामान्य बुद्धि से प्रचुर मात्रा में परिपूर्ण हैं।
2. वह बुद्धिमान नागरिकों में नागरिक उत्तरदयित्व को विकसित करके प्रशासन में उनकी साझेदारी एवं सहयोग को प्रोत्साहित करती है।

3. इस प्रणाली में दलीय व्यवस्था का प्रभाव कम करने में मदद प्राप्त होती है, क्योंकि इस व्यवस्था में सभी दलों की भावनाओं को जगह देने का हर सम्भव प्रयास किया जाता है। दूसरे शब्दों में इसे निर्दलीय बनाने के लिए, सर्वदलीय बना दिया जाता है।
4. अर्द्ध-न्यायिक के लिए यह प्रणाली सर्वथा उपयुक्त हैं, क्योंकि इसमें हर निर्णय को लेने के पहले कई पड़ावों से गुजरना पड़ता है।
5. बहुल अध्यक्षीय प्रणाली बाहरी दबावों से कम प्रभावित रहती है। उदाहरण के लिए यदि लोकसेवा आयोग एक सदस्यीय हो तो उन्हें बाहरी दबावों से बचाना असम्भव हैं, किन्तु बहु-सदस्यीय होने के कारण उनमें यह दोष अपेक्षाकृत कम मात्रा में पाया जाता है।

17.5.2.5 आयोग अथवा बोर्ड प्रणाली के दोष

आयोग प्रणाली में निम्नलिखित दोष हैं-

1. इस प्रकार के संघटन में इस बात का पता लगाना कठिन हो जाता है कि गलत नीतियों अथवा अकुशलता के लिए निश्चित रूप से कौन उत्तरदायी है। इस प्रणाली में किसी व्यक्ति को उसके लिए उत्तरदायी नहीं माना जा सकता।
2. ब्यूरो की अपेक्षा यह प्रणाली अधिक महंगी साबित होती है।
3. यह कहना आसान है, कि मण्डल अथवा बोर्ड प्रणाली में स्वतंत्रता बनाए रखने में आसानी होती है लेकिन व्यवहार में यह पाया गया है कि सदस्यों की नियुक्ति के समय उनकी राजनितिक पृष्ठभूमि का सदैव ध्यान रखा जाता है तथा उन्हीं लोगों की नियुक्ति सुनिश्चित की जाती है, जोकि सत्ता के अनुकूल पाये जाते हैं। कई बार ऐसे सदस्य राजनीतिक ऋणों को चुकाते हैं।
4. मण्डल में अनेक वर्गों का प्रतिनिधित्व होता है। मण्डल अथवा आयोग के निर्णय चाहे कितने ही श्रेष्ठ क्यों न हो, वे एक प्रकार से समझौता निर्णय होते हैं। ये निर्णय परस्पर विरोधी हितों में समझौता होने के कारण टूटने का खतरा बना रहता है।

एलेक्जेन्डर हैमिल्टन ने मण्डल अथवा आयोग पद्धति की आलोचना करते हुए लिखा है, कि मण्डल बड़ी सभाओं की असुविधाओं के साझेदार बन जाते हैं। उनके निर्णय धीरे होते हैं, उनकी शक्ति कम होती है तथा उनका उत्तरदायित्व विकेन्द्रित होता है। उनमें वह ज्ञान एवं योग्यता नहीं पायी जाती जो कि एक व्यक्ति के द्वारा संचालित प्रशासन में पाई जाती है। प्रथम कोटि के महत्वाकांक्षी व्यक्ति इसमें आने के लिए जल्दी राजी नहीं होंगे। इस प्रकार की व्यवस्था में उन्हें कम विशिष्टता तथा महत्व प्राप्त होगा।

17.6 ब्यूरो तथा मण्डलीय पद्धति: तुलनात्मक अध्ययन

विभागों के संचालन में ब्यूरो पद्धति ही श्रेष्ठ मानी जाती है। विलोबी, के अनुसार जहाँ सुनिश्चित पूर्व-निर्धारित नीति के अनुसार प्रशासन किया जाना है, वहाँ ब्यूरो पद्धति का अनुसरण किया जाना उचित है। जब किसी विभाग के अध्यक्ष को अपने शासन में पूर्व-निर्धारित नीति का पालन मात्र करना है, उस नीति के सम्बन्ध में किसी प्रकार का कोई मतभेद, विवाद या विचारणीय प्रश्न न हो, उसे कोई नये नियम बनाने की आवश्यकता न हो, अपनी समस्याओं के बारे में नूतन चिन्तन ना करना हो तो ब्यूरो पद्धति ही अच्छी रहती है। इसके विपरीत जब कुछ क्षेत्रों में नीति सम्बन्धी प्रश्नों का निर्धारण करना होता है तो इनका निर्धारण करते हुए विभिन्न पक्षों और हितों का समन्वय करना पड़ता है तो वहाँ मण्डलीय पद्धति उचित है। राजस्व, शिक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य ऐसे क्षेत्र हैं, जहाँ मण्डलीय पद्धति उचित होती है।

हैमिल्टन ने कहा कि ''मेरी सम्मति में यह एक दोषपूर्ण योजना है, प्रशासन के प्रत्येक विभाग में एक व्यक्ति को नियुक्त करना अधिक वांक्षनीय है। इसमें अधिक ज्ञान, अधिक क्रियाशीलता, अधिक उत्तरदायित्व और निसंदेह अधिक उत्साह और एकाग्रता से कार्य करने वाले व्यक्ति से लाभ उठाने का अवसर मिलेगा। मण्डलों में बड़ी परिषदों जैसी अनेक असुविधाऐं होती है। उनके निर्णय अधिक मन्द गति से किए जाते हैं। उनके कार्य करने की शक्ति कम होती है और उनका उत्तरदायित्व अधिक बिखरा हुआ होता है। इसकी पुष्टि इतिहास के अनेक उदाहरणों से होती है, जैसा की हम फ्रांस की 1789 क्रांति के समय देखते हैं, जब फ्रान्स की कार्यपालिका का निर्देशन एक निदेशक मण्डल या डायरेक्टरी के द्वारा किया जा रहा था। उस समय फ्रांस में हर जगह अफरा-तफरी फैली हुई थी, क्योंकि निदेशक मण्डल का प्रत्येक सदस्य अलग-अलग कार्ययोजनाओं पर अमल कर रहे थे। डायरेक्टरी के पतन के पश्चात नेपोलियन को अकेले श्रेय जाता है, जिसने फ्रांस में व्यवस्थित शासन का सूत्रपात किया। इसी प्रकार पूर्व सोवियत रूस में क्रान्ति के पश्चात के पहले कुछ वर्षों तक सोवियत पंचायतों से कारखानों को चलाने का प्रयत्न किया गया, किन्तु वह बूरी तरह विफल हुआ। सन1930 में स्टैलिन को कहना पड़ा कि ''हम अधिक देर तक इस बात को सहन नहीं कर सकते कि हमारे कारखाने उत्पादन करने वाली इकाइयों के स्थान पर पार्लियामेंट बन जाये।'' इन उदाहरणों से हमें पता चलता है कि मण्डलीय पद्धति से बेहतर ब्यूरो प्रणाली है।

17.7 भारत में विभागीय संगठन

भारतीय संविधान भारत में संसदीय शासन व्यवस्था की स्थापना करता है। इस शासन व्यवस्था में दो प्रकार की कार्यपालिकाऐं होती हैं, पहला- संवैधानिक कार्यपालिका और दूसरा- वास्तविक कार्यपालिका। राष्ट्रपति भारत का संवैधानिक अध्यक्ष होता है और सरकार के सभी कार्य उसी के नाम से किये जाते हैं। राष्ट्रपति वास्तविक कार्यपालिका की नियुक्ति करता है तथा संसद के बहुमत दल के नेता को प्रधानमंत्री तथा उसकी सलाह पर अन्य मंत्रियों की नियुक्ति करता है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद- 77 के खण्ड (3) के अन्तर्गत राष्ट्रपति प्रधानमंत्री की सलाह पर मंत्रालयों की स्थापना करता है और प्रत्येक मंत्री को मंत्रालयों केकार्य-भार सौंपता है। भारत सरकार के मंत्रालयों में या तो केवल एक ही विभागीय मंत्रालय है अथवा कुछ मंत्रालयों में दो या दो से अधिक विभाग भी सम्मिलित है।

विभाग का मन्त्री प्रायः तीन प्रकार के कार्य करता है-

1. व्यापक नीतियों का निर्माण कार्य, जिसके अन्तर्गत मन्त्रालय चलाना है।
2. विभाग द्वारा नीतियों के निष्पादन पर सामान्य अधीक्षण का कार्य करता है।
3. अपने विभाग की नीतियों एवं प्रशासनिक कार्यों का पूरा लेखा-जोखा संसद के समक्ष प्रस्तुत करता है।

उक्त सभी कार्यों में राज्यमंत्री एवं उपमंत्री अपना सहयोग प्रदान करते हैं।

राजनीतिक अध्यक्ष के एकदम नीचे विभाग का सचिवालय संगठन होता है। सचिवालय का कार्य नीतियों के निर्धारण के सम्बन्ध में आवश्यक सामग्री तथा विशेष ज्ञान के आधार पर राजनीति अध्यक्ष की सहायता करना है। नीति निष्पादन एवं निरीक्षण भी उसी के अन्तर्गत किया जाता है। विभाग के सचिवालय संगठन के प्रमुख को 'सचिव' कहा जाता है। अक्सर वह भारतीय प्रशासनिक सेवा का सदस्य होता है। विभाग के सचिवालिय कर्मचारियों में दो वर्ग के कार्मिक होते हैं, पहला- उच्चतर वर्ग और दूसरा- अधीनस्थ वर्ग।

उच्चतर वर्ग में तीन पदक्रम हैं- सचिव, उपसचिव व अवर सचिव। बड़े विभागों में सचिव और उपसचिव के मध्य अतिरिक्त या संयुक्त सचिव भी होते हैं, जिन्हें कुछ विशेष शाखाओं का उत्तरदायित्व सौंपा जाता है। सचिवालय के अधीनस्थ कर्मचारियों में अनुमान अधिकारी, सहायक, अवर तथा प्रवर लिपिक आते हैं। अनुभाग अधिकारी की नियुक्ति प्रत्यक्ष भर्ती या पदोन्नति द्वारा की जाती है। प्रवर लिपिकों की भर्ती आंशिक रूप से प्रतियोगिता परीक्षाओं

के द्वारा और आंशिक रूप से अवर लिपिकों में से पदोन्नति द्वारा होती है। अवर लिपिकों की नियुक्ति प्रतियोगिता परीक्षाओं के द्वारा की जाती है।

मन्त्रालय, सचिवालय विभाग का नीति निर्धारण सम्बन्धी अंग है। नीति के निष्पादन का कार्य भिन्न संगठन के हाथ में होता है, जिसको विभाग या मन्त्रालय का कार्यकारी संगठन कहा जाता है। रूथनास्वामी के शब्दों में, ''सचिवगण मन्त्रियों के आँख, कान हैं, विभागाध्यक्ष उनके हाथ है।'' विभिन्न मन्त्रालयों में विभागाध्यक्ष को अलग-अलग नामों से पुकारा जाता है। सामान्यतः उसे निदेशक, महानिदेशक, महानिरीक्षक, आयुक्त आदि नामों से पुकारा जाता है।

17.8 भारत सरकार के मन्त्रालय एवं विभाग

आजादी के पश्चात 1948 में हमारे यहाँ सचिवों के 08 पद, 18 विभाग और कुल 14.41 लाख कर्मचारी कार्यरत थे। आज हमारे पास 92 सचिव, 81 विभाग और 41.96 लाख से अधिक कर्मचारी हैं।

भारत सरकार के निम्नलिखित मन्त्रालय एवं विभाग निम्नलिखित हैं-

1. कृषि मन्त्रालय- इस मंत्रालय के अन्तर्गत कृषि तथा सहकारिता विभाग, कृषि अनुसन्धान और शिक्षा विभाग, तथा पशुपालन और दुग्ध व्यवसाय विभाग आते हैं।
2. वाणिज्य मन्त्रालय- इस मंत्रालय के अन्तर्गत वाणिज्य विभाग और आपूर्ति विभाग आते हैं।
3. संचार मन्त्रालय- इस मंत्रालय के अन्तर्गत डाक विभाग और दूर संचार विभाग आते हैं।
4. रक्षा मन्त्रालय- इस मंत्रालय के अधीन रक्षा विभाग, रक्षा उत्पादन तथा आपूर्ति विभाग और रक्षा अनुसन्धान तथा विकास विभाग आते हैं।
5. विद्युत मन्त्रालय
6. विदेश मन्त्रालय
7. पर्यावरण तथा वन मन्त्रालय
8. वित्त मन्त्रालय- इस मंत्रालय के अन्तर्गत आर्थिक कार्य विभाग, व्यय विभाग, राजस्व विभाग और कम्पनी कार्य विभाग आते हैं।
9. नागरिक आपूर्ति, उपभोक्ता मामले तथा सार्वजनिक वितरण मन्त्रालय- इस मन्त्रालय के अधीन उपमोक्ता मामले व सार्वजनिक वितरण विभाग और नागरिक आपूर्ति विभाग आते हैं।
10. स्वास्थ्य तथा परिवार कल्याण मन्त्रालय- इस मंत्रालय के अन्तर्गत स्वास्थ्य विभाग, परिवार कल्याण विभाग और भारतीय चिकित्सा व होम्योपैथी विभाग आते हैं।
11. गृह मन्त्रालय- गृह मंत्रालय के अधीन आन्तरिक सुरक्षा विभाग, राज्य विभाग, राजभाषा विभाग और गृह विभाग आते हैं।
12. मानव संसाधन विकास मन्त्रालय- इस मंत्रालय के अधीन शिक्षा विभाग, संस्कृति विभाग, युवा कार्यक्रम तथा खेल विभाग और महिला तथा बाल विकास विभाग आते हैं।
13. उद्योग मन्त्रालय- उद्योग मंत्रालय के अधीन औद्योगिक नीति तथा संवर्धन विभाग, औद्योगिक विकास विभाग, लघु उद्योग तथा कृति एवं ग्रामीण उद्योग विभाग, लोक उद्यम विभाग और भारी उद्योग विभाग आते हैं।
14. सूचना तथा प्रसारण मन्त्रालय
15. श्रम मन्त्रालय

16. विधि तथा न्याय मन्त्रालय- इस विभाग के अधीन विधि कार्य विभाग, विधायी विभाग और न्याय विभाग आते हैं।
17. संसदीय कार्य मन्त्रालय
18. कार्मिक, लोक शिकायत तथा पेंशन मन्त्रालय- इस मंत्रालय के अधीन कार्मिक तथा प्रशिक्षण विभाग, प्रशासनिक सुधार तथा लोक शिकायत विभाग और पेंशन तथा पेंशनभोगी कल्याण विभाग आते हैं।
19. पेट्रोलियम तथा प्राकृतिक गैस मन्त्रायल
20. योजना तथा कार्यक्रम क्रियान्वयन मन्त्रालय- इस मंत्रालय के अन्तर्गत योजना विभाग, सांख्यिकीय विभाग और कार्यक्रम क्रियान्वयन विभाग आते हैं।
21. विज्ञान और प्रौद्योगिक मन्त्रालय- इस मंत्रालय के अधीन विज्ञान और प्रौद्योगिक विभाग, वैज्ञानिक तथा औद्योगिक अनुसन्धान विभाग तथा जैव प्रौद्योगिकी विभाग आते हैं।
22. इस्पात मन्त्रालय
23. खान मन्त्रालय
24. गैर-पारम्परिक ऊर्जा मन्त्रालय
25. नागरिक विमानन एवं पर्यटन मन्त्रालय- इस मंत्रालय के अधीन नागरिक विमानन विभाग और पर्यटन विभाग आते हैं।
26. ग्रामीण क्षेत्र व रोजगार मन्त्रालय- इस मंत्रालय के अधीन ग्रामीण विकास विभाग, बंजर भूमि विकास विभाग और ग्रामीण रोजगार व गरीबी उन्मूलन विभाग आते हैं।
27. खाद्य मन्त्रालय- इस मंत्रालय के अधीन खाद्य विभाग और खाद्य उगाही व वितरण विभाग आते हैं।
28. खाद्य प्रसंस्करण उद्योग मंत्रालय
29. रसायन और उर्वरक मन्त्रालय- इस मंत्रालय के अधीन रसायन और पेट्रो-रसायन विभाग तथा उर्वरक विभाग आते हैं।
30. कोयला मन्त्रालय
31. रेल मन्त्रालय
32. वस्त्र मन्त्रालय
33. शहरी मामलों व रोजगार मन्त्रालय- इस मंत्रालय के अन्तर्गत शहरी विकास विभाग और शहरी रोजगार एवं गरीबी उन्मूलन विभाग आते हैं।
34. परिवहन मन्त्रालय
35. जल संसाधन मन्त्रालय
36. सामाजिक न्याय एवं अधिकारिता मन्त्रालय
37. पंचायती राज मंत्रालय
38. परमाणु ऊर्जा विभाग
39. इलेक्ट्रोनिक्स विभाग
40. महानगर विकास विभाग
41. अन्तरिक्ष विभाग
42. मन्त्रिमण्डल सचिवालय
43. राष्ट्रपति का सचिवालय
44. प्रधानमंत्री कार्यालय

45. योजना आयोग

46. जम्मू एवं कश्मीर विभाग

अभ्यास प्रश्न-

1. विभाग का सर्वोच्च अधिकारी विभागाध्यक्ष होता है। सत्य/ असत्य
2. ब्यूरो प्रणाली के दो गुण बताइये।
3. ब्यूरो प्रणाली में निरंकुशता की संभावना प्रबल होती है। सत्य/ असत्य
4. महिला एवं बाल विकास मंत्रालय व्यक्ति पर आधारित विभाग है। सत्य/ असत्य
5. स्वास्थ्य मंत्रालय कार्य पर आधारित मंत्रालय है। सत्य/ असत्य
6. विदेश मामले का विभाग क्षेत्र पर आधारित है। सत्य/ असत्य
7. प्रायः अधीनस्थ सेवा के लोगों का चयन परीक्षा के द्वारा किया जाता है। सत्य/ असत्य
8. किसने कहा कि, सचिवगण मंत्रियों के आँख-कान हैं एवं विभागाध्यक्ष उनके हाथ हैं?

17.9 सारांश

सरकार के कार्य अधिकतर विभाग द्वारा सम्पन्न किए जाते हैं। विभाग का शाब्दिक अर्थ है, बृहद्ध वस्तु का लघु अंग। प्रशासन में विभाग प्रशासनिक इकाइयों में सबसे पहली तथा बड़ी इकाई है। विभाग के अन्दर प्रभाग, सम्भाग, अनुभाग, खण्ड आदि का निर्माण किया जाता है। प्रशासनिक ढ़ाँचे का निर्माण, विभाग के निर्माण से आरम्भ होता है। विभाग, प्रशासनिक संगठन की पहली इकाई होने के कारण यह राजनीतिक कार्यपालिका के पुरन्त नीचे होता है तथा उसके पूरे नियन्त्रण में कार्य करता है। विभाग, राजनीतिक कार्यपालिका द्वारा प्रदत्त शक्ति के आधार पर कार्य सम्पन्न करता है। सामान्यतः विभागों को चार आधारों पर विभाजित किया जाता है, ये हैं- कृत्य या प्रयोजन, प्रक्रिया, व्यक्ति तथा स्थान। अपने आकार, संरचना, कार्य की प्रकृति, आन्तरिक सम्बन्धों के आधार पर विभागों में परस्पर भिन्नता होती है। आकार के आधार पर विभागों को छोटे बड़े दो वर्गों में श्रेणीबद्ध किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, संघ सरकार में रेलवे, यातायात, डाक एवं तार आदि मन्त्रालय आकार में बहुत बड़े होते हैं, परन्तु शिक्षा स्वास्थ्य और आणविक ऊर्जा विभाग बहुत छोटे हैं। जहाँ तक संरचना का प्रश्न है, जिन विभागों की रचना एक निश्चित प्रयोजन की पूर्ति के लिए होती है, उन्हें सकारात्मक विभाग के नाम से जाना जाता है। जैसे- शिक्षा, प्रतिरक्षा, कृषि आदि। किसी संगठन में उत्तरदायित्व को या तो किसी एक व्यक्ति में अथवा व्यक्तियों के किसी निकाय में केन्द्रित किया जा सकता है। यदि उत्तरदायित्व एक व्यक्ति में है, तो उसे हम ब्यूरो कहते हैं और यदि उसे कई व्यक्तियों के निकाय को सौंपा गया हो तो उसे हम मण्डल या आयोग का नाम देते हैं। दोनों की अपनी विशिष्ट परिस्थितियों में गुण एवं दोष होते हैं। समस्त विभागीय पदाधिकारी अध्यक्ष के निर्देशन, निरीक्षण व नियन्त्रण में कार्य करते हैं तथा अपने प्रत्येक कार्य के लिए उसके प्रति उत्तरदायी होते हैं।

17.10 शब्दावली

मितव्ययता- कम खर्च पर कार्य को पूर्ण करना, विकेन्द्रित- विभाजित करना/ शक्तियों का विभाजन करना, विस्थापित- किसी एक स्थान से दूसरे स्थान पर स्थानान्तरण।

17.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. सत्य, **2.** शीघ्र निर्णय और अनुशासन, **3.** सत्य, **4.** सत्य, **5.** सत्य, **6.** सत्य, **7.** सत्य, **8.** रूथनास्वामी

17.12 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. फाड़िया, बी0 एल0 (1999): लोक प्रशासन, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा।
2. बासु, रूम्की, पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन (1990): कान्सेप्ट एण्ड थीयरी, स्टर्लिंग पब्लिशर्स।

3. त्यागी, ए0 आर0, (1990) पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली।
4. माहेश्वरी, एन0 एस0 (1990): एण्डियन एडमिनिस्ट्रेशन, ओरियन्ट लान्गमैन, दिल्ली।
5. गुप्ता, एन0 दास0, (1991) आर्गनाइजेशन थीयरी एण्ड बिहेवियर, हिमालयन पब्लिशिंग हाउस, गुढगांव, बाम्बे।

17.13 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. फाड़िया, बी0 एल0 (1999): लोकप्रशासन, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा।
2. त्यागी, ए0 आर0, (1990) पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली।
3. माहेश्वरी, एन0 एस0 (1990): एण्डियन एडमिनिस्ट्रेशन, ओरियन्ट लान्गमैन, दिल्ली।

17.14 निबंधात्मक प्रश्न

1. विभाग से आप क्या समझते हैं? विभाग कितने प्रकार के होते हैं?
2. उन सिद्धान्तों की व्याख्या कीजिए, जिनके आधार पर विभाग का संगठन होना चाहिए।
3. ब्यूरो एवं बोर्ड प्रणाली से आप क्या समझते है? इनके गुण व दोषों का वर्णन कीजिए।
4. संसदात्मक प्रजातन्त्र में प्रशासकीय विभाग के संगठन को नियन्त्रित करने वाले सिद्धान्तों पर टिप्पणी कीजिए।

इकाई- 18 सूत्र अभिकरण- लोक निगम, स्वतंत्र नियामकीय आयोग

इकाई की संरचना

18.0 प्रस्तावना
18.1 उद्देश्य
18.2 लोक निगम
18.2.1 अर्थ एवं परिभाषा
18.2.2 लोक निगमों का उदय
18.2.3 लोक निगमों की विशेषताएँ
18.2.4 लोक निगमों के उद्देश्य
18.2.5 लोक निगमों का स्वरूप
18.2.6 लोक निगमों पर नियंत्रण
18.2.6.1 लोक निगमों का बाह्य नियंत्रण
18.2.6.2 लोक निगमों का आन्तरिक नियंत्रण
18.2.7 भारतीय लोक निगमों का पुनरूत्थान
18.3 स्वतंत्र नियामकीय आयोग
18.3.1 अर्थ एवं परिभाषा
18.3.2 स्वतंत्र नियामकीय आयोग की आवश्यकता
18.3.3 स्वतंत्र नियामकीय आयोग के गुण
18.3.4 स्वतंत्र नियामकीय आयोग की विशेषताएँ
18.3.5 स्वतंत्र नियामकीय आयोग के उदाहरण
18.3.6 स्वतंत्र नियामकीय आयोग के कार्य
18.3.7 स्वतंत्र नियामकीय आयोग की आलोचना
18.4 सारांश
18.5 शब्दावली
18.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
18.7 सन्दर्भ ग्रंथ सूची
18.8 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
18.9 निबंधात्मक प्रश्न

18.0 प्रस्तावना

लोक निगम सरकारी संस्थाओं के क्षेत्र में 20वीं शताब्दी की महत्वपूर्ण खोज है। ऐसा माना जाता है कि लोक उद्यमों के प्रबन्ध को संसदीय पर्यवेक्षण तथा इनके कर्मचारियों व वित्त को सरकारी नियन्त्रण से मुक्त रखने की दोहरी इच्छा ने लोक निगमों की व्यवस्था को मौलिक प्रेरणा दी है। डिमॉक के अनुसार ‘‘सरकार निगम वह सरकारी उद्यम है, जिसकी स्थापना किसी निश्चित व्यापार को चलाने अथवा वित्तीय उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए संघीय, राज्य अथवा स्थानीय कानून के द्वारा की गई हो। लोक निगम की स्थापना से ऐसा लगता है मानो सरकार ने अपनी सारी खामियों को काट-छांटकर अलग करके उसे एक ऐसे व्यक्ति को सौंप दिया है जो वास्तव में उसका प्रबन्ध करने एवं उसमें से लाभ कमाने की कला में माहिर हो।

स्वतंत्र नियामकीय आयोग संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान की एक महत्वपूर्ण विशेषता मानी जाती है। स्वतन्त्र नियामकीय आयोग ने अमेरिका की प्रगति एवं विकास में अग्रणी भूमिका निभाई है। उनकी इस सफलता की वजह से इनके स्वरूप का प्रचलन कई राष्ट्रों में काफी लोकप्रिय हुआ है। इसकी स्थापना के पीछे मुख्य उद्देश्य था, कि समाज में शक्तिशाली आर्थिक वर्गों की क्रियाओं पर नियन्त्रण एवं नियमन द्वारा सार्वजनिक हित की रक्षा एवं उसमें वृद्धि की जा सके, अर्थात सार्वजनिक हित में समता एवं न्याय स्थापित हो सके। आधुनिक प्रशासन की आवश्यकताओं और समस्याओं में इतनी वृद्धि हुई है, की सरकारी विभागों के द्वारा उनका नियन्त्रण एवं संचालन संभव नहीं है। अमेरिका में सिविल वार की समाप्ति के पश्चात जबरदस्त औद्योकिकरण का युग शुरू हुआ। कीमतों के निरंतर वृद्धि की वजह से समाज में विषमताएँ उत्पन्न हो रही थी। शक्तिशाली आर्थिक-वर्ग अनुचित लाभ कमाने लगा था। इसी अस्वस्थ्य प्रतियोगिता के घातक दौर में नियमन और नियन्त्रण के लिए स्वतन्त्र नियामकीय आयोग अस्तित्व में आया। इसकी रचना अमेरिका में एक विशेष संवैधानिक रचना से हुई है।

18.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- लोक निगम की विशेषताओं, प्रक्रिया, प्रकारों एवं नियंत्रण के बारे में जान सकेंगे।
- भारत में लोक निगमों की चुनौतियों एवं सुधारों के संबंध में जान सकेंगे।
- स्वतंत्र नियामकीय आयोग के अर्थ एवं आवश्यकता का अध्ययन कर सकेंगे।
- स्वतंत्र नियामकीय आयोग के गुण, विशेषताएँ और कार्यों को जान सकेंगे।
- स्वतंत्र नियामकीय आयोग की कमियों के बारे में जान सकेंगे।

18.2 लोक निगम

20वीं शताब्दी में लोक निगम सरकारी संस्थाओं के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण खोज थी। विश्व के सभी देशों में लोक निगम किसी ना किसी रूप में उपस्थित है। इस संबंध में हेन्सन लिखते हैं कि विकसित और अविकसित देशों में लोक उपक्रमों के सभी अविभागीय प्रारूपों में लोक निगम को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। 19वीं शताब्दी में आस्ट्रेलिया में रेलवे प्रबन्ध के लिए लोक निगम को अपनाया गया था। 20वीं शताब्दी के प्रथम दशक में इंग्लैण्ड में 'पोर्ट ऑफ लंदन अथारिटी' की स्थापना निगम के रूप में हुई थी, किन्तु लोक निगम का वास्तविक जन्म 1926 में 'ब्रिटिश ब्राडकास्टिंग कॉरपोरेशन' (BBC) की स्थापना के साथ ही माना जाता है। इस संबंध में रॉब्सन का मानना है कि 'लोक उद्योगों के प्रबन्ध को संसदीय पर्यवेक्षण तथा इनके कर्मचारियों और वित्त को सरकारी नियंत्रण से मुक्तरखने की दोहरी इच्छा ने लोक निगमों की व्यवस्था को मौलिक प्रेरणा दी है। आज लोक निगम लोक नीति के एक यन्त्र के रूप में कार्यशील हैं, किन्तु विभागीय व्यवस्था की तरह मन्त्री के नियंत्रण में नहीं हैं।'

18.2.1 अर्थ एवं परिभाषा

निगम का शाब्दिक अर्थ है, निरंतर चलते रहने वाला व्यापारिक संगठन। जिसका अंग्रेजी अनुवाद'कॉरपोरेशन' है। व्यवसाय के क्षेत्र में लोक निगम का उत्तम विकास 20वीं शताब्दी के आरम्भ में संयुक्त राज्य अमेरिका में हुआ। विद्वानों द्वारा लोक निगम की अनेक परिभाषाऐं दी गयी हैं। आईये अनका अध्ययन करते हैं-

डिमॉक के अनुसार, ''लोक निगम वह सरकारी उद्यम है, जिसकी स्थापना किसी निश्चित व्यापार को चलाने अथवा वित्तीय उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए संघीय, राज्य अथवा स्थानीय कानून के द्वारा की गयी है।''

फिफनर के अनुसार, ''निगम एक ऐसा निकाय है जिसे अनेक व्यक्तियों द्वारा एक व्यक्ति के रूप में कार्य करने के लिए स्थापित किया जाता है।''

इसी प्रकार आर्नेस्ट डेवीज का मानना है कि ''सरकारी निगम सत्ता द्वारा निर्मित एक संयुक्त निकाय है, जिसकी शक्तियाँ और कार्य परिभाषित होते हैं और जो आर्थिक रूप से स्वतंत्र होते हैं।''
लोक निगम को परिभाषित करने से निम्न बातें स्पष्ट होती हैं-

- लोक निगम, सरकार के स्वाभित्व में होता है।
- इस पर सरकार का नियंत्रण होता है।
- यह सरकारी निर्देशन पर आधारित होता है।
- यह सरकारी वित्त पर आधारित होता है।
- इसे सरकार के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए स्थापित किया जाता है।

18.2.2 लोक निगमों का उदय

आधुनिक समय में सरकारी निगमों का जन्म राज्य द्वारा आर्थिक और व्यापारिक क्षेत्रों में बढ़ते हुए कार्यों को पूरा करने के लिए हुआ है। व्यापार, वाणिज्य और उद्योग-धन्धों की जटिलता एवं नागरिकों के हितों की रक्षा करने की दोहरी चुनौतियों ने इस संगठन को बनाने की प्रेरणा दी। सरकारी विभागों को यह जिम्मेदारी नहीं दी जा सकती थी, क्योंकि न तो उनके पास क्षमता थी, और न ही तकनीकी विशेषज्ञता। निजी क्षेत्र के संगठनों से इनको प्रतिस्पर्धा करनी थी और साथ ही साथ अपने अस्तित्व की रक्षा। इन खूबियों की वजह से लोक निगमों का उदय हुआ।

18.2.3 लोक निगमों की विशेषताऐं

लोक निगम की विशेषताऐं निम्नलिखित हैं-

1. लोक निगम स्वभाव से ही कल्याणकारी होते हैं।
2. सामान्यतः घाटे के बजट पर आधारित होते हैं।
3. बाह्य वित्तीय सहायता उनके लिए आवश्यक होती है। अतः बाह्य वित्तीय नियंत्रण उनके लिए आवश्यक हो जाता है।
4. पारदर्शिता उनके लिए शर्त होती है।
5. पारदर्शिता के कारण, यह ''विधि के शासन'' पर आधारित होते हैं। अतः इन्हीं कारणों से यह औपचारिक होते हैं। इस प्रकार इनकी सार्वजनिक मान्यता होती है।
6. लोक निगम संरचना उन्मुख होते हैं।
7. यह नागरिक उन्मुख होते हैं।
8. यह राज्य से जुड़ा होता है।
9. इसका उद्देश्य राष्ट्रीय हित होता है।

18.2.4 लोक निगमों के उद्देश्य

लोक निगम के निम्न उद्देश्य हैं-

1. लोक उपक्रमों को क्षेत्रीय असंतुलन दूर करने के लिए स्थापित किया गया, क्योंकि निजी निगम केवल अपने हितों में अभिरूचि ले रहे थे और इस प्रकार पिछड़े क्षेत्रों का दायित्व, लोक उपक्रमों को लेना पड़ा। किन्तु कालांतर में क्षेत्रीय समस्याओं के आधार पर क्षेत्रीय दलों का उदय हुआ और ये लोक उपक्रम क्षेत्रीय राजनीति के शिकार हो गये। असम जैसे क्षेत्रों में लोक निगमों को उल्फा का आक्रोश झेलना पड़ता है, जबकि लोक निगमों का इसमें कोई दोष नहीं है।
2. लोक निगमों ने निजी उपक्रमों के उत्पाद और सेवाओं के मूल्य, नियंत्रित कर दिये गये, ताकि निजी निगम अपने मूल्य नियंत्रित रखे। लेकिन नियंत्रित मूल्य के कारण लोक निगमों में पूँजी संकट होने लगा। वे

आर्थिक गरीबी (मंदी) के शिकार हो गये और मंदी के कारण बीमार उद्योगों को पुनः जीवित करने के लिए उन्हें वित्तीय सहायता प्रदान की गयी, लेकिन वित्तीय सहायता के आकर्षण के कारण, स्वस्थ उपक्रमों में भी मंदी की प्रवृत्ति विकसित होने लगी और इस प्रकार लोक निगम बाजार प्रतिस्पर्धा में असफल होने लगे।

3. लोक उपक्रमों को ज्यादातर संरचना के क्षेत्रों में लगाया गया, क्योंकि संरचना के क्षेत्र में निजी निगम अभिरूचि नहीं ले रहे थे, जिसके कई कारण हैं, जैसे- संरचना में दीर्घकालीन निवेश है, रखरखाव खर्च होता है जबकि मूल्य क्रम प्राप्त होता है, इस प्रकार लोक उपक्रमों को ही प्रवेश करना पड़ा, लेकिन इन्हीं कारणों से लोक उपक्रम कालांतर में आर्थिक बीमारी के शिकार हो गये और निजी उपक्रमों के लिए यह द्वारा खोलना पड़ा।
4. लोक निगमों को लोक कल्याण के लिए खुलवाया गया, लेकिन कल्याण की हमेशा एक सीमा होती है और स्पष्ट सीमांकन के अभाव में लोक उपक्रम कल्याण की सीमाओं को पार कर गये और उन्हें स्वयं कल्याण की जरूरत हो गयी। जिसके लिए सरकार को वर्ल्ड बैंक और आई0एम0एफ0 जैसी संस्थाओं की शरण लेना पड़ी, जो कठोर शर्तो के साथ सहायता देते हैं।

लोक निगमों को रोजगार-उन्मुख बनाया गया, ताकि अधिकाधिक लोगों को रोजगार देकर, सामाजिक न्याय सुनिश्चित किया जा सके, किन्तु कालांतर में लोक निगमों में कर्मचारियों की अधिकता हो गयी और कर्मचारियों की अधिकता के कारण उत्तरदायित्व का सामान्यतः अभाव हो गया, जिससे लोक निगमों की कार्यकुशलता और उत्पादकता गिरी।

इसी प्रकार देश के लिए सीमा सुरक्षा, वैज्ञानिक शोध विकास, भारी उद्योग आवश्यकताऐं नहीं विषेशताऐं थीं। तद्नुसार इन क्षेत्रों में लोक उपक्रमों लगाये गये, किन्तु सीमित पूँजी संसाधन के कारण इन क्षेत्रों में प्रतिभा पलायन होने लगी, जिससे बौद्धिक और वित्तीय समस्याओं के साथ-साथ सुरक्षा का भी जोखिम पैदा हो गया।

किसी भी देश के विकास के लिए पूँजी अनिवार्य है और पूँजी सृजन के लिए, बजट प्रवृत्तियों को बढ़ावा देना ही होता है। तदनुसार जमा राशि पर ऊँची ब्याज-दर देने के लिए, सरकार के बैंक और बीमा कम्पनियों का राष्ट्रीयकरण किया, ताकि उन्हें नागरिक उन्मुख बनाया जा सके, लेकिन जमा राशि पर ऊँची ब्याज-दर होने के कारण, ऋण अपेक्षाकृत महेंगे हो गये, जिससे औद्योगिक वातावरण पर नकारात्मक प्रभाव पड़ा। लेकिन दूसरी ओर बैंकों की जमा राशि को कल्याणकारी योजनाओं में निवेश कर दिया गया, क्योंकि लोकप्रियता एवं समर्थन संसदीय लोकतंत्र के मूलाधार है। लेकिन ऐसी कल्याणकारी नीतियों के कारणबैंक बीमार होते गये और सरकार ने निजीकरण को एकमात्र समाधान के रूप में चुना। कुल मिलाकर आने वाले वर्षों में दशा और दिशा दोनों ही स्पष्ट होगी, लेकिन उस दिशा में लक्ष्य तक पहुँचने के लिए, संक्रमणकाल की पीड़ा को उठाना ही होगा, क्योंकि प्रत्येक संक्रमण काल ही एक यंत्रणा(पीड़ा) होती है, जिसे दूर करना ही होता है और यही सफलता का मूलमंत्र है।किन्तु लोक निगमों की नियति सुनिश्चित करने से पहले स्वरूप को समझना अनिवार्य होगा और स्वरूप के अनुसार समस्या होती है और समस्याओं के अनुसार सुधार होता है।

18.2.5 लोक निगमों का स्वरूप

लोक निगमों के स्वरूप को हम निम्नलिखित बिन्दुओं के माध्यम ये समझने का प्रयास करते हैं-

- विभागीय निगम
- लोक निगम
- लोक कम्पनियाँ तथा मैनेजमेंट कट्रोल बोर्ड।

लोक निगमों के विविध स्वरूपों में ''विभागीय निगम'' में निजी वित्त का कोई स्थान नहीं होता है, जबकि लोक निगम अथवा लोक कम्पनी में एक सीमा तक निजी वित्त स्वीकार किया जाता है।

लोक निगम में मियादी जमा स्वीकार किये जाते हैं, जिस पर जमाकर्ता केवल ब्याज का हकदार होता है। वह स्वामित्व में भागीदार नहीं हो सकता है। अतः निजी वित्त प्राप्त करने के बाद भी, लोक निगम में सरकारी सवामित्व शत-प्रतिशत बना रहता है।

लोक कम्पनियों में भागीदारिता को स्वीकार किया जाता है और इस प्रकार सरकारी स्वामित्व के साथ-साथ निजी स्वामित्व भी होता है, जिसमें 51 प्रतिशत सरकारी स्वामित्व और 49 प्रतिशत निजी स्वामित्व होता है।

इस सैद्धांतिक स्वरूपों के स्थान पर, लोक निगम को सर्वश्रेष्ठ स्वरूप कहा जा सकता है, क्योंकि इसमें निजी वित्त प्राप्त होने के बाद भी सरकार का स्वामित्व शत-प्रतिशत बना रहता है। इस प्रकार 51 प्रतिशत सरकारी भागीदारिता के आधार पर लोक कम्पनियों को संविधान के प्रति धोखा कहा जा सकता है, किन्तु उदारीकरण के वर्तमान दौर में सरकारी भागीदारिता 24 प्रतिशत निश्चित कर दी गयी है और 76 प्रतिशत में निजी शेयर धारक होंगे और उन्हें प्राथमिकताओं के आधार पर शेयर, आवंटन हो रहा है, ताकि किसी एक धारक के पास 24 प्रतिशत शेयर न हो। अत:-

- शेयर धारिता की एक सीमा होगी।
- पहली प्राथमिकता कम्पनी के श्रमिकों को दी जाती है, ताकि प्रबन्ध न में श्रमिकों की भागीदारिता सुनिश्चित हो सके।
- दूसरी प्राथमिकता संस्थागत निवेशकर्ताओं को दी जाती है, जो पूंजी के साथ तकनीकी भी लगाते हैं, किन्तु एक संस्थागत निवेशकर्ता(वर्ष 99-2000 बजट के अनुसार) किसी लोक कम्पनी में अधिकतम 10 प्रतिशत शेयर भागीदारिता कर सकता है, ताकि स्वामित्व की कीमत पर पूंजी ना जुटायी जाये।
- तीसरी प्राथमिकता समान्य निवेशकताओं को दी जाती है, क्योंकि सामान्य अभिकर्ता मात्र लाभ में, अभिरूचित रखते हैं।

कुल मिलकर लोक निगमों के स्वरूप में बदलाव हुआ है, लेकिन सैद्धान्तिक स्तर पर भी चारित्रिक विशेषताऐं अलग-अलग हैं और इस प्रकार जहाँ तक ''विभागीय निगम'' का प्रश्न है तो ''विभागीय निगम'' विशुद्ध लोक उपक्रम है, क्योंकि-

- यह पूरी तरह ''सार्वजनिक वित्त'' पर आधारित है।
- अतः यह ''सरकारी स्वामित्व''में आधारित है।
- सरकारी नियंत्रण ''सम्पूर्णता'' में होता है।
- सरकारी निर्देशन के आधार पर कार्य करता है।
- सरकार के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए प्रतिबद्ध है।

विभागीय निगमों में कार्मिकों की नियुक्ति, उनकी सेवा-शर्तें, उनके वेतन-भत्ते, उनकी शक्तियाँ तथा उनके पदच्यूति सरकार के द्वारा निर्धारित होती है।

मंत्रालय, सचिवालय, निदेशालय, इत्यादि ये सभी विभागीय निगमों में आते हैं। विभागीय निगमों को रोजगार उन्मुख बनाया गया है, जिसके कारण कालांतर में कर्मचारियों की अधिकता हो गयी, उत्तरादायित्व का अभाव हुआ, यूनियन बाजी बढ़ी, राजनीतिक हस्तक्षेप बढ़े अर्थात बढ़ने लगे और इन सभी कारणों से उत्पादकता और कार्यकुशला गिरी, पूँजी अथवा वित्तीय संकट उत्पन्न हुआ। इन समस्याओं के अतिरिक्त विभागीय निगमों में

प्रक्रियाऐं आमतोर पर जटिल बनायी गयी, वस्तुतः सरकार ने जानबूझ कर ऐसा नहीं किया। मूलतः रोजगार उन्मुखता के कारण पदों की अधिकता थी, जिससे पद परस्पर व्ययी हो गये और प्रक्रियाऐं जटिल होती गयी।

अतः आर्थिक सुधारों के अतिरिक्त कर्मचारियों की छटनी की जा रही है, राजनीतिक हस्तक्षेप सीमित किया जा रहा है, प्रक्रियाऐं सरल की जा रही है ताकि विभागीय निगमों को नई दिशा दी जा सके। जहाँ तक लोक निगमों की समस्या का प्रश्न है, वह विभागीय निगम की तरह है। इनके अतिरिक्त लोक निगमों में तुष्टिकरण की राजनीति के अन्तर्गत नेतृत्व के रूप में राजनीतिक नियुक्तियां की गयी, जिसमें आर्थिक एवं तकनीकी योग्यता का अभाव रहा, जिससे लोक निगमों के संगठनात्मक कार्यकुलशलता पर बुरा प्रभाव पड़ा। परिणामस्वरूप लोक निगम मियादी जमा के विरूद्ध बाजार दर पर ब्याज नहीं दे पाये और इस प्रकार उन्हें वित्तीय संकट का सामना करना पड़ रहा है और आर्थिक सुधारों के द्वारा पूँजी और तकनीकी जुटाने की कोशिश की जा रही है।

लोक कंपनियों की समस्याऐं भी विभागीय निगमों की तरह है। इसके अतिरिक्त मूल समस्याऐं छंदात्मक थी, क्योंकि मौलिक प्रारूप के अनुसार लोककम्पनियों में सरकारी और निजी भागीदारिता होने के कारण इनके छंद भी निकटतम थे, जिससे न ही यह कल्याण और न ही लाभ कमा पाये और इस प्रकार इन्हें संविधान के प्रति धोखा करने का आरोप लगाया गया।

अतः लोक कम्पनियों को नयी दिशा देने के लिए सरकार ने अपनी भागीदारिता 24 प्रतिशत पर निश्चित कर दी, ताकि निर्देशक मंडल में बहुमत से प्राप्त निर्णय में, निजी निदेशकों की भूमिका महत्वपूर्ण हो। दूसरे शब्दों में, जैसे भारतीय संसदीय प्रणाली में राष्ट्रपति में सारी शक्तियों का निवेश किया गया है, लेकिन उनकी सहायतार्थ मंत्रिपरिषद की व्यवस्था की गयी है और मंत्रीपरिषद के परामर्श को मानने के लिए राष्ट्रपति को बाध्य कर दिया गया, जिससे राष्ट्रपति नाममात्र का प्रधान है और प्रधानमंत्री वास्तविक प्रधान है। फिर भी राष्ट्रपति को एक संवैधानिक प्रधान एवं संरक्षक के रूप में देखा जाता है। इसी प्रकार आधुनिक लोक कम्पनियों में सरकारी भागीदारिता आलंकारिक रह गयी है, फिर भी सरकारी स्वामित्व को एक संरक्षक के रूप में देखा जाता है।

18.2.6 लोक निगमों पर नियंत्रण

लोक निगमों में सुधार करने से पहले, ''नियंत्रण का पुर्नविलोकन'' आवश्यक होगा, क्योंकि उदारीकरण का दूसरा नाम ''सीमित नियंत्रण'' है। जिसे ''प्रक्रियाओं का सरलीकरण'' भी कहते है। लोक निगमों पर नियंत्रण के दो स्वरूप हैं- बाह्य नियंत्रण एवं आंतरिक नियंत्रण।

18.2.6.1 लोक निगमों का बाह्य नियंत्रण

लोक निगमों पर बाह्य नियंत्रण तीन एजेसियों द्वारा किया जाता है- संसद के द्वारा, सरकार के द्वारा और नौकरशाही के द्वारा।

जहाँ तक लोक उपक्रमों में ''संसदीय नियंत्रण'' का प्रश्न है, उसके कई साधन है, जैसे- सामान्य बहस द्वारा, विशेष बहस द्वारा, बजटीय बहस द्वारा, तारांकित प्रश्नों के द्वारा, गैर-तारांकित प्रश्नों के द्वारा, अनुदानों के माध्यम से, कटौती प्रस्ताव के माध्यम से, संसदीय समितियों के माध्यम से, लेखा-परीक्षा रिपोर्ट के माध्यम से सिद्धांत में संसदीय नियंत्रण अत्यंत प्रभावशाली दिखता है, किन्तु व्यवहार में संसदीय नियंत्रण आलंकारिक ही रहता है, क्योंकि लोक प्रतिनिधियों के लिए शैक्षणिक,योग्यता परिभाषित नहीं है, उनके राजनीतिक प्रशिक्षण का अभाव है, संसद पर आसाधारण कार्य बोझ होता है, परिणामस्वरूप लोक प्रतिनिधियों के अभिरूचि का अभाव होता है, अतः सकारात्मक दृष्टिकोण का अभाव हो जाता है, संसद में अप्रासांगिक बहस होती है और गिलोटिन की प्रक्रिया आम हो गयी है।

कुल मिलाकर इन कारणों से संसदीय नियंत्रण अपेक्षाकृत उदार होता है और इसी कारण से इसे ''ममतामयी नियंत्रण'' से सम्बन्धित किया जाता है।

अतः संसदीय कार्यबोझ तथा राजानीतिक प्रशिक्षण का अभाव मूल समस्याऐं हैं, जिसके समाधान के लिए 1994 से ''समिति पद्धति'' की शुरूआत की गयी है। इस समिति में 17 अस्थायी समितियों का गठन किया जाता है। प्रत्येक समिति में 30 सदस्य लोकसभा से तथा 15 सदस्य राज्यसभा से होते हैं। एक सदस्य (सासंद) एक से अधिक समितियों के सदस्य हो सकते है। सदस्यों की नियुक्ति, लोकसभा अध्यक्ष द्वारा की जाती है, ताकि उनकी पृष्ठभूमि एवं अभिरूचि के अनुसार, समिति आवांटित की जा सके। सदस्यों का कार्यकाल एक वर्ष का होता है, अतः पांच वर्ष के कार्य में एक सदस्य को कम से कम पांच समितियों का अनुभव प्राप्त हो जाता है, जिसमें उनका राजनीतिक प्रशिक्षण भी हो रहा है और उनका ससंदीय कार्य बोझ घटा है।

जहाँ तक ''सरकारी नियंत्रण'' का प्रश्न है, इसके कई साधन है, जैसे- कई नीतिगत साधन हैं, दैनिक निर्देश के माध्यम से, अनुदानों के आवंटन के माध्यम से, नियुक्ति, सेवा शर्ते इत्यादि परिभाषित करके, लोक उपक्रमों के कार्य मूल्यांकन के द्वारा।

सरकारी नियंत्रण प्रभावशाली होता है, लेकिन सरकार का स्थिर होना पूर्व शर्त है, अन्यथा सरकारी नियंत्रण भी, आंलकारिक नियंत्रण प्रतीत होता है।

''नौकरशाही नियंत्रण'' इन सभी नियंत्रणों की अपेक्षा प्रभावशाली है, क्योंकि, नौकरशाही के लिए शैक्षणिक योग्यता परिभाषित है, नौकरशाही कठोर प्रतियोगिता परीक्षा के माध्यम से आती है, इनका सेवा उन्मुख प्रशिक्षण होता है, इनका कार्यकाल लम्बा होता है जिसके कारण यह अनुभवी होते हैं और इन्हें संवैधानिक संरक्षण प्राप्त होता है। जिसके कारण इनका दृष्टिकोण सकारात्मक होता है, अतः नौकरशाही नियंत्रण के महत्व को स्वीकार करते हुए 1964 में ''ब्यूरो ऑफ पब्लिक इंटरप्राइजेज'' का गठन किया गया, जो एक कड़ी का काम करता है- संसदीय समिति एवं लोकनिगमों के बीच, संसद एवं लोक निगमों के बीच, सरकार एवं लोक निगमों के बीच, सचिवालय और लोक निगमों के बीच, लोक निगमों के बीच।

अतः इस ब्यूरो की संगठनात्मक व्यवस्था इस प्रकार बनायी गयी है- ''ब्यूरों में तीन भाग'' होते हैं। ''कार्मिक प्रभाग'' में निम्नलिखित तथ्य सम्मिलित होते हैं- कार्मिकों का चयन, उनकी नियुक्ति, उनका स्थानांतरण, उनके वेतन-भत्ते इत्यादि, उनकी पदोन्नति अवनति इत्यादि, उनके अवकाश एवं पेशन और उनकी शक्तियाँ। ''वित्त प्रभाग'' में निम्नलिखित तथ्य आते हैं- पूँजी संसाधन प्रबन्ध न, कच्चा माल प्रबन्ध न, उत्पादन प्रबन्ध न,मूल्य एवं लाभ प्रबन्ध न और बाजार प्रबन्धन। तीसरा ''समन्वय प्रभाग'' होता है, जो विभिन्न प्रभागों में समन्वय का कार्य करता है।

18.2.6.2 लोक निगमों का आन्तरिक नियंत्रण

जहाँ तक लोक निगमों के ''आंतरिक नियंत्रण'' का प्रश्न है, यह मूलतः आंतरिक प्रबन्ध न द्वारा होता है, जो इस प्रकार है- कार्मिक प्रबन्धन, पूँजी संसाधन प्रबन्धन, अर्थात यह वित्तीय स्रोत सुनिश्चित करता है, कच्चा माल प्रबन्धन, व्ययन प्रबन्धन अर्थात पूंजी का कितना भाग खर्च किया जाये, उत्पादन प्रबन्धन, मूल्य एवं लाभ प्रबन्ध न, बाजार प्रबन्धन और विवाद प्रबन्ध न जो निगम के आतंरिक विवादों का निपटारा करता है।

18.2.7 भारतीय लोक निगमों का पुनरूत्थान

नियंत्रण की प्रकृति के अनुसार, ''सुधारवादी कार्यक्रम'' चलाये जा रहे है और इस प्रकार लोक निगमों के लिए निम्नलिखित ''सुधारवादी प्रयास'' किये जा रहे हैं- निष्कासन नीति, विलय की नीति, विनिवेश नीति, विनियंत्रण नीति और उदार लाइसेंस नीति।

निष्कासन नीति के माध्यम से अतिरिक्त कर्मचारियों की छटनी की जा रही है, क्योंकि कर्मचारियों की अधिकता लोक निगम की मूल समस्या है। कर्मचारियों की अधिकता के कारण पदों और संगठनों का अनावश्यक विस्तार हुआ है, प्रक्रियाऐं परस्परव्यापी हो गयी हैं, जिससे लालफीताशाही को बढ़ावा मिला है, जो भ्रष्टाचार भाई-

भतीजावाद की मूल जड़ है। परिणामस्वरूप लोक उपक्रमों में कार्यकुशलता, उत्पादकता एवं गुणवत्ता गिरी। अतः इन सभी समस्याओं के लिए अतिरिक्त कर्मचारियों की छंटनी अनिवार्य हो गयी। अतिरिक्त कर्मचारियों की पहचान के लिए सरकार ने यह सुनिश्चित किया कि जो कर्मचारी 40 वर्ष की पूरे कर चुके हैं या कर्मचारी ने10 वर्ष सेवा पूरी कर ली हो। नैतिक दृष्टि से यह निर्णय उचित नहीं जान पड़ता है, लेकिन आर्थिक संकट में आर्थिक सिद्धान्त ही प्राथमिक हो जाते है।

निकाले गये कर्मचारी को मुवावज देने के लिए, फार्मूला इस प्रकार सुनिश्चित किया गया है-

45 दिन का वेतन प्रति वर्ष X पूर्व किये गये सेवा वर्ष या वर्तमान वेतन X बचे हुए सेवा महीने

उदाहरण स्वरूप- माना 'क' का मासिक वेतन 3000/- रूपये प्रति माह है, एवं 30 वर्ष की सेवा कर चुका है, एवं 3 वर्ष सेवा समाप्ति के शेष हैं। प्रथम फार्मूले के अनुसार- 45 दिन का वेतन प्रतिवर्ष X पूरे किये गये सेवा वर्ष (45 X 100) X 30, 4500×30 = 1,35000/- (एक लाख पैतीस हजार)। द्वितीय फार्मूले के अनुसार- वर्तमान मासिक वेतन X बचे हुए सेवा महीने, 3000×(3 X 12) = 1,08000/- (एक लाख 8 हजार)

इन दोनों विकल्पों में कम उम्र अथवा युवा कर्मचारी बाद वाले विकल्प को प्राथमिकता दे रहे थे, जबकि वरिष्ठ कर्मचारी पूरे किये गये सेवाकाल को प्राथमिकता दे रहे थे, अर्थात् प्रथम विकल्प को प्राथमिकता। इन दुविधाओं को दूर करने के लिए सरकार ने स्पष्ट कर दिया कि जो कम हो, सरकार उसी का भुगतान करेगी, क्योंकि सरकार आर्थिक संकट में है।

मुवावजे की राशि, बैंकों के ऋण देने की क्षमता बढ़ा रहा है। जब ऋण सस्ते होते हैं, तो औद्योगिक वातावरण को बढ़ावा मिलता है, रोजगार के अवसर खुलते हैं, इसलिए तत्कालिक परिणाम के रूप में कुछ समय के लिए बेरोजगारी की समस्या उभर सकती है, लेकिन भावी औद्योगीकरण के द्वारा बेरोजगारी की समस्या का समाधान सम्भव है। दीर्घकालिक सकारात्मक परिणामों के रूप में कुछ लघुकालिक नकारात्मक परिणाम झेलने ही पड़ते है, लेकिन प्राथमिकता दीर्घकालिक समाधान का ही होना चाहिए।

निष्कासन नीति को पहले 'ऐच्छिक अवकाश योजना' के अन्तर्गत चलाया गया, लेकिन यह कई कारणों से विफल हो गया। क्योंकि- सरकारी सेवाऐं, सामाजिक प्रतिष्ठा की भी साधन होती है। सेवा के परिणाम किये जाने पर, जोखिम का कारक (उत्पन्न) बढ़ जाता है, और सामान्यतः व्यक्ति, जोखिम को आमंत्रित नहीं करता। कर्मचारियों का संगठनात्मक लगाव होता है, (हर्बट साइमन) जिसे सरलता से परित्याग नहीं किया जा सकता है।

अतः सरकार ने इसे 'अनिवार्य अवकाश योजना' में बदलने का निर्णय लिया, जिसके लिए 1999-2000 बजट को एक पृथक आकर्षण दिया गया, जो कर्मचारी 30 वर्ष की सेवा पूर कर चुके हैं, उन्हें पांच वर्ष का वेतन, मुआवजे के रूप में अतिरिक्त दिया जायेगा, जबकि इस आयु में कर्मचारी सामान्य रूप से अवकाश प्राप्त करना चाहते है, जिसके कारण यह आकर्षण व्यवहारिक नहीं है। इसके अतिरिक्त सरकार वित्तीय (वर्तमान वित्तीय वर्ष) वर्ष में (1999-2000) आधे वर्ष आतंरिक स्थिति में रही है, इसलिए यह सरकार की विफलता समझना उचित नहीं होगा। लेकिन इतना अवश्य है, जब तक सरकार स्वयं अपने आकार को नहीं घटाती है, तब तक संगठनों के निचले स्तर पर आकार कम करना प्रासंगिक नहीं होगा।

पूँजी का अभाव, अतिरिक्त कर्मचारियों के पश्चात दूसरी महत्वपूर्ण समस्या है, तद्नुसार, 'विलय की नीति' की घोषणा की गयी। जिसके अन्तर्गत बीमा उपक्रमों को स्वस्थ इकाईयों (निगमों) के साथ विलय का निर्णय लिया गया। तद्नुसार बीमार बैंक 'न्यू बैंक ऑफ इण्डिया' को स्वस्थ 'पंजाब नेशनल बैंक' के साथ विलय कर लिया गया है, लेकिन इससे स्वास्थ्य पर भी बुरा प्रभाव पड़ा और इस प्रकार ''विलय की नीति'' का पुर्नविलोकन किया गया। अतः नयी व्यवस्था के अनुसार बी0आई0एफ0आर0 लोक निगमों का पुर्नविलोकन करती है और तीन प्रकार की सिफारिशें करती है-

- कुछ निगमों को सीधे बंद करने के निर्णयपर सलाह देती है, जिसे बेचकर सरकार कर्मचारियों को मुआवजा दे।
- कुछ निगमों में अतिरिक्त कर्मचारियों की छटनी से ही पुर्नजीवन सम्भव है।
- कुछ निगमों में कर्मचारियों के साथ-साथ सरकार द्वारा पूँजी निवेश किया जाना चाहिए।

इस प्रकार किसी भी स्थिति में सरकार के लिए पूँजी अनिवार्य हो गयी है। अतः पूँजी के अतिरिक्त सृजन के लिए 'विनिवेश नीति' की घोषणा की गयी, किन्तु 'विनिवेश नीति' के पूर्व 'विलय की नीति' को नये आयाम दिये गये, क्योंकि 1970 में लागू एम0आर0टी0पी0 आर्ट को समाप्त कर दिया गया, जिससे निगमों का ''विलय एवं विस्तार'' सहज हो गया। परिणामस्वरूप बड़ी ईकाइयाँ छोटी इकाईयों को आधिग्रहण कर रही हैं, जिसमें बड़ी इकाईयों को स्थायी कर्मचारियों की आवश्यकता नहीं होती और छोटी इकाईयों को बड़ा बाजार मिलता है। उपभोक्ताओं को गुणवत्ता आधारित सेवाऐं एवं उत्पाद मिलता है, लेकिन गुणवत्ता के आड़ में छोटे निगमों का शोषण भी होता है, जिसको रोकने के लिए ''एम0आर0टी0पी0 आयोग'' का गठन किया गया है।

पूँजी सृजन को बढ़ावा देने के लिए 'विनिवेश नीति' की घोषणा की गयी है। तद्नुसार लोक कम्पनियों में सरकारी भागीदारिता 51 प्रतिशत से घटाकर 24 प्रतिशत की जा रही है, ताकि सरकार का स्वामित्व सुरक्षित हो। लेकिन निजी भागिदारिता के माध्यम से लोक निगमों को लाभकारी एवं प्रतिस्पर्धात्मक बनाया जा सके।

सरकारी स्वामित्व को सुनिश्चित रखने के लिए, आवंटन प्राथमिकता के आधार पर होते हैं। जिसमें पहली प्राथमिकता श्रमिकों को, द्वितीय प्राथमिकता संस्थागत निवेशकर्ता को तथा तृतीय प्राथमिकता सामान्य निवेशकर्ता को दी जाती है। व्यक्तिगत निवेशकर्ता महत्तम 5 प्रतिशत, संस्थागत निवेशकर्ता महत्तम 10 प्रतिशत होगा।

अतः पूँजी के सृजन के लिए सरकार ने 'विनियंत्रण नीति' को अगला विकल्प बनाया है, जिसके अन्तर्गत छः क्षेत्रों को छोड़कर सभी क्षेत्रों में निजी भागीदारिता एवं निजीकरण आमंत्रित है। जिससे प्रतिस्पर्धात्मक बाजार तैयार किया जा सके। इससे 'उत्पादकता एवं गुणवत्ता' बढ़ती है, मूल्य प्रतिस्पर्धात्मक एवं कम होता है, जिससे मांग बढ़ती है, जिससे उद्योग बढ़ता है, जिससे रोजगार के अवसर खुलते हैं, लेकिन 'साक्षरता का दायित्व' सरकार को ही लेना होगा, जिसमें (निःसंदेह) सरकार आज बेहतर कर रही है।

लालफीताशही और भ्रष्टाचार जैसी समस्याओं से निपटने के लिए सरकार ने 'उदार लाइसेंस नीति' की उद्घोषणा की, जिसमें अब पांच क्षेत्रों को छोड़कर शेष क्षेत्रों में लाइसेंस की आवश्यकता नहीं है। सरकार को मात्र पूर्व सूचना चाहिए।

इसके अतिरिक्त ऐसे ईकाईयों के लिए भी लाइसेंस की आवश्यकता नहीं होगी, जो 10 लाख आबादी वाले शहरों से 25 किमी0 की दूरी पर लगाए जायेंगे। 'उदार लाइसेंस नीति' के कई उद्देश्य है- लालफीताशाही का अन्त, इस्पेक्टर राज का अन्त, प्रदूषण नियंत्रण, ग्रामीण रोजगार और ग्रामीण जनसंख्या के पलायन को रोकना।

लेकिन ग्रामीण साक्षरता के विकास के बिना ग्रामीण रोजगार सार्थक नहीं होगा, क्योंकि शहरी जनसंख्या का गांव में पलायन होगा, जिससे ग्रामीण जीवन शैली और महंगी हो जायेगी।

कुल मिलाकर यह नहीं भूलना चाहिए कि कोई भी समाधान समस्या शून्य नहीं होता है, विशेष रूप से संक्रमण काल में। कुछ सामाजिक, आर्थिक यंत्रणाओं को सहन करना ही पड़ता है और यह सुखद है कि संक्रमण काल के आधार को कम करने के लिए कई आयोग एवं संस्थाऐं निगरानी कर रही हैं, इसलिए नागरिक निजीकरण के कृपापात्र नहीं है।

कुल मिलाकर जहाँ तक लोक निगमों के समीक्षात्मक पुर्नविलोकन का प्रश्न है, कुछ तथ्य अत्यन्त संवेदनशील हैं, जो प्रकाश में आये हैं, जिस पर सरकार को विचार करना चाहिए-

लोक निगमों में आज भी लगभग 50 प्रतिशत लाभ-उन्मुख है, शेष 50 प्रतिशत में वे लोक निगम हैं, जो पहले निजी क्षेत्रों में थे और बाद में राष्ट्रीकरण के द्वारा उनको लोक निगमों में बदला गया। अतः वह जब निजी क्षेत्रों में बीमार थे, तो उनके वर्तमान निजीकरण का क्या औचित्य है।

लोक निगमों ने सरकार को कुल राजस्व का 17.1 प्रतिशत दिया है, जबकि इन्हें कुछ बजटीय आवंटन का मात्र 0.5 प्रतिशत प्राप्त होता है, जो न्याय संगत नहीं है।

लोक निगमों को ज्यादातार संरचना के क्षेत्रों में लगाया गया। जहाँ दीर्घकालिक निवेश होता है, रखरखाव खर्च ऊर्चा होता है, जबकि सब्सिडी के कारण, मूल्य अपेक्षाकृत कम होता है, अतः यह लोकनिगम है, जिन्होंने निजी निगमों को संरचनात्मक आधार दिया है, और इस प्रकार निजी निगमों ने, लोक निगमों की कीमत पर लाभ कमाया है, ऐसी स्थिति में लोक निगमों का निजीकरण एकमात्र रास्ता नहीं हो सकता है, अतः सरकार को पुर्नविलोकन करना चाहिए, और निजीकरण के स्थान पर निजी भागीदारिता को बढ़ावा देना चाहिए, ताकि सरकार का स्वामित्व बनाये रखते हुए उन्हें लाभ उन्मुख एवं प्रतिस्पर्धात्मक बनाया जा सके।

18.3 स्वतंत्र नियामकीय आयोग

स्वतंत्र नियामकीय आयोग का जन्म संयुक्त राज्य अमेरिका की विशेष संवैधानिक प्रणाली के द्वारा हुआ है। यह अमेरिका की एक विलक्षण प्रशासकीय इकाई है। अमेरिका में इस आयोग की स्थापना इसलिए की गयी ताकि समाज में शक्तिशाली आर्थिक वर्गों की क्रियाओं के नियंत्रण एवं नियमन द्वारा सार्वजनिक हित की रक्षा की जा सके। 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ में औद्योगिकीकरण और समाजवादी विचारधारा की प्रगति के फलस्वरूप राज्य के कार्य-क्षेत्र में निरंतर विस्तार होने लगा। इसका स्वाभाविक परिणाम होता है, कार्यपालिका की शक्ति में वृद्धि। लेकिन अमेरिकी संविधान 'शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त' पर आधारित है, जिसके चलते वहाँ की व्यवस्थापिका और कार्यपालिका के बीच अविश्वास और स्पर्द्धा की भावना रहती है। इस स्थिति में वहाँ की कांग्रेस अर्थात विधायिका राष्ट्रपति की शक्तियों में हो रही वृद्धि को कैसे सहन करती। अत: कांग्रेस ने इस स्थिति से निपटने के लिए एक नया रास्ता निकाला, वह था- स्वतंत्र नियामकीय आयोग का निर्माण। इस आयोग का निर्माण कांग्रेस द्वारा किया गया और उसे कार्यपालिका के नियंत्रण से स्वतंत्र रखा गया।

18.3.1 अर्थ एवं परिभाषा

विधायिका के अधिनियमों द्वारा निर्मित स्वतन्त्र नियामकीय आयोग, कार्यपालिका के नियमन एवं नियंत्रण से अपेक्षाकृत काफी स्वतंत्र एवं अलग रह कर विशेष उद्देश्यों की पूर्ति के लिए काम करते है। ये विशेष आर्थिक एवं सामाजिक परिस्थितियों में कुछ खास लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु किए जाते हैं। स्वतन्त्र नियामक आयोग में तीन शब्द हैं। प्रथम इन्हें ''स्वतंत्र'' इसलिए कहा जाता है कि ये मुख्य कार्यपालिका के नियन्त्रण से स्वतन्त्र होते हैं, एवं ये किसी विभाग के नियन्त्रण में नहीं रहते। द्वितीय,'' नियामक का तात्पर्य है कि ये आर्थिक वर्गों के निजी व्यापारिक कार्यों का जनता को हित में नियमन करते हैं। तृतीय, ''आयोग'' शब्द दर्शाता है कि ये सरकारी विभाग से अलग होते हैं। अमेरिका में इसकी स्वतन्त्र स्थिति को देखते हुए कई प्रकार के नामों से पुकारा जाता है, जो इस प्रकार हैं- स्वायत्तता के द्वीप, शासन की शीर्षविहीन शाखा, शासन की चतुर्थ शाखा कांग्रेस की भुजाऐं, अर्द्ध विधायी आयोग और अर्द्ध न्यायिक आयोग।

ये अमेरिका की विलक्षण राजनीतिक विशेषता (शक्ति पृथक्करण) सिद्धान्त की उपज है एवं अमेरिकी राष्ट्रपति तथा कांग्रेस की शक्ति के आगे एक चुनौती सा प्रतीत होता है। स्वतन्त्र नियामकीय आयोग के कार्यों की प्रकृति अर्द्ध प्रशासनिक एवं अर्द्ध न्यायिक होती है। कानून निर्माण, प्रशासनिक और न्यायिक प्रकृति के कार्यों को अंशतः इन्हें सम्पादित करना पड़ता है।

18.3.2 स्वतंत्र नियामकीय आयोग की आवश्यकता

स्वतंत्र नियामकीय आयोग की आवश्यकता को निम्नलिखित बिन्दुओं के माध्यम से समझने का प्रयास करते हैं-

1. स्वतन्त्र नियामकीय आयोग दलगत राजनीति से दूर होकर अपने कार्यों को अधिक निपुणता से क्रियान्वन करते हैं। अपनी निर्दलीय प्रवृत्ति की वजह से इसके कार्यों के निष्पादन में निरतरता बनी रहती है।
2. देश के अन्दर कई प्रकार की क्षेत्रीय अथवा कुछ विशिष्ट माँगें होती हैं। जिनका क्रियान्वन नियामकीय आयोगों द्वारा ज्यादा अच्छी तरह सम्भव है।
3. तकनीकी एवं विशेषीकृत प्रवृत्ति वाले कार्यों के लिए विशेषीकृत निकाय की आवश्यकता होती है, जिसे नियामकीय आयोग काफी दक्षता से पूरा करता है।
4. स्वतन्त्र नियामकीय आयोग द्वारा विधि की निष्पक्ष व्याख्या सम्भव है। अतः इसके अर्द्ध विधायी कार्य का लाभ निष्पक्ष विधान के द्वारा सरकार को मिलता है।
5. राष्ट्रों के सामने अप्रत्याशित दृष्टि से विशिष्ट समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं, जिनके बारे में संविधान भी अस्पष्ट रहता है। एसी समस्याओं को नियामकीय आयोग को सौंप दिया जाता है।

18.3.3 स्वतन्त्र नियामकीय आयोग के गुण

स्वतंत्र नियामकीय आयोग के गुणों का अध्ययन निम्नलिखित बिन्दुओं के माध्यम से करते हैं-

1. स्वतन्त्र नियामकीय आयोग में सामान्य प्रशासनिक विभागों की अपेक्षा अधिक कुशल एवं तकनीकी विशेषज्ञों की सेवा प्राप्त होती है। आधुनिक युग की जटिलताओं की वजह से तकनीकि विशेषज्ञों की आवश्यकता बढ़ गई है। तकनीकी पेचीदगियों को सामान्य प्रशासकों द्वारा समझ पाना सम्भव नहीं है। अतः नियामकीय आयोग में तकनीकी समस्याओं का समाधान कुशलतापूर्वक होता है।
2. स्वतन्त्र नियामकीय आयोग निष्पक्ष और निर्दलीय होता है। अनेक ऐसे मामले होते हैं जिन्हें किसी निष्पक्ष निकाय द्वारा सम्पादित होना ज्यादा बेहतर समझा जाता है।
3. स्वतन्त्र नियामकीय आयोग से नौकरशाही की लालफीताशाही से बचा जा सकता है। वे विभागीय रूकावटों एवं मंत्रियों के हस्तक्षेपों से काफी हद तक स्वतन्त्र होकर अपने लक्ष्यों की पूर्ति के लिए आगे बढ़ते हैं।
4. स्वतन्त्र नियामकीय आयोग का प्रबन्ध एक बोर्ड द्वारा होने और सभी को शक्ति प्राप्त होने से कार्य, व्यापार एवं निर्णय में दलगत राजनीति का प्रवेश नहीं हो पाता है।
5. दबाव-समूहों के प्रभाव का विरोध करना एक व्यक्ति की अपेक्षा बहुसदस्यीय संगठन द्वारा अधिक दृढ़ता से सम्भव है, क्योंकि सभी सदस्य अपदस्थ कर दिए जाने की धमकी से मुक्त होते हैं।
6. विधायिका के दिन-प्रतिदिन के हस्तक्षेप से यह दूर रहते हैं, जिससे ये कार्यों को अधिक दक्षता से लक्षित कर आगे बढ़ने में समर्थ होते हैं।

18.3.4 स्वतन्त्र नियामकीय आयोग की विशेषताएँ

स्वतन्त्र नियामकीय आयोग की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं-

1. स्वतन्त्र नियामकीय आयोग अक्सर कार्यपालिका, विधायिका और न्यायपालिका से स्वतन्त्र समझे जाते हैं। इन पर न तो मुख्य कार्यपालक का नियंत्रण होता है और न ही ये मुख्य कार्यपालक के प्रति उत्तरदायी होते हैं। विधायिका के नियन्त्रण से भी ये मुक्त समझे जाते हैं। हालांकि ये न्यायपालिका से पूर्णरूप से स्वतन्त्र नहीं होते, क्योंकि न्यायपालिका इन आयोगों द्वारा प्रयोग किए गए अधिकारों के दुरूपयोग पर नियन्त्रण रखती है।

2. स्वतन्त्र नियामकीय आयोग का अध्यक्ष कोई एक व्यक्ति नहीं होता है, बल्कि इसका नियन्त्रण एक स्वतन्त्र बोर्ड द्वारा किया जाता है, जिसमें सभी सदस्यों को बराबर शक्ति और सत्ता बाँट दी जाती है। ये सदस्य आपस में विचार कर नीति निर्धारण करते हैं। अन्यथा की स्थिति में बहुमत द्वारा निर्णय लिया जाता है।
3. अपने कार्यों को निष्पादित करने के लिए इन्हें पर्याप्त वित्तीय स्वायत्तता प्राप्त होती है। ये धन के लिए सरकारी बजट पर आश्रित नहीं रहते, आय एवं व्यय पर इनका स्वंय का नियन्त्रण रहता है।
4. स्वतन्त्र नियामकीय आयोग की स्थापना विधायिका के एक विशेष अधिनियम द्वारा की जाती है। आयोग के संगठन कार्य एवं अधिकार में विधायिका आवश्यकता अनुरूप संशोधन कर सकती है अतः कुछ सीमा तक वे विधायिका के नियन्त्रण से बाहर नहीं हैं।
5. स्वतन्त्र नियामकीय आयोग के द्वारा मिश्रित प्रकृति के कार्य सम्पादित किए जाते हैं। ये अर्द्ध-विधायी, अर्द्ध-न्यायिक तथा प्रशासनिक कार्य करते हैं। अर्थात आयोग स्वंय नियम निर्माण, नियम क्रियान्वयन तथा अपील के विरूद्ध निर्णय भी स्वयं देता है।
6. स्वतंत्र नियामकीय आयोग के सदस्य प्रायः विशेषज्ञ होते हैं, जो उस क्षेत्र की जानी-मानी हस्तियाँ होती हैं।
7. अक्सर नियामकीय आयोग उन क्षेत्रों के लिए बनाये जाते हैं, जो की राष्ट्र के विकास के लिए महत्वपूर्ण हों एवं जन भावनाओं को आच्छादित कर सकें।
8. सरकारी विभागों की असफलता नियामकीय आयोग की जनक है।

18.3.5 स्वतन्त्र नियामकीय आयोग के उदाहरण

संयुक्तराज्य अमेरिका में प्रमुख स्वतंत्र नियामकीय आयोग निम्नलिखित हैं-

1. **अन्तर-राज्यीय वाणिज्य आयोग-** इस आयोग का गठन 1887 में अमेरिका में हुआ। इसका मुख्य उद्देश्य रेल, सड़क एवं बल तथा अन्य साधनों द्वारा यातायात व्यवस्था को विकसित तथा व्यवस्थित करना है।
2. **संघीय-संरक्षित मण्डल-** इसका गठन 1913 में किया गया। यह बोर्ड धन सम्बन्धी कार्यों, ऋण तथा चालू नीतियों को निर्धारित तथा नियमित करता है।
3. **संघीय व्यापार आयोग-** इसका गठन 1914 में किया गया। यह खाद्य-पदार्थ, दवाइयों, एवं पेय पदार्थों के झूठे विज्ञापन पर रोक लगाता है। व्यापार के उन तमाम अनुचित प्रयोगों और प्रतियोगिताओं पर रोक लगाता है।
4. **संघीय शक्ति आयोग-** इस आयोग का गठन सन् 1930 में हुआ। इसका मुख्य कार्य जलविद्युत परियोजनाओं को लाइसेंस प्रदान करना हैं तथा प्राकृतिक गैसों, जैसे की पाइपलाइनों को बिछाने वाली कम्पनियों को नियंत्रित करना है।
5. **संघीय संचार आयोग-** इसका गठन सन् 1934 में किया गया। इसका मुख्य कार्य रेडियो, तार मुक्त संचार एवं टेलीविजन को नियन्त्रित करना है।
6. **राष्ट्रीय श्रमिक सम्बन्ध मण्डल-** इसकी स्थापना सन् 1935 में की गई। कर्मचारियों की सेवा शर्तों को यह नियंत्रित करता है।
7. **प्रतिभूति तथा विनिमय आयोग-** इस आयोग को सन् 1934 में बनाया गया। इसका प्रमुख उद्देश्य शेयर मार्केट में शेयर धारकों के हितों को सुरक्षित करता है।
8. **असैनिक वायुयानिक मण्डल-** इसका गठन सन् 1940 में वायु यातायात से जुड़ी समस्याओं के निराकरण के लिए किया गया।

18.3.6 स्वतन्त्र नियामकीय आयोग के कार्य

ये आयोग अमेरिका में वर्षों से कई मिले-जुले कार्यों को निष्पादित कर रहे हैं। ये खासकर अमेरिका में 1930 की आर्थिक मंदी तथा पूँजीवाद की विषमताओं से लोगों को निजात दिलाने के लिए प्रचुर संख्या में बनाए गये, तब से इन्होंने अपनी प्रासंगिकता को साबित किया है एवं अमेरिका के औद्योगिक विकास में इन्होंने अग्रणी भूमिका निभाई है।

प्रो0 विलोबी ने इन आयोगों के कार्यो को बताते हुए कहा है कि, ''इन संस्थाओं द्वारा सार्वजनिक हित का कार्य करने वाले नियमों की सेवा-शर्तों तथा दर निर्धारित करते हुए ऐसे नियम तथा विनिमय बनाना है, जिनके पीछे कानूनी शक्ति हो तथा इनको प्राधिकृत करने वाले अधिनियमों के अधीन सार्वजनिक तथा निजी हितों को प्रभावित करने वाले मामलों का निर्णय करना है।''

जेम्स फेसलर का कथन है कि, ''कुछ आयोग ऐसे हैं जो सिर्फ एक दृष्टिकोण को प्रधानता देकर कार्य करते हैं, लेकिन अधिकतर आयोग इस प्रकार के हैं जो कार्य करते समय विधायी, न्यायिक एवं प्रशासकीय, तीनों ही प्रकार के दृष्टिकोण अपनाते हैं'' एम0 पी0 शर्मा का मत है कि ''स्वतन्त्र नियामकीय आयोग एक ही साथ विधि निर्माण, अभियोजक तथा न्यायाधीश के तौर पर काम करता है।''

इनके कार्यों को हम तीन विभागों में विभाजित कर सकते हैं।

1. **अर्द्ध-विधायी कार्य-** ये आयोग नीति निर्धारण का कार्य करते हैं, व्यवस्थापिका के पास कार्यों का बोझ इतना अधिक होता है कि ये पेचीदे एवं तकनीकी पहलुओं पर गौर नहीं कर पाते। यहाँ ये आयोग द्रुत गति से कार्य करते हैं।
2. **अर्द्ध-न्यायिक कार्य-** स्वतन्त्र नियामकीय आयोग को अर्द्ध-न्यायिक प्रवृत्ति के कार्य भी करने पड़ते हैं। उद्यमों के मध्य अगर कोई मामला उठ खड़ा होता है तो उसे उसकी जाँच-पड़ताल कर निर्णय भी देना पड़ता है।
3. **प्रशासकीय कार्य-** ये आयोग मुख्यतया औद्योगिक एवं वित्तीय कार्यो के अलावा व्यापार, श्रम, सुरक्षा, संचार, इत्यादि के प्रशासनिक दायित्व का निर्वहन करते हैं। व्यवस्थापिका द्वारा निर्धारित नीतियों को कार्यान्वित करना आयोग का उत्तरदायित्व हो जाता है।

18.3.7 स्वतन्त्र नियामकीय आयोग की आलोचना

स्वतन्त्र नियामकीय आयोग की आलोचना निम्नलिखित आधारों पर की जाती है-

1. संवैधानिक अप्रासंगिकता- नियामकीय आयोग की वजह से शक्ति के पृथककरण सिद्धान्त को धक्का पहुँचा है। इसने ''चतुर्थ शाखा'' का रूप ग्रहण कर लिया है। कुछ विद्वानों का मत है, कि अपने आप में ये स्वतन्त्र सरकारें हैं।
2. इनकी कार्यशैली से भ्रम उत्पन्न होता है, क्योंकि बाकी विभाग सरकार के नियन्त्रण से रहते हैं। ये कई विभागों के कोपभाजन की विषय-वस्तु बन जाते हैं।
3. उत्तरदायित्व का अभाव- इनकी प्रमुख आलोचना अनुत्तरदायी प्रवृत्ति से जुड़ी हुई है। यह देखा गया है कि ये किसी भी शाखा या सत्ता के प्रति जवाब देह नहीं होते। न्यायालय के प्रति भी इनका उत्तरदायित्व आंशिक है।
4. नागरिकों के अधिकारों को चुनौती- तीनों प्रकार के अधिकार जैसे विधायी, कार्यपालिका एवं न्यायिक के एक ही स्थान पर केन्द्रित होने से इनकी जनता के प्रति जवाबदेही नाममात्र की रह जाती है, जोकि प्रजातान्त्रिक उत्तरदायित्व का उल्लंघन है।

5. प्रशासकीय व्यय में वृद्धि- जिन कार्यों के सम्पादन का जिम्मा इन्हें सौंपा जाता हैं, उनसे सम्बन्धित कार्य करने के लिए सरकार के पास पहले से ही अनेक विभाग होते हैं। दोहरेपन की वजह से सरकार के व्यय में अनावश्यक खर्च बढ़ जाता है।

अभ्यास प्रश्न-

1. लोक निगमों को सार्वजनिक एवं राष्ट्रीय उद्देश्यों के अन्तर्गत बनाया गया है। सत्य/असत्य
2. लोक निगमों पर संसद का नियंत्रण रहता है। सत्य/ असत्य
3. लोक निगमों को केवल लाभ कमाने के लिए निर्मित नहीं किया गया। सत्य/ असत्य
4. विनिवेश की नीति किससे सम्बन्धित है?
5. उदारीकरण के पश्चात 'लाइसेंस कोटा व्यवस्था' को काफी सीमित किया गया है। सत्य/ असत्य
6. भारतीय लोक निगमों का विकास एवं आमदनी उदारीकरण के पश्चात बढ़ गयी है। सत्य/ असत्य
7. स्वतंत्र नियामकीय आयोग का जन्म कहाँ हुआ?
8. संघीय व्यापार आयोग का गठन वर्ष 1914 में हुआ। सत्य/असत्य
9. स्वतंत्र नियामकीय आयोग के सदस्य प्रायः विशेषज्ञ होते हैं। सत्य/ असत्य
10. स्वतंत्र नियामकीय आयोग विधायी, न्यायिक तथा प्रशासनिक कार्य एक साथ करते हैं। सत्य/ असत्य

18.4 सारांश

लोक निगम एक ऐसा निकाय अथवा व्यक्तियों का समूह है, जिसको विधि द्वारा एक व्यक्ति के समान कार्य करने की मान्यता तथा सुविधा प्रदान की जाती है। सरकारी क्षेत्र में इस अभिकरण का जन्म राज्य द्वारा व्यावसायिक व व्यापारिक क्षेत्र में प्रवेश का परिणाम है। आधुनिकीकरण, औद्योगीकरण तथा शहरीकरण के परिणामस्वरूप व्यक्ति के शोषण को रोकने के लिए तथा जनसाधारण को आवश्यक वस्तुऐं उपलब्ध कराने के लिए राज्य के लिए व्यापारिक व औद्योगिक क्रियाओं का नियमन आवश्यक हो गया। अतः अपने इस उत्तरदायित्व को सफलतापूर्वक निभाने के लिए राज्य ने जिस अभिकरण को अपनाया उसे सरकारी निगम कहते हैं। ये मुख्यतः सरकारी एवं गैर-सरकारी गुणों को अपनाती हैं तथा उनके दोषों को त्यागती हैं। निगम अपने कर्मचारियों की नियुक्ति स्वयं निर्मित नियमों के तहत करती है तथा वित्त के मामले में काफी हद तक स्वतंत्र होती है।

स्वतन्त्र नियामकीय आयोग संयुक्त राज्य अमेरिका की विशिष्ट परिस्थितियों में उत्पन्न हुए। अमेरिका के मजबूत संघीय ढाँचे की परिस्थितियों, औद्योगिक विकास, अन्तर्राज्यीय सहयोग, 1930 की औद्योगिक मंदी ने इन्हें स्थापित करने में मदद की। ये आयोग विधायी, क्रियान्वयन एवं न्यायिक शक्तियों से लैस होते हैं तथा उद्देश्यों की पूर्ति में काफी हद तक स्वतन्त्र होते हैं। दलगत राजनीति एवं दबाव समूहों के अकारण हस्तक्षेप से ये पूरी तरह से स्वतन्त्र रहते हैं। उत्तरदायित्व के तौर पर ये जवाबदेह तो होते हैं लेकिन अन्य विभागों एवं संस्थाओं से उलट इनको साल में निश्चित समय पर ही जवाबदेह बनाया जा सकता है। इनकी उत्पत्ति विधायिका के प्रस्ताव द्वारा की जाती है। इनके क्षेत्र, अधिकार एवं प्रशासकीय आचार संहिता शुरूआत में ही इंगित होती है। इसी आधार पर वे अपना काम करते हैं। इन नियामकीय आयोगों में विशेषज्ञों को रखा जाता है, इसलिए अधिकांशतः ये अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने में सफल रहे हैं। अपने अधिकारों की वजह से इन्हें सरकार की चौथी भुजा भी कहा जाता है। कुछ लोग कहते हैं कि स्वतन्त्र नियामकीय आयोग, प्रजातान्त्रिक उत्तरदायित्व की भावना के अनुरूप नहीं है। फिर भी ये कहा जा सकता है की स्वतन्त्र नियामकीय आयोग ने अपनी प्रासंगिकता को साबित किया है।

18.5 शब्दावली

रूग्णता- रोग से ग्रस्त या विकार से ग्रस्त,

दीर्घकालीन- अधिक अवधि वाला,

लालफीताशाही- लाक्षणिक एवं व्यंग्यात्मक रूप से सरकारी कार्यों के सम्पादन, निर्णय आदि में लगने वाली अनावश्यक देरी,

पुनर्विलोकन- एक बार देखी गई वस्तु को फिर से देखना,

संघीय- राज्यों के पारस्परिक समझौतों से बनने वाला ऐसा संगठन जो विशिष्ट बातों में एक केन्द्रीय सत्ता का अधिकार और अनुशासन मानता हो।

18.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. सत्य, **2.** सत्य, **3.** सत्य, **4.** पूँजी के अतिरिक्त सृजन के लिए, **5.** सत्य, **6.** सत्य, **7.** अमेरिका, **8.** असत्य, **9.** सत्य, **10.** सत्य

18.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. कामराज, एम0 जे0 के0 (1975): फाइनेन्शियल एडमिनिस्ट्रेशन, आत्मा राम एण्ड सन्स, दिल्ली।
2. त्यागी, ए0 आर0 (1960): पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन, आत्मा राम एण्ड सन्स, दिल्ली।
3. शर्मा,एम0 पी0 एण्ड सडाना, बी0एल0 (1989): पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन: थीयरी एण्ड प्रेक्टिस, किताब महल, इलाहाबाद।
4. दुबे, आर0 के0 (1992): आधुनिक लोक प्रशासन, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा।
5. भट्टाचार्य, मोहित (1987): पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन, वर्ल्ड प्रेस, कलकत्ता।
6. अरोरा, रमेश (संपा0) (1984): एडमिनिस्ट्रेशन थीयरी, नई दिल्ली, IIPA,

18.8 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. फडिया, बी0एल0, लोक प्रशासन, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा।
2. दुबे, आर0के0 (1992): आधुनिक लोक प्रशासन, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा।

18.9 निबंधात्मक प्रश्न

1. लोक निगम से क्या तात्पर्य है? इनकी विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
2. लोक निगमों पर संसदीय नियंत्रण किन-किन तरीकों से स्थापित किया जाता है?
3. भारत में लोक निगमों के सुधार के लिए उठाए गए प्रयत्नों की समीक्षा कीजिए।
4. स्वतंत्र नियामकीय आयोग से क्या तात्पर्य है? इनकी भूमिका का वर्णन कीजिए।
5. स्वतंत्र नियामकीय आयोग के उदय के क्या कारण हैं, इनकी विशेषतायें एवं कार्यों का अवलोकन कीजिए।
6. स्वतंत्र नियामकीय आयोग के कार्यों और उद्देश्यों पर आलोचनात्मक टिप्पणी कीजिए।

इकाई- 19 लोक प्रशासन पर नियंत्रण- विधायी नियंत्रण, कार्यकारी नियंत्रण, न्यायिक नियंत्रण

इकाई की संरचना

19.0 प्रस्तावना
19.1 उद्देश्य
19.2 लोक प्रशासन पर विधायी नियंत्रण
    19.2.1 विधायिका और लोक प्रशासन का सम्बन्ध
    19.2.2 विधायी नियंत्रण की आवश्यकता
    19.2.3 विधायी नियंत्रण के साधन
    19.2.4 विधायी नियंत्रण की सीमाऐं
19.3 लोक प्रशासन पर कार्यकारी नियंत्रण
19.4 लोक प्रशासन पर न्यायिक नियंत्रण
    19.4.1 न्यायिक नियंत्रण के तरीके
    19.4.2 क्षेत्र विस्तार
    19.4.3 न्यायिक नियंत्रण की सीमाऐं
19.5 सारांश
19.6 शब्दावली
19.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
19.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
19.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
19.10 निबंधात्मक प्रश्न

19.0 प्रस्तावना

प्रत्येक सकार के तीन अंग होते हैं- विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका। विधायिका का कार्य कानून का निर्माण करना, तथा कार्यपालिका का कार्य उस कानून को लागू करना होता है। आज दुनिया के अधिकतर देशों में लोकतंत्र किसी न किसी रूप में विद्यमान है, जिसमें विधायिकाऐं जनता के प्रतिनिधियों की संस्थाऐं होती हैं। विधायिका तथा कार्यपालिका के सम्बन्ध के आधार पर मुख्यतः दो प्रकार की शासन प्रणालियाँ देखने को मिलती हैं- संसदात्मक तथा अध्यक्षात्मक। संसदात्मक शासन प्रणाली में कार्यपालिका, विधायिका के प्रति पूर्णरूप से उत्तरदायी होती है। अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली में शक्ति के पृथक्करण के कारण यद्यपि कार्यपालिका, विधायिका से स्वतंत्र रूप में कार्य करती है। तथापि नियंत्रण एवं संतुलन की स्थापना द्वारा किसी न किसी रूप में विधायिका, कार्यपालिका के ऊपर नियंत्रण रखने में सफल हो जाती है। संसदात्मक एवं अध्यक्षात्मक दोनों ही शासन प्रणालियों में न्यायपालिका की भूमिका अत्यधिक महत्वपूर्ण होती है। न्यायपालिका का मुख्य कार्य यह देखना होता है कि विधायिका द्वारा निर्मित तथा कार्यपालिका द्वारा क्रियान्वित कानून, संविधान के अनुरूप हो। ऐसा न होने पर न्यायपालिका उन्हें अवैध घोषित कर सकती है। इस प्रकार कार्यपालिका तथा विधायिका पर नियंत्रण स्थापित करके न्यायपालिका संविधान तथा जनता के अधिकारों की रक्षा का दायित्व निभाती है।

संसदात्मक शासन प्रणाली में तीन प्रकार की कार्यपालिका होती है- नाम मात्र, वास्तविक और स्थायी। राष्ट्र का अध्यक्ष नाम मात्र का कार्यपालक होता है। जैसे भारत में राष्ट्रपति तथा ब्रिटेन में राजा। कार्यपालिका की समस्त

शक्तियाँ उसी में निहित होती है तथा उसी के नाम से प्रयोग की जाती है। लेकिन वास्तव में कार्यपालिका की शक्तियों का प्रयोग मंत्रिमण्डल द्वारा किया जाता है। इसी कारण उसे वास्तविक कार्यपालिका के नाम से जाना जाता है। नाम मात्र तथा वास्तविक कार्यपालिका का प्रमुख कार्य नीतियों का निर्धारण तथा उन नीतियों के क्रियान्वयन का निरीक्षण एवं पर्यवेक्षण करना होता है। वास्तविक कार्यपालिका द्वारा निर्मित नीतियों को व्यवहारिक रूप प्रदान करने का कार्य स्थायी कार्यपालिका द्वारा किया जाता है। लोक प्रशासन का सम्बन्ध कार्यपालिका के इसी रूप में होता है, जिसमें प्रशासनिक संगठनों के समस्त लोक सेवक या जन अधिकारी सम्मिलित होते हैं। स्थायी कार्यपालिका की क्रियाएं विधायिका, नाम मात्र की कार्यपालिका, वास्तविक कार्यपालिका एवं न्यायपालिका के नियंत्रण का विषय होती है। प्रस्तुत ईकाई में इस नियंत्रण के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास किया जाएगा।

19.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- लोकतांत्रिक देशों में प्रशासन पर नियंत्रण की आवश्यकता के सम्बन्ध में जान पायेंगे।
- प्रशासन पर विधायी, कार्यकारी तथा न्यायिक नियंत्रण के बारे में विस्तार में जानेंगे।
- प्रशासन पर स्थापित नियंत्रण की सीमाओं के बारे में जानेंगे।

19.2 लोक प्रशासन पर विधायी नियंत्रण

लोक प्रशासन पर विधायी नियंत्रण को हम निम्न बिन्दुओं के माध्यम से समझने का प्रयास करते हैं।

19.2.1 विधायिका और लोक प्रशासन का सम्बन्ध

विधायिका और लोक प्रशासन के सम्बन्ध को हम निम्न बिन्दुओं के आधार पर समझ सकते हैं-

1. जिन नीतियों के क्रियान्वयन का दायित्व लोक प्रशासन पर होता है उन नीतियों के निर्माण में विधायिका की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। विधायिका की स्वीकृति ही कानून निर्माण का आधार है।
2. विधायिका द्वारा निर्मित नीतियों का क्रियान्वयन किस प्रकार हो रहा है, यह देखना विधायिका का उत्तरदायित्व है। इस दायित्व के निर्वहन के लिए विधायिका द्वारा लोक प्रशासकों के कार्यों का समय-समय पर मूल्यांकन किया जाता है तथा उन्हें आवश्यक निर्देश भी जारी किये जाते हैं।
3. अन्य कानूनों की तरह लोक प्रशासकों के व्यवहार, अधिकार तथा कर्तव्य से सम्बन्धित कानूनों का निर्माण भी विधायिका द्वारा किया जाता है। लोक प्रशासन पर नियंत्रण का यह एक महत्वपूर्ण साधन है। उदाहरण के लिए भारतीय संसद ने यह कानून बनाया है कि पुलिस कर्मचारी अपने संघ का निर्माणनहीं कर सकते।
4. विधायिका लोक धन की संरक्षक के रूप में बजट पर नियंत्रण रखती है। विधायिका की स्वीकृति के बाद ही लोक प्रशासन द्वारा स्वीकृत धन का उपयोग, अपने कार्यों के सम्पादन हेतु किया जा सकता है। इस प्रकार वित्त के माध्यम से विधायिका तथा लोक प्रशासन में घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित होता है।
5. कार्यों के अत्यधिक बोझ या तकनीकी विशेषज्ञता की आवश्यकता के फलस्वरूप कई बार विधायिका को विधायन शक्ति को प्रत्यायोजित करना पड़ता है। यह शक्तियां कार्यपालिका से होते हुए लोक प्रशासन तक पहुँच जाती है, जिसके द्वारा उन शक्तियों का प्रयोग किया जाता है।

19.2.2 विधायी नियंत्रण की आवश्यकता

लोक प्रशासन पर विधायी नियंत्रण की आवश्यकता निम्न कारणों से पड़ती है-

1. लोकतांत्रिक देशों में सम्प्रभुता अंतिम रूप में जनता में निवास करती है। इस कारण जनता की प्रतिनिधि संस्था के रूप में विधायिका का यह दायित्व है कि वह लोक प्रशासन को जनहित की दिशा में संचालित करे। अपने इस दायित्व का निर्वहन विधायिका दो प्रकार से कर सकती है- विधेयात्मक रूप में कानून का निर्माण करके तथा निषेधात्मक रूप में लोक प्रशासकों द्वारा शक्ति के दुरूपयोग को रोककर।
2. वैज्ञानिक तथा तकनीकी क्रान्ति के फलस्वरूप लोगों के जीवन-यापन के तौर-तरीकों में क्रान्तिकारी परिवर्तन आ रहा है। सामाजिक मूल्य भी काफी हद तक परिवर्तित हो चुके हैं। यह देखना विधायिका का दायित्व है कि लोक प्रशासकों का व्यवहार जनता की अपेक्षाओं के विपरीत न हो, अन्यथा जन विद्रोह की संभावना है। इस कारण विधायिका द्वारा लोक प्रशासन पर नियंत्रण आवश्यक है।
3. लोक कल्याणकारी राज्य की मान्यता के फलस्वरूप लोक प्रशासन के कार्यों में विस्तार हुआ है। इन कार्यों के संपादन हेतु लोक प्रशासकों को नये अधिकार भी दिये गये हैं। लोक प्रशासक अपने इन अधिकारों का दुरूपयोग न करें, इसलिए विधायी नियंत्रण की प्रभावशाली व्यवस्था की जाती है। प्रजातंत्र को वास्तविकता प्रदान करने के लिए लोक प्रशासन एक प्रभावशाली साधन है। लेकिन इसे विकृति से बचाने के लिए उस पर विधायी नियंत्रण की आवश्यकता है।
4. लोक प्रशासन को निरंकुश होने से रोकने के लिए भी इस पर नियंत्रण की आवश्यकता होती है। यह निरंकुशता कई रूपों में देखने को मिल सकती है, जैसे-भाई-भतीजावाद, भ्रष्टाचार, अनुत्तरदायित्व, लालफीताशाही इत्यादि।

19.2.3 विधायी नियंत्रण के साधन

लोक प्रशासन पर विधायिका का नियंत्रण बाह्य नियंत्रण की श्रेणी में आता है। यह प्रशासन को प्रजातंत्रात्मक बनाए रखता है, जिससे जनता के हित सुरक्षित रहते हैं। विधायिका द्वारा यह नियंत्रण प्रायः कार्यपालिका के माध्यम से रखा जाता है। इस कारण यह राजनीतिक होता है। प्रशासन पर नियंत्रण स्थापित करने के लिए विधायिका द्वारा अनेक साधनों का प्रयोग किया जाता, वे उसकी कार्यप्रणाली के आवश्यक अंग होते हैं। वे साधन निम्नलिखित हैं-

1. **नीति निर्धारण-** जनता की प्रतिनिधि संस्था के रूप में नीति निर्धारण का कार्य विधायिका द्वारा किया जाता है। विधायिका द्वारा स्थापित सीमाओं के अंदर रहकर ही प्रशासन द्वारा नीतियों का क्रियान्वयन किया जा सकता है। इस प्रकार से स्थापित नियंत्रण की कुछ सीमाएं भी हैं। विधायन के अत्यधिक बोझ तथा अपेक्षित विशेषज्ञता के अभाव में, अधिकतर मामलों में विधायिका द्वारा कानून निर्माण की प्रक्रिया में पहल नहीं की जाती, बल्कि कार्यपालिका द्वारा प्रस्तावित विधेयक में कुछ परिवर्तनों तथा संशोधनों के बाद उसे स्वीकृति प्रदान कर दी जाती है। विधायी प्रत्यायोजन के कारण भी विधायिका का नियंत्रण-क्षेत्र संकुचित हुआ है। संसदात्मक शासन प्रणाली में तो अधिकांश व्यवस्थापन सरकारी व्यवस्थापन ही होता है।
2. **बजट पर चर्चा-** लोकतांत्रिक देशों की यह विशेषता होती है कि उनमें बिना जनप्रतिनिधियों की स्वीकृति के प्रशासन तनिक भी धन खर्च नहीं कर सकता। जब कार्यपालिका द्वारा विधायिका के समक्ष उसकी स्वीकृति के लिए बजट प्रस्तुत किया जाता है, तब विधायिका के सदस्यों द्वारा बजट के हर एक मद पर विस्तृत चर्चा की जाती है। चर्चा के समय इस बात का भी निरीक्षण किया जा सकता है कि पूर्व में अनुमोदित धन का प्रयोग किस प्रकार किया गया। इस माध्यम से लोक प्रशासन के कार्यों का पुनरावलोकन किया जाता है तथा आवश्यकता पड़ने पर आलोचना भी की जाती है। विधायिका द्वारा लोक प्रशासन पर नियंत्रण का यह एक सशक्त माध्यम है।

3. **राष्ट्रपति का अभिभाषण-** संसद के अधिवेशन के प्रारम्भ में ही राष्ट्रपति द्वारा जो भाषण दिया जाता है, उसमें कई बार लोक सेवाओं के कार्यों तथा उपलब्धियों का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से उल्लेख किया जाता है। इससे विधायिका को यह अवसर प्राप्त हो जाता है कि वह राष्ट्रपति के अभिभाषण पर चर्चा करते समय लोक सेवकों के कार्यों पर भी चर्चा कर सके। इस प्रकार विधायिका द्वारा लोक प्रशासन पर अप्रत्यक्ष रूप से नियंत्रण स्थापित किया जा सकता है।
4. **प्रश्न काल-** संसद की कार्यवाही का पहला घण्टा प्रश्न काल के नाम से जाना जाता है। इसमें संसद सदस्यों द्वारा मंत्रियों से उनके कार्यों के सम्बन्ध में प्रश्न पूछे जाते हैं तथा सूचनाऐं मांगी जाती हैं। पूछे जाने वाले प्रश्नों की लिखित सूचना मंत्रियों को पहले से ही उपलब्ध करा दी जाती है। मंत्री वह सूचनाऐं लोक सेवकों से मांगते हैं। इस माध्यम से लोक सेवकों का उत्तरदायित्व, प्रत्यक्ष रूप से मंत्रियों के प्रति तथा अप्रत्यक्ष रूप से विधायिका के प्रति सुनिश्चित किया जाता है। प्रश्नों के उत्तर देने या न देने का अधिकार मंत्रियों के पास होता है, लेकिन जनमत के प्रतिकूल हो जाने के डर से अधिकतर प्रश्नों का उत्तर मंत्रियों द्वारा दे ही दिया जाता है। क्योंकि मंत्रियों को यह पता रहता है कि उनके मंत्रालयों से सम्बन्धित प्रश्न कभी भी संसद में पूछे जा सकते हैं, इसलिए वे प्रशासनिक अधिकारियों के कार्यों पर समुचित निरीक्षण, पर्यवेक्षण एवं नियंत्रण रखते हैं। यह लोक प्रशासकों के उत्तरदायित्व को सुनिश्चित करने का सशक्त माध्यम है।
5. **आधे घण्टे की चर्चा-** प्रश्न काल में यदि कोई सदस्य सरकार के उत्तर से संतुष्ट नहीं होता तो वह प्रश्न काल के तुरन्त बाद अध्यक्ष से विचार-विमर्श के लिए आधे घण्टे का समय मांग सकता है और अपनी जिज्ञासा को शांत करने का प्रयास कर सकता है।
6. अल्पकालीन विचार-विमर्श तथा ध्यानाकर्षण प्रस्ताव द्वारा भी संसद सदस्य प्रशासनिक अधिकारियों के क्रियाकलापों को वाद विवाद का विषय बना सकते हैं।
7. **स्थगन प्रस्ताव-** इस प्रस्ताव के माध्यम से संसद सदस्य संसद की कार्यवाही को बीच में ही रोक कर किसी विषय पर बहस प्रारम्भ कर सकते हैं। इस माध्यम से लोक सेवकों द्वारा किये गये अधिकारों के दुरूपयोग तथा अतिक्रमण का मुद्दा भी उठाया जा सकता है। कुछ निष्कर्ष न निकल पाने की स्थिति में भी त्रुटियों के ओर ध्यान तो आकृष्ट हो ही जाता है।
8. **अविश्वास प्रस्ताव-** संसद के हाथ में यह अंतिम अस्त्र है, जिसके माध्यम से कार्यपालिका पर नियंत्रण स्थापित किया जा सकता है। यह प्रस्ताव विपक्ष द्वारा संसद में तब लाया जाता तब लाया जाता है, जब कार्यपालिका के विरूद्ध असंतोष अपने चरम पर पहुँच जाता है। यदि यह प्रस्ताव सदन में बहुमत से पारित हो जाता है तो सरकार गिर जाती है। इस प्रकार की स्थिति न आने पाये इसलिए कार्यपालिका, विधायिका को अपने कार्यों से संतुष्ट रखने का प्रयास करती है।
9. **संसदीय समितियां-** विभिन्न समितियों के माध्यम से विधायिका द्वारा प्रशासन पर प्रभावशाली नियंत्रण रखा जाता है। इस प्रकार की समितियों का लक्ष्य यह देखना होता है कि प्रशासन के किसी स्तर पर अनियमितता अधिकारों का दुरूपयोग जनहित विरोधी कार्य या लोकधन का अपव्यय तो नहीं हो रहा है। इस प्रकार की कुछ समितियाँ हैं-
    - **जन लेखा समिति-** विरोधी दल का कोई सदस्य ही इस समिति का अध्यक्ष होता है। इस समिति का मुख्य कार्य नियंत्रण और महालेखा परीक्षक की वार्षिक रिपोर्ट की जाँच करना है। इसके साथ-साथ यह समिति भारत सरकार के खर्चों के लिए संसद द्वारा स्वीकृत धनराशि के

उपयोग को प्रदर्शित करने वाले किसी भी लेखा की जाँच कर सकती है। इस समिति ने प्रशासन पर विधायी नियंत्रण में हमेशा महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

- **आंकलन समिति-** समिति का कार्य हैं, बजट में सम्मिलित अनुमानों की जाँच करना तथा सार्वजनिक खर्चों में मितव्ययता के उपाय सुझाना। यह कार्य समिति पूरे वित्तीय वर्ष में करती रहती है। यह आवश्यक नहीं कि वह सभी अनुमानों की जाँच करे तथा संसद द्वारा रिपोर्ट के अभाव में भी अनुदानित मांग पारित की जा सकती है।
- **सार्वजनिक उपक्रम समिति-** इस समिति का कार्य है, सार्वजनिक उपक्रम की रिपोर्टों तथा लेखों की जाँच करना तथा उनके संचालन से सम्बन्धित सुझाव देना।
- **अधीनस्थ विधायन समिति-** इस समिति का मुख्य कार्य यह देखना है कि कार्यपालिका को संविधान द्वारा या संसद द्वारा प्रदत्त अधिकारों का (नियम, उपनियम, विनियम तथा परिनियम के निर्माण से सम्बन्धित) दुरूपयोग तो नहीं हो रहा है।
- **आश्वासन समिति-** इस समिति का मुख्य कार्य है, संसद में मंत्रियों द्वारा समय-समय पर दिए जाने वाले आश्वासनों, वचनों एवं प्रतिज्ञाओं की जाँच कर रिपोर्ट प्रस्तुत करना।
- **विभागीय स्थायी समितियां-** ये समितियां विभिन्न विभागों से जुड़े मामलों की जाँच करती हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संसदीय शासन प्रणाली में प्रत्यक्ष रूप से वास्तविक कार्यपालिका तथा अप्रत्यक्ष रूप से स्थायी कार्यपालिका पर नियंत्रण रखने के लिए विधायिका के पास अनेकों साधन हैं।

अध्यक्षीय शासन प्रणाली में भी प्रशासन पर विधायी नियंत्रण के कुछ साधन हैं। जिसका प्रमुख उदाहरण अमेरिका है-

- कांग्रेस विभागों, आयोगों, निकायों तथा प्रशासनिक एजेंसियों का निर्माण करती है तथा इनकी नियमित जाँच के लिए समितियों का गठन करती है।
- केन्द्रीय बजट को कांग्रेस ही स्वीकृति प्रदान करती है। लेखा और लेखा-परीक्षा की जाँच भी करती है।
- राष्ट्रपति द्वारा की गयी संधियों तथा उच्च पदों पर की गयी नियुक्तियों का कांग्रेस द्वारा अनुमोदन अनिवार्य है।
- देशद्रोह अथवा भ्रष्टाचार के आरोप लगने पर कांग्रेस राष्ट्रपति पर महाअभियोग लगा सकती है तथा आरोप साबित होने पर उसे हटा सकती है।

19.2.4 विधायी नियंत्रण की सीमाऐं

वास्तव में प्रशासन पर विधायी नियंत्रण की जो युक्तियां सुझाई गई हैं वे व्यवहारिक कम और सैद्धान्तिक अधिक हैं। विधायी नियंत्रण की सीमाओं को हम निम्नलिखित बिन्दुओं में दर्शा सकते हैं-

1. लोककल्याणकारी राज्य की आवश्यकताओं तथा तकनीकी विकास के फलस्वरूप प्रशासन के आकार तथा जटिलता में वृद्धि हुई है, किन्तु इसके ऊपर नियंत्रण स्थापित करने के लिए न तो विधायिका के पास पर्याप्त समय है और न ही आवश्यक विशेषज्ञता। लोक सेवक अपनी शक्ति का दुरूपयोग इतनी कुशलता से करते हैं कि वह विधायिका की पकड़ में नहीं आता।
2. कार्यपालिका को संसद में बहुमत प्राप्त होता है, इसलिए विपक्ष द्वारा लाए गए प्रस्ताव प्रायः पारित नहीं हो पाते। बहुमत के कारण नीति-निर्माण में भी कार्यपालिका की इच्छा ही महत्व रखती है।

3. विधायिका द्वारा कार्यपालिका की आलोचना प्रायः सकारात्मक न होकर राजनीतिक लाभ प्राप्त करने के लिए होती है।
4. उत्तरदायित्व से बचने के लिए वास्तविक कार्यपालिका के सदस्य प्रायः अपनी गलती को लोक सेवकों के ऊपर आरोपित कर देते हैं। इससे लोकसेवा का मनोबल गिरता है।
5. सार्वजनिक लेखा समिति जैसी वित्तीय समितियां सार्वजनिक व्यय की जाँच तब करती हैं, जब व्यय हो चुका होता है। यह एक प्रकार का सब परीक्षण मात्र है, जो नियंत्रण की सीमा को संकुचित कर देता है।
6. प्रदत्त विधायन के फलस्वरूप संसद की विधायन शक्ति कम हुई है, जबकि लोक प्रशासन की शक्ति में वृद्धि हुई है।
7. लोक प्रशासन पर विधायी नियंत्रण एकपक्षीय होता है, क्योंकि लोक प्रशासकों को अपनी सफाई प्रस्तुत करने का कोई अवसर नहीं दिया जाता।
8. प्रशासन पर प्रभावी नियंत्रण स्थापित करने के लिए राजनीतिक स्थिरता का होना अति आवश्यक है, जबकि भारत जैसे विकासशील देशों को प्रायः राजनीतिक अस्थिरता का सामना करना पड़ता है।
9. प्रशासन की आलोचना करते समय विपक्ष द्वारा सकारात्मक सुझाव भी दिये जाने चाहिए, जिन पर अमल किया जा सके। यही नियंत्रण का सम्यक अर्थ है।
10. अपनी योग्यता एवं अनुभव का दुरूपयोग करके लोक सेवक मंत्रियों को भ्रमित भी कर देते हैं, जिससे विधायिका द्वारा लोक प्रशासन पर अप्रत्यक्ष नियंत्रण प्रभावहीन हो जाता है।

उपर्युक्त कमियों के बाद भी हमें यह मानना होगा कि यदि प्रशासन पर विधायिका का नियंत्रण न होता तो स्थिति और भी गंभीर हो सकती थी।

19.3 लोक प्रशासन पर कार्यकारी नियंत्रण

प्रशासन पर कार्यपालिका के नियंत्रण को हम आंतरिक नियंत्रण की श्रेणी में रखते हैं, क्योंकि इसमें वास्तविक कार्यपालिका द्वारा स्थायी कार्यपालिका पर नियंत्रण रखा जाता है। अमेरिका में यह नियंत्रण राष्ट्रपति एवं उसके सचिवों द्वारा तथा भारत एवं ब्रिटेन में यह नियंत्रण मंत्रिमण्डल द्वारा रखा जाता है। संसदात्मक शासन प्रणाली में मंत्रिपरिषदीय उत्तरदायित्व के फलस्वरूप मंत्री अपने विभागीय अधिकारियों पर नियंत्रण रखते हैं। प्रशासन पर कार्यपालिका का नियंत्रण परिपूर्ण, स्थायी, प्रेरक, दोषनिवारक तथा निदेशात्मक होता है। कार्यकारी नियंत्रण के साधन निम्नलिखित हैं -

1. **राजनीतिक निर्देशन-** नीतियों को लागू करने का दायित्व कार्यपालिका का होता है। इसके लिए राजनीतिक कार्यपालिका, स्थायी कार्यपालिका को निर्देशित करती है। लेखा परीक्षण, निरीक्षण, पर्यवेक्षण तथा समन्वय के माध्यम से मंत्रिगण अपने-अपने विभाग के प्रशासनिक अधिकारियों पर नियंत्रण रखते हैं। क्योंकि अधिकारी सीधे तौर पर मंत्रियों के प्रति उत्तरदायी होते हैं, इसलिए यह लोक प्रशासन पर नियंत्रण का एक सशक्त माध्यम है। ध्यान देने वाली बात यह है कि इस प्रकार के नियंत्रण की प्रभावशीलता सम्बन्धित मंत्री के व्यक्तित्व पर निर्भर करती है। योग्य मंत्री अधिक प्रभावशाली नियंत्रण रख पाने की स्थिति में रहते हैं।
2. **बजट प्रणाली-** विभिन्न विभागों की आवश्यकताओं के अनुरूप बजट तैयार करके उसे संसद से पारित कराना, कार्यपालिका का एक महत्वपूर्ण कार्य है। इस माध्यम से कार्यपालिका विभिन्न विभागों की

गतिविधियों को नियंत्रित करती है, क्योंकि बिना वित्त की उपलब्धता के कोई कार्य किया ही नहीं जा सकता, इसलिए बजट के माध्यम से कार्यपालिका प्रशासन पर पूर्ण नियंत्रण रख सकती है।

3. **नियुक्ति एवं निष्कासन-** कार्यपालिका के प्रशासन पर नियंत्रण का यह सबसे सशक्त माध्यम है। भारत में उच्च पदाधिकारियों की नियुक्ति में मंत्रीमण्डल की निर्णायक भूमिका होती है और इनमें से कई अधिकारियों को कार्यपालिका अपनी इच्छा से निष्कासित भी कर सकती है। अमेरिका में उच्च अधिकारियों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा सीनेट की स्वीकृति के बाद की जाती है, लेकिन उनके निष्कासन का अधिकार राष्ट्रपति को होता है।
4. **प्रदत्त विधि निर्माण-** संसद द्वारा कानूनों की रूपरेखा तैयार की जाती है तथा विवरण भरने का अधिकार कार्यपालिका को दे दिया जाता है। नियमों, उपनियमों, इत्यादि के निर्माण के माध्यम से कार्यपालिका, प्रशासन के ऊपर नियंत्रण रखती है।
5. **अध्यादेश-** संसदीय अधिवेशनों की मध्यावधि में आवश्यकता पड़ने पर राष्ट्रपति द्वारा अध्यादेश जारी किया जाता है। यह अधिनियम की तरह ही प्रभावशाली होता है। इससे कार्यपालिका द्वारा प्रशासन की गतिविधियों को नियंत्रित किया जाता है।
6. **लोक सेवा संहिता-** लोक सेवा संहिता के निर्माण में कार्यपालिका की अहम भूमिका होती है। इसमें वे नियम होते हैं जो प्रशासकों के सार्वजनिक आचरण को नियंत्रित करते हैं। इनका मुख्य उद्देश्य प्रशासकों को अनुशासित रखना तथा उन्हें जनहित की ओर प्रेरित करना होता है। भारत में ऐसे कुछ महत्वपूर्ण नियम है-
    - अखिल भारतीय सेवा (आचरण) नियम, 1954
    - केन्द्रीय लोक सेवा (आचरण) नियम, 1955
    - रेलवे सेवा (आचरण) नियम, 1956
7. **एजेंसियां-** मंत्रिमण्डलीय सचिवालय तथा प्रधानमंत्री कार्यालय जैसी एजेंसियों द्वारा भी कार्यपालिका, प्रशासन पर नियंत्रण रखा जाता है। आजकल इन एजेंसियों की भूमिका काफी महत्वपूर्ण हो गई है।

उपर्युक्त साधनों का प्रयोग कार्यपालिका द्वारा प्रशासन पर नियंत्रण रखने के लिए किया जाता है। परन्तु इन साधनों की प्रभावशीलता काफी हद तक मंत्री एवं सचिव के सम्बन्ध पर निर्भर करती है। मंत्रियों एवं सचिवों के बीच विवाद के बिंन्दु निम्नवत हैं-

1. एक-दूसरे की भूमिका में हस्तक्षेप के कारण विवाद उत्पन्न होते हैं।
2. स्थायी कार्यपालिका अर्थात लोक प्रशासकों का दृष्टिकोण, मंत्रियों की तुलना में अधिक व्यापक तथा दीर्घकालिक होता है।
3. कार्यक्रमों का निर्धारण करते समय जहाँ एक ओर प्रशासक कार्यक्रमों की तार्किककता और एकरूपता पर बल देते हैं, वहीं दूसरी ओर मंत्रीगण, कार्यक्रमों की लोकप्रियता पर बल देते हैं।
4. मंत्री एवं सचिव की सामाजिक एवं सांस्कृति पृष्ठभूमि में अन्तर होने पर भी दोनों की सोच में अन्तर देखने को मिलता है।

मंत्रियों एवं सचिवों को यह समझना चाहिये कि वे एक-दूसरे के सहकर्मी हैं तथा आपसी सहयोग के माध्यम से ही दोनों कोई सार्थक कार्य कर सकते हैं। प्रत्येक मंत्री को यह समझना चाहिये कि सचिव उसका अधीनस्थ नहीं है। वहीं हर सचिव को यह समझना चाहिये कि मंत्री उसका उच्च अधिकारी है। ऐसी भावना रखने से ही तालमेल संभव है। इस प्रकार कार्यकारी नियंत्रण को स्थापित करना भले ही कठिन हो, परन्तु इसका होना परमावश्यक है।

19.4 लोक प्रशासन पर न्यायिक नियंत्रण

प्रशासन पर न्यायिक नियंत्रण बाह्य नियंत्रण की श्रेणी के अन्तर्गत आता है। लोकतांत्रिक देशों में नागरिकों के अधिकारों तथा स्वतंत्रताओं की रक्षा का दायित्व न्यायपालिका के ऊपर होता है। इस दायित्व के निर्वहन के लिए न्यायपालिका द्वारा प्रशासन पर नियंत्रण रखा जाता है। जिससे प्रशासन अपनी शक्तियों का दुरूपयोग न कर सके। लेकिन न्यायपालिका की सहायता कुछ विशेष परिस्थितियों में ही प्राप्त की जा सकती है। प्रशासन पर नियंत्रण स्थापित करने के लिए न्यायपालिका के पास अनेक साधन होते हैं, जिनके प्रयोग की शक्ति उसे कानून से प्राप्त होती है।

19.4.1 न्यायिक नियंत्रण के तरीके

न्यायिक नियंत्रण के तरीके निम्नलिखित हैं-

1. **कार्यपालिका के कार्यों को असंवैधानिक घोषित करना-** विधायिका द्वारा कार्यपालिका को व्यवस्थापन की कुछ शक्तियाँ प्रत्यायोजित कर दी जाती हैं। इस प्रत्यायोजित शक्ति का प्रयोग करते हुये कार्यपालिका द्वारा किया गया कोई भी व्यवस्थापन, व्यवस्थापिका के अवसानकाल में जारी किया गया कोई भी अध्यादेश या अन्य कोई निर्णय यदि संविधान के अनुकूल नहीं है तो न्यायपालिका द्वारा उसे अवैध घोषित करके निरस्त किया जा सकता है। प्रत्यायोजन के सन्दर्भ में न्यायपालिका को यह निर्धारित करने का भी अधिकार होता है कि प्रत्यायोजन के लिए कानूनी सत्ता थी अथवा नहीं तथा किया गया व्यवस्थापन प्रत्यायोजित सीमा के अंतर्गत आता है या नहीं। इस प्रकार के निर्धारण के लिए न्यायपालिका द्वारा कुछ मापदण्ड भी स्थापित किये गए हैं।
2. **सरकार विरोधी अभियोग-** भारत में केन्द्र या किसी राज्य के द्वारा अथवा उसके विरूद्ध अभियोग लगाया जा सकता है। जिन परिस्थितियों में ऐसा किया जायेगा उनका निर्धारण केन्द्र अथवा राज्य की व्यवस्थापिकाओं द्वारा किया जाएगा। ऐसे में अंतिम रूप में न्यायालय का निर्णय ही मान्य होता है।

   यदि किसी भी अधिकारी द्वारा किसी नागरिक के अधिकारों का हनन हो रहा हो तो वह नागरिक न्यायालय की शरण ग्रहण कर सकता है। ऐसे में अधिकारी के विरूद्ध नागरिक को अधिकार दिलाने का दायित्व न्यायपालिका का होता है। राष्ट्रपति तथा न्यायाधीश जैसे उच्च अधिकारियों को केवल व्यवस्थापिका द्वारा महाभियोग के माध्यम से ही उनके पद से हटाया जा सकता है। भारत में अन्य सार्वजनिक अधिकारियों को अन्य नागरिकों की भाँति ही कानून के अधीन रखा गया है।
3. **असाधारण उपचार-** प्रशासन द्वारा शक्ति के दुरूपयोग की स्थिति में न्यायपालिका द्वारा कुछ लेख या समादेश जारी किये जाते हैं। भारत में ऐसे पांच लेख उच्च तथा उच्चतम न्यायालय द्वारा नागरिक अधिकारों के हनन को रोकने के लिए जारी किये जा सकते हैं, जो निम्नलिखित हैं-
   - **बंदी प्रत्यक्षीकरण-** यह लेख उस व्यक्ति को जारी किया जाता है, जिसने किसी अन्य व्यक्ति को बंदी बना रखा हो। इसका शाब्दिक अर्थ होता है- 'सशरीर प्रस्तुत करना'। यह लेख बंदी व्यक्ति को न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत करने के लिए जारी किया जाता है। यदि बंदी बनाया जाना अवैधानिक पाया गया तो न्यायालय उस व्यक्ति की रिहाई का आदेश दे सकता है। नागरिक स्वतंत्रता को सुनिश्चित करने का यह सबसे सशक्त माध्यम है।
   - **परमादेश-** यह लेख सरकारी अधिकारियों को जारी किया जाता है। इसके रूप में सरकारी अधिकारी को अपने उन कर्तव्यों का पालन करने का आदेश दिया जाता है, जिसका निर्वहन उसने न किया हो।

- **निषेधाज्ञा-** यह लेख उच्चतर न्यायालय द्वारा निचले न्यायालय को जारी किया जाता है, जब निचला न्यायालय अपने अधिकार-क्षेत्र का अतिक्रमण करता है। यह लेख केवल न्यायिक एवं अर्द्धन्यायिक अधिकारियों को जारी किया जा सकता है।
- **उत्प्रेषण-** यह लेख उच्चतर न्यायालय द्वारा निचले न्यायालय को जारी किया जाता है। इसके माध्यम से उच्चतर न्यायालय, निचले न्यायालय से किसी मामले की कार्यवाही के अभिलेखों की मांग करता है, जिससे उस कार्यवाही की वैधानिकता निर्धारित की जा सके तथा मामले का परिपूर्ण ढंग से निपटारा किया जा सके। यह लेख निवारक और उपचारात्मक दोनों है।
- **अधिकार पृच्छा-** इस लेख के द्वारा न्यायालय उस दावे की वैधता के सम्बन्ध में प्रश्न करता है, जिसे कोई पक्ष किसी पद या विशेषाधिकार के प्रति करता है।

उपर्युक्त पांच लेखों के अलावा एक लेख और होता है- निषेधाज्ञा, किसी काम को करने या न करने के लिए जारी किया जाने वाला लेख।

19.4.2 क्षेत्र विस्तार

प्रशासनिक कार्यों में न्यायपालिका निम्न परिस्थितियों में ही हस्तक्षेप कर सकती है-

1. जब प्रशासक अधिकार के बिना या अधिकार क्षेत्र से बाहर कार्य करता है (प्राधिकार की अति)।
2. जब प्रशासक कानून की गलत व्याख्या करता है (प्राधिकार की भ्रांति)।
3. जब प्रशासक तथ्यों की खोज में भूल करें।
4. जब प्रशासक प्राधिकार का प्रयोग किसी को क्षति पहुँचाने के लिए करें।
5. जब प्रशासक निर्धारित प्रक्रिया का पालन नहीं करता।

19.4.3 न्यायिक नियंत्रण की सीमाऐं

न्यायिक नियंत्रण की कुछ सीमाऐं निम्नलिखित हैं-

1. न्यायपालिका स्वतः तब तक हस्तक्षेप नहीं कर सकती, जब तक न्याय की मांग न की जाये। जनहित याचिका के चलन से इस स्थिति में परिवर्तन आया है।
2. न्याय प्रक्रिया जटिल एवं खर्चीली तथा न्यायालयों पर कार्य का अत्यधिक बोझ होने के कारण न्याय मिलने में समस्या। सुझाव-लोक अदालतों का गठन, कानूनी सहायता, आदि।
3. न्यायपालिका तथा प्रशासन के दृष्टिकोणों में अन्तर के कारण कई गैर-जरूरी विवाद।
4. संसद के विशेष अधिवेशन के माध्यम से न्यायिक समीक्षा के अधिकार को सीमित किया जा सकता है।

अभ्यास प्रश्न-

1. विधायिका का मुख्य कार्य क्या है?
2. संसदीय प्रणाली में कार्यपालिका विधायिका के प्रति उत्तरदायी होती है। सत्य/असत्य
3. संविधान की रक्षा का दायित्व न्यायपालिका पर होता है। सत्य/असत्य
4. निषेधाज्ञा किसी भी प्रशासनिक अधिकारी को जारी की जा सकती है। सत्य/असत्य
5. सरकार के विरूद्ध भी अभियोग लगाया जा सकता है। सत्य/असत्य

19.5 सारांश

प्रशासन को प्राप्त शक्तियों एवं अधिकारों को ध्यान में रखते हुए यह आवश्यक हो जाता है कि प्रशासन पर पर्याप्त नियंत्रण भी स्थापित किया जाए। लोकतांत्रिक देशों में क्योंकि शक्ति अंतिम रूप में जनता में निवास करती है,

इसलिए यह आवश्यक हो जाता है कि प्रशासन पर नियंत्रण स्थापित कर उसे अपनी शक्ति के दुरूपयोग से रोका जाए, ताकि जनता की स्वतंत्रता एवं सुरक्षा को सुनिश्चित किया जा सके।

सरकार के तीनों अंगों- विधायिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका द्वारा प्रशासन पर नियंत्रण स्थापित किया जाता है। इस प्रकार के नियंत्रण की प्रकृति विभिन्न शासन प्रणालियों में भिन्न प्रकार की होती है। प्रशासन पर विधायिका एवं न्यायपालिका का नियंत्रण बाह्य नियंत्रण की श्रेणी में आता है जिसका मुख्य उद्देश्य जनता की स्वतंत्रता तथा सुरक्षा को सुनिश्चित करना होताहै। प्रशासन पर कार्यपालिका का नियंत्रण आंतरिक नियंत्रण की श्रेणी में आता है, जिसका मुख्य उद्देश्य प्रशासन में अनुशासन तथा कार्यकुशलता को सुनिश्चित करना होता है।

प्रशासन पर स्थापित नियंत्रण कभी भी पूर्ण नहीं होता। इसकी अनेक सीमाऐं होती हैं। यही कारण है कि इतने नियंत्रण के बाद भी प्रशासक अपनी शक्तियों का दुरूपयोग करने में सक्षम हो जाते हैं। नियंत्रण स्थापित करने वाले निकायों की अपनी खुद की खामियाँ भी प्रशासन पर नियंत्रण को कमजोर बनाती हैं। सचरित्र व्यक्ति ही खुद नियंत्रण में रह सकते हैं तथा दूसरों को भी नियंत्रण में रख सकते हैं।

19.6 शब्दावली

न्यायिक पुर्नरीक्षण- न्यायपालिका द्वारा नीतियों की संवैधानिकता का निर्धारण, सम्प्रभुता- सर्वोच्च शक्ति, प्रत्यायोजन- सत्ता का हस्तांतरण, लालफीताशाही- प्रशासनिक कार्यों में अनावश्यक विलम्ब, अधीनस्थ- पदानुक्रम में नीचे का अधिकारी।

19.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. कानून निर्माण, **2.**सत्य, **3.** सत्य, **4.** असत्य, **5.** सत्य

19.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. शर्मा, प्रभुदत्त एवं शर्मा, हरिश्चन्द्र (1999), लोक प्रशासन: सिद्धान्त एवं व्यवहार, जयपुर: कालेज बुक डिपो।
2. लक्ष्मीकान्त, एम0 (2010), लोक प्रशासन, नई दिल्ली: टाटा मॅक्ग्राहिल।

19.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. अवस्थी, अम्रेश्वर एवं माहेश्वरी, श्रीराम (2002), लोक प्रशासन, आगरा: लक्ष्मी नारायण अग्रवाल।
2. फाड़िया, बी0 एल0 (2008), लोक प्रशासन, आगरा: साहित्य भवन पब्लिकेशन।

19.10 निबंधात्मक प्रश्न

1. लोकतांत्रिक देशों में प्रशासन पर नियंत्रण की आवश्यकता पर प्रकाश डालिये।
2. प्रशासन पर विधायी और कार्यकारी नियंत्रण पर विस्तार से चर्चा कीजिये।
3. न्यायिक सक्रियता के सन्दर्भ में प्रशासन पर न्यायिक नियंत्रण का मूल्यांकन कीजिए।
4. न्यायालय द्वारा जारी किये जाने वाले लेखों के महत्व को दर्शाते हुये इनका विस्तार से वर्णन कीजिए।

इकाई- 20 प्रबन्ध, सहभागी प्रबन्ध और अच्छे प्रबन्ध की कसौटियाँ

इकाई की सरंचना

20.0 प्रस्तावना
20.1 उद्देश्य
20.2 प्रबन्ध
20.2.1 प्रबन्ध का अर्थ एवं परिभाषा
20.2.2 प्रबन्ध की विशेषताऐं
20.2.3 प्रबन्ध के स्तर
20.2.4 प्रबन्ध के क्षेत्र
20.2.5 भारत के प्रशासनिक संगठनों में प्रबन्ध के बढते महत्व के कारण
20.3 प्रबन्ध की प्रकृति
20.3.1 क्या प्रबन्ध एक कला है?
20.3.1.1 प्रबन्ध की कला के रूप में कसौटी
20.3.2 क्या प्रबन्ध एक विज्ञान है?
20.3.2.1 प्रबन्ध का विज्ञान के रूप में कसौटी
20.3.2.2 प्रबन्ध विज्ञान को एक शुद्ध विज्ञान ना मानने के कारण
20.3.3 प्रबन्ध कला एवं विज्ञान दोनों रूपों में
20.4 प्रबन्ध के स्वरूप
20.5 सहभागी प्रबन्ध
20.5.1 सहभागी प्रबन्ध की परिभाषाऐं
20.5.2 सहभागी प्रबन्ध की विशेषताऐं
20.5.3 सहभागी प्रबन्ध की अवधारणा की मान्यताऐं
20.5.4 सहभागी प्रबन्ध के उद्देश्य
20.6 अच्छे प्रबन्ध की कसौटियाँ
20.7 सारांश
20.8 शब्दावली
20.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
20.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
20.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
20.12 निबंधात्मक प्रश्न

20.0 प्रस्तावना

प्रबन्ध एक ऐसी रणनीति है, जिसके सुव्यवस्थित क्रियान्यवयन से विकासशील होने की अवधारणा को विकसित अवधारणा में परिवर्तित किया जा सकता है। भारत में प्रबन्ध को कला एवं विज्ञान दोनों ही दृष्टिकोणो से मान्यता दी जाती है। ऐसी मान्यता है कि प्रबन्ध प्रशासन के पूर्व निर्धारित उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिये आवश्यक कारकों में अनुकूल समन्वय स्थापित करता है, जिससे कार्य-निष्पादन उचित परिणाम दे सकें। प्रस्तुत इकाई प्रबन्ध की इस

आवधारणा को विस्तार से प्रस्तुत करेगी, साथ ही सहभागी प्रबन्ध एवं सुव्यवस्थित प्रबन्ध की विभिन्न कसौटियों को भी प्रस्तुत करने का प्रयास करेगी।

20.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- प्रबन्ध के अर्थ एवं परिभाषा को जान पायेंगे।
- सहभागी प्रबन्ध की विवेचना कर पायेंगे।
- प्रभावी एवं सुव्यावस्थित प्रबन्ध की विभिन्न कसौटियों को आत्मसात कर पायेंगे।

20.2 प्रबन्ध

प्रबन्ध विचारधारा का उद्-गम कब और कहाँ से हुआ? इस विषय में स्पष्ट रूप से तो कुछ नहीं कहा जा सकता। लेकिन इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि प्रबन्ध प्राचीन काल से ही विद्यमान रहा है। बदलती हुई सभ्यता तथा विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के बढ़ते विकास के अनुसार ही वांछित उत्पादन की प्राप्ति हेतु एक प्रबन्ध एवं परिणामोमुखी प्रबन्ध की आवश्यकता होती है, जिससे कर्मचारियों को सक्रिय योगदान हेतु प्रेरित करते हुए अधिक से अधिक परिणाम प्राप्त किये जा सके। आजकल प्रौद्योगिकी के साथ-साथ उद्योगों में मानवीय तत्वों पर भी अधिक ध्यान दिया जा रहा है। अतः प्रबन्ध संबंधी अवधारणा कोई नयी अवधारणा नहीं है। प्रबन्ध विचारधारा के इतिहास को तीन भागों में बांटा जा सकता है। पहला- आदिकाल, दूसरा- मध्यकाल तथा और तीसरा- आधुनिक काल।

20.2.1 प्रबन्ध का अर्थ एवं परिभाषा

सामान्य तौर पर औद्योगिक प्रतिष्ठानों में उत्पादन हेतु विभिन्न क्रियाओं को सफलतापूर्वक सम्पादित कराने की प्रक्रिया को ही प्रबन्ध कहते हैं, जिसके माध्यम से प्रतिष्ठान को सुव्यवस्थित, संगठित तथा क्रमबद्ध किया जाता है। इसके द्वारा आवश्यक गतिविधियों का नियोजन, समन्यवन तथा नियन्त्रण करके उद्देश्यों को प्राप्त किया जाता है। प्रबन्ध कामगार, पदार्थ तथा मशीनों आदि का कुशलतापूर्वक सदुपयोग करते हुए उत्पादन में अधिकता हेतु निरन्तर कार्यरत रहता है।

एक सफल प्रबन्ध हेतु कामगार, पदार्थ तथा मशीनों के उपयोग का सही नियोजन, उचित नियन्त्रण व सन्तुलित समन्वय में रखने का प्रयास करते रहना चाहिये, ताकि पदार्थ व श्रम-समय की बचत करते हुए लागत में कमी लायी जा सके। श्रमिकों की दक्षता में वृद्दि करने हेतु आवश्यक मानवीय तत्वों पर अधिक बल देना चाहिए। उन्हें औसत से अधिक उत्पादन देने पर आर्थिक लाभ पहुँचाकर और अधिक दक्षतापूर्वक कार्य करने के लिये प्रेरित करते रहना चाहिये, जिससे उनमें उद्योगों के प्रति निष्ठा उत्पन्न हो। आज प्रबन्ध को अनेक अर्थों में लिया जा रहा है, जैसे-

1. हेनरी फयोल, प्रबन्ध को प्रक्रिया के रूप में मान्यता देते हैं।
2. एप्पले प्रबन्ध को मानव विकास के अर्थों से सजाते हैं।
3. रांस तथा मूरे प्रबन्ध को निर्णयम के रूप में मान्यता देते हैं।
4. टेलर प्रबन्ध को उत्पादकता बढ़ाने की क्रिया के रूप में स्थापित करते हैं।
5. कला एवं विज्ञान के रूप में किम्बाल एवं किम्बाल, पीटर ड्रकर, आदि विद्वान इसे मान्य करते है।
6. कुछ लोग प्रबन्ध को पेशे के रूप में मानकर चल रहे हैं।
7. न्यूमेन एवं समर प्रबन्ध को व्यक्तियों का विकास वाली नयी विचारधारा को मानते हैं।

इस प्रकार प्रबन्ध मूलभूत रूप से मानव से सम्बंधित होने के कारण एक सामाजिक विज्ञान है। अन्य सामाजिक विज्ञानों की तरह प्रबन्ध की भी ऐसी कोई निश्चित परिभाषा देना कठिन है जो कि सर्वमान्य हो। यही कारण है कि भिन्न-भिन्न प्रबन्ध विद्वानों ने प्रबन्ध की विभिन्न परिभाषाऐं स्थापित की हैं। प्रबन्ध की इन परिभाषाओं को समझने तथा विश्लेषित करने का प्रयास करें-

पीटर एफ0 ड्रकर के अनुसार, ''प्रबन्ध प्रत्येक व्यवसाय का गत्यात्मक तथा जीवन प्रदायिनी अवयव है। इसके नेतृत्व के अभाव में उत्पत्ति के साधन केवल साधन-मात्र रह जाते हैं, कभी भी उत्पादन नहीं बन पाते हैं।''

अमरीकी प्रबन्ध समिति के अनुसार "प्रबन्ध मानवीय तथा भौतिक साधनों को क्रियाशील संगठनों की इकाइयों में लगाता है, जिसका उद्देश्य व्यक्तियों को संतोष प्रदान करना तथा सेवकों में नैतिक स्तर तथा कार्य पूरा करने का उत्तरदायित्व उत्पन्न करना है।"

प्रोफेसर एडविन एम0 रोबिन्सन के अनुसार, ''कोई भी व्यवसाय स्वयं नहीं चल सकता, चाहे वह किसी स्थिति में ही क्यों न हो। उसके लिए इसे नियमित उद्दीपन की आवश्यकता पड़ती है।''

टेलर के अनुसार, प्रबन्ध के मूल सिद्धान्त समस्त मानवीय क्रियाओं पर सरल व्यक्तिगत कार्यों से लेकर महान नियमों के कार्यों तक लागू होते हैं।

हेनरी फेयोल के अनुसार, प्रबन्ध एक सार्वभौमिक क्रिया है, जो प्रत्येक संस्था में चाहे वह आर्थिक हो या सामाजिक, धार्मिक हो या राजनीतिक, पारिवारिक हो या व्यावसयिक, समान रूप से सम्पन्न की जाती है।

एफ0 डब्ल्यू0 टेलर के अनुसार, ''प्रबन्ध यह जानने की कला है कि आप क्या करना चाहते हैं? तत्पश्चात यह देखना कि वह सर्वोत्तम एवं मितव्ययितापूर्ण सम्पन्न किया जाता है।''

किम्बाल एवं किम्बाल के अनुसार, प्रबन्ध कार्य निष्पादन की सर्वोत्तम एवं मितव्ययितापूर्ण विधि की खोज करता है। इसके अनुसार प्रबन्ध का प्रमुख कार्य उत्पादन के साधनों का कुशलतम उपयोग करते हुए न्यूनतम लागत पर अधिकाधिक कार्य कराना है।

विलियम एफ0 ग्लूक के अनुसार, ''उपक्रम के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए मानवीय एवं भौतिक साधनों का प्रभावी उपयोग ही प्रबन्ध है।''

प्रो0 जॉन एफ0 मीके शब्दों में, ''प्रबन्ध न्यूनतम प्रयास द्वारा अधिकतम परिणाम प्राप्त करने की कला है, जिससे नियोक्ता एवं कर्मचारी दोनों के लिए अधिकतम समृद्धि एवं खुशहाली प्राप्त की जा सके तथा जनता को सर्वश्रेष्ठ सम्भव सेवा प्रदान की जा सके।''

उपरोक्त परिभाषाओं के विवेचनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रबन्ध एक कलात्मक एवं वैज्ञानिक प्रक्रिया है, जो संस्था के निर्धारित लक्ष्यों एवं उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए मानवीय सामूहिक प्रयासों का नियोजन, संगठन, निर्देशन एवं नियंत्रण के वातावरण की अपेक्षाओं के अनुरूप दक्षतापूर्वक एवं प्रभावी ढंग से करती है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि व्यवसाय के कुशल संचालन तथा उत्पत्ति के भौतिक एवं मानवीय साधनों के सर्वोत्तम उपयोग के लिए स्वस्थ प्रबन्ध अति आवश्यक है। यह एक सतत् प्रक्रिया है, जिसमें निर्धारित उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु नियोजन, संगठन, नेतृत्व, भर्ती एवं नियंत्रण के द्वारा संस्था के मानवीय एवं भौतिक साधनों के मध्य समन्वय स्थापित किया जाता है। वास्तव में यह प्रशासन का हृदय होता है।

20.2.2 प्रबन्ध की विशेषताऐं

विभिन्न विद्वानों द्वारा प्रबन्ध के सम्बन्ध में दी गई उपर्युक्त परिभाषाओं का अध्ययन करने से इसकी निम्नलिखित विशेषताओं का निरूपण किया जा सकता है। आइये इन्हें क्रमबद्ध ढंग से समझने का प्रयास करें-

1. प्रबन्ध एक ऐसी क्रिया है, जो कि मनुष्य द्वारा सम्पन्न की जाती है। यह एक सतत् चलने वाली प्रक्रिया है।
2. प्रबन्ध एक सामाजिक प्रक्रिया है, जो आम आदमी से सम्बन्धित होती है।

3. प्रबन्ध के अन्तर्गत एक व्यक्ति विशेष को महत्व न देकर समूह को महत्व दिया जाता है, अतः प्रबन्ध एक समूहिक प्रक्रिया है ।
4. प्रबन्ध में कला तथा विज्ञान दोनों की विशेषताएँ पायी जाती हैं।
5. प्रबन्ध एक पेशा है, क्योंकि इसका भी अपना एक शास्त्र है, जिसके सिद्धान्त, नीतियाँ एवं नियम हैं। इनका ज्ञान शिक्षण एवं पूर्व प्रशिक्षण द्वारा प्राप्त किया जाता है तथा प्रबन्धक इस ज्ञान का प्रयोग अपने उपक्रम के लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए करते हैं।
6. समूह के प्रयासों से संस्था द्वारा पूर्व निर्धारित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए निर्देशित किया जाता है।
7. प्रबन्ध का अस्तित्व अलग होता है, क्योंकि इसके अन्तर्गत स्वयं कार्य नहीं किया जाता, अपितु दूसरों से कार्य कराया जाता है।
8. प्रबन्ध की आवश्यकता सभी स्तरों पर होती है। यथा उच्चस्तरीय, मध्यस्तरीय व निम्नस्तरीय।
9. प्रबन्धकीय सिद्धान्त तथा कार्य सभी प्रकार के संगठनों में समान रूप से लागू होते हैं।
10. प्रबन्ध को सार्वभौमिक प्रक्रिया इसलिए भी कहा जाता है कि प्रबन्धकीय ज्ञान के सीखने तथा सिखाने की प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है।
11. प्रबन्धक का स्वामी होना अनिवार्य है। पेशेवर प्रबन्ध की स्थिति में प्रबन्धक प्रायः स्वामी नहीं होते।
12. प्रबन्ध की उपस्थिति को उपक्रम के प्रयासों के परिणाम, व्यवस्था, अनुशासन व उत्पादन के रूप में अनुभव किया जा सकता है। अतः यह एक अदृश्य प्रक्रिया है।
13. 'प्रबन्ध, समन्वय प्रबन्ध का सार है' अतः प्रबन्ध को समन्वयकारी क्रिया कहा जा सकता है।
14. यह एक साधारण कला नहीं है। इसके लिए अनुभव, ज्ञान एवं चातुर्य की आवश्यकता होती है, प्रबन्ध का पृथक एवं भिन्न अस्तित्व है।
15. प्रबन्ध क्रिया को सम्पन्न करने के लिए विशेष योग्यता की आवश्यकता होती है। तकनीकी दृष्टि से निपुण एवं अनुभवी व्यक्ति ही किसी संस्था की व्यवस्था का संचालन कर सकते हैं।
16. प्रबन्ध पारिस्थितिक होता है। यह आन्तरिक तथा बाहरी दोनों ही वातावरण से निरन्तर प्रभावित होता है।
17. प्रबन्ध सृजनात्मक कार्य है, जो अपेक्षित परिणामों को प्राप्त करने के लिए साधन जुटाता है।
18. प्रबन्ध केवल किसी विशिष्ट कार्य, उपक्रम अथवा देश तक सीमित न रहकर सभी उपक्रमों एवं सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त है। जिसके कारण यह सार्वभौमिक पद्धति है।

20.2.3 प्रबन्ध के स्तर

अभी तक के विवेचन से आप यह अच्छी तरह जान चुके हैं कि प्रबन्ध एक सार्वभौमिक प्रक्रिया है। प्रबन्ध वैज्ञानिकों के अनुसार इसके कई स्तर होते हैं। यथा उच्च, मध्य, निम्न तथा परिचालन स्तर।

उच्च स्तर, उच्च प्रबन्धक के अन्तर्गत बोर्ड ऑफ डायरेक्टर्स, मैनेजिंग डायरेक्टर्स, मुख्य कार्यपालक अधिकारी, मालिक तथा शेयर धारकों को सम्मिलित किया जाता है। उच्च प्रबन्ध हेतु निम्नलिखित कार्य को सम्मिलित किया गया है-

1. संगठन के उद्देश्यों और लक्ष्यों का आपसी सहमति से निर्धारण।
2. उद्देश्यों और लक्ष्यों के अनुरूप दीर्घावधि के लिये नियोजन करना।
3. स्थायी नीतियों का निर्माण कर उनके कार्यान्यिवयन का अनुश्रवण करना।
4. संगठन प्रणाली का अभिकल्पन सुनिश्चित करना।
5. समस्त कार्यों के लिये उचित मात्रा की उपलब्धता सुनिश्चित करना।

मध्य स्तर, इसके अन्तर्गत बिक्री-कार्यपालक/प्रबन्धक, उत्पादन कार्यपालक, वित्त कार्यपाल, लेखा कार्यपालक, शाखा प्रबन्धक तथा शोध व विकास कार्यपालक को सम्मिलित किया जाता है। मध्य स्तरीय प्रबन्ध के सदस्यों के लिये निम्नलिखित कार्यों का निर्धारण किया गया है-

1. संगठन के स्थापित उद्देश्यों एवं लक्ष्यों का क्रियान्यवयन करना।
2. निम्नतर प्रबन्ध स्तर के कर्मचारियों का चयन, प्रशिक्षण आदि की व्यवस्था करना।
3. विभिन्न विभागों की स्थापना, कार्यों का विभक्तीकरण एवं नियंत्रण की व्यवस्था करना।
4. कार्यकारी नीतियों एवं लघु अवधि के उद्देश्यों का निर्धारण एवं क्रियान्यवयन सुनिश्चित करना।
5. संगठन को सुव्यवस्थित, सुसंगठित तथा नियमानुसार संचालन की व्यवस्था करना।
6. प्रमुख नीतियों में विभागों के मध्य समन्वयकारी निर्णयों को अन्तिम स्वरूप प्रदान करना।
7. संगठन के लिये समर्पित टीम भावना का निर्माण करना।
8. संगठन के विभिन्न प्रबन्धक स्तरों के मध्य समन्वय स्थापित करना।
9. कर्मचारियों के विकास के लिए प्रशिक्षण आयोजित करना।

निम्न स्तर, प्रबन्ध स्तरीय संरचना के इस भाग में अधीक्षक, मुख्य पर्यवेक्षक, फोरमैन, निरीक्षक आदि, महत्वपूर्ण कार्यकताओं को सम्मिलित किया जाता है। वास्तव में यह प्रबन्ध का अति महत्वपूर्ण स्तर होता है। विद्वानों ने इस स्तर के लिये निम्नलिखित कार्यों का निर्धारण किया है-

1. कर्मचारियों के अन्तिम कार्य निष्पादन का पर्यवेक्षण करना।
2. कार्य विधियों तथा प्रक्रियाओं के अनुसार कार्य की गुणात्मक प्रकृति सुनिश्चित कर, प्रक्रियाओं के निरीक्षक कार्य को प्रभावी ढंग से सम्पादन करना।
3. कर्मचारियों के कल्याणार्थ प्रावधानों को करवाना।
4. शीर्ष तथा मध्य स्तरीय प्रबन्ध की योजनाओं और नीतियों का क्रियान्यवयन करना।
5. कर्मचारियों की भावनाओं को शीर्ष तथा मध्य प्रबन्ध तक पहुँचा कर उनके मध्य सेतु का कार्य करना।

उपरोक्त तीनों ही स्तर के पश्चात वह स्तर आता है, जो अन्तिम रूप से कार्यों का निस्पादन कर संस्था के उद्देश्यों को लक्ष्यानुसार पूर्ण कराते हैं। इन्हें परिचालन बल या कर्मचारी समूह के नाम से सम्बोधित किया जाता है। विद्वानों के अनुसार इनके लिये निम्नलिखित प्रकार के कार्यों को आवंटित किया गया है। पहला- मशीनों और उपकरण के सहयोग से कार्यों का सुव्यवस्थित रूप से अन्तिम निष्पादन, और दूसरा- अन्य नये कामगारों को कार्य की प्रकृति का संक्षिप्त प्रशिक्षण एवं कार्यात्मक वातावरणीय सहयोग।

प्रबन्ध के उपरोक्त स्तरों से सम्बन्धित कार्यों पर दृष्टि डालने से यह तो निश्चित ही समझ में आता है कि प्रबन्ध के कार्यों को क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है, इसलिये प्रबन्ध के क्षेत्र का सीमांकन निर्धारण करना अत्यंत कठिन कार्य है, क्योंकि व्यवसाय में हर कदम पर कुशल प्रबन्ध की आवश्यकता पड़ती है।

20.2.4 प्रबन्ध के क्षेत्र

भारतीय कार्यात्मक पर्यावरण के अन्तर्गत इसके निम्नलिखित क्षेत्रों का निर्धारण किया जाता है। इसे समझने का प्रयास करें-

1. **विकास प्रबन्ध-** यह प्रबन्ध का महत्वपूर्ण अंग है। इसके अंतर्गत सामग्री, मशीनें, प्रतिक्रियाएं, औद्योगिक प्रक्रियाओं व उपभोक्ता की मांग तथा उत्पादन का सम्बन्ध आदि को सम्मिलित किया जाता है।

2. **कर्मचारी प्रबन्ध-** इस प्रबन्ध के अन्तर्गत श्रम शक्ति का अनुमान, कर्मचारियों का चयन, नियुक्ति, प्रशिक्षण, हस्तान्तरण तथा सामाजिक सुरक्षा से सम्बन्धित क्रियाओं को सम्मिलित किया जाता है। इसके अन्तर्गत अच्छे कर्मचारियों की पदोन्नति का ध्यान भी रखा जाता है।
3. **वित्तीय प्रबन्ध-** प्रबन्ध के इस क्षेत्र के अन्तर्गत संगठन के वित्तीय सम्बन्धी मुद्दों पर निर्णय किया जाता है। इसमें आर्थिक पूर्वानुमान, लेखापालन, लागत नियंत्रण, सांख्यिकी नियंत्रण, बजट नियंत्रण, वित्तीय योजना, आय का प्रबन्ध तथा वित्तीय समस्याओं के निर्धारण का कार्य किया जाता है।
4. **उत्पादन प्रबन्ध-** इसके अन्तर्गत संगठन के उत्पादन सम्बन्धी प्रबन्ध को सम्मिलित किया जाता है।
5. **वितरण प्रबन्ध-** इसके अन्तर्गत वस्तु विपणन, अन्वेषण एवं अनुसंधान, मूल्य निर्धारण, आन्तरिक बाजार एवं निर्यात बाजार, विपणन का जोखिम तथा उनकी रोकथाम, विक्रय संवर्द्धन की व्यवस्था आदि को सम्मिलित किया जाता है।
6. **परिवहन प्रबन्ध-** परिवहन भी प्रबन्ध का एक महत्वपूर्ण वर्ग है। इसके अन्तर्गत पैकिंग, गोदामों तथा आवश्यक सामग्रियों के लाने-ले जाने के लिए विभिन्न माध्यमों, यथा- सड़क, रेल, वायु, जल आदि को सम्मिलित किया जाता है।
7. **क्रय प्रबन्ध-** क्रय प्रबन्ध के अन्तर्गत संगठन हेतु आवश्यक सामग्रियों का सस्ती से सस्ती कीमत एवं उच्च गुणवत्ता पर खरीदने, इनका रख-रखाव तथा सामग्री-नियंत्रण आदि को सम्मिलित किया जाता है। इसी क्रम में सामग्रियों के सप्लायर्स से टेण्डर आमंत्रित करना, आदेश देना, अनुबन्ध करना, आदि कार्यों को भी सुव्यवस्थित रूप से किया जाता है।
8. **संस्थापन प्रबन्ध-** प्रबन्ध के इस प्रकार्य के अन्तर्गत भवन, मशीनों, उपकरणों आदि के रख-रखाव का उत्तरदायित्व निभाया जाता है। किसी संगठन में नवाचार का दायित्व भी इसी अनुभाग का होता है।
9. **कार्यालय प्रबन्ध-** यह प्रबन्ध का अन्तिम वर्ग है। इसके अन्तर्गत कार्यालय सम्बन्धी कार्यों का प्रबन्ध किया जाता है। जिसमें सन्देश वाहक उपकरण, अभिलेख व्यवस्था, कार्यालय का सुव्यस्थित संचालन, नियोजन तथा तथा नियन्त्रण आदि को सम्मिलित किया जाता है।

जैसा कि हम विवेचित कर चुके हैं कि दूसरे व्यक्तियों से कार्य कराने की क्रिया को ही प्रबन्ध की संज्ञा दी जाती है। दूसरे सरल शब्दों में, प्रबन्ध के अन्तर्गत दूसरे व्यक्तियों से इस प्रकार कार्य कराया जाता है, जिससे उपलब्ध संसाधनों का अधिक से अधिक एवं मितव्ययी उपयोग किया जा सके। जिससे संस्था के उद्देश्यों को प्राप्त करने में न्यूनतम लागत के सिद्धान्त का पालन किये जा सके।

प्रबन्ध, प्रत्येक संगठन का गतिशील एवं जीवनदायनी तत्व है। उसके नेतृत्व के अभाव में उपलब्ध संसाधन केवल ‘साधन मात्र’ ही रह जाते हैं, कभी लक्षित उत्पादन नहीं कर पाते। अतः प्रबन्ध, संगठन की वह जीवनदायिनी शक्ति है इसे वह सुव्यवस्थित करता है, संचालित करता है और नियन्त्रण में रखता है। कुछएक प्रबन्ध वैज्ञानिकों का मत है कि प्रबन्ध एक ऐसी कला है, जिसके द्वारा सुव्यवस्थित ढंग से किसी की नीतियों का निर्धारण एवं क्रियान्यवयन किया जाता है तथा इन नीतियों के अनुरूप ही मानवीय क्रियाओं को निर्देशित एवं नियन्त्रित करके पूर्व निर्धारित उद्देश्यों की प्राप्ति की जाती है।

इस प्रकार प्रबन्ध पूर्व-निर्धारित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिय अन्य व्यक्तियों के कार्यों का मार्ग-दर्शन, नेतृत्व एवं नियन्त्रण करता है। वस्तुतः प्रबन्ध एक कलात्मक एवं वज्ञानिक प्रक्रिया है, जो संस्था के पूर्व-निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये विभिन्न व्यक्तियों के व्यक्तिगत एवं सामूहिक प्रयासों के नियोजन, संगठन, निर्देशन, समन्वय, नियन्त्रण अभिप्रेरण एवं निर्णयन से सम्बन्ध रखता है।

20.2.5 भारत के प्रशासनिक संगठनों में प्रबन्ध के बढते महत्व के कारण

भारत में प्रशासनिक संगठनों में प्रबन्ध के बढ़ते हुए महत्व के निम्नलिखित कारणों को क्रमबद्ध किया जाता है। इन्हें समझने का प्रयास करते हैं-

1. गरीबी की समस्या का समाधान कर रोजगार सृजन हेतु।
2. पूँजी निर्माण की दर में वृद्धि करने के लिए, जिससे विकास कार्यों के लिये पर्याप्त पूँजी उपलब्ध कराई जा सके।
3. कर्मचारियों की कार्यकुशलता में वृद्धि करने के लिए, जिससे उत्पादकता में गुणात्मक वृद्धि हो सके।
4. श्रम समस्याओं के समाधान तथा मानव संसाधन विकास हेतु।
5. वैज्ञानिक एवं तकनीकी विकास के नये आयामो से अपनी जीवन-शैली में नवाचार लाना।
6. नियोजित अर्थव्यवस्था को नियोजित कर अधिकतम 10 प्रतिशत की विकास दर की प्राप्ति।
7. अप्रयुक्त संसाधन के कुशल प्रयोग हेतु।
8. अपने सामाजिक दायित्वों को आत्मसात् कर, समाज के अन्तिम प्राणी का विकास सुनिश्चित कर उसे विकास की मुख्य धारा से जोड़ना।

उपर्यक्त निर्वचन से यह स्पष्ट है कि भारत में प्रबन्ध का महत्व निरन्तर बढ़ रहा है। प्रबन्ध की रणनीतियों का सुव्यवस्थित एवं प्रभावी प्रयोग से ही भारत अपनी अधिकतम समस्याओं पर सफलता प्राप्त कर सकता हैं। आरम्भिक चरण में, प्रबन्ध केवल नियोक्ता के प्रति ही उत्तरदायी होता था, किन्तु आज यह सम्पूर्ण समाज के प्रति उत्तरदायी है।

भारत में आज भी प्रशासकीय प्रबन्धकों का भारी अभाव है। यही कारण है कि आज पंचवर्षीय योजनाओं के क्रियान्यवयन तथा मनेरेगा जैसी योजनाओं में भी प्रबन्ध के विकास को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। आज के युग में प्रबन्ध अपने संगठन से सम्बधित सेवाओं तथा उत्पाद के गुण तथा गुण के सम्बन्ध में जानकारी प्रदान करता हैं।

एक प्रबन्धक को सौहार्दपूर्ण वातावरण बनाये रखने हेतु निम्नलिखित सिद्धान्तों का अनुसरण करना चाहिये। जिससे प्रशासनिक संगठन की कार्यविधियों को सुव्यवस्थित तथा पारदर्शी बनाये रखा जा सकें-

- नीतियों को उद्देश्यों के अनुरूप निर्धारित करना।
- आवश्यकताओं एवं साधनों में सामंजस्य करते हुये वैज्ञानिक नियोजन सुनिश्चित करना।
- आम-जन की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए कार्य निष्पादन की विधियाँ एवं प्रक्रिया निर्धारित करना।
- कर्मचारियों में कार्य के प्रति सन्तोष, मनोबल एवं प्रतिबद्धता को बढ़ाते हुए उनके कल्याण को सुनिश्चित करना।
- मितव्ययी कार्य-प्रणाली का विकास कर अधिक से अधिक सेवाओं को जनपयोगी बनाना।

20.3 प्रबन्ध की प्रकृति

प्रबन्ध की प्रकृति कि जब हम बात करते हैं तो प्रकृति से तात्पर्य यह है कि प्रबन्धन है क्या? क्या यह विज्ञान है या कला? प्रबन्ध को विज्ञान माना जाय या कला। या इसे कला या विज्ञान दोनों माना जाय। आइये इसे समझने का प्रयास करते हैं।

प्रबन्ध एक कला है अथवा विज्ञान, यह एक विवाद का विषय रहा है। किन्तु प्रबन्ध के वर्तमान स्वरूप एवं परिस्थितियों से अब यह निश्चित सा हो गया है कि प्रबन्ध एक कला एवं विज्ञान दोनों ही है। कला एवं विज्ञान के रूप में प्रबन्ध का विवेचन निम्न प्रकार है-

20.3.1 क्या प्रबन्ध एक कला है?

प्रबन्ध एक कला है अथवा नहीं, इस बात की जाँच करने के पूर्व हमें कला का आशय जान लेना चाहिए। कला किसी भी कार्य को सर्वोत्तम ढंग से करने की एक विधि है ताकि निर्धारित लक्ष्यों को कुशलतापूर्वक प्राप्त किया जा सके। थयो हैमेन के अनुसार कला कार्य करने का एक ढंग है, व्यवहार करने की विधि है। जार्ज आर0 टेरी लिखते हैं कि कला का आशय व्यक्तिगत सृजनात्मक शक्ति एवं निष्पादन कौशल से है। चेस्टर आई0 बर्नार्ड ने कला को व्यावहारिक ज्ञान कहा है। कला की प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित हैं-

1. कला हमें इच्छित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए ज्ञान एवं चातुर्य का प्रयोग करना बताती है। यह कार्य के क्रियान्वयन पक्ष से सम्बन्ध रखती है।
2. कला व्यक्तिगत योग्यता पर निर्भर करती है, जिसे अभ्यास, लगन, परिश्रम व अनुभव द्वारा निखारा जा सकता है।
3. कला व्यक्तिगत पूँजी होती है। यह हस्तांतरणयोग्य कौशल नहीं है, क्योंकि जन्मजात योग्यता है।
4. कला में अभ्यास पक्ष महत्वपूर्ण होता है। केवल मात्र सैद्धान्तिक ज्ञान से व्यक्ति कुशल कलाकार नहीं बन सकता। सफलता के लिए निरन्तर अभ्यास आवश्यक है।
5. कला का संचय संभव नहीं है।
6. मानवीय उद्यमों में कला सबसे अधिक सृजनात्मक होती है। वह व्यक्ति की कल्पना शक्ति, विवके व दूरदर्शिता का परिणाम है।
7. कला का हस्तांतरण नहीं किया जा सकता है। किन्तु इसे सीखा जा सकता है।
8. कला एक मानवीय गुण है।
9. कला कार्य के निष्पादन से सम्बन्धित है।
10. कला सिद्धान्तों को व्यवहार में लाने का कौशल है। कला के शत-प्रतिशत सिद्धान्त नहीं होते।
11. कला परिस्थितियों को उपयोग में लाने का कौशल है।

20.3.1.1 प्रबन्ध की कला के रूप में कसौटी

कला की सभी विशेषताऐं प्रबन्ध में मिलती हैं। निम्न बातों से स्पष्ट है कि प्रबन्ध एक कला है-

1. **ज्ञान का व्यावहारिक उपयोग-** प्रबन्ध संगठन की समस्याओं को हल करने के लिए अपने प्रबन्धीय ज्ञान का व्यावहारिक उपयोग करता है। वह प्रबन्धीय सिद्धान्तों एवं तकनीकी को समस्या के संदर्भ में व्यावहारिक रूप में प्रदान करता है।
2. **व्यक्तिगत योग्यता-** संगठन के लक्ष्यों की प्राप्ति में प्रबन्ध के व्यक्तिगत गुण जैसे रचनात्मक चिन्तन, आत्मविश्वास, दूरदर्शिता, गतिशीलता, नेतृत्व एवं निर्णय क्षमता, आशावादिता आदि अत्यन्त सहायक होते हैं।
3. **संयोगिक दृष्टिकोण-** प्रबन्ध की शैली एवं तकनीकी परिस्थितियों के अनुरूप बदलती रहती है। प्रबन्ध का दृष्टिकोण एवं विधि सदैव समस्या के अनुसार होती है। इसलिए प्रबन्ध की कोई एक क्षेत्र प्रणाली अथवा त्रुटिहीन सिद्धान्तों का निर्माण नहीं किया जा सकता है।
4. **सृजनात्मकता-** प्रबन्ध सृजानात्मक कला है, क्योंकि इसमें निरन्तर नयी तकनीकी के साथ-साथ नये सामाजिक मूल्यों, आदर्शों व संस्कृति का निर्माण भी किया जाता है। टैरी के अनुसार, प्रबन्ध सब

कलाओं में सबसे अधिक सृजानात्मक है। यह कलाओं की कला है क्योंकि यह मानवीय प्रतिभा की संगठनकर्ता एवं प्रयोगकर्ता है।

5. **हस्तांतरण सम्भव नहीं-** प्रबन्ध कला का हस्तांतरण सम्भव नहीं है, क्योंकि यह व्यक्तिपरक होती है। प्रत्येक प्रबन्धक इसे अपने प्रयासों से विकसित करता है।
6. **अभ्यास-** प्रबन्ध कला काफी सीमा तक अभ्यास एवं अनुभव पर निर्भर करती है। पीटर ड्रकर लिखते हैं कि प्रबन्ध एक व्यवहार है। इसका सारतत्व जानना नहीं, वरन् करना है। इसका विकास व्यवहार से ही हुआ है और यह व्यवहार पर ही केन्द्रित है।
7. **अनुभव परक-** प्रबन्ध में अनुभव एवं चातुर्य का उपयोग किया जाता है।
8. **सफलता का आधार-** प्रबन्ध कला की सफलता का आधार प्रबन्धक का निजी चातुर्य, ज्ञान एवं अनुभव होता है, अतः स्पष्ट है कि प्रबन्ध एक कला है।
9. **लोचपूर्ण सिद्धान्त-** प्रबन्ध के सिद्धान्त विकसति किये जा सकते हैं, किन्तु उनके शत-प्रतिशत रूप् से खरे उतरने की संभावना परिस्थितियों पर निर्भर करती है।
10. **निर्णयों का प्रभाव नहीं-** प्रबन्धकों द्वारा निर्णय कुछ सिद्धान्तों के आधार पर लिए जा सकते हैं, किन्तु परिवर्तनशील परिस्थितियों के कारण उन निर्णयों का प्रभाव सदैव समान नहीं होता है।
11. **कार्य लेने की कला-** प्रबन्ध वास्तव में कर्मचारियों को प्रभावित एवं अभिप्रेरित करके उनसे कार्य लेने की कला ही है।

इन सभी कारणों से प्रबन्ध को एक कला माना जा सकता है।

20.3.2 क्या प्रबन्ध एक विज्ञान है?

सर्वप्रथम हमें विज्ञान का अर्थ जान लेना आवश्यक है। विज्ञान संगठित एवं सुव्यवस्थित ज्ञान का समूह है जो तथ्यों, अवलोकनों, परीक्षणों एवं प्रयोगों पर आधारित होता है। विज्ञान सम्बन्धित घटना के कारण एवं परिणाम में सम्बन्ध बताते हुए इसकी व्याख्या करता है। विज्ञान के सार्वभौमिक नियम, निष्कर्ष, एवं मूलाधार होते हैं जो कि प्रामाणिक एवं जांचे हुए होते हैं। विज्ञान, समस्या के अध्ययन हेतु वैज्ञानिक विधि का प्रयोग करता है। वैज्ञानिक ज्ञान समूह का परीक्षण एवं हस्तान्तरण संभव होता है। प्रबन्ध को विज्ञान मानने के पिछे निम्नलिखित तर्क हैं-

1. विज्ञान, किसी भी विषय का उद्देश्यपरक अध्ययन है।
2. यह किसी विषय का क्रमबद्ध एवं व्यवस्थित अध्ययन है।
3. यह ज्ञान का वर्गीकरण है।
4. विज्ञान के सिद्धान्त शोध एवं परीक्षणों पर आधारित होते हैं।
5. विज्ञान के सिद्धान्त सार्वभौमिक होते हैं।
6. विज्ञान को सीखा एवं हस्तांरित किया जा सकता है।
7. विज्ञान प्रत्येक कार्य के कारण एवं परिणाम में सम्बन्ध दर्शाता है।
8. विज्ञान के द्वारा भावी परिणामों का अनुमान लगाना सम्भव है।

20.3.2.1 प्रबन्ध की विज्ञान के रूप में कसौटी

प्रबन्ध की उपर्युक्त तर्कों को ध्यान में रखकर प्रबन्ध के वैज्ञानिक स्वरूप की जाँच की जा सकती है-

1. **सुव्यवस्थित ज्ञान-** आज प्रबन्ध का ज्ञान सुव्यवस्थित एवं संगठित है जिसका विधिवत् अध्ययन किया जा सकता है। प्रबन्ध का विकास क्रमबद्ध है। यह विभिन्न शाखाओं- उत्पादन प्रबन्ध, वित्त प्रबन्ध, विपणन प्रबन्ध, सेविवर्गीय प्रबन्ध, कार्यालय प्रबन्ध आदि में विभाजित है। प्रबन्ध पूर्णतः विशिष्टीकरण एवं अनुसंधान पर आधारित है।

2. **सिद्धान्तों का प्रतिपादन-** विभिन्न प्रयोगों व अवलोकनों के पश्चात विद्वानों ने प्रबन्ध सिद्धान्तों, विधियों व तकनीकों का प्रतिपादन किया है। इस दिशा में फेयोल के प्रशासनिक सिद्धान्त, टेलर के वैज्ञानिक प्रबन्ध के सिद्धान्त व इल्टन मेयो के हाथोर्न प्रयोग, उर्विक के संगठन के सिद्धान्त सर्वमान्य एवं प्रतिष्ठित हैं।
3. **कारण एवं परिणाम सम्बन्ध-** वर्तमान प्रबन्ध व्यवस्था प्रणाली विचारधारा पर आधारित है, जो प्रत्येक परिस्थिति के कारण एवं परिणाम पर बल देती है। अपने विभिन्न निर्णयों-अभिप्रेरण, संतुष्टि नियंत्रण, मनोबल सर्वेक्षण, कार्य निष्पादन, लागत-लाभ विश्लेषण आदि में प्रबन्धक कारण एवं परिणाम के सम्बन्ध को ध्यान में रखकर कार्य करता है।
4. **सार्वभौमिकता-** प्रबन्ध के सिद्धान्त देशों व सभी संगठनों में समान रूप से लागू होते हैं। प्रबन्धकीय ज्ञान की समस्त कार्य-समूहों व मानवीय समाज में आवश्यकता होती है। यह संगठित जीवन का सार्वभौमिक तत्व है।
5. **औपचारिक शिक्षण-** आज विश्व के सभी देशों में प्रबन्धशास्त्र की औपचारिक शिक्षा प्रदान की जाती है। प्रबन्धकीय प्रशिक्षण प्राप्त करके अनेक व्यक्ति पेशेवर प्रबन्धक के रूप में कार्य कर रहे हैं। प्रबन्ध अब एक अर्जित प्रतिभा का विषय है।
6. **वैज्ञानिक विधियों का प्रयोग-** आधुनिक प्रबन्धक की कार्य विधियां अन्तर्ज्ञान या परम्पराओं पर आधारित न होकर पूर्णतः प्रयोगों, परीक्षणों एवं अवलोकन पर आधारित है। प्रबन्धक अपने निर्णयों में तर्क, विश्लेषण एवं कई वैज्ञानिक विधियों जैसे क्रियात्मक अनुसंधान, अर्थमिति, सांख्यिकीय सूत्रों आदि का प्रयोग करता है। उपरोक्त विवेचन के आधार पर प्रबन्ध को विज्ञान की श्रेणी में सम्मिलित किया जा सकता है।
7. **उद्देश्यपूर्ण या विषयपरक अध्ययन-** प्रबन्ध निश्चित उद्देश्यों को लेकर किया जाता है। प्रबन्धकों के अधिकांश निर्णय भी सिद्धान्तों पर आधारित होते हैं।
8. **निरन्तर प्रयोग-** प्रबन्ध के क्षेत्र में लगातार शोध, प्रयोग एवं परीक्षण हो रहे हैं।
9. **पूर्वानुमान संभव** प्रबन्ध विज्ञान के द्वारा सीमित क्षेत्रों में परिणामों का पूर्वानुमान करना भी संभव है।

20.3.2.2 प्रबन्ध विज्ञान को एक शुद्ध विज्ञान नहीं मानने के कारण

1. प्रबन्ध विज्ञान मानव से सम्बन्धित है। मानवीय व्यवहार एवं स्वभाव प्रत्येक परिस्थिति में भिन्न होता है। अतः व्यक्ति की परिवर्तनशीन मनोदशा के कारण प्रबन्धकीय शैली भी एक समान नहीं होती।
2. प्रबन्ध के सिद्धान्त लोचपूर्ण होते हैं। वे स्थिर एवं निरपेक्ष नहीं होते। उनके क्रियान्वयन में पर्याप्त विवके एवं विश्लेषण की आवश्यकता होती है। हेनरी फेयोल ने लिखा है कि प्रबन्ध के सिद्धान्त लचीले होते हैं। ये प्रबन्ध के लिए मार्गदर्शक तत्व मात्र होते हैं।
3. प्रबन्धशास्त्र में प्रयोग एवं परीक्षणों के आधार पर प्राप्त परिणामों की पुनरावृत्ति सम्भव नहीं है। मानवीय व्यवहार पर नियंत्रण न होने के कारण प्रत्येक प्रयोग के परिणाम भिन्न-भिन्न होंगे, प्रयोगशाला के निष्कर्षों की भाँति एक जैसे नहीं।
4. प्रबन्ध विज्ञान प्रत्येक घटना के कारण एवं परिणाम के सम्बन्ध की पूर्णतया व्याख्या नहीं करता। अतः इसमें निश्चित एवं सही भविष्यवाणियां करना अत्यन्त कठिन होता है।
5. प्रबन्धकीय निर्णयों एवं पद्धति पर प्रत्येक राष्ट्र के आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक वातावरण का गहरा प्रभाव पड़ता है। दूसरे शब्दों में, प्रबन्ध विज्ञान में सार्वभौमिकता का तत्व विद्यमान होने के बावजूद भी

प्रबन्ध संस्कृति-बद्ध एवं परिस्थितिजन्य होता है। प्रत्येक प्रबन्धकीय शैली एवं तकनीक सांयोगिक होती है।

6. प्राकृतिक विज्ञानों की भाँति प्रबन्धकीय कार्य का यथार्थ माप एवं परिशुद्ध मूल्यांकन करना संभव नहीं है। अदृश्य शक्ति होने के कारण प्रबन्ध की सफलता का कोई निश्चित मापन नहीं किया जा सकता, किन्तु उसके प्रयासों के परिणाम देखे जा सकते हैं।
7. प्रबन्धक को सदैव गतिशील परिवेश में कार्य करना होता है। उसके दृष्टिकोण एवं चिन्तन को व्यावसायिक गतिशीलता प्रभावित करती है।
8. प्रबन्ध का अध्ययन आत्मपरक है, वस्तुपरक नहीं। प्राकृतिक विज्ञानों की विषय-वस्तु निर्जीव होने के कारण मानवीय भावनाओं से अछूती रहती है, जबकि प्रबन्ध कार्य पर मानवीय उद्वेगों, उत्तेजनाओं, भावनाओं, आवेशों, अभिलाषा, क्रोध, प्रेम आदि का गहरा प्रभाव पड़ता है।

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि प्रबन्ध एक प्राकृतिक एवं विशुद्ध विज्ञान नहीं है, वरन् इसे एक सामाजिक एवं व्यावहारिक विज्ञान के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए। प्रबन्ध सर्जन अथवा मनोचिकित्सक के लिए व्यावहारिक ज्ञान, मानवीय कौशल एवं सूझ-बूझ का होना अत्यन्त आवश्यक होता है, मात्र पुस्तकीय ज्ञान से रोग का निदान करना सम्भव नहीं होता। इसी प्रकार एक सफल प्रबन्धक के लिए सैद्धान्तिक ज्ञान ही पर्याप्त नहीं होता, उसमें व्यावहारिक समझ, सृजानात्मक कौशल एवं व्यक्तिगत निपुणता का भी होना आवश्यक है। उसे सदैव व्यावहारिक यथार्थताओं को ध्यान में रखकर कार्य करना होता है। अतः प्रबन्ध को एक व्यावहारिक विज्ञान की श्रेणी में रखा जाता है।

20.3.3 प्रबन्ध, कला एवं विज्ञान दोनों रूपों में

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्रबन्ध में कला और विज्ञान दोनों के लक्षण विद्यमान हैं। स्टेनले टीली के अनुसार वर्तमान में प्रबन्ध 10 प्रतिशत विज्ञान एवं 90 प्रतिशत कला है तथा आधुनिक युग में विज्ञान दिन-प्रतिदिन विकास कर रहा है। प्रबन्ध अगली पीढ़ी तक निश्चित रूप से 80 प्रतिशत विज्ञान एवं 20 प्रतिशत कला हो जाएगा। टेलर ने प्रबन्ध को 75 प्रतिशत विश्लेषण (विज्ञान) एवं 25 प्रतिशत सामान्य ज्ञान (कला) माना है। वस्तुतः प्रबन्ध कला एवं विज्ञान का सम्मिश्रण है, अनुपात तो परिस्थितियों के अनुसार बदलता रहता है। जार्ज टैरी ने कहा है कि एक प्रबन्धक वैज्ञानिक एवं कलाकार दोनों है। किसी विशेष परिस्थिति में प्रबन्ध विज्ञान प्रबन्धीय कला की मात्रा को कम कर सकता है, किन्तु यह कला की आवश्यकता को समाप्त नहीं कर सकता। प्रबन्ध में कला सदैव विद्यमान रहती है। कई बार प्रबन्धक को समस्याओं के सामाधान में विज्ञान नहीं, अपितु प्रबन्धकीय कला- सृजनात्मक, अनुमान, विश्वास, ज्ञान के चातुर्यपूर्ण प्रयोग आदि की आवश्यकता होती है।

यहाँ यह जान लेना महत्वपूर्ण है कि कला एवं विज्ञान अलग-अलग नहीं हैं, वरन् दोनों अन्योन्याश्रित एवं एक दूसरे के पूरक हैं। विज्ञान में वृद्धि होने से कला भी विकसित होती है, राबर्ट एन0 हिलकर्ट ने कहा है कि प्रबन्ध क्षेत्र में कला एवं विज्ञान दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। कून्टज एवं ओ डोनेल लिखते हैं कि बिना विज्ञान के चिकित्सक केवल ओझा बनकर ही रह जाता है किन्तु वैज्ञानिक ज्ञान से वह कुशल सर्जन बन जाता है। इसी प्रकार बिना सिद्धान्तों के कार्य करने वाले प्रबन्धक को भाग्य, अन्तर्ज्ञान व भूतकालीन कार्यो पर निर्भर रहना होता है। किन्तु संगठित ज्ञान से वह प्रबन्धकीय समस्या का व्यावहारिक एवं सुदृढ़ हल खोज सकता है। प्रबन्धक को ज्ञान का कौशलपूर्ण उपयोग करना जानना चाहिए।

अक्सर यह कहा जाता है कि ज्ञान शक्ति है। किन्तु यह पूर्णतः सत्य नहीं है, क्योंकि कुशल उपयोग के बिना ज्ञान का कोई मूल्य नहीं होता। अतः यह कहना ज्यादा उपयुक्त होगा कि व्यावहारिक ज्ञान ही शक्ति है। स्पष्ट है कि प्रबन्ध कला एवं विज्ञान दोनों का सम्मिश्रण है। रीस, मिन्ट्जबर्ग आदि ने ठीक ही कहा है कि प्रबन्ध कला एवं विज्ञान का

व्यावहारिक संयोजन है, जो निरंतर किसी के रचनात्मक संसाधनों को नई पहेलियों के साथ हल करने की चुनौती देता रहता है।

20.4 प्रबन्ध के स्वरूप

प्रबन्ध को कला या विज्ञान या दोनों मानने वालों को इस बात की ओर भी ध्यान देना चाहिए कि प्रबन्ध के कला या विज्ञान के अतिरिक्त अन्य स्वरूप भी हैं। प्रबन्ध के अन्य स्वरूपों का भी अध्ययन करते हैं।

1. **सामाजिक विज्ञान-** प्रबन्ध एक प्राकृतिक विज्ञान नहीं वरन् सामाजिक विज्ञान है, क्योंकि इसका सम्बन्ध मानवीय एवं सामाजिक घटनाओं से है। यह मानव व समाज के लक्ष्यों, आवश्यकताओं, दशाओं व मूल्यों से जुड़ा है।
2. **व्यवहारवादी विज्ञान-** प्रबन्ध एक व्यवहारात्मक विज्ञान है, क्योंकि यह मानवीय व्यवहार, वृत्तियों, आचरण, धारणाओं, भावनाओं एवं उनकी कार्यशैली से सम्बन्ध रखता है। यह कार्य व्यवहार प्रेरणा, संतुष्टि, असंतुष्टि, तनाव, नैराश्य, मनोबल आदि घटकों का प्रबन्ध करता है।
3. **अनिश्चित विज्ञान-** प्रबन्ध मानव व्यवहार से सम्बन्ध रखता है जो निरंतर गतिशील एवं परिवर्तनशील है तथा जिसके बारे में कोई पूर्वानुमान करना संभव नहीं होता। अतः इसके परिणाम, भविष्यवाणी व प्रभाव निश्चित नहीं होते। कूंज एवं डोनेल के शब्दों में प्रबन्ध संभवतः सामाजिक विज्ञानों में सबसे अधिक अनिश्चित विज्ञान है। शायद इसी कारण टैरी ने प्रबन्ध को आभासी विज्ञान का दर्जा दिया है।
4. **व्यवहारिक विज्ञान-** प्रबन्ध की अपनी मौलिक अवधारणाऐं एवं सिद्धान्त अभी तक पूर्णरूप से विकसित नहीं हो पाए हैं। प्रबन्ध ने अपने सिद्धान्त एवं तकनीकें दूसरे विषयों से ग्रहण किए हैं। प्रबन्ध में मनोविज्ञान, समाज विज्ञान, मानवशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि विषयों के ज्ञान का प्रयोग किया जा रहा है। यही कारण है कि इसे अन्तर्विषयक विज्ञान भी कहा जाता है।
5. **विकासशील विज्ञान-** इसका विकास पिछले 50 वर्षों में ही हुआ है। यही कारण है कि प्रबन्ध की शब्दावली, अध्ययन पद्धति एवं सिद्धान्तों में निश्चितता नहीं पायी गयी। प्रबन्ध की विचारधाराओं एवं अर्थ के बारे में भी प्रबन्धशास्त्री एकमत नहीं हैं। प्रबन्ध अभी पूर्ण रूप से विज्ञान का स्वरूप ग्रहण नहीं कर सका है। इसके क्षेत्र में अभी निरंतर अध्ययन एवं प्रयोग किये जा रहे हैं। यह अभी पूर्णरूप से विकसित विज्ञान नहीं है।
6. **सरल विज्ञान-** अर्नेस्ट डेल ने प्रबन्ध को एक सरल या मुलायम विज्ञान माना है जिसमें कोई कठोर नियम नहीं होते। इसके सिद्धान्त परिस्थिति एवं समय के अनुसार बदले या समायोजित किये जा सकते हैं। इसकी मान्यताएं व दृष्टि लोचशील होती है। यही कारण है कि कुछ विद्वानों ने प्रबन्ध को परिस्थितिगत विज्ञान भी कहा है।
7. **आदर्श विज्ञान-** यह सामाजिक उत्तरदायित्वों उच्च नैतिक स्तर, न्यायोचित लाभ, सामाजिक हितों, मधुर श्रम सम्बन्धों व सांस्कृतिक मूल्यों पर अधिक बल देता है।
8. **शुद्ध विज्ञान नहीं-** प्रबन्ध एक विज्ञान है, किन्तु इसे भौतिकशास्त्र, रसायनशास्त्र, गणित आदि प्राकृतिक विज्ञानों की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। प्रबन्ध शुद्ध अथवा वास्तविक विज्ञान नहीं है क्योंकि यह मानवीय व्यवहार से सम्बन्धित है। प्रबन्ध की विषय सामग्री मनुष्य है, जिसके व्यवहार एवं स्वभाव के बारे में ठीक-ठीक अनुमान करना कठिन होता है। फिर प्रबन्धक को निरन्तर बदलते हुए मूल्यों, नये सामाजिक परिवेश एवं परिवर्तित दशाओं में कार्य करना होता है। अतः उसकी प्रबन्धकीय शैली एवं

पद्धति स्थिर नहीं वरन् परिस्थितिजन्य होती है। अतः प्रबन्ध एक सामाजिक एवं व्यावहारिक विज्ञान है। पीटर ड्रकर ने लिखा है कि प्रबन्ध कभी शुद्ध विज्ञान नहीं हो सकता।

20.5 प्रबन्ध सहभागी

सहभागी प्रबन्ध के अन्तर्गत एक प्रशासक, कर्मचारियों को कार्यालय की कार्यविधियों में सुधार के लिए व्यावहारिक और रचनात्मक सुझाव देने को प्रोत्साहित करता है। यदि उनके सुझाव मान लिये जाते हैं, तो उन्हें नकद या किसी न किसी रूप में पुरस्कार दिये जाते हैं। उनके सुझाव सामान्यतः समय बचाने, अपव्यय कम करने, गुणवत्ता सुधारने या कार्यविधियों को सरल बनाने के सम्बन्ध में हो सकते हैं।

सहभागी प्रबन्ध के प्रेरणात्मक प्रभाव होते हैं, क्योंकि इससे कर्मचारियों में इस संतुष्टि की भावना उत्पन्न होती हैं कि उन्होंने कार्यालय की प्रगति के लिए कुछ उपयोगी योगदान किया। इससे कर्मचारियों को प्रबन्ध के साथ विचार-विमर्श करने की प्रवृत्ति को बढ़ावा मिलता है। ये समितियाँ कर्मचारियों को विशेष कार्य करते समय आनी वाली व्यावहारिक समस्याओं और शिकायतों के सम्बन्ध में खुलकर बताने का अवसर प्रदान करती हैं। ये उन्हें इन समस्याओं को कार्यालय पर्यवेक्षक तक पहुँचाने का अवसर भी प्रदान करती हैं। कार्य करने की विधि आदि में सुधार के लिए सुझाव देने के लिये तत्पर कर्मचारियों की जानकारी और अनुभव से प्रशासन को लाभ हो सकता है। इसे प्रभावी बनाने के लिए इसकी योजना सावधानी पूर्वक बनानी चाहिए। संगठन प्रणाली को कार्यान्वित करने के लिए प्रायः निम्नलिखित कार्यविधि सुझाई जाती है-

1. कर्मचारियों को छपे हुए सुझाव फार्म उपलब्ध कराये जाते हैं, जिन्हें सुझाव-पेटिका में डालने के लिये कहा जाता है। ये सुझाव-पेटिका किसी ऐसे स्थान पर रखनी चाहिये, जहाँ इस पर सबकी नजर पड़े।
2. उच्च्च प्रबन्ध को चाहिए कि वे कर्मचारियों द्वारा दिये गये सभी सुझावों की समय-समय पर जाँच करे।
3. प्रत्येक सुझाव पर तुरन्त विचार कर स्वीकार या अस्वीकार करने के कारण भी बताये जाने चाहिए। इससे कर्मचारियों को जाँच की विधि की निष्पक्षता और प्रबन्ध की ईमानदारी के बारे में विश्वत कराया जा सकता है और उन्हें इस सम्बन्ध में अच्छी तरह से अवगत कराया जा सकता है।
   इनाम उचित होना चाहिए, ताकि कर्मचारी प्रबन्ध में प्रतिभागिता करने के लिए प्रेरित हों।
4. अन्त में, प्रबन्ध को पुरस्कृत और स्वीकार किये गये सुझावों को कार्यान्वित करने के लिये तत्पर रहना चाहिए। उसे इस बात का प्रचार भी करना चाहिये कि इन सुझावों से संगठन को किस प्रकार लाभ पहुँचा है? इससे अन्य कर्मचारी भी अभिप्रेरित होंगे और कार्यप्रणाली में सुधार के बारे में सोचेंगे और नये-नये परामर्श देंगे।

20.5.1 सहभागी प्रबन्ध की परिभाषाऐं

सहभागी प्रबन्ध आधुनिक प्रबन्ध की नवीनतम पद्धति है, जिसके अन्तर्गत समस्त कार्यरत कर्मचारियों के साथ नियोजित व्यूह की रचना की जाती है। समय-समय पर प्रत्येक कार्यों का मूल्यांकन भी किया जाता हैं। कुछ प्रमुख विद्वानों ने सहभागी प्रबन्ध को निम्न प्रकार से परिभाषित किया है। इनका विश्लेषण कर समझने का प्रयास करें-

एफ0 ड्रकर के अनुसार ''सहभागी प्रबन्ध एक प्रक्रिया है, जिसमें प्रबन्धक एवं सम्पूर्ण संगठन के कर्मचारी अपनी कार्यकुशलता के अनुसार मिल बैठकर प्रत्येक विभाग तथा व्यक्तिगत प्रबन्धक के स्तर पर कार्यो के अनुसार नीति निर्धारण करते हैं।''

जार्ज एस0 ऑडियोर्न के अनुसार, ''सहभागी प्रबन्ध एक प्रक्रिया है, जिसमें संगठन के वरिष्ठ एवं अधीनस्थ सामूहिक रूप से संगठन के सामान्य उद्देश्यों को निर्धारित करते हैं प्रत्येक व्यक्ति के उत्तरदायित्व को उससे

अपेक्षित परिणामों के सन्दर्भ में परिभाषित करते हैं एवं संगठन के संचालनतथा उसके प्रत्येक सदस्य के योगदान का मूल्यांकन करने में इन्हीं मापदण्डों का उपयोग किया जाता है।''

किम्बाल एवं किम्बाल के अनुसार, ''सहभागी प्रबन्ध एक प्रणाली है, जिसके अन्तर्गत प्रबन्धक और अधीनस्थ मिलकर ऐसी क्रियाओं, लक्ष्यों, स्थितियों एवं उद्देश्यों के सम्बन्ध में सहमत हो जाते है, जिनका उपयोग अधीनस्थों के निष्पादन एवं उनके मूल्यांकन के आधार रूप में उपयोग किया जायेगा।'

उपर्युक्त परिभाषाओं के विश्लेषणात्मक विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि सहभागी प्रबन्ध के अन्तर्गत सर्वप्रथम वरिष्ठ एवं अधीनस्थ मिलकर सामूहिक रूप से एक निश्चित अवधि के लिये संगठन के उद्देश्य तथा नीति निर्धारित करते हैं और इसके बाद प्रबन्ध के प्रत्येक स्तर के लिये कार्य निर्धारण और निष्पादन के सम्बन्ध में निर्णय लिये जाते हैं।

20.5.2 सहभागी प्रबन्ध की विशेषताऐं

प्रबन्ध शास्त्र के महानतम विद्वान हेनरी फेयोल के अनुसार सहभागी प्रबन्ध की निम्नलिखित विशेषताऐं निरूपित की जा सकती हैं-

1. **वांछित उद्देश्यों का निर्धारण-** सहभागी प्रबन्ध के द्वारा प्रबन्धक एवं कर्मचारी मिलकर संगठन के लिये सर्वमान्य उद्देश्य निर्धारित करते हैं और उनको विस्तृत रूप में परिभाषित करने का कार्य करते हैं।
2. **समूह भावना-** सहभागी प्रबन्ध अधीनस्थों के संगठन को सभी निर्णयों में प्रतिभागिता का अधिकार प्रदान करता है, जिससे अधिकारियों द्वारा किसी भी निर्णय को अकेले ही नहीं किया जाता है अपितु अधीनस्थों को भी में सम्मिलित किया जाता है। इस प्रकार प्रबन्धक एवं अधीनस्थ दोनों मिलकर समूह भावना से कार्य करते हैं, इसीलिये कोई भी निर्णय दोनों को स्वीकार्य होता है।
3. **निश्चित अवधि-** प्रबन्ध की इस विधि के अन्तर्गत कार्यों का निर्धारण एक निश्चित अवधि के लिये हो सकता है। यह अवधि पाँच वर्ष तक की हो सकती है और इसके बाद मासिक योजनायें बनायी जा सकती है।
4. **निष्पादन स्तर का निर्धारण-** इसमें प्रत्येक विभाग के कर्मचारियों एवं प्रबन्धकों के स्तर इस प्रकार निर्धारित किये जाते हैं, जिससे कि वे उपक्रम के मूल उद्देश्यों की पूर्ति में सहायक हों।
5. **अधिकारों का भारार्पण-** इस विधि के अन्तर्गत अधिकारीगण अपने अधीनस्थों की एक सीमा तक अधिकारों का भारार्पण कर देते हैं।
6. **संगठनात्मक ढाँचा-** इसके अन्तर्गत उपक्रम का संगठनात्मक ढ़ाँचा इस प्रकार से तैयार किया जाता है कि प्रत्येक प्रबन्धक एवं कर्मचारी सामूहिक तौर पर अपने निर्णय लेने के लिए स्वतन्त्र होते हैं। इसके अतिरिक्त ये समय एवं परिस्थितियों के अनुसार अपने निर्णयों में परिवर्तन या संशोधन करने के लिए भी पूणर्तः स्वतन्त्र होते हैं, जिससे कि कार्य-विधियों में सुधार करके उपक्रम की उत्पादकता एवं गुणवत्ता में वृद्धि कर सके।
7. **प्रशिक्षण-** प्रबन्ध, समस्त कर्मचारियों के लिये प्रशिक्षण की पर्याप्त व्यवस्था करता है, जिससे वो परिवर्तन परिस्थितियों में अपने निर्णयों को अद्यतन बनाते रहें।
8. **अभिप्रेरणा-** यह विधि प्रबन्धकों एवं अधीनस्थों को मौद्रिक तथा अमौद्रिक दोनों प्रकार की अभिप्रेरणाऐं प्रदान करने में सहायक होती हैं, जिससे सही समय पर सही ढंग से निर्णय लिया जा सके और अधीनस्थ इन निर्णयों का सफलतापूर्वक क्रियान्वित करने के लिए प्रेरित है।
9. **निष्पादन का मूल्यांकन-** इसमें समस्त कार्यों के निष्पादन का मूल्यांकन पूर्व-निर्धारित निर्णयों पर के आधार पर, समूह के प्रतिनिधियों द्वारा सम्पन्न किया जाता है।

10. **उपलब्धियों का प्रचार-** संगठन के विभागाध्यक्षों और कर्मचारियों द्वारा जो उपलब्धियाँ प्राप्त की जाती हैं, उनकी जानकारी सम्पूर्ण संगठन तथा अन्य इकाइयों को भी दी जाती हैं। इससे उन अधिकारियों एवं अधीनस्थों में गौरव को भावना जागृत होती है, जिन्होंने टीम भावना के साथ कार्य किया हो और अन्य अधिकारियों एवं अधीनस्थों को भविष्य में अपने कार्यों के सम्बन्ध में निर्णय लेने में सुविधा रहती है।

20.5.3 सहभागी प्रबन्ध की अवधारणा की मान्यताऐं

उपरोक्त विश्लेषण के उपरान्त हमारे लिये यह जानना भी अति आवश्यक है कि सहभागी प्रबन्ध की अवधारणा किन मान्यताओं पर टिकी है। प्रो0 फेयोल के अनुसार निम्नलिखित को सहभागी प्रबन्ध की अवधारणाओं के रूप में मान्यता दी जा सकती है-

1. संगठन के समस्त कर्मचारियों को निर्णय में सहभागिता प्रदाना की जानी चाहिए।
2. सहभागी निर्णय प्रगतिशील एवं गतिशील होने चाहिये।
3. सहभागी निर्णय लिखित होने चाहिये तथा संगठन के सभी अधिकारियों एवं अधीनस्थों की आस्था एवं विश्वास इसमें होना चाहिए।
4. संगठन की समस्त क्रियाऐं सहभागी निर्णयों को प्राप्त करने की दिशा में ही एकीकृत कर समन्वित होनी चाहिए।
5. सहभागी निर्णयों को प्राप्त करने के लिये सुखद वातावरण प्रदान करना चाहिये।
6. सहभागी निर्णयों की प्राप्ति हेतु उन विभागीय उद्देश्यों को समाप्त कर देना चाहिए जिनसे मूल उद्देश्यों को प्राप्त करने में बांधा आ रही हो।
7. उच्च प्रबन्ध को अपने अधिकांश निर्णय सहभागी निर्णयों के माध्यम से प्राप्त करने चाहिये।
8. संगठन का अस्तित्व बना रहे और उसका निरन्तर विकास होता रहे, इस धारणा के साथ सहभागी प्रबन्ध के सभी सदस्यों को किसी भी प्रकार का निर्णय लेना चाहिए।

20.5.4 सहभागी प्रबन्ध के उद्देश्य

उपरोक्त मान्यताओं के आधार पर सहभागी प्रबन्ध के निम्नलिखित उद्देश्यों को क्रमबद्ध किया जा सकता है-

1. सर्वमान्यता से संगठन के उद्देश्यों को निर्धारित कर तद्नुसार कार्य निष्पादन का अन्तिम परिणाम प्राप्त करना।
2. प्रत्येक व्यक्ति को संगठन के आधारभूत निर्णयों के साथ सम्बन्ध करना।
3. अधीनस्थों की क्षमता एवं विकास में वृद्धि कर उत्पादकता बढ़ाना।
4. अधिकारियों एवं अधीनस्थों के मध्य सुदृढ़ एवं प्रभावी सम्प्रेषण की व्यवस्था स्थापित करना।
5. कार्यों के निष्पादन की माप कर कार्यों का मूल्यांकन करना।
6. अधीनस्थों को अधिक कार्य करने के लिये अभिप्रेरित करना।
7. संगठन में कार्यरत सभी व्यक्तियों को उपलब्धियों की जानकारी प्रदान करना।
8. अधिकारियों एवं अधीनस्थों की पदोन्नति के लिये पर्याप्त अवसरों का सृजन करना।
9. नियोजन एवं नियन्त्रण को अधिक प्रभावी बनाना।

एक कुशल प्रशासन को संगठन के निम्नलिखित क्षेत्रों के सम्बन्ध में सहभागी प्रबन्ध को क्रियान्वित करना चाहिए। जिससे उसे श्रेष्ठ परदर्शी तथा प्रभावी व्यवस्था स्थापित करने में किसी भी प्रकार की बांधा उत्पन्न न हो। इन क्षेत्रों को कुछ इस प्रकार से क्रमबद्ध किया जा सकता है- संगठन का स्वभाव, कार्य की मात्रा एवं गुणवत्ता, कार्यात्मक विधि में सुधार, निर्णयों में सुधार, नवीन-प्रक्रिया, परिचालन की कुशलता, कार्य-क्षेत्र का विस्तार, निष्पादन मात्रा में

सुधार, प्रबन्ध में सुधार, प्रबन्धकीय विकास, सामाजिक उत्तरदायित्वों के सम्बन्ध में, कर्मचारियों की सन्तुष्टि में वृद्धि और कर्मचारियों का विकास।

इस प्रकार सहभागी प्रबन्ध द्वारा उच्च तथा निम्न सभी स्तर के समस्त कर्मचारियों में लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिये एक वातावरण बन जाता है तथा प्रबन्धकीय निष्पादन में सुधार होता है, क्योंकि उपक्रम की समस्त क्रियाऐं एक साथ मिलकर करने का प्रयास होता है। संगठन के सभी सदस्य अपने उद्देश्यों का निर्धारण अधिकारियों के साथ मिलकर करते हैं। जिससे संगठन में टीम भावना विकसित होती है जिसका लाभ एवं उसके सभी सदस्यों को मिलता है।

प्रायः प्रशासनिक संगठन में इस विधि को अपनाने से संगठन प्रबन्धकों की क्रियाऐं लाभदायक क्रियाओं की ओर केन्द्रित होती हैं। जिससे सुव्यवस्थित निर्णयन में कर्मचारियों के भागीदारी होने से सभी कर्मचारी स्वःअभिप्रेरणा से प्रेरित होकर कार्य करते हैं, यह उत्पादकता बढाने में सहायक होती है। उचित अभिप्रेरणा के फलस्वरूप प्रबन्धकों तथा कर्मचारियों का मनोबल सदैव ऊँचा रहता है। वे अपने दायित्वों का निर्वाह अपनी जिम्मेदारी समझकर करते हैं, जिससे सभी कर्मचारियों में कुशलता, निष्पादन से कार्य सन्तुष्टि की भावना तथा कार्य के प्रति सुरक्षा का विकास होता है। अर्थात कर्मचारियों में नैराश्य की भावना विकसित नहीं हो पाती।

सहभागी प्रबन्ध वास्तव में अधिकारियों एवं अधीनस्थों को अधिकारों का भारार्पण होने की दिशा में भी होता है। जिससे संगठन अधिक प्रभावी बन जाता है, जो निश्चय ही प्रत्येक कर्मचारी में उत्तरदायित्व की भावना का विकास करता है, जिसके कारण वह अधिक लगन एवं निष्ठा के साथ अपने उत्तरदायित्व को निभाता है। इससे निर्णयन में अधीनस्थों की सहभागिता में वृद्धि होती है और निर्णय अधिक प्रभावी बन जाते हैं। प्रभावी प्रबन्धकीय विकास के क्रम में भी सहभागी प्रबन्ध मील का पत्थर सिद्ध हुई है, इससे संगठन की प्रबन्धकीय योग्यता का स्तर ऊँचा हो जाता है। श्रेष्ठ संचार-व्यवस्था जिससे संचार व्यवस्था श्रेष्ठतर बनाती है, जिसके परिणामस्वरूप उत्पादकता में वृद्धि होती है। हम सभी जानते हैं समन्वय प्रबन्ध का सार है। सहभागी प्रबन्ध विधि के अन्तर्गत उपक्रम की समस्त क्रियाओं में समन्वय निर्बाध गति से सन्तुलित रहता है। जिससे संगठन पर स्वीकृत एवं प्रभावपूर्ण नियन्त्रण बना रहता है और संगठन की क्रियाऐं सहभागी निर्णयानुसार ही सम्पन्न होती रहती है।

20.6 अच्छे प्रबन्ध की कसौटियाँ

अभी तक आप प्रबन्ध की अवधारणा का विभिन्न दृष्टिकोणों के संबंध में जान गये होंगे। यह अध्ययन तब तक पूर्ण नहीं हो सकता, जब तक यह निर्णय न कर लिया जाय कि एक अच्छा या सुव्यवस्थित प्रबन्ध किसे कहा जाये? वास्तव में यह एक अत्यन्त गूढ़ प्रश्न है जिसके उत्तर में विद्वानों के विभिन्न मत हैं। यह एक प्रशासक के गुणों पर भी निर्भर करता है और प्रबन्ध की विभिन्न कसौटियों पर भी। समिष्टिवादी दृष्टिकोण के अनुसार हम अच्छे प्रबन्ध की निम्नलिखित कसौटियों को क्रम बद्ध कर विश्लेषित कर सकते हैं। इसे समझने का प्रयास करें-

1. **प्रशासन एवं प्रबन्ध का सामान्य ज्ञान-** एक सफल प्रबन्ध को अपने से सम्बन्धित प्रत्येक क्षेत्र का सामान्य ज्ञान होना चाहिए, जिससे कि वह अपने से सम्बन्धित संगठन भी समस्या के सम्बन्ध में निर्णय लेने से पूर्व उस समस्या का सामान्य रूप से विश्लेषण कर सके और उसके द्वारा लिये गये निर्णय समस्या की आवश्यकता के अनुरूप ही हो।
2. **प्रभावी नेतृत्व-** एक सफल प्रबन्धक में एक प्रभावी नेता का चारित्र भी होना चाहिये। वास्तव में प्रबन्धक अपने उपक्रम का नेता होता है, जो अपने संगठन के उद्देश्यों की पूर्ति के लिये अपने प्रबन्धकीय ज्ञान एवं विवेक के प्रयोग के द्वारा संगठन में लगे हुये कर्मचारियों का नेतृत्व करता है।

3. **शीघ्र निर्णयन-** एक सफल प्रबन्ध में समय एवं परिस्थितियों के अनुसार शीघ्र निर्णय लेने की प्रक्रिया सुनिश्चत होनी चाहिये, अन्यथा अपने उत्तरदायित्वों को सफलतापूर्वक निर्वाह नहीं कर सकेगा और न ही प्रगति की ओर ले जाने में सफल सिद्ध होगा। प्रबन्धक द्वारा किसी भी समस्या के सम्बन्ध में निर्णय लेने से पूर्व उससे प्राप्त होने वाले परिणामों की सही कल्पना करना ही उसकी दूरदर्शिता का परिचायक है।
4. **समन्वयन-** एक सफल प्रबन्ध उपक्रम में उपलब्ध सभी भौतिक एवं मानवीय साधनों में समन्वय करने की क्षमता रखता है। इसके सम्बन्ध में कहा भी जाता है कि समन्वय प्रबन्ध का सार है। प्रबन्ध में इसका अभाव है तो संगठन के उत्पत्ति के विभिन्न साधन दिशा-विहीन हो जायेंगे और संगठन के लक्ष्यों को प्राप्त करने की आशा धूमिल पड़ सकती है।
5. **दृढ़ता-** एक प्रबन्ध को अपने निर्णयों के प्रति दृढ़ रहना चाहिये। इससे संस्था में अच्छे अनुशासन की स्थापना होती है। लेकिन इसके लिये यह आवश्यक है कि प्रबन्ध द्वारा किसी भी निर्णय लिये जाने से पूर्व सम्बन्धित प्रत्येक पहलू पर बारीकी से विचार कर लिया जाना चाहिये।
6. **निष्पक्षता-** एक प्रबन्ध को अपने अधीनस्थ कर्मचारियों के प्रति निष्पक्ष होना चाहिये। इससे कर्मचारियों में उसके प्रति विश्वास एवं आस्था उत्पन्न हो जाती है और वे उसे आदर की दृष्टि से देखने लगते हैं। वे संगठन में पूर्ण निष्ठा से कार्य करते हैं, जिससे अन्ततः प्रबन्धक को ही सफलता मिलती है।

अभ्यास प्रश्न-

1. किस विद्वान द्वारा प्रबन्ध को उत्पादक बढ़ाने में सहायक माना गया है?
2. प्रबन्ध परिचालक के कितने स्तर होते हैं?
3. निम्न स्तर के कर्मचारियों को किस स्तर के कर्मचारियों द्वारा प्रशिक्षित किया जाता है?
4. सहभागी प्रबन्ध के अन्तर्गत एक कर्मचारी क्या करता है?
5. सहभागी प्रबन्ध के सन्दर्भ में किसने कहा कि इसके अन्तर्गत प्रबन्धक और अधीनस्थ मिलकर क्रियाओं, लक्ष्यों, स्थितियों एवं उद्देश्यों के सम्बन्ध में सहमत हो जाते हैं।
6. निम्न में से किसे सहभागी प्रबन्ध की विशेषता नहीं कहा जा सकता है?

20.7 सारांश

इस इकाई के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'प्रबन्ध' एक बहु आयामी विधा है, जिसमें प्रशासनिक व क्रियात्मक दोनों स्वरूप हैं। प्रतियोगात्मक व्यवसाय की उन्नति के लिए प्रबन्ध आवश्यक है। प्रशासन का संगठनात्मक स्वरूप भी श्रेष्ठ प्रबन्ध की ही महत्वपूर्ण भूमिका होती है। विश्व के किसी भी देश के आर्थिक व सामाजिक विकास में प्रबन्ध एक निर्णायक भूमिका निभाना तत्व है। विकासशील राष्ट्र अविकसित नहीं हैं, वरन कुप्रबंधित है। अतः विकास की चुनौतियों का सामना करने के लिए प्रबन्ध का श्रेष्ठतम उपयोग करना होगा।

प्रबन्ध और प्रशासन में अन्तर उसके प्रयोग के आधार पर किया जा सकता है। वाणिज्यिक संगठनों में प्रबन्ध शब्द का प्रयोग प्रचलित है तथा सामाजिक और राजनैतिक कार्यों में संलग्न सरकारी उद्यमों में प्रशासन शब्द का प्रयोग किया जाता है। लेकिन व्यवहार में दोनों का पर्यायवाची अर्थों में प्रयोग किया जाता है। प्रबन्ध की परिभाषा को चार विभिन्न विचारधाराओं में बाँटा जा सकता है। प्रक्रिया विचारधारा, प्रबन्धक के कार्यों का विश्लेषण करता है और विभिन्न कार्यों में प्रबन्ध कीय गतिविधियों को वर्गीकृत करता है। जैसे नियोजन, संगठन, नियुक्तियाँ (कर्मचारी चयन) नेतृत्व तथा नियंत्रण। मानवीय विचारधारा संगठन के मानवीय पहलुओं पर बल देते हुए मनुष्य के प्रबन्ध पर अधिक महत्व देता है। तीसरी विचारधारा प्रबन्ध में निर्णय लेने की कला को अधिक महत्व देती है। इस विचारधारा के अनुसार उपलब्ध विकल्पों में से सर्वश्रेष्ठ विकल्प का चयन करना प्रबन्ध का उद्देश्य है। प्रणाली एवं

आकस्मिकता विचारधारा संगठन को बाहरी वातावरण के अनुकूल ढालने पर बल देती है। प्रबन्ध की विभिन्न परिभाषाओं तथा संकल्पनाओं के आधार पर ही प्रबन्ध की प्रकृति के तत्व निर्धारित किये गये हैं।

समाज तथा संगठन के सभी वर्गों के प्रति प्रबन्ध के उत्तरदायित्व को उसका सामाजिक दायित्व कहते हैं। व्यावसायिक संगठन चूँकि समाज द्वारा निर्मित है, इसलिए उन्हें समाज की मांग को पूरा करना चाहिए। सामाजिक दायित्व को निभाना संगठन के दीर्घावधि हितों का संरक्षण करता है। प्रबन्धक केवल अपने स्वामी का आर्थिक हित ही न देखें वरन् अन्य वर्गो जैसे कि कर्मचारियों, उपभोक्ता, सरकार तथा पूर्ण समाज के हितों की भी रक्षा करें। तभी प्रबन्ध की संकल्पना वास्तविक धरातल पर सिद्ध हो सकेगी।

20.8 शब्दावली

प्रशासन- प्रबन्ध द्वारा निष्पादित नीतियों एवं उद्देश्यों के सम्पूर्ण निर्धारण का बौद्धिक कार्य।

प्रबन्ध की कला- प्रबन्ध के वैज्ञानिक सिद्धान्तों को व्यवहार में लाना।

संकल्पनात्मक कुशलता- संगठन की समस्त गतिविधियों व हितों को समझने तथा संयोजित करने में प्रबन्धक की योग्यता।

नियंत्रण- पूर्वनिर्धारित मानकों से परिणाम की तुलना करना तथा प्राप्त विचलन को सुधारना।

पूर्वानुमान- भावी घटनाओं का पूर्वज्ञान करना।

प्रबन्ध- मानव समूह की गतिविधियों के निर्देशन तथा अन्य संसाधनों के उपयोग से पूर्व निर्धारित उद्देश्यों की प्रक्रिया।

संगठन- अपेक्षित गतिविधियों को पहचानने तथा वर्गीकृत करने, व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्ध निर्धारित करने और उन्हें अधिकार देने की प्रक्रिया।

नियोजन- भावी कार्यनीति निर्धारित करना।

पेशा- एक विशिष्टि प्रकार का कार्य करने के लिए ज्ञान की सुनिश्चित शाखा के सिद्धान्तों तथा किसी मान्य संस्था द्वारा निर्धारित आचार संहिता के निर्देशों का व्यवहार।

नियुक्तियाँ (कर्मचारी चयन)- संगठन के प्रारूप में विभिन्न पदों का सृजन व उनके लिये उपयुक्त व्यक्तियों का चयन।

प्रबन्ध का विज्ञान- ज्ञान की एक सुनिश्चित शाखा के सिद्धान्तों, संकल्पनाओं और तकनीक का प्रबन्ध कीय कार्यों में प्रयोग।

सामाजिक दायित्व- उद्यम एवं प्रबन्ध से संबंधित वर्गों की अपेक्षाऐं।

20.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. टेलर, **2.** तीन, **3.** मध्य, **4.** व्यावहारिक और रचनात्मक सुझाव, **5.** किम्बाल एवं किम्बाल, **6.** नियोजन

20.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. डॉ0 सी0 वी0 गुप्ता,व्यापारिक संगठन और प्रबन्ध, सुल्तान चन्द एण्ड सन्स, नई दिल्ली, 1996
2. मामोरिया एवं मामोरिया, व्यापारिक योजना और नीति, हिमालया पब्लिशिंग हाउस, मुम्बई, 1996
3. हारोल्ड कून्टज एवं हेनीज विचरिच, इशनशियल्स ऑफ मैनेजमेंन्ट, मैग्राहिल इन्टरनेशनल, नई दिल्ली, 2000

20.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. प्रशान्त के0 घोष, कार्यालय प्रबन्धन, सुल्तान चन्द एण्ड सन्स, 2000,
2. डॉ0 जे0 के0 जैन, प्रबन्ध के सिद्धान्त, प्रतीक पब्लिकेशन, इलाहाबाद, 2002,
3. डॉ0 एल0 एम0 प्रसाद, प्रबन्ध के सिद्धान्त, सुल्तान चन्द एण्ड सन्स, नई दिल्ली, 2005,

20.12 निबंधात्मक प्रश्न

1. प्रबन्ध के विभिन्न स्तरों की कार्यप्रणाली और महत्व की चर्चा कीजिये।
2. प्रबन्ध की शास्त्रीय और आधुनिक विचारधाराओं को समझाइये।
3. क्या एक प्रशासक को प्रबन्धक कहा जा सकता है? कारण सहित स्पष्ट करिये।
4. वर्तमान प्रशासकीय व्यवस्थाओं में सहभागी प्रबन्ध को क्यों अधिक महत्व दिया जाता है?

इकाई- 21 नेतृत्व, नीति निर्धारण तथा निर्णयन

इकाई की संरचना

21.0 प्रस्तावना
21.1 उद्देश्य
21.2 नेतृत्व की अवधारणा
    21.2.1 प्राचीन अवधारणा
    21.2.2 विशेषक अवधारणा
    21.2.3 समूह अवधारणा
    21.2.4 परिस्थितिकी अवधारणा
    21.2.5 नवीन अवधारणा
21.3 नेतृत्व की परिभाषा
21.4 नेतृत्व की विशेषताऐं
21.5 नेतृत्व की आवश्यकता
21.6 नेतृत्व के गुण
21.7 नेतृत्व की शैलियां
    21.7.1 एकतंत्रीय शैली
    21.7.2 सहभागिता नेतृत्व
    21.7.3 हस्तक्षेप रहित नेतृत्व
21.8 नीति निर्धारण
    21.8.1 नीति की परिभाषा
    21.8.2 नीति के स्वरूप या प्रकार
    21.8.3 नीति की विशेषताऐं
21.9 निर्णयन
    21.9.1 निर्णयन की परिभाषा
    21.9.2 निर्णयन की विशेषताऐं
    21.9.3 निर्णयन की प्रकृति
    21.9.4 निर्णयन के प्रकार
    21.9.5 निर्णयन के चरण
21.10 सारांश
21.11 शब्दावली
21.12 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
21.13 सदर्न्भ ग्रन्थ सूची
21.14 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
21.15 निबंधात्मक प्रश्न

21.0 प्रस्तावना

किसी भी प्रशासनिक संगठन की सफलता उसके अन्तिम कार्य निष्पादन पर पूर्ण रूप से निर्भर करती है। अन्तिम निष्पादन प्रभावी एवं सुव्यवस्थित हो, इस हेतु एक प्रशासनिक संगठन को कुशल नेतृत्व, प्रभावी नीति एवं समयबद्ध निर्णयन की आवश्यकता होती है। राज्य की लोक कल्याणकारी अवधारणा के निरूपण के पश्चात् उपरोक्त तीनों ही अवधारणाओं का विस्तृत अध्ययन लोक प्रशासन के छात्रों के लिये महत्वपूर्ण हो गया है। प्रस्तुत इकाई में हम इन तीनों ही अवधारणाओं को प्रभावी एवं क्रमबद्ध ढंग से विश्लेषित करने का प्रयास करेंगे।

21.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- नेतृत्व की अवधारणा को विस्तार से समझ पायेंगे।
- नीति निर्धारण सम्बन्धी अवधारणा को समझ पायेंगे।
- निर्णयन के विभिन्न दृष्टिकोणों को आत्मसात कर पायेंगे।

21.2 नेतृत्व की अवधारणा

लोक सेवा के क्षेत्र में सबसे महत्वपूर्ण कार्य किसी समूह, संगठन या संस्था के समूचे कार्य को वांछित उद्देश्यों की ओर संचालित और निर्देशित करने के लिए नेतृत्व प्रदान करना है। सरकारी तंत्र के अंतर्गत संगठनों के फैलाव, दिनों-दिन बढ़ती संख्या के कारण नेतृत्व और भी अधिक महत्वपूर्ण हो गया है। नेतृत्व का तात्पर्य प्रबन्धकों के उस व्यावहारिक गुण से है, जिसके द्वारा वे अपने अधीनस्थों को प्रभावित करके उनके विश्वास को जीतने का प्रयास करते हैं, उनका स्वाभिमान जागृत करते हैं, उनका सहयोग प्राप्त करते हैं तथा अपने अधीनस्थ समुदाय को संगठित करके पूर्व निर्धारित उद्देश्यों के प्रति उनका मार्ग-दर्शन करते हैं। सामान्य अर्थ में नेतृत्व से अभिप्राय किसी व्यक्ति विशेष के उस चातुर्य या कौशल से है, जिसके द्वारा वह अन्य व्यक्तियों को अपना अनुयायी बना लेता है तथा उनसे अपनी इच्छा के अनुरूप सहर्ष कार्य भी सम्पन्न कराने में सफल हो जाता है।

भारत में अधिकांश सामाजिक तथा प्रशासनिक संगठनों में कुशल नेतृत्व की समस्या निरन्तर विद्यमान रही है। यही कारण है कि सैद्धान्तिक दृष्टि से श्रेष्ठतम नीतियों एवं कार्यक्रम निरूपित करने के उपरान्त भी हमारे प्रशासनिक संगठन क्रियान्वयन के स्तर पर प्रायः असफलत सिद्ध हुए हैं, क्योंकि प्रभावी नेतृत्व का अभाव रहा है। राज्य की लोक कल्याणकारी अवधारणा के प्रचार-प्रसार के बाद तो नेतृत्व की आवश्यकता निरन्तर बढ़ती जा रही है। यदि आज किसी संगठन को प्रभावी एवं सफल बनाना है, तो कुशल एवं योग्य नेतृत्व की आवश्यकता अनिवार्य है। नेतृत्व की अनिवार्यता के सम्बन्ध में सैक्लर हडसन ने ठीक ही कहा है, नेतागिरी की समस्याओं का असाधारण महत्व आकार, जटिलता, विशेषीकरण संगठनात्मक तकनीकी विकास तत्वों की वृद्धि के साथ बढ़ गया है। विद्वानों के अनुसार नेतृत्व की निम्नलिखित अवधारणाओं का विश्लेषण छात्रों के लिये अत्यन्त उपयोगी होगा। इसे क्रमशः समझने का प्रयास करें-

21.2.1 प्राचीन अवधारणा

नेतृत्व की प्राचीन धारणा के अनुसार नेता अपने प्रभावशाली व्यक्तित्व द्वारा अपने अनुययियों से अपनी इच्छा के अनुसार काम कराने में समर्थ होता है। वह अन्य लोगों पर स्वचालित विधि के द्वारा अधिकार रखता है।

21.2.2 विशेषक अवधारणा

नेतृत्व की इस अवधारणा के अनुसार प्राय नेतृत्व संबंधी अध्ययन नेताओं केगुणों पर ही केन्द्रित रहे। किन्तु एक प्रश्न सदैव से ही अनुउत्तरित रहा है कि कौन से स्थायी गुण व्यक्ति को नेता बनाते हैं। विद्वानों के अनुसार, नेताओं

के पास कुछ जन्मजात विशेष अनुवांशिक गुण, चारित्रिक विशेषताऐं और कुछ प्राकृतिक योग्यताऐं होती हैं, जिनके कारण वे नेता बन पाते हैं। अतः एक सफल नेता के प्रमुख विशेषक हैं- प्रतिभा, सामजिक परिपक्वता, आंतरिक अभिप्रेरणा उपलब्धि की तीव्र इच्छा और मानव सम्पर्क की प्रवृति। इस अवधारणा का मूल है कि नेता जन्म लेते हैं, बनाये नहीं जाते हैं। प्रायः इस सिद्धान्त की सर्वस्वीकृति है। किन्तु निम्नलिखित कारणों से इसकी आलोचना भी होती है-

1. नेता के गुणों के सम्बन्ध में अलग-अलग विद्धानों ने अलग-अलग सूची दी है जो न तो पूर्ण है और न ही अधिकृत मानी जा सकती है। गुणों के चयन का कोई वैज्ञानिक आधार भी आज तक तैयार नहीं किया जा सका है।
2. इस अवधारणा में सफल नेतृत्व के गुणों की मात्रा के बारे में कुछ भी नहीं कहा गया है।
3. परिस्थिति सम्बन्धी कारकों की पूर्ण उपेक्षा की गई है।
4. यह मानना भ्रामक है कि नेता जन्मजात होते हैं। वर्तमान प्रतिस्पर्धात्मक समाज में प्रायः देखा गया है कि कुछ लोग शिक्षा के माध्यम से भी नेता के गुण आर्जित कर सफल नेता बन जाते है।
5. इस अवधारणा से नेता का आचरण स्पष्ट होता है, किन्तु विभिन्न आधारों पर इसका विश्लेषण नहीं किया जा सकता है।
6. इस अवधारणा से यह भी स्पष्ट नहीं होता कि एक नेता में पद के अनुरूप कौन-कौन से गुणों का सम्मिश्रण होना चाहिए।

उपरोक्त बिन्दुओं के निर्वचन के पश्चात् हम कह सकते हैं कि इस अवधारणा की अनेक आलोचनाऐं हुई हैं, फिर भी यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि एक सफल नेता में कुछ विशेष गुण अवश्य ही विद्यमान होते हैं जो उसे समूह से अलग कर सैकड़ों-लाखों लोगों के नेतृत्व का अधिकार प्रदान करते हैं।

21.2.3 समूह अवधारणा

इस अवधारणा को मनोवैज्ञानिक की अवधारणा के रूप में पहचाना जाता है। यह अवधारणा इस बात पर जोर देती है कि एक नेता अपने अनुयायिओं को लाभ पहुँचाता है। अनुयायी उन नेताओं पर निर्भर करते हैं, जो उनकी जरूरतों को पूरा कर पाते हैं। वे अपना समर्थन और सहयोग नेताओं को उस समय तक देते रहते हैं, जब तक कि यह नेता प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से उन्हें लाभ प्रदान करते रहते हैं।

21.2.4 पारिस्थितिक अवधारणा

इस अवधारणा के समर्थकों के अनुसार अब तक समस्त अवधारणाओं की अपर्याप्त पारिस्थितिजन्य कारकों की खोज शुरू की जो नेतृत्व की भूमिकाओं, कुशलताओं और व्यवहार को प्रभावित करते हैं। इस अवधारणा के अनुसार नेतृत्व परिस्थितिजन्य हैं और इसी से प्रभावित भी होता है। उपरोक्त विचार का विश्लेषण करने से ज्ञात होता है कि नेतृत्व एक ऐसी कला है जिसे परिस्थितियों के अनुरूप उपयोग में लाया जाता है। नेता द्वारा परिवर्तनों को क्रियान्वित करने के लिए अपने अनुयायियों को विश्वास में लेना होता है। नेतृत्व की विभिन्न तकनीकों, विधियों तथा शैलियों को सदैव समान रूप में लागू करके परिस्थितियों के अनुरूप लागू किया जाता है। इसीलिए नेतृत्व को परिस्थित्यात्मकता से सम्बद्ध किया जाता है।

इस प्रकार नेतृत्व उन दशाओं पर आधारित होता है, जिनमें नेता कार्य करता है। नेतृत्व की समस्त शैलियाँ परिस्थितियों से प्रभावित होती हैं। परिस्थितियों एवं नेतृत्व शैली के परस्पर सामजस्य से ही नेतृत्व प्रभावशाली होता है। इतिहास में बहुत से उदाहरण मिलते हैं, जिसमें मनुष्य या व्यक्ति परिस्थितिवश नेता बन जाता है और सफल भी रहता है। इस प्रकार एक व्यक्ति को नेता बनाने में परिस्थितिजन्य कारकों की प्रभावी भूमिका होती है।

नेतृत्व से सम्बन्धित परिस्थितिजन्य कारकों का वर्गीकरण कुछ इस प्रकार से किया जा सकता है, इसे समझने का प्रयास करें-

1. सांस्कृति तत्व, जैसे- सामाजिक मूल्य, विश्वास, परम्परा आदि।
2. वैयाक्तिक दृष्टिकोण, जैसे- आयु, शिक्षा, अभिरूचि, प्रेरणायें आदि।
3. कार्य में अन्तर, जैसे- भूमिका, प्रशिक्षण, योग्यता आदि।
4. संगठनात्मक अन्तर, जैसे- स्वामित्व, आकार, उद्देश्य, प्रेरणा आदि।

21.2.5 नवीन अवधारणा

नेतृत्व की इस अवधारणा के अनुसार नेता अपने अनुयायियों को अपने साथ नेतृत्व में सहभागिता लेने का प्रशिक्षण देकर वांछित उद्देश्यों को पूर्ति के लिए कार्य करा सकता है। इसके लिए वह सबके अनुभवों को एककृति और समन्वित करता है। इस प्रकार पूर्व निर्धारित उद्देश्यों के लिए ये सभी को मान्य होते हैं।

21.3 नेतृत्व की परिभाषा

उपरोक्त अवधारणाओं के पश्चात् नेतृत्व की कुछ प्रमुख परिभाषाओं का अध्ययन करें-

बरनाई के अनुसार, नेतृत्व किसी व्यक्ति का वह व्यावहारिक गुण है, जिसके द्वारा वह अन्य व्यक्तियों को प्रभावित व संगठित करके अभीष्ट कार्य कराने में सफल हो जाता है।

कीथ डेविस के अनुसार, दूसरे व्यक्तियों को निश्चित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए उत्सुक व उनकी सहर्ष सहमति की स्वीकृति प्राप्त करने की योग्यता को नेतृत्व कहते हैं।

जॉर्ज आर0 टैरी के अनुसार, नेतृत्व वह क्रिया है, जिसके माध्यम से कोई व्यक्ति उद्देश्यों के लिए व्यक्तियों को स्वेच्छा से कार्य करने हेतु उन्हें प्रभावित करता है।

लिविंगस्टोन के शब्दों में, नेतृत्व अन्य लोगों में किसी सामान्य उद्देश्य का अनुकरण करने की इच्छा को जागृत करने की योग्यता है।

कूंट्स एवं ओ0 डोनेल के अनुसार, किसी लक्ष्य की प्राप्ति हेतु संदेशवाहक के माध्यम से व्यक्तियों को प्रभावित करने की योग्यता नेतृत्व कहलाती है।

आर्डवे टीड के अनुसार, नेतृत्व गुणों का वह संयोजन है, जिनके होने से ही नेता, अनुयायियों से कुछ करवाने के योग्य होता है, क्योंकि नेता के प्रभाव से ही अनुयायी कुछ करने को तत्पर होते हैं।

सेक्टर हडसर के अनुसार, किसी उद्यम के उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु समान प्रयत्न द्वारा व्यक्तियों को प्रेरित तथा प्रभावित करने के रूप में नेतृत्व को परिभाषित किया है।

चेस्टर बनोर्ड के अनुसार, नेतृत्व व्यक्तियों के व्यवहार को उद्यमता की ओर निर्देशित करता है, जिसके द्वारा वे किसी संगठित प्रयत्न में संलग्न लोगों की क्रियाओं का मार्गदर्शन करते हैं।

21.4 नेतृत्व की विशेषताऐं

नेतृत्व की उपरोक्त परिभाषाओं विश्लेषण के आधार पर, नेतृत्व की निम्नलिखित विशेषताओं का निरूपण किया जा सकता है। इन विशेषताओं को क्रमबद्ध कर समझने का प्रयास करें-

1. नेतृत्व सामूहिक रूप से व्याक्तियों को प्रभावित करने की एक सुव्यवस्थित प्रक्रिया है।
2. नेतृत्व एक प्रकार का चातुर्य या कौशल है, जिसके द्वारा अन्य व्यक्तियों को अपना अनुयायी बना लेना एवं उनसे अपनी इच्छा के अनुरूप कार्य सम्पन्न कराने की उनकी सहर्ष सहमति प्राप्त कर लेना सम्भव होता है।

3. व्यक्तियों को एक समूह में बाँधना तथा उन्हें निर्धारित लक्ष्यों की ओर सहर्ष बढ़ने के लिए प्रेरित करना एवं जिस मानवीय गुण के द्वारा सम्भव बनाना होता है, नेतृत्व कहलाता है।
4. नेतृत्व में अनुयायियों का होना प्रमुखतः आवश्यक है, क्योंकि नेतृत्व अनुयायियों या समर्थकों या अधनीनस्थों का ही किया जाता है। बिना समूह के नेता की कल्पना पूर्ण नहीं होती है।
5. नेतृत्व किसी सामान्य लक्ष्य या उद्देश्य की प्राप्ति के लिए संगठित लोगों का किया जाता है। बिना लक्ष्य या उद्देश्य न तो कोई संगठन बनता है और न ही उसमें नेतृत्व हो सकता है।
6. नेतृत्व में अनुयायियों के आचरण एवं व्यवहार को प्रस्तावित किया जाता है। इसके माध्यम से अनुयायियों पर नेता का एक प्रभाव पड़ता है। नेता का व्यवहार एवं आचरण अपने आप में एक आदर्श होता है।
7. यह एक सुव्यवस्थित रूप से गतिशील प्रक्रिया है, अर्थात् संगठन में नेतृत्व सदैव विद्यमान रहता है।
8. नेतृत्व के लिए परिस्थितियों को महत्वपूर्ण माना जाता है, क्योंकि परिस्थितियां ही आवश्यकताओं, हितों, दबावों तथा परिवर्तनों को जन्म देती हैं तथा परिस्थितियों में ही नेतृत्व का परीक्षण होता है।
9. नेतृत्व समान्य उद्देश्य की प्राप्ति या हित पूर्ति के लिए नेता की प्रेरणा तथा समूह के प्रयत्नों का सामूहिक या एकीकृत परिणाम है।
10. प्रशासनिक संगठनों में पदसोपानात्मक दृष्टि से उच्चतम प्रबन्ध क ही नेता की भूमिका निभाता है। तथापि यह भी सत्य है कि सभी उच्चतम प्रबन्धक नेता नहीं कहला सकते हैं। बल्कि नेतृत्व से सम्बन्धित आवश्यक योग्यताओं तथा नेतृत्व का आत्मबोध का होना आवश्यक है, क्योंकि संगठन में अधीनस्थों की स्वीकृति तथा सहयोग भी नेतृत्व का आवश्यक भाग है।

नेतृत्व की उपरोक्त विशेषताओं के आधार पर कहा जा सकता है कि नेतृत्व प्रबन्ध का आन्तरिक भाग है, जो कि प्रबन्धकीय कार्यों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। प्रबन्धकीय सफलता का रहस्य कुशल नेतृत्व में ही समाहित हैं। कोई भी प्रशासनिक संगठन कितना ही अधिक सम्पूर्ण क्यों न हो नेतृत्व को प्रतिस्थापित नहीं कर सकता है।

21.5 नेतृत्व की आवश्यकता

आज की निरंतर परिवर्तित होती परिस्थितियों में प्रशासनिक संगठनों में नेतृत्व का काफी महत्व है। किसी भी प्रशासनिक संगठन की सफलता या असफलता नेतृत्व की प्रकृति पर निर्भर करती है। इस प्रकार निम्नलिखित कारणों से एक प्रशासनिक संगठन को नेतृत्व की आवश्यकता होती है-

1. कर्मचारियों में सन्तोष विश्वास एवं सुरक्षा की भावना का विकास एवं स्थायित्व प्रदान करने हेतु।
2. कर्मचारियों को उनके कार्य के प्रति मानोबल प्रदान करने एवं प्रोत्साहित करने हेतु।
3. संगठन एवं जनता के प्रति कर्तव्यपरायणता की भावना उत्पन्न करने के लिए।
4. कर्मचारियों में समूह-भावना उत्पन्न करने हेतु।
5. कर्मचारियों में कार्य करने के लिए आन्तरिक दृष्टि उत्पन्न करने हेतु।
6. संगठन के पूर्ण निर्धारित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए प्रयत्न एवं सफलता प्राप्त करने हेतु।
7. कर्मचारियों में कार्य के प्रति लगाव में वृद्धि हेतु।
8. संगठन की नीतियों के सफल क्रियान्वयन एवं निस्पादन हेतु।
9. सामूहिक गतिविधियों के लिए कर्मचारियों में रूचि उत्पन्न करने के लिए।
10. अपेक्षित कार्य निस्पादन प्राप्त करने तथा अनुशासन बनाये रखने हेतु।

प्रशासनिक संगठन के शीर्ष पर नेता में स्वाभाविक रूप से कतिपय ऐसे विशिष्ट गुण होने चाहिए जो सहयोगी सदस्यों को प्रभावित कर सकें। वास्तव में नेतृत्व में ''प्रभाव'' शब्द बहुत महत्वपूर्ण है, क्योंकि प्रभाव के द्वारा ही अनुयायियों को संगठन के लक्ष्य की ओर प्रेरित किया जा सकता है।

21.6 नेतृत्व के गुण

किसी भी नेता में कुछ विशेष गुण आवश्यक होते हैं। लेकिन गुणों को अभ्यास से पैदा नहीं किया जा सकता, क्योंकि कुछ गुण अन्य की तुलना में अधिक जन्मजात होते हैं। आइये कुछविशिष्ट और सहजता से पहचाने जाने वाले नेतृत्व सम्बन्धी गुणों को सूचिबद्ध करने का प्रयास करें। ध्यान रहे ये गुण परिवर्तशील है। समय काल, परिस्थिति के अनुसार नेता गुणों में थोड़ा बहुत परिवर्तन करता है, यह एक वास्तविकता है। इन गुणों को समझने का प्रयास करें-

1. निष्ठा, 2. भावनात्मक स्थायित्व एवं मानव भावनाओं की समझ, 3. व्यक्तिगत उत्प्रेरणा एवं सुव्यवस्थित संचार प्रबन्ध, 4. शिक्षा देने की योग्यता- सामाजिक दृष्टि के साथ, 5. विधिक दक्षता एवं अन्य बाहरी पर्यायवरणीय कारकों की समझ, 6. शारीरिक एवं मानसिक ऊर्जा, 7. उद्देश्य एवं निर्देशन की की समझ, 8. उत्साह, मैत्रीभाव एवं स्नेह का भाव, 9. तकनीकी दृष्टि से निपुणता के साथ-साथ बौद्धिक चतुर्थ और 10. चारित्रिक बल एवं कुशल निर्णयन क्षमता।

उपरोक्त गुणों के आलोक में यह कहा जाता है कि नेता को एक आदर्श व्यक्ति जैसे गुणों से युक्त होना चाहिए। यद्यपि सर्वगुणा सम्पत्र व्यक्ति का मिलना प्रायः असम्भव होता है। इस प्रकार कोई व्यक्ति समस्त उत्कृष्ट गुणों का अपने अन्दर विकास नहीं कर सकता है। तथापि नेता को आम आदमी या संगठन के अधीनस्थ व्यक्तियों की तुलना में अधिक परिपक्व, परिश्रमी, साहसी तथा मानवीय होना चाहिए। हालांकि इनमें से बहुत से विशेषक मनोवैज्ञानिक शब्दवली के अंतर्गत आते हैं, लेकिन ये सारे के सारे गुण नेतृत्व की हर परिस्थिति में अनिवार्यतः प्रकट नहीं होते और न प्रत्येक नेता इनके अंतर्गत आते हैं।

श्रेष्ठ नेतृत्व के द्वारा ही उपक्रम के समस्त अधीनस्थों में प्रबल शक्ति, उत्साह एवं क्रियाशीलता का प्रादुर्भाव किया जा सकता है। साथ ही चमत्कारिक परिणाम प्राप्त करने हेतु आशातीत सफलता प्राप्त हो सकती है। अतः सफल नेतृत्व ही है, जो कि व्यक्तियों के कार्य करने के स्तर को उच्चतर बना देता है तथा उनके व्यक्तित्व को उनकी सीमाओं और क्षमताओं से अधिक प्रभावशाली बनाने में सहयोग प्रदान करता है।

इस प्रकार एक नेता द्वारा नेतृत्व के लिये चयनित शैली उसकी क्षमता को बहुत अधिक प्रभावित करती है। नेतृत्व की शैली संस्थागत लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए प्रेरणा देती है। अनुचित शैलियाँ कर्मचारियों में अंसतोष और विरोध की भावना पैदा करती हैं। नेतृत्व की तीन शैलियाँ मानी गई हैं। प्रायः नेतृत्व कर स्थितियों को नजर में रखते हुए विभिन्न अवसरों पर विभिन्न शैलियों को अपनाते हैं।

21.7 नेतृत्व शौलियाँ

नेतृत्व की शैलियों का अध्ययन हम निम्नलिखित बिन्दुओं के आधार पर कर सकते हैं-

21.7.1 एकतंत्रीय शैली

यद्यपि एकतंत्रीय नेतृत्व प्राचीन काल में प्रचलित होने के कारण काफी पुरानी व अविकसित तकनीक है, किन्तु कई परिस्थितियों में यह आज भी क्रियान्वित हो सकती है। इसमें नीति संबंधी और निर्णयात्मक अधिकार पूर्णतः नेता के हाथों में केन्द्रित रहते हैं। नेता ही अपनी मर्जी के अनुसार नीतियों को तय करता है और उनमें परिवर्तन करता है तथा सभी निर्णय स्वयं ही लेता है, फिर चाहे वो सही हो या गलत। इसमें एकतरफा संचार होता है ।

इस प्रकार के नेता अपने मातहतों से बिना सलाह-मशवरा किये नीतियों को स्वीकारने की अपेक्षा करते हैं। ऐसे नेताओं को इस शैली के फलस्वरूप उनके व्यवहार का पूर्वानुमान करना अत्यन्त कठिन होता है। इस प्रकार ये नेता एकाकी रहते हैं और समूह से अलग-थलग बने रहते हैं।

सभी अधीनस्थों को कार्य की विभिन्न गतिविधियों व तकनीकों का प्रत्येक चरण भली-भाँति वह स्वयं समझाता है। ये स्वयं को श्रेष्ठ और अपने मातहतों की हीन, अनुभवरहित और अयोग्य समझते हैं। इस प्रकार के नेतृत्व का सबसे बड़ा लाभ शीघ्र निर्णय ले पाने का होता है। लेकिन यह शैली कर्मचारियों के लिए कष्टकर होती है और उनके असंतोष का कारण बनती है। इस प्रक्रिया में कर्मचारी संस्थागत लक्ष्यों के प्रति उदासीन हो जाते हैं, क्योंकि किसी कर्मचारी का कार्य प्रशंसा के लायक है अथवा आलोचना के लायक है, इस बात का निर्णय भी समूह द्वारा न होकर नेता द्वारा स्वयं ही लिया जाता है। नेता अधीनस्थों को केवल निर्देश देता है और स्वयं कार्य में सक्रिय भाग नहीं लेता।

वस्तुतः इस शैली का भाव नकारात्मक होता है, क्योंकि इसमें कर्मचारियों को अन्धकार में रखा जाता है। वे अपने को स्वयं असुरक्षित अनुभव करते हैं तथा नेता की भावनाओं को समझे बिना उससे भयभीत रहते हैं। नेता स्वयं इस बात का भी निर्णय लेता है कि अमुक कार्य किस व्यक्ति के द्वारा कराया जाए और उस व्यक्ति को सहयोगी भी दिया जाए या नहीं। नेतृत्व की यह शैली केवल उन्हीं व्यक्तियों पर लागू होता है जो कि कार्य से जी चुराते हैं, किन्तु अपनी नौकरी की पूर्ण सुरक्षा चाहते हैं तथा किसी भी कार्य में स्वयं पहल नहीं करते।

इस प्रकार एकतंत्रीय शैली का सबसे बड़ा लाभ यह है कि जो कर्मचारी व्यक्ति जो दण्डित होने के भय से ही कार्य करते हैं, वे दण्डित होने के भय से अनुशासित रहते हैं और समर्पित भाव से कार्य करते हैं। जिससे उद्देश्यों को प्राप्ति सरलता से हो पाती है।

21.7.2 सहभागिता नेतृत्व

नेतृत्व की इस शैली को लोकतांत्रिक शैली भी कहते हैं। इस शैली के अंतर्गत संस्था के लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए नेता अपने कर्मचारियों का सहयोग प्राप्त करते हैं तथा उनके विचारों व सुझावों को आमंत्रित करके, उनसे नीतियाँ तैयार करने में सहयोग प्राप्त करते हैं। इस प्रकार नेतृत्व की इस प्रणाली में कार्य करने वाला नेता अपने अधीनस्थों की सहभागिता एवं परामर्श को बढ़ाता है, जिससे उनमें एक सशक्त समूह-भावना का संचार होता हैं। वर्तमान में नेतृत्व की यह शैली अधिक प्रचालित है। इस प्रणाली में सामूहिक-चर्चा करके नीतियों का निर्धारण किया जाता है।

संगठन में पारदर्शिता को अपनाया जाता है। किसी भी निर्णय पर पहुँचने से पूर्व मुखिया अपने अधीनस्थों से उचित सलाह लेता है। प्रत्येक व्यक्ति अपना अभीष्ट कार्य एवं अपना सहयोगी साथी चुनने के लिए पूर्ण स्वतन्त्र होता है। इस पद्धति में नेतृत्व अपनी प्रशंसा से अपनी कार्य प्रणाली में परिवर्तन करता है। वह स्वयं अधिक कार्य न करते हुए भी समूह के सदस्य रूप में स्वयं को प्रस्तुत करने की ही चेष्टा करता है। वह मानकर चलता है कि मातहतों में निर्णय लेने की क्षमता है, जिससे वो उन्हें विकेन्द्रीकृत अधिकार प्रदान करता है। कर्मचारियों का मनोबल बढ़ता है और उनमें अपने कार्य के प्रति संतुष्टि पैदा होती है। इस शैली की निम्नलिखित विशेषताओं को सूचिबद्ध किया जा सकता है-

- सहभागी शैली में नेतृत्व अपने कर्मचारियों का मनोबल बढ़ता है।
- नेतृत्व, कर्मचारियों की शिकायतों को यथासम्भव न्यूनतम करने का प्रयास करता है।
- नेतृत्व उच्च प्रबन्ध तथा कर्मचारियों के मध्य मधुर सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास करता है।
- अधीनस्थों को काम करने के लिए प्रोत्साहित करता है तथा कार्य के प्रति उनका रूख सुधारता है।

उपरोक्त निर्वचन के आलोक में यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सहभागिता शैली से मनोबल एवं संतुष्टि बढ़ती है, किन्तु इस प्रकार के नेतृत्व में निर्णय में विलम्ब होता है तथा गुणवत्ता का भी एक प्रश्न होता है। यदि अधीनस्थ कर्मचारी सहभगी नेतृत्व का दुरूपयोग न करें एवं कर्तव्यों व दायित्वों का निर्वहन सूझ-बूझ के साथ करते रहें तो निःसन्देह सहभागिता नेतृत्व किसी भी प्रशासनिक संगठन को सफलता के द्वार तक पहुँचा कर जनता के प्रति जवाबदेही को सफल सिद्ध कर सकती हैं।

21.7.3 हस्तक्षेप रहित नेतृत्व

नेतृत्व की इस शैली में नेता कोई हस्तक्षेप नहीं करता है। निर्णय लेने में नेता की सहभागिता बहुत कम होती है। अधीनस्थ स्वयं की प्रेरणा से ही निर्णय करते हैं। इस प्रकार के नेतृत्व को प्रेरणा प्रदान करने के लिए संस्था किसी नेता पर निर्भर नहीं रहती। कर्मचारी ही स्वयं को प्रेरित करते हैं। उन्हें अपेक्षाकृत अधिक स्वतंत्रता प्राप्त रहती है और निर्णय लेने में नेता की सहभागिता कम से कम होती है। संस्था की कार्यप्रणाली में घटना क्रम को नियमित करने के प्रयास नहीं किये जाते। नेता सिर्फ संस्था में एक सदस्य की भूमिका निभाता है। नेतृत्व की यह शैली कर्मचारियों को अधिक स्वतंत्रता प्रदान करती है।

प्रायः विद्वानों की मान्यता है कि नेतृत्व की यह शैली प्रयोग करने में कठिन है। इसमें नेता एक सूचना केन्द्र की भाँति कार्य करता है, किन्तु उसका नियन्त्रण कार्य एकदम नगण्य होता है। इसमें नेता को कार्य सम्पन्न कराने के लिए अपने अधीनस्थों पर ही आश्रित रहना पड़ता है। कार्य करने की भावना और दायित्वों के प्रति उनकी संवेदनशीलता ही नेता को कार्य सम्पन्न कराने में सहायक होती है।

वस्तुतः स्वतन्त्र बागडोर सम्भालने वाला नेता अपने कामगारों के समूह का मार्ग-दर्शन नहीं करता, बल्कि उन्हें कार्य करने के लिए पूर्णतः स्वतंन्त्र रखता है। इस प्रकार कार्य पूर्ण करने का दायित्व पूर्णरूपेण अधीनस्थों पर ही रहता है, जो स्वयं ही लक्ष्य निर्धारित करते हैं और स्वयं ही अपनी समस्याओं का निराकरण करते हैं। मुखिया तो केवल सम्पर्क रखता है। वह न तो नेता के रूप में अपना योगदान करता है और न ही वह अपने अधिकार व शक्ति का ही प्रयोग करता है, वह केवल एक सम्पर्क सूत्र की भाँति कार्य करता है। इस प्रकार की नेतृत्व शैली की उपयोगिता तभी सिद्ध होती है, जबकि अधीनस्थ कर्मचारी कुशल प्रशिक्षित व प्रतिभाशाली हों।

21.8 नीति निर्धारण

नीतियाँ एक प्रकार का विस्तृत विवरण होती हैं, जो कि प्रशासनिक संगठन के पूर्वनिर्धारित लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिये संगठन के निर्णयों के लिये मार्गदर्शन करने का कार्य करती हैं। यह स्पष्ट करती हैं कि किसी विशिष्ट परिस्थिति में संगठन के सदस्य किस प्रकार व्यवहार करेंगे तथा निर्णय लेगें। दूसरे शब्दों में एक कुशल प्रशासक सदैव अपने संगठन के उद्देश्यों को निर्धारित करता है।

21.8.1 नीति निर्धारण की परिभाषा

प्रशासन की सभी क्रियाऐं उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिये ही निर्देषित होती हैं। संगठन की क्रियाऐं कुछ निर्धारित सिद्धान्तों के आधार पर निर्देशित की जाती हैं, जिन्हें नीतियों के नाम से सम्बोधित किया जाता है। इस प्रकार नीतियों को उन सिद्धान्तों के रूप में समझा जा सकता है, जो संगठन की क्रियाओं को करती हैं। इस सम्बन्ध में विद्वानों द्वारा प्रदत्त परिभाषाओं को समझने का प्रयास करें -

डेल ग्रोडर के अनुसार, नीति, विचार एवं क्रिया का एक पूर्व-निर्धारित मार्ग है, जिसे स्वीकृत लक्ष्यों एवं उद्दश्यों की ओर मार्ग-दर्शक की भाँति सुस्थापित किया जाता है।

एडविन बी0 फिलिप्पो के अनुसार, नीति एक मानवकृत नियम या कार्यवाही का पूर्व-निर्धारित मार्ग है, जिसकी स्थापना संगठन के उद्देश्यों की ओर कार्य निष्पादन के मार्गदर्शन हेतु की जाती है।

उपर्युक्त परिभाषाओं के सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि नीतियाँ पूर्व-निर्धारित उद्देश्यों को प्राप्त करने का मार्ग निर्धारित करती हैं। नीतियाँ उन क्षेत्रों एवं सीमाओं को परिभाषित करती हैं, जिनके अन्तर्गत निर्णय लिये जाते हैं, ये प्रबन्ध की क्रियाओं का निर्धारण करती हैं। नीतियों के आधार पर नेतृत्व अपने अधीनस्थों को अधिकारों का भारार्पण कर और उनकी क्रियाओं पर नियन्त्रण रखते हैं।

आज की जटिल सामाजिक संरचना में, एक प्रशासानिक संगठन को निम्नलिखित कारणों से सुव्यवस्थित नीतियों की आवश्यकता होती है- संगठन के पूर्व-निर्धारित लक्ष्यों एवं उद्देश्यों को सुव्यवस्थित ढंग से प्राप्त करने हेतु, संगठन की क्रियाओं पर प्रभावी नियन्त्रण स्थापित करने हेतु, निर्णयों के लिये ठोस एवं वास्तविक आधारों के निर्धारण हेतु, निर्णयों में एकरूपता एवं मितव्ययिता प्राप्त करने हेतु, उच्च प्रबन्धक एवं कर्मचारियों के मध्य स्वस्थ सम्बन्धों की स्थापना करने हेतु, कर्मचारियों का मनोबल एवं कार्य स्थल संतुष्टि बढ़ाने हेतु विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया सरल बनाते हेतु और अनावश्यक कार्य एवं समूह दबाव से मुक्ति पाने हेतु।

21.8.2 नीति के स्वरूप या प्रकार

प्रायः प्रशासनिक संगठनों में नीतियां सरकारी नियमों को ध्यान में रखकर निर्मित की जाती है। इसमें कुछ नीतियां संगठन के लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिये जनहित के लिये बनायी जाती हैं और कुछ नीतियाँ कर्मचारियों की प्रार्थना पर कर्मचारी के कल्याण हेतु बनायी जाती हैं। प्रायः नीतियों के निम्नलिखित रूपों को क्रमबद्ध किया जाता है-

1. **परियोजना नीति-** परियोजना नीति में किसी कार्य विशेष के लिये नीति-निर्माण होता है। जैसे ही कार्य सम्पन्न होता है, इनका समापन हो जाता है। यह प्रायः नवीन कार्यों के लिये बनायी जाती हैं तथा इस पर बहुत अधिक विनियोग की आवश्यकता होती है।
2. **संचालन नीति-** इस प्रकार की नीति का सम्बन्ध संस्था की वास्तविक एवं दैनिक क्रियाओं से होता है। ये मुख्य योजनाओं के आधार पर कर्मचारी प्रबन्ध द्वारा बनायी जाती है। संस्था की पूर्ण सफलता इन्हीं नीतियों पर निर्भर करती है।
3. **प्रशासकीय नीति-** प्रशासकीय नीतियों से आशय ऐसे नीतियों से है, जो उच्च प्रबन्ध द्वारा दीर्घकालीन उद्देश्यों के निर्धारण के लिए किया जाता है। वास्तव में प्रशासनिक नीति संस्था के उद्देश्यों, प्रशासकीय दृष्टिकोण एवं आर्थिक मजबूती का दर्पण होता है। ये सर्वाधिक महत्वपूर्ण, व्यापक एवं दीर्घकालीन नीति होती है।
4. **दीर्घकालीन नीति-** इस प्रकार की नीति लम्बे समय के लिए बनायी जाती है। इससे संस्था के दीर्घकालीन उद्देश्यों की पूर्ति की जाती है। यह प्रायः पाँच से दस वर्षों के लिये होती हैं।
5. **मध्यकालीन नीति-** मध्यकालीन नीति एक वर्ष से पाँच वर्ष के लिए बनायी जाती है। इससे दीर्घकालीन उद्देश्यों की पूर्ति की जाती है।
6. **अल्पकालीन नीति-** अल्पकालीन नीति का आशय छोटी अवधि की योजनाओं से होता है। ये योजनाऐं सामान्यतः मासिक, त्रैमासिक, अर्द्धवार्षिक एवं वार्षिक बनाई जाती हैं। इनका उद्देश्य तत्कालीन समस्याओं की पूर्ति करना होता है।
7. **विस्तृत नीति-** संस्था की सभी समस्याओं के लिए बनाई गयी नीति को विस्तृत नीति कहते हैं। इसमें संस्था की सभी समस्याओं पर ध्यान दिया जाता है। इसमें सभी विभागों के उद्देश्यों एवं समस्याओं का विस्तृत विश्लेषण भी किया जाता है।
8. **विभागीय नीति-** विभागीय नियोजन संस्था के अलग-अलग विभागों के लिए किया जाता है- जैसे- क्रय, विक्रय, कर्मचारी, उत्पादन आदि के लिए किया गया नियोजन। इससे विशिष्ट या क्रियात्मक नियोजन भी कहते हैं। यह विस्तृत योजना उद्देश्यों के अनुसार तैयार की जाता है।

9. **उच्च स्तरीय नीति-** इस प्रकार की नीति में प्रशासन द्वारा बनाई गयी योजनाऐं शामिल होती हैं। इनमें पूरी संस्था के लिये नीतियों, उद्देश्यों एवं बाजार का स्पष्ट उल्लेख होता है।
10. **मध्य स्तरीय नीति-** इस प्रकार की नीति विभागीय प्रबन्धकों द्वारा बनायी जाती है। इन नीतियों का उद्देश्य विभागीय उद्देश्यों को पूर्ण करना होता है।
11. **निम्न स्तरीय नीतियाँ-** पर्यवेक्षकों/निरीक्षकों द्वारा बनाई गयी नीतियों को निम्नस्तरीय या अल्पकालीन नीतियाँ कहते हैं। ये नीतियाँ वास्तव में कार्यकारी योजनायें होती हैं।
12. **स्थायी नीति-** स्थायी नीतियों का तात्पर्य उन नीतियों से होता है, जिनका बार-बार प्रयोग अर्थात दोहराव किया जाता है।
13. **अस्थाई नीति-** इस प्रकार की नीतियाँ किन्हीं विशिष्ट उद्देश्यों को धयान में रख कर बनायी जाती हैं।

21.8.3 नीति की विशेषताऐं

एक अच्छी नीति की विषेशताऐं क्या हो? इस सम्बन्ध में प्रायः विद्वानों, विश्लेषकों एवं प्रशासकों में मतभेद दृष्टिगत होते हैं। इन मतभेदों को कम से कम करने हेतु निम्नलिखित विशेषताओं का चयन किया जा सकता है। इन्हें क्रमशः समझने का प्रयास करें- नीति स्पष्ट, सरल तथा सुगम्य होनी चाहिये, नीति संस्था के उद्देश्यों के अनुरूप होनी चाहिये, व्यावहारिक रूप से विभागों की सहमति होनी चाहिये, नीति लोचदार परिवर्तनीय एवं समयानुकूल होनी चाहिये, सम्भावित पर्यावरणीय कारकों के अनुरूप एवं पर्याप्त होनी चाहिये, तथ्यों एवं आधारों के विश्लेषण पर आधारित होनी चाहिये, सुव्यवस्थित व सुसंगठित तथा विस्तृत कार्यविधि होनी चाहिये, आर्थिक रूप से सरकारी नियमों तथा जनहित के अनुकूल होनी चाहिये, वर्तमान एवं भावी निर्णयों से सामजस्य होने के अनुरूप होनी चाहिये, तथा सम्पूर्ण कार्य-क्षेत्र के तत्वों की सीमाओं को स्पष्ट करने योग्य होनी चाहिये।

ज्ञातव्य हो कि नीति की उपरोक्त विशेषताओं के साथ-साथ निश्चित रूप से समायान्तर पर नीति के अच्छे और बुरे प्रभावों का मूल्यांकन किया जाना चाहिये जिससे महत्तम लाभ हेतु नकारात्मक प्रभावों को दूर करने के लिये समायनुसार आवश्यक संशोधन; जिससे नीति की उपयोगिता- संगठन, जनता एवं कर्मचारियों के हितों को पूर्णता प्रदान कर सके। अध्ययन को पूर्णतः प्रदान करते हुए नीतियों के दो प्रमुख स्वरूप, यथा-दीर्घकालीन और अल्पकालीन के मध्य अन्तरों को विश्लेषण करने का प्रयास करें-

दीर्घकालीन नीतियाँ	**अल्पकालीन नीतियां**
कार्यकाल लम्बी अवधि का होता है।	नीतियों का कार्यकाल कम अवधि का होता है।
नीतियों में लक्ष्यों की प्रकृति बड़ी होती है।	इन नीतियों में अपेक्षाकृत छोटे लक्ष्य लिए जाते हैं।
इन नीतियों के क्रियान्यवयन में लागत अधिक आती है।	इन नीतियों को क्रियान्वित करने में लागत कम आती है।
दीर्घकालीन नीतियों की रणनीति का क्षेत्र व्यापक होता है।	अल्पकालीन नीतियों की रणनीति का क्षेत्र सीमित होता है।

सुव्यवस्थित नीतियों के निर्माण से प्रशासन को शीघ्र निर्णय लेने में सुविधा होती है। एक बार संगठन के उद्देश्य निर्धारित हो जाने के पश्चात योजना का निर्माण किया जाता है। इससे समय और प्रयत्नों की बचत होती है तथा कर्मचारियों का पूर्ण सहयोग प्राप्त होता है। उच्च प्रबन्ध, नीति के आधार पर अपने अधीनस्थों के मामलों के सम्बन्ध में अपने अधिकारों का भारार्पण करते हैं। इस प्रकार सुव्यवस्थित नीति के आधार पर अधीनस्थ अपने कर्तव्यों का निष्पादन प्रभावपूर्ण ढंग से कुशलतापूर्वक करते हैं।

नीतियों की सहायता से कर्मचारियों की क्रियाओं पर नियन्त्रण रखा जाता है, क्योंकि नीतियों में संगठन के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिये कर्मचारियों की क्रियाऐं निर्देशित होती हैं। इन्हीं नीतियों की सहायता से प्रशासन संगठन की

विभिन्न विभागीय क्रियाओं में समन्वय स्थापित करता है, जिससे संगठन की विविध क्रियाओं में समरूपता आ जाती है। वस्तुतः सुव्यवस्थित, संसगठित एवं सुप्रबन्धित नीतियों से श्रम और प्रबन्ध के सम्बन्ध मधुर रहते हैं जिससे स्वस्थ एवं दीर्घकालीन सम्बन्धों की स्थापना होती है। जिसका प्रत्यक्ष लाभ जनता को कार्य निष्पादन एवं परदर्शिता के रूप के प्राप्त होता है।

21.9 निर्णयन

प्रत्येक प्रशासनिक संगठन में कार्य दिवसों के प्रारम्भ से लेकर अन्त तक निरन्तर किसी न किसी प्रकार के निर्णय लेने पड़ते हैं। साधारणतः निर्णयन से तात्पर्य किसी कार्य के लिए क्या करें, कैसे करें, क्या न करें के बीच अन्तिम निर्णय लेने से होता है। चूँकि संगठन में निर्णय लेना प्रशासन का कार्य है, इसलिये प्रशासनिक क्रिया को निर्णय लेने की प्रक्रिया भी कहा जाता है। किसी भी समस्या का समाधान करने के लिये प्रशासक के सम्मुख विभिन्न विकल्प होते हैं।

इन विभिन्न विकल्पों में पूर्व निर्धारित उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु सर्वोत्तम विकल्प का चयन करना ही निर्णयन के नाम से सम्बोधित किया जाता है। इस प्रकार प्रशासनिक संगठन में निर्णयन रक्त प्रवाहित के समान है। प्रशासक द्वारा सम्पादित कोई भी कार्य निर्णयन पर ही आधारित होते हैं। वस्तुतः निर्णयन की प्रक्रिया में प्रबन्धक द्वारा क्रमशः समस्या की पहचान, विश्लेषण, विकल्पों का चयन और अंततः सर्वोत्तम विकल्प का मूल्यांकन करना होता है।

21.9.1 निर्णयन की परिभाषा

निर्णयन को विद्वानों ने अपने-अपने दृष्टिककोण से परिभाषित किया है, किन्तु दृष्टिकोणों में विविधिता के बाद भी प्रक्रिया एक ही है। निर्णयन की विभिन्न परिभाषाओं को आत्मसात करने का पर्यास करें-

पीटर एफ0 ड्रकर के अनुसार, ''प्रशासन की प्रत्येक क्रिया निर्णय पर आधारित होती है।''

जार्ज आर0 टैरी के अनुसार, ''निर्णय लेना किसी कसौटी पर आधारित दो या दो से अधिक सम्भावित विकल्पों में से किसी एक का चयन है।''

अर्नेस्ट डेल के अनुसार, ''प्रशासकीय निर्णय वे निर्णय होते हैं, जो सदैव सही प्रशासकीय क्रियाओं जैसे-नियोजन, संगठन कर्मचारियों की भर्ती, निर्देशन, नियंत्रण, नवप्रवर्तन और प्रतिनिधित्व में से किसी एक के दौरान लिए जाते हैं।

कुण्टज एवं 'ओ' डोनेल के अनुसार, ''निर्णयन एक क्रिया को करने के विभिन्न विकल्पों में से किसी एक का वास्तविक चयन है। यह नियोजन की आत्मा है।''

डी0 ई0 मैकफरलैड के अनुसार, ''निर्णय लेना चुनने की एक क्रिया है, जिसके द्वारा प्रशासक एक दी हुई परिस्थितिक में क्या किया जाना चाहिये, इस सम्बन्ध में निष्कर्ष पर पहुचता है। निर्णय किसी व्यवहार का प्रतिनिधित्व करता है, जिसका चयन अनेक सम्भव विकल्पों में से किया जाता है।''

आर0 एस0 डावर के अनुसार, ''निर्णय लेना एक ऐसा चयन है कि जो कि दो या दो से अधिक सम्भावित विकल्पों में से किसी एक व्यवहार के विकल्प पर आधारित होता है। तय करने से आशय काट देना अथवा व्यावहारिक रूप में किसी निष्कर्ष पर आना है।''

जी0 एल0 एस0 शेकल के अनुसार, ''निर्णय लेना रचनात्मक मानसिक क्रिया का वह केन्द्र-बिन्दु होता है, जहाँ ज्ञान, विचार, भावना तथा कल्पना कार्यपूर्ति के लिये संयुक्त किए जाते हैं।''

उपर्युक्त परिभाषाओं के विश्लेषणात्मक अध्ययन के आधार पर कहा जा सकता है कि निर्णयन एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसमें प्रशासक वर्ग विभिन्न वैकल्पिक विधियों में से सर्वश्रेष्ठ विधि का चयन करता है। अंततः उपरोक्त

परिभाषाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि निर्णयन प्रशासनिक सफलता के लिए अति आवश्यक प्रक्रिया है।

21.9.2 निर्णयन की विशेषताऐं

निर्णयन की कुछ महत्वपूर्ण विशेषताओं को सूचिबद्ध कर समझने का प्रयास करें-

1. तर्क पूर्ण विचार-विमर्श के पश्चात ही निर्णयन प्रक्रिया सम्पन्न की जाती है।
2. निर्णयन, अनेक विकल्पों में से सर्वोत्तम विकल्प चयन की प्रक्रिया है।
3. निर्णयन एक प्रशासकीय प्रक्रिया है इसलिए इसमें प्रशासक का पूर्ण ज्ञान, विवेक व अनुमान आदि का सम्मिश्रण होना चाहिए।
4. निर्णयन प्रक्रिया सुव्यवस्थित प्रारम्भ का प्रथम सोपन नियोजन से प्रारम्भ होती है।
5. निर्णयन की प्रकृति धनात्मक व ऋणात्मक दोनों ही प्रकार की हो सकती है।
6. निर्णयन कला और विज्ञान दोनों है। अतः यह साधन है, साध्य नहीं।
7. निर्णयन का मूल्यांकन किया जा सकता है।
8. निर्णयन में समय काल और परिस्थितियों का विषेश महत्व होता है।

उपरोक्त विशेषताओं के आधार पर कहा जा सकता है कि निर्णय प्रक्रिया के अन्तर्गत पूर्व-निर्धारित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये अनेक विकल्पों में से किसी एक विकल्प को चुनने का कार्य किया जाता है।

21.9.3 निर्णयन की प्रकृति

वस्तुतः निर्णय प्रायः किसी नीति, नियम, आदेश, निर्देश या नियंत्रण के रूप में होता है। निर्णयन की प्रकृति के सम्बन्ध में निम्नलिखित बातें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन्हें बिन्दुवार विश्लेषित कर आत्मसात् करने का प्रयास करें-

1. **एक गत्यात्मक प्रक्रिया-** प्रत्येक प्रशासकीय घटना किसी न किसी रूप में निर्णयन को प्रभावित करती है। यदि पूर्व में कोई समस्या उदय होती है, तो वर्तमान में उस समस्या के समाधान के लिये वैकल्पिक विधियों पर विचार कर सर्वोत्तम विधि का चयन किया जाता है तथा आगे आने वाले समय में उस सर्वोत्तम विधि की सहायता से निर्णय लाया जाता है। इसलिये कहा जा सकता है कि निर्णयन एक नितान्त गत्यातमक प्रक्रिया है।
2. **एक आधार रूप-** निणर्य लेने के पश्चात निर्णयकर्ता को आधार प्राप्त हो जाता है और उसे अपने निर्णय के आधारों के अनुसार ही समस्त नियोजन कार्य सम्पन्न करने पड़ते हैं तथा समस्त प्रशासनिक क्रियाऐं भी इन्हीं निर्णय रूपी आधारों के अनुरूप ही सम्पन्न की जाती है।
3. **मूल्यांकन एवं पुर्नमूल्यांकन**निर्णयन की प्रक्रिया में लिये गये निर्णयों का मूल्यांकन एवं पुर्नमूल्यांकन करना नितान्त आवश्यक है, क्योंकि निर्णय के परिणाम का मूल्यांकन करके अपेक्षित परिणामों से उसकी तुलना की जाती है और निर्णयों की साथर्कता का पता लगा कर पुर्नमूल्यांकन किया जा सकता है।
4. **नये उप-निर्णयों की उत्पति-** अनेक निर्णय इस प्रकार के होते हैं, जिनके कारण कभी-कभी अनेक उप-निर्णय लेने पड़ते हैं। अथवा पहले लिये गये निर्णयों की कमियों को दूर करने के लिये नये उप-निर्णय लेने पड़ते हैं। वस्तुतः यह प्रशासक की योग्यता पर निर्भर होता है।
5. **तर्कसंगत प्रक्रिया-** निर्णयन की प्रक्रिया एक तर्कसंगत प्रक्रिया है, जिसके अन्तर्गत निर्णयकर्ता को तर्कपूर्ण विधि से विभिन्न उपलब्ध विकल्पों में से सर्वोतम विकल्प का अन्तिम चयन करना होता है। चूँकि यह पूरी प्रक्रिया पूर्व निर्धारित उद्देश्यों को पूर्ण करने हेतु सम्पादित होती है। अतः यह तर्क संगत प्रक्रिया होती है।

21.9.4 निर्णयन के स्वरूप

निर्णयन प्रशासक की एक सुव्यवस्थित, संगठित तथा क्रमबद्ध प्रक्रिया है। निर्णयन प्रकृति का सम्पन्न विश्लेषण यह इंगित करता है कि एक कुशल प्रशासक समय, काल, परिस्थिति के अनुसार विभिन्न प्रकार के निर्णय लेता है। लोक प्रशासक के विभिन्न विद्वानों ने निर्णय के प्रकारों का वर्गीकरण भिन्न-भिन्न प्रकार से किया है।

1. **आवश्यक निर्णय-** प्रशासन की दैनिक क्रियाओं के सम्बन्ध में लिये गये निर्णयों को आवश्यक निर्णय के वर्ग में रखा जाता है। आवश्यक निर्णयों के अन्तर्गत वित्त, सेवी वर्गीय आदि से सम्बन्धित महत्वपूर्ण कार्यों के सम्बन्ध में लिये गये निर्णयों को सम्मिलित किया जाता है। इस वर्ग के निर्णय प्रायः उच्च प्रशासकों के द्वारा लिये जाते हैं। संगठन की सफलता से प्रत्यक्ष तौर इस प्रकार के निर्णय सम्बद्ध होते हैं।
2. **अल्पअवधि के निर्णय-** इस प्रकार के निर्णयों को क्रियाशील निर्णयों के रूप में भी जाना जाता है। इस प्रकार के निर्णयों के लिये अपेक्षाकृत कम योग्यता तथा तर्कशाक्ति की आवश्यकता होती है, क्योंकि ऐसे निर्णय संगठन की सामान्य प्रकृति के सम्बन्ध में बार-बार लिये जाते हैं तथा कभी-कभी इनमें अतिशीघ्र परिवर्तन भी करने पड़ते है।
3. **अन्तर-विभागीय निर्णय-** ऐसे निर्णय जो विभिन्न विभागों से सम्बन्धित होते हैं, उन्हें अन्तर-विभागीय निर्णयों के रूप मान्यता दी जाती है। ऐसे निर्णय सभी विभागों के विभागाध्यक्षों के द्वारा सर्वसम्मति से लिये जाते हैं। इस प्रकार के निर्णयों की सहायता से ही प्रशासन की समस्त क्रियायें पूर्व-नियोजित ढंग से पूर्ण की जाती हैं।
4. **एकल विभागीय निर्णय-** ऐसे निर्णय जो विभागीय प्रभारियों के द्वारा अपने विभागों के कार्य निष्पादन में सुधार लाने के सम्बन्ध में लिये जाते हैं, उन्हें एकल विभागीय निर्णय कहते हैं।
5. **व्यक्तिगत निर्णय-** संगठन के किसी पदाधिकारी द्वारा अपने कार्य दायित्व के सम्बन्ध में लिये गये निर्णय व्यक्तिगत निर्णय के रूप में जाने जाते हैं। इस प्रकार के निर्णय संस्था के ऊपर, विभाग के ऊपर तथा आम जनों के लिये बाध्यकारी नहीं होते हैं।

प्रायः प्रशासनिक संगठन में निर्णय लेना प्रशासक का मुख्य कार्य होता है। यदि प्रशासक के कार्यों में से निर्णय लेने का कार्य विरक्त कर दिया जाये, तो निश्चय ही प्रशासन की प्रक्रिया निर्जीव हो जायेगी। वास्तव में जो व्यक्ति निर्णय लेता है वही व्यक्ति उत्तरदायी प्रशासक कहलाता है।

वर्तमान प्रशासनिक परिवेश में प्रशासन को प्रत्येक में निर्णय लेने पड़ते हैं। वास्तव में देखा जाये तो प्रशासक का प्रमुख कार्य प्रशासकीय कार्यों के सम्बन्ध में निणर्य लेना ही है। विभिन्न विद्वानों के अनुसार विभिन्न निर्णयों के आधार पर ही प्रशासकीय कार्यों का ढाँचा निर्मित होता है।

वास्तव में जो प्रशासक सुव्यवस्थित, तर्कसंगत व्यवस्थापूर्ण निर्णय लेने में सफल होत्ता है। उसकी योग्यता का गुणगान सर्वत्र होता है। इस प्रकार यह आवश्यक है कि यह समझ लिया जाये कि निर्णय लेना एक सर्व स्वीकार्य प्रक्रिया है।

21.9.5 निर्णयन के चरण

विद्वानों द्वारा प्रक्रिया के पाँच चरणों को बताया है। इन्हें समझने का प्रयास करें-

1. **समस्या का निर्धारण-** निर्णयन प्रक्रिया का प्रथम चरण, समस्या का निर्धारण किये बिना उसका उचित समाधान सम्भव नहीं है। निर्णयन की प्रक्रिया का प्रारम्भ किसी समस्या या अवसर के प्रत्यक्ष ज्ञान तथा उसके सम्बन्ध में निर्णय लेने की आवश्यकता से होता है।
2. **समस्या का विश्लेषण -** प्रशासक द्वारा जब समस्या की पहचान कर ली जाती है तथा उसके स्वरूप को आत्मसात् कर लिया जाता है, तब समस्या के विश्लेषण का चरण प्रारम्भ होता है। इस चरण में प्रशासक

को उन उद्देश्यों का निर्धारिण करना होता है, जिन्हें वह समस्या के समाधान द्वारा प्राप्त करने की इच्छा रखता है।

3. **विकल्पों की स्थापना-** निर्णयन के तृतीय चरण में प्रशासक उन विकल्पों की खोज करता है, जो कि समस्या के समाधान महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है।
4. **विकल्पों का मूल्यांकन-** विकल्पों का महत्व इस बात में निहित है कि उनसे किस सीमा तक वांछित समस्या का हल प्राप्त हो सकता है। इस चरण में निर्णयकर्ता विकल्पों के प्रभावों का पूर्वानुमान लगाता है और उसके परिणामों का मूल्यांकन करने का प्रयास करता है।
5. **अन्तिम विकल्प का चयन-** प्रशासकों को निर्णय लेते समय यह देखना पड़ता है कि संगठनात्मक परिस्थितियों तथा सीमाओं की दृष्टि से कौन सा विकल्प सर्वोत्तम तथा अन्तिम होगा, जो विकल्प निर्धारित समस्या का सुव्यवस्थित हल प्रदान कर सके। कम जोखिमपूर्ण हो, मितव्ययी हो, समयानुकूल हो, व्यावहारिक हो, वही विकल्प ही अन्तिम होता है।

अभ्यास प्रश्न-

1. किस विद्वान के अनुसार, नेतृत्व व्यक्ति का वह व्यावहारिक गुण है, जिसके द्वारा वह अन्य व्यक्तियों को प्रभावित व संगठित करके अभष्टि कार्य कराने में सफल हो जाता है।
2. नेतृत्व की कितनी शैलियों हैं?
3. नेतृत्व की किस शैली का भाव नकारात्मक होता है?
4. नेतृत्व, प्रबन्ध का कौन सा भाग है?
5. किस विद्वान के अनुसार नीतियाँ एक पूर्व निर्धारित मार्ग होती हैं?
6. जिन नीतियों में लक्ष्यों की प्रकृति बड़ी होती है, वे किस प्रकार की नीति होती है?
7. जिन नीतियों के क्रियान्वयन में लागत कम आती है तथा जिनका क्षेत्र सीमित होता है, वे किस प्रकार की नीतियाँ होती हैं?

21.10 सारांश

लोक सेवा के क्षेत्र में सबसे महत्वपूर्ण कार्य किसी समूह, संगठन या संस्था के समूचे कार्य को वांछित उद्देश्यों की ओर संचालित और निर्देशित करने के लिए नेतृत्व प्रदान करना है। सरकारी तंत्र के अंतर्गत संगठनों के फैलाव, दिनों दिन बढ़ती संख्या के कारण नेतृत्व और भी अधिक महत्वपूर्ण हो गया है। नेतृत्व का तात्पर्य प्रबन्धकों के उस व्यावहारिक गुण से है, जिसके द्वारा वे अपने अधीनस्थों को प्रभावित करके उनके विश्वास को जीतने का प्रयास करते हैं। उनका स्वाभिमान जाग्रत करते हैं, उनका सहयोग प्राप्त करते हैं तथा अपने अधीनस्थ समुदाय को संगठित करके पूर्व निर्धारित उद्देश्यों के प्रति उनका मार्ग-दर्शन करते हैं।

नीतियाँ एक प्रकार का विस्तृत विवरण होती हैं, जो कि प्रशासनिक संगठन के पूर्वनिर्धारित लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिये संगठन के निर्णयों के लिये मार्गदर्शन करने का कार्य करती हैं। यह स्पष्ट करती हैं कि किसी विशिष्ट परिस्थिति में संगठन के सदस्य किस प्रकार व्यवहार करेंगे तथा निर्णय लेंगे।

प्रत्येक प्रशासनिक संगठन में कार्य दिवसों के प्रारम्भ से लेकर अन्त तक निरन्तर किसी न किसी प्रकार के निर्णय लेने पड़ते हैं। साधारणतः निर्णयन से तात्पर्य किसी कार्य के लिए क्या करें, कैसे करें, क्या न करें के बीच अन्तिम निर्णय लेने से होता है। चूँकि संगठन में निर्णय लेना प्रशासन का कार्य है, इसलिये प्रशासनिक क्रिया को निर्णय लेने की प्रक्रिया भी कहा जाता है। किसी भी समस्या का समाधान करने के लिये प्रशासक के सम्मुख विभिन्न विकल्प होते हैं।

21.11 शब्दावली

अधिकार- आदेश देने की शक्ति तथा यह निश्चित कर लेना कि इन आदेशों का पालन किया जा रहा है।

प्रशासन- नियमों तथा कानूनों के अन्तर्गत प्रकार्यों को सुनिश्चित करने वाली संस्था।

प्रबन्ध की सार्वभौमिकता- प्रबन्ध विज्ञान के मूल अथवा प्रमुख तत्व, सिद्धान्त, अवधारणाऐं सभी प्रकार की परिस्थितियों में सभी स्थानों पर लागू होती हैं, व्यवहार में उनका प्रयोग सांस्कृतिक अंतरों, संभावनाओं अथवा परिस्थितियों के अनुसार किया जाता है।

नेतृत्व- समूह के लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए व्यक्तियों को प्रभावित करने की प्रक्रिया की कला।

निर्णयन- किसी कार्य को करने के विभिन्न विकल्पों में से सर्वश्रेष्ठ विकल्प का चयन या किसी कार्य के निष्पादन के लिए विवेकपूर्ण चयन।

नियंत्रण- अधीनस्थों के कार्यों का मापन तथा सुधार, जिससे यह आश्वस्त हो सके कि कार्य नियोजन के अनुसार किया गया है।

संकल्पनात्मक कुशलता- संगठन की समस्त गतिविधियों व हितों को समझने तथा संयोजित करने में प्रबन्धक की योग्यता।

21.12 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. बरनाई, **2.** तीन, **3.** एक तंत्रीय, **4.** आन्तरिक, **5.** डेल ग्रोडर, **6.** दीर्घ कालीन, **7.** लघुकालीन

21.13 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. हारोल्ड कून्टज एवं हेनीज विचरिच, इशनशियल्स ऑफ मैनेजमेंन्ट, मैग्राहिल इन्टरनेशनल, नई दिल्ली-2000,
2. प्रशान्त के0 घोष, कार्यालय प्रबन्धन, सुल्तान चन्द एण्ड सन्स, 2000,
3. डॉ0 जे0 के0 जैन, प्रबन्ध के सिद्धान्त, प्रतीक पब्लिकेशन, इलाहाबाद-2002,
4. डॉ0 एल0 एम0 प्रसाद , प्रबन्ध के सिद्धान्त, सुल्तान चन्द एण्ड सन्स, नई दिल्ली- 2005,

21.14 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. Barnsard Chester I. Organisation and Mangenent: Harvard Unversity Cambridge 1948,
2. Hicks, Herbert G and Gullett, C. Ray, Organisations: Theory and Behaviour: McGraw Hill Book Company: New York, 1975.
3. Luthans, Fred, Mangement in the Public Service: McGraw Hill Book Company Inc: New York, 1954.
4. Nigo, Felix A and Nigro Lloyd G. Modem Public Administration: Happer and Row Publishers: New York, 1973.
5. Pfiffner, John M.m and Shereood Frank P. Administrative Organisation: Prentice Hall of India Private Ltd. New Delhi, 1968.

21.15 निबंधात्मक प्रश्न

1. किसी व्यक्ति में नेतृत्व के गुण जन्मजात होते हैं या फिर इन्हें अर्जित किया जा सकता है? अपना पक्ष प्रस्तुत करें।

2. नेतृत्व सम्बन्धी विभिन्न अवधारणाओं को समझाइये।
3. नेतृत्व की विभिन्न क्रियात्मक शैलियों का वर्णन करते हुए, उनके गुण तथा दोषों को क्रमबद्ध करें।
4. नीतियों को वर्गीकृत करते हुए लघुकालीन नीति तथा दीर्घकालीन नीतियों को समझाइये।
5. प्रशासकीय संगठनों के लिये निर्णयों के महत्व का समझाते हुए इसकी सुव्यवस्थित प्रक्रिया के विभिन्न चरणों को समझाइये।

इकाई- 22 नियोजन, योजना आयोग, राष्ट्रीय विकास परिषद

इकाई की संरचना

22.0 प्रस्तावना
22.1 उद्देश्य
22.2 नियोजन
22.2.1 नियोजन के उद्देश्य
22.2.2 भारत में नियोजन की आवश्यकता
22.2.3 नियोजन के प्रकार
22.2.4 नियोजन की प्रक्रिया
22.3 योजना आयोग
22.3.1 योजना आयोग के कार्य
22.3.2 योजना आयोग का संगठन
22.3.3 योजना आयोग का प्रशासनिक संगठन
22.3.4 कार्यक्रम मूल्यांकन संगठन
22.3.5 मूल्यांकन
22.3.6 राज्य स्तर पर नियोजन तंत्र
22.4 राष्ट्रीय विकास परिषद
22.4.1 राष्ट्रीय विकास परिषद उद्देश्य
22.4.2 राष्ट्रीय विकास परिषद की रचना
22.4.3 राष्ट्रीय विकास परिषद के कार्य
22.4.4 मूल्याकंन
22.5 सारांश
22.6 शब्दावली
22.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
22.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
22.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
22.10 निबंधात्मक प्रश्न

22.0 प्रस्तावना

नियोजन वह प्रक्रिया है जो दूरदर्शिता, विचार-विमर्श तथा उपलब्ध संसाधनों के व्यवस्थित उपयोग पर आधारित है तथा राष्ट्रीय उत्पादन, रोजगार एवं लोगों के सामाजिक कल्याण की पूर्व तैयारी करता है। स्वाधीनता के बाद भारत में आर्थिक विकास के लिये आर्थिक नियोजन की अवधारणा को स्वीकार किया गया। भारत में नियोजन प्रक्रिया में योजना आयोग की केन्द्रीय भूमिका है। योजना आयोग सामान्य रूप से आरम्भ हुआ था परन्तु कुछ ही समय में उसने एक विशाल संगठन का रूप धारण कर लिया।

योजना आयोग में केन्द्र सरकार के सीधे हस्तक्षेप के कारण इसे कई बार आलोचनाओं का सामना भी करना पड़ा है। योजना आयोग ने संविधान की अन्य व्यवस्थाओं जैसे- वित्त आयोग, संघवाद तथा प्रजातंत्र को काफी हद तक प्रभावित किया गया।

नियोजन प्रक्रिया को अधिक लोकतांत्रिक तथा पारदर्शी बनाने के उद्देश्य से राष्ट्रीय विकास परिषद का गठन किया गया। इसके माध्यम से नियोजन प्रक्रिया में राज्यों की भूमिका को बढ़ाने का प्रयास किया गया। नियोजन के इन सभी पहलुओं के बारे में इस इकाई में हम विस्तार से चर्चा करेंगे।

22.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- नियोजन के अर्थ एवं उद्देश्यों को स्पष्ट करते हुए विभिन्न प्रकार के नियोजनों के सम्बन्ध में जान पायेंगे।
- भारत में नियोजन की प्रक्रिया का उल्लेख करते हुए इस प्रक्रिया में केन्द्रीय भूमिका निभाने वाले योजना आयोग के संगठन तथा कार्यों के सम्बन्ध का विस्तार पूर्वक जान पायेंगे।
- राष्ट्रीय विकास परिषद की रचना एवं कार्यों के सम्बन्ध में जान पायेंगे।
- भारत में नियोजन प्रक्रिया के सम्बन्ध में जान पायेंगे।

22.2 नियोजन

नियोजन का अर्थ है 'पूर्व दृष्टि' अर्थात आगे क्या-क्या कार्य किये जाने हैं (फेयोल)। नियोजन साधनों के संगठन की एक विधि है, जिसके माध्यम से साधनों का अधिकतम लाभप्रद उपयोग निश्चित सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति हेतु किया जाता है। डी0 आर0 गाडगिल के अनुसार ''आर्थिक विकास के लिये नियोजन से यह तात्पर्य है कि नियोजन प्राधिकारी द्वारा आर्थिक गतिविधियों की वाह्य निर्देशन अथवा नियमन करना जो कि अधिकतर मामलों में सरकार या राष्ट्र के रूप में चिन्हित किये जाते हैं।''

योजना आयोग ने अपने प्रपत्र में उद्धत किया था कि नियोजन सम्पूर्ण नीति-निर्माण करने के लिए स्पष्ट रूप से परिभाषित उद्देश्यों की व्यवस्था है। यह परिभाषित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए रणनीति के निर्माण के रूप में भी देखी जा सकती है। नियोजन निश्चित ही साधन एवं साध्य के एक सफल संयोजन का प्रयास है।

22.2.1 नियोजन के उद्देश्य

नियोजन के मुख्यतः तीन के उद्देश्य होते हैं-

1. **आर्थिक उद्देश्य-** नियोजन का आर्थिक उद्देश्य अधिकतम उत्पादन, पूर्ण रोजगार, नियोजन में राष्ट्रीय आय का समान वितरण तथा अविकसित क्षेत्रों का विकास है। राष्ट्र के समस्त नागरिकों को जीविकोपार्जन के समान अवसर प्रदान करके असमानता को दूर करना तथा जीवन स्तर को उच्च करने के लिये उत्पादन के समस्त क्षेत्रों- कृषि, उद्योग, खनिज आदि में बढ़ोत्तरी करना है।

   इसके अतिरिक्त नियोजन के उद्देश्यों में सम्मिलित है- आर्थिक विकास को बढ़ावा देना, सामाजिक न्याय, पूर्ण रोजगार की प्राप्ति, गरीबी निवारण एवं रोजगार अवसरों का सृजन, आत्म निर्भरता की प्राप्ति, निवेश एवं पूंजी निर्माण को बढ़ावा, आम वितरण एवं क्षेत्रीय विषमता दूर करना, मानव संसाधन तथा वैश्वीकरण के दौर में गरीबों को सुरक्षा प्रदान करना, तीव्र आर्थिक विकास के साथ समावेशी विकास की संकल्पना।
2. **सामाजिक उद्देश्य-** नियोजन का सामाजिक उद्देश्य एक विकसित एवं समता मूलक वर्ग विहीन समाज की स्थापना करना है।
3. **राजनीतिक उद्देश्य-** नियोजन का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य देश में राजनीतिक स्थिरता बनाये रखना है जो कि एक सशक्त अर्थव्यवस्था तथा विकसित समाज द्वारा सम्भव है।

22.2.2 भारत में नियोजन की आवश्यकता

आर्थिक नियोजन आधुनिक काल की नवीन प्रवृत्ति है जो कि मुख्यतः समाजवादी विचारधारा द्वारा पोषित राष्ट्रों की पहचान रही है। 19वीं शताब्दी में पूंजीवाद, व्यक्तिवाद व व्यक्तिगत स्वतंत्रता तथा उन्मुक्त व्यापार नीति का बोलबाला रहा। पर रूसी क्रान्ति, विश्वव्यापी आर्थिक मंदी, दो भीषण महायुद्धों, तकनीकी प्रगति, नवजात सामाजिक-आर्थिक समस्याओं, आदि के कारण राष्ट्रों एवं अर्थशास्त्रियों ने आर्थिक नियोजन के अर्थ को समझा और नियोजित अर्थव्यवस्था अपनाने पर जोर दिया।

भारत में कई कारणों से आर्थिक नियोजन की आवश्यकता महसूस की गई। निर्धनता, विभाजन से उत्पन्न असंतुलन तथा अन्य समस्याऐं बेरोजगारी, औद्योगीकरण की आवश्यकता, सामाजिक एवं आर्थिक विषमताऐं इत्यादि।

भारत काफी पिछड़ा और आर्थिक रूप से कमजोर राष्ट्र था तथा नियोजित विकास ही एकमात्र आशा की किरण थी जो कि मिश्रित अर्थव्यवस्था के साथ ताल-मेल बैठाकर गाँवों तक विकास एवं आत्मविश्वास को पहुँचा सकने में समर्थ थी।

22.2.3 नियोजन के प्रकार

नियोजन के अनेक प्रकार हैं-

1. **परिप्रेक्ष्यात्मक नियोजन-** परिप्रेक्ष्यात्मक नियोजन से हमारा तात्पर्य एक दीर्घकालिक नियोजन से होता है। उदाहरण के लिए 15, 20 या 25 वर्ष तक के लिए नियोजन, पर इसका यह अर्थ नहीं होता है कि पूरे काल के लिये एक ही नियोजन हो। अभिविन्यास(Orientation) के आधार पर नियोजन या तो निर्देशात्मक या फिर आदेशात्मक होते हैं। समाजवादी देशों में नियोजन आदेशात्मक होता है, जिसमें कि प्राधिकारी यह निर्णय लेता है कि किस क्षेत्र में कितनी राशि का निवेश किया जायेगा तथा उत्पादों का मूल्य, मात्रा एवं प्रकार क्या होना चाहिए? इस प्रकार के नियोजन में उपभोक्ता की सम्प्रभुता न्यून होती है और वस्तुओं का सीमित वितरण किया जाता है। वहीं दूसरी तरफ निर्देशात्मक नियोजन की प्रकृति लचीली होती है। निर्देशात्मक नियोजन मिश्रित अर्थव्यवस्था की विशेषता है। जहाँ निजी और सार्वजनिक क्षेत्र एक साथ अस्तित्व में होते हैं, वहाँ राज्य निजी क्षेत्र को हर एक प्रकार की सुविधाऐं उपलब्ध कराता है। परन्तु आदेशित नहीं करता, वरन् उन क्षेत्रों को इंगित करता है, जहाँ यह नियोजन को लागू करने में मदद कर सकता है। निर्देशात्मक नियोजन स्वतंत्रता एवं नियोजन की बीच पूर्ण समझौता प्रस्तुत करता है जो कि मुक्त बाजार एवं नियोजित अर्थव्यवस्थाओं के गुणों को अंगीकार कर लेती है और अवगुणों का सफलतापूर्वक परिवर्जन कर देती है। यह सर्वप्रथम 1947 से 1950 के बीच फ्रांस में लागू किया गया था।
2. **केन्द्रीकृत अथवा विकेन्द्रीकृत-** योजनाओं के कार्यान्वयन के आधार पर नियोजन केन्द्रीकृत अथवा विकेन्द्रीकृत होता है। केन्द्रीकृत नियोजन के अन्तर्गत देश के सम्पूर्ण नियोजन की प्रक्रिया एक केन्द्रीय प्राधिकरण के अन्तर्गत होती है। इस प्रकार का नियोजन प्रारम्भ में समाजवादी देशों, मुख्य रूप से सोवियत रूस द्वारा प्रयोग में लाया जाता था, जब वे आदेशात्मक या व्यापक नियोजन लागू कर रहे होते थे। वहीं दूसरी ओर विकेन्द्रीकृत नियोजन जैसे कि जिला, ब्लाक, गांव के स्तर पर योजना के क्रियान्वयन से सम्बन्धित होता है। जब किसी अर्थव्यवस्था का नियोजन विशेष क्षेत्र या भाग तक सीमित रहता है तो इसे क्षेत्रीय नियोजन कहते हैं। क्षेत्रीय नियोजन को हम आंशिक नियोजन भी कहते हैं। राष्ट्रीय नियोजन सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था को एक समष्टि मानकर नियोजन करता है, जिसका संचालन देश में किसी केन्द्रीय निकाय द्वारा होता है। राष्ट्रीय नियोजन को हम विस्तृत नियोजन कहते है।

3. **संरचनात्मक नियोजन-** संरचनात्मक नियोजन आर्थिक विकास के साथ-साथ सामाजिक ढ़ांचे में वांछित परिवर्तन को महत्व प्रदान करता है। यह तुलनात्मक रूप से दीर्घकालिक नियोजन है और सामान्य तथा विकासशील एवं समाजवादी देश इनका अनुकरण करते हैं।
4. **क्रियात्मक नियोजन-** क्रियात्मक नियोजन वह नियोजन है, जो समय विशेष पर प्रचलित तथा अस्तित्ववान सामाजिक-आर्थिक ढ़ाँचे को बनाये रखने तथा उसको मजबूती देने को अपना लक्ष्य मानता है। सामान्यतया इसका सम्बन्ध विकसित देशों से है।

   योजना के प्रकार के अन्तर्गत कुछ अन्य प्रकार भी हैं। जैसे- लचीला और गैर-लचीला नियोजन, भौतिक तथा वित्तीय नियोजन इत्यादि।

भौतिक नियोजन का सम्बन्ध मानव शक्ति, मशीनों एवं कच्चे माल के अनुकूलतम वितरण एवं राशनिंग से है, जो देश के उत्पादन में वृद्धि करके विकास प्रक्रिया को गति प्रदान कर सकती है। वित्तीय नियोजन का सम्बन्ध मुद्रा के रूप में संसाधनों की व्यवस्था एवं वितरण से है जो विकास प्रक्रिया हेतु वांछित है।

लचीली नियोजन प्रणाली वास्तव में प्रावैगिक नियोजन प्रणाली है, जिसमें कार्य-विधि को प्रावैगिक आर्थिक परिस्थितियों के अनुसार संशोधित एवं परिमार्जित किया जाता है। गैर-लचीला नियोजन एक स्थिर नियोजन प्रणाली है, जिसमें पूर्व निर्धारित लक्ष्यों एवं कार्यविधि में परिवर्तन नहीं होता, चाहे स्थितियां अनुकूल हों या प्रतिकूल।

22.2.4 नियोजन प्रक्रिया

नियोजन प्रक्रिया काफी जटिल एवं समय लेने वाली होती है। जिसे पांच भागों में बांटा जा सकता है-

प्रथम चरण- यह योजना अवधि के प्रारम्भ से लगभग तीन वर्ष पूर्व प्रारम्भ हो जाता है। इस चरण में योजना आयोग द्वारा अर्थव्यवस्था की जानकारी प्राप्त करने के लिये कई सर्वेक्षण, अध्ययन एवं परीक्षण सम्बन्धी कार्य किये जाते हैं एवं विभिन्न मंत्रालयोंव उनकी आवश्यकताओं का पूर्वानुमान लगाया जाता है। इसके आधार पर एक खाका तैयार किया जाता है, जो मंत्रीपरिषद के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है। इसके बाद इसे राष्ट्रीय विकास परिषद को भेजा जाता है।

द्वितीय चरण- इस चरण में योजना आयोग राष्ट्रीय विकास परिषद से प्राप्त दिशा-निर्देशों के आधार पर योजना का संशोधन और उसे विस्तृत स्वरूप प्रदान करते हुये प्रारूप तैयार करता है।

तृतीय चरण- इस चरण में योजना को राष्ट्रीय विकास परिषद की स्वीकृति के बाद प्रारूप को सार्वजनिक विचार-विमर्श हेतु आगे कर दिया जाता है तथा इसके अन्त में इस प्रारूप पर परामर्शदात्री समिति तथा पूरी संसद द्वारा विचार किया जाता है।

चतुर्थ चरण- इस चरण में योजना आयोग केन्द्र सरकार के विभिन्न मंत्रालयों और राज्य सरकारों से उनकी योजनाओं के बारे में विस्तृत विचार-विमर्श करता है। साथ ही निजी क्षेत्र के प्रमुख उद्योगों के प्रतिनिधियों के साथ भी विचार-विमर्श किया जाता है। इसके बाद योजना की विशेषताऐं, मुद्दे, प्राथमिकताऐं आदि रेखांकित करते हुये योजना आयोग एक प्रपत्र तैयार करता है, जो पहले राष्ट्रीय विकास परिषद तथा बाद में संसद के समक्ष विचारार्थ प्रस्तुत किया जाता है।

पंचम चरण- इस प्रपत्र के आधार पर योजना आयोग द्वारा योजना का अंतिम प्रतिवेदन तैयार किया जाता है। जिसे केन्द्रीय मंत्रालय एवं राज्य सरकारों को उनके विचार जानने हेतु भेजा जाता है। बाद में राष्ट्रीय विकास परिषद से इसका अनुमोदन कराकर संसद द्वारा स्वीकृति प्राप्त की जाती है।

इसके पश्चात सुगम कार्यान्वयन तथा संसाधनों के आवंटन हेतु इसे वार्षिक आयोजनाओं में विभक्त किया जाता है। योजना का कार्यान्वयन केन्द्रीय मंत्रालयों एवं राज्य सरकारों द्वारा किया जाता है।

22.3 योजना आयोग

1946 में के0सी0 नियोगी की अध्यक्षता में गठित 'एडवाइजरी प्लानिंग बोर्ड' की अनुशंसा पर भारत सरकार ने एक प्रस्ताव द्वारा, मार्च 1950 में योजना आयोग की स्थापना की। योजना आयोग की स्थापना ना तो संविधान के अधीन हुई है और ना ही किसी अधिनियम के माध्यम से। इस प्रकार ना तो यह एक संवैधानिक संस्था है और ना ही विधायी। योजना आयोग भारत में आर्थिक विकास के नियोजन का सर्वोच्च निकाय है। यह मात्र एक स्टाफ एजेंसी है, जिसकी कोई कार्यकारी जिम्मेदारियां नहीं है। योजना आयोग की सलाह के आधार पर निर्णय लेने तथा उन्हें क्रियान्वित करने की जिम्मेदारी केन्द्र एवं राज्य सरकारों पर है। आयोग के एक केन्द्रीय निकाय होने के कारण इसमें राज्यों का प्रतिनिधित्व नहीं होता है।

22.3.1 योजना आयोग के कार्य

योजना आयोग के कार्य निम्नलिखित हैं-

1. देश के भौतिक, पूँजीगत तथा मानवीय संसाधनों का आंकलन कर आवश्यकता अनुसार उनमें वृद्धि की संभावनाऐं तलाशना।
2. देश के संसाधनों के प्रभावी तथा संतुलित उपयोग के लिए योजना बनाना।
3. प्राथमिकताओं का निर्धारण करने के उपरान्त योजना के क्रियान्वयन के चरणों को निर्धारित करना तथा प्रत्येक चरण के कार्य की पूर्ति के लिए साधनों के आवंटन के विषय में सुझाव देना।
4. आर्थिक विकास में बांधक तत्वों को खोजना तथा देश की वर्तमान सामाजिक व राजनीतिक स्थिति को दृष्टिगत रखते हुए ऐसी दशाओं का निर्धारण करना जो योजना के सफल संचालन के लिए आवश्यक हो।
5. उस तंत्र का निर्धारण करना, जो योजना के प्रत्येक पक्ष को सफलतापूर्वक कार्यान्वित करने के लिए आवश्यक हो।
6. योजनाओं के कार्यान्वयन की प्रगति की समय-समय पर समीक्षा करना तथा आवश्यक संशोधनों की सिफारिश करना।
7. आयोग के कर्तव्यों के निर्वहन को सुगम बनाने या केन्द्र अथवा राज्य सरकारों द्वारा किसी विषय पर मांगी गई सलाह से संबंधित समुचित अनुशंसा करना।

   इसके अतिरिक्त योजना आयोग को निम्नलिखित विषय भी सौंपे गये हैं- परिप्रेक्ष्य नियोजन(भविष्य को ध्यान में रखकर योजना का निर्माण), पहाड़ी क्षेत्र विकास कार्यक्रम, राष्ट्रीय विकास में जन सहयोग, राष्ट्रीय सूचना विज्ञान केन्द्र, और इंस्टीट्यूट ऑफ एप्लाइड मैनपावर रिसर्च।

22.3.2 योजना आयोग का संगठन

योजना आयोग की संरचना निम्नवत है-

1. भारत के प्रधानमंत्री योजना आयोग के अध्यक्ष होते हैं। वे ही आयोग की समस्त बैठकों की अध्यक्षता करते हैं।
2. आयोग में उपाध्यक्ष का भी एक पद है। वहीं आयोग के पूर्णकालिक प्रधान के रूप में पंचवर्षीय योजनाओं के प्रारूप को निर्मित करने एवं उसे केन्द्रीय मंत्रिमण्डल के समक्ष प्रस्तुत करने के लिए जिम्मेदार होते हैं। उन्हें केन्द्रीय कैबिनेट का सदस्य न होते हुए भी, कैबिनेट की सभी बैठकों में बुलाया जाता है। लेकिन उन्हें मत देने का अधिकार नहीं होता है।
3. कुछ केन्द्रीय मंत्री आयोग के अंशकालिक सदस्य के रूप में कार्य करते हैं। वित्त मंत्री और योजना मंत्री आयोग के पदेन सदस्य होते हैं।

4. आयोग में चार से सात पूर्णाकालिक विशेषज्ञ सदस्य भी होते हैं, जिन्हें राज्यमंत्री का दर्जा प्राप्त होता है।
5. आयोग में एक सदस्य सचिव का पद भी होता है, जिस पर भारतीय प्रशासनिक सेवा के किसी वरिष्ठ अधिकारी को नियुक्त किया जाता है।

22.3.3 योजना आयोग का प्रशासनिक संगठन

आयोग के निम्नलिखित तीन अंग है-

1. **तकनीकी प्रभाग-** यह योजना आयोग की प्रमुख क्रियात्मक इकाई है जो योजना-निरूपण, योजना-प्रबोधन तथा योजना मूल्यांकन के कार्य से जुड़ी होती है। इसकी दो विस्तृत श्रेणियों के तहत पूरी अर्थव्यवस्था से संबद्ध सामान्य प्रभाग तथा विशिष्ट क्षेत्रों से सम्बद्ध विषय प्रभाग आते हैं।
2. **गृहप्रबधकीय शाखाऐं-** आयोग के निम्नलिखित गृहप्रबन्ध कीय शाखाऐं हैं- सामान्य प्रशासन शाखा, स्थापना शाखा, सतर्कता शाखा, लेखा शाखा और 5. कार्मिक प्रशिक्षण शाखा।
3. **कार्यक्रम सलाहकार-** भारतीय संघ के राज्यों तथा योजना आयोग के मध्य ताल-मेल बनाए रखने के लिए 1952 में कार्यक्रम सलाहकार के पद सृजित किए गये। आयोग में कुल चार सलाहकार हैं, जिन्हें अपर सचिव का दर्जा प्राप्त है। प्रत्येक सलाहकार के पास कई राज्यों का प्रभार होता है। सलाहकार के कार्य निम्नलिखित हैं- राज्यों में विकास कार्यक्रमों के कार्यान्वयन का आकलन करना। केन्द्र द्वारा प्रायोजित तथा सहायता प्राप्त योजनाओं की प्रगति-आख्या, केन्द्रीय मंत्रियों तथा योजना आयोग के समक्ष प्रस्तुत करना। राज्यों से प्राप्त पंचवर्षीय तथा वार्षिक योजनाओं से संबंधित प्रस्तावों पर योजना आयोग को सलाह देना।

योजना आयोग के आंतरिक संगठन में दो पद सोपान हैं- प्रशासनिक तथा तकनीकी। योजना आयोग का सचिव प्रशासनिक पदों के प्रमुख के रूप में कार्य करता है। उसकी सहायता के लिए संयुक्त सचिव, उप सचिव, अपर सचिव व अन्य प्रशासनिक तथा लिपिक कर्मचारी होते हैं। ये अधिकारी भारतीय प्रशासनिक सेवा, केन्द्रीय सचिवालय सेवा, भारतीय लेखा एवं लेखा परीक्षा तथा गैर-तकनीकी केन्द्रीय सेवाओं से लिये जाते हैं।

तकनीकी पदों का प्रमुख, सलाहकार होता है, जिसकी सहायता के लिए निदेशक, संयुक्त निदेशक तथा अन्य तकनीकी स्टाफ होता है। तकनीकी सेवाओं के लिए अधिकारी तथा कर्मचारी भारतीय आर्थिक सेवा, भारतीय सांख्यिकी सेवा, भारतीय अभियांत्रिकीय सेवा तथा अन्य केन्द्रीय तकनीकी सेवाओं से लिये जाते हैं। सलाहकार को अपर सचिव या संयुक्त सचिव का दर्जा प्राप्त होता है।

22.3.4 कार्यक्रम मूल्यांकन संगठन

इस संगठन की स्थापना 1952 में योजना आयोग की स्वतंत्र ईकाई के रूप में हुई थी। फिर भी यह ईकाई योजना आयोग के मार्ग-निर्देशन में ही कार्य करती है। इस संगठन का प्रधान, निदेशक होता है जिसकी सहायता के लिए संयुक्त निदेशक, उपनिदेशक, सहायक निदेशक व अन्य स्टाफ होता है। चेन्नई, हैदराबाद, मुंबई, लखनऊ, चंडीगढ़, जयपुर और कोलकता में इस संगठन के क्षेत्रीय कार्यालय स्थित हैं, जिसका प्रमुख उप-निदेशक होता है। इस संगठन का प्रमुख कार्य पंचवर्षीय योजनाओं में निर्दिष्ट विकास कार्यक्रमों के कियान्वयनका मूल्यांकन करना है। इससे उपलब्ध आंकड़ों का प्रयोग योजना आयोग द्वारा समय-समय पर किया जाता है। यह संगठन राज्य मूल्याकंन संगठनों को भी तकनीकी सलाह उपलब्ध करता है।

22.3.5 मूल्यांकन

योजना आयोग की स्थापना एक स्टाफ एजेंसी के रूप में की थी। लेकिन धीरे-धीरे इसकी शक्ति विस्तृत होती चली गयी। आलोचकों ने कटाक्ष करते हुए इसे ‘सुपर कैबिनेट’ तक कह डाला। इस शक्ति विस्तार के मख्यतः दो कारण

रहे- आयोग के अध्यक्ष के रूप में प्रधानमंत्री की उपस्थिति तथा भारत जैसे विकासशील तथा लोक कल्याणकारी राज्य के आर्थिक नियोजन में केन्द्रीय भूमिका।

योजना आयोग के असाधारण महत्व को कई विचारक उचित नहीं मानते तथा उसे संतुलित करने के लिए विभिन्न सुझाव भी देते हैं। इनमें मुख्य सुझाव यह है प्रधानमंत्री सहित अन्य किसी भी मंत्री को योजना आयोग का सदस्य नहीं होना चाहिए। योजना आयोग के सदस्यों में से ही किसी को आयोग का अध्यक्ष बनाना चाहिए। योजना आयोग का मुख्य कार्य सुझाव देना ही होना चाहिए तथा उन सुझावों को स्वीकार अथवा अस्वीकार करने की पूर्ण स्वतंत्रता केन्द्र तथा राज्यों को प्राप्त होनी चाहिए। आलोचकों का मानना है कि लोकतांत्रिक देश में गैर-लोकतांत्रिक तथा गैर-संवैधानिक संस्थाओं को असाधारण महत्व नहीं प्राप्त होनी चाहिए।

22.3.6 राज्य स्तर पर नियोजन तंत्र

भारतीय सहकारी संघवाद की व्यवस्था को सुचारू रूप से चलाने के लिए योजनाओं का निर्माण एवं क्रियान्वयन का दायित्व केन्द्र के साथ-साथ राज्यों पर भी है। राज्य स्तर पर नियोजन तंत्र राज्य योजना का प्रारूप बनाकर इसे केन्द्रीय सरकार के योजना आयोग एवं राज्य विधानमण्डल के समक्ष प्रस्तुत करता है। इसके लिए प्रत्येक राज्य के पास अपना-अपना नियोजन तंत्र है।

राज्यों में नियोजन विभाग सचिवालय स्तर पर राज्य विकास कार्यक्रमों व योजनाओं के निर्माण एवं समन्वय के लिये मुख्य उत्तरदायी संस्था है। प्रायः यह विभाग मुख्यमंत्री या अन्य कैबिनेट मंत्री की अध्यक्षता में रहता है। राज्य योजना विभाग की सहायता के लिये कुछ अभिकरणों की स्थापना की जाती है- 1. योजना मण्डल, 2. राज्य स्तरीय समन्वयकारी समितियां, 3. राज्य स्तरीय संगठन बोर्ड। राज्य के लिये वार्षिक एवं पंचवर्षीय योजनाओं के निर्माण हेतु नियोजन विभाग जिम्मेदार होता है।

22.4 राष्ट्रीय विकास परिषद

केन्द्र तथा राज्यों के बीच शक्तियों के विभाजन तथा समायोजन की आवश्यकता को देखते हुये, राष्ट्रीय विकास परिषद की स्थापना 6 अगस्त 1952 को की गयी। यह एक संविधानोत्तर निकाय है, जिसका अध्यक्ष प्रधानमंत्री होता है और इस परिषद को 'सर्वोपरि कैबिनेट' भी कहते हैं। राष्ट्रीय योजना प्रक्रिया में जिला, राज्य, क्षेत्रीय स्तर के मध्य, जोड़ की कड़ी प्रदान करने वाला उपयुक्त निकाय राष्ट्रीय विकास परिषद है। राष्ट्रीय विकास परिषद योजना आयोग से एक उच्च निकाय है, वस्तुतः यह एक नीति-निर्मात्री निकाय है। के0 संथानम का कथन है कि 'राष्ट्रीय विकास परिषद की स्थिति सम्पूर्ण भारतीय संघ के उच्च मंत्रिमण्डल के समकक्ष है।' अर्थात उसने एक ऐसे मंत्रिमण्डल का रूप धारण कर लिया है जो भारत सरकार और साथ ही सभी राज्यों की सरकारों के लिये कार्य कर रही है।

राष्ट्रीय स्तर पर योजना बनाने का प्रयत्न करते समय सबसे महत्वपूर्ण समस्या यह उत्पन्न होती है कि भारतीय संघ में समाविष्ट स्वायत्त राज्यों की नीतियों तथा कार्यक्रमों में समन्वय कैसे स्थापित किया जाए। इसके लिए राष्ट्रीय विकास परिषद को एक सशक्त निकाय के रूप में स्थापित करने की आवश्यकता पड़ी। डॉ0 सी0 पी0 भाम्बरी ने कहा है कि 'योजना सम्बन्धी मामलों में केन्द्र तथा राज्यों के मध्य समायोजन की स्थापना के लिए राष्ट्रीय विकास परिषद की स्थापित की गयी।'

22.4.1 राष्ट्रीय विकास परिषद उद्देश्य

योजना के समर्थन में राष्ट्र के साधनों तथा प्रयत्नों का उपयोग करना और उन्हें शक्तिशाली बनाना, सभी महत्वपूर्ण क्षेत्रों में सामान्य आर्थिक नीतियों को उन्नत करना तथा योजना आयोग की सिफारिश पर देश के सभी भागों का संतुलित तथा त्वरित विकास निश्चित करना। इसके तीन प्रमुख उद्देश्य हैं-

1. योजना की सहायता के लिये राष्ट्र के स्रोतों तथा परिश्रम को सुदृढ़ करना तथा उनको गतिशील करना।
2. सभी महत्वपूर्ण क्षेत्रों में समरूप आर्थिक नीतियों को अपनाने को प्रोत्साहित करना।
3. देश के सभी भागों के तीव्र तथा संतुलित विकास के लिए प्रयास करना।

22.4.2 राष्ट्रीय विकास परिषद रचना

राष्ट्रीय विकास परिषद में प्रधानमंत्री, योजना आयोग के सभी सदस्य, सभी राज्यों के मुख्यमंत्री, संघ शासित क्षेत्रों के प्रतिनिधि तथा भारत सरकार के प्रमुख विभागों के कुछ मंत्री सम्मिलित होते हैं।

प्रशासनिक सुधार आयोग ने सन् 1967 में अपने एक अध्ययन दल को राष्ट्रीय विकास परिषद के कार्य की समीक्षा करने और भविष्य में इसे अधिक शक्तिशाली बनाने के उपायों के सम्बन्ध में सुझाव देने को कहा था। इस अध्ययन दल द्वारा प्रेषित सुझावों को प्रशासनिक सुधार आयोग एवं भारत सरकार द्वारा कुछ संशोधनों के पश्चात्त स्वीकार कर लिया गया और इसकी सदस्यता को अधिक विस्तृत और व्यापक बनाया गया।

योजना आयोग का सचिव, राष्ट्रीय विकास परिषद का सचिव होता है। परिषद की बैठकें वर्ष में साधारणतः दो बार होती है। परन्तु इस सम्बन्ध में कोई नियम नहीं है। इसकी कार्यविधि योजना आयोग के सचिवालय द्वारा तैयार की जाती है। उसमें राष्ट्रीय महत्व के ऐसे विषय सम्मिलित रहते हैं, जिन पर राज्यों के विचारों को ज्ञात करना अति आवश्यक होता है। इसकी बैठकों में प्रत्येक विषय पर खुलकर चर्चा होती है और निर्णय प्रायः सर्वसम्मति से ही होता है।

22.4.3 राष्ट्रीय विकास परिषद के कार्य

राष्ट्रीय विकास परिषद के प्रमुख कार्य निम्न है-

1. राष्ट्रीय योजना के निर्धारित लक्ष्यों व उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये सुझाव देना।
2. योजना आयोग द्वारा तैयार की गयी राष्ट्रीय योजना पर विचार करना।
3. राष्ट्रीय विकास को प्रभावित करने वाली सामाजिक तथा आर्थिक नीति के महत्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार करना।
4. राष्ट्रीय योजना के निर्माण के लिये तथा इसके साधनों के निर्धारण के लिये पथ-प्रदर्शक सूत्र निश्चित करना।
5. राष्ट्रीय योजना के निर्माण के लिये पथ-प्रदर्शक तत्व परिषद द्वारा प्रतिपादित किये जाते हैं, जिसके अनुसार योजना आयोग अपनी योजना बनाता है।

22.4.4 मूल्यांकन

इस प्रकार राष्ट्रीय विकास परिषद, शासन में नीति-निर्धारण करने वाली सर्वोपरि एवं महत्वपूर्ण संस्था बन गयी है। राष्ट्रीय विकास परिषद का मुख्य कार्य केन्द्र सरकार राज्य सरकारों और योजना आयोग के मध्य विशेषतयाः नियोजन के क्षेत्रों में उनकी नीतियों तथा कार्य योजनाओं के सन्दर्भ में ताल-मेल बनाना तथा उनके बीच एक सेतु के रूप के रूप में कार्य करना है। इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय महत्व के विषयों पर केन्द्र एवं राज्यों के बीच विचार-विमर्श तथा उत्तरदायित्वों के विभाजन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हुए राष्ट्रीय विकास परिषद ने भारतीय संघवाद को जीवंत बना दिया है। हालांकि हमेशा से परिस्थितियां ऐसी नहीं रही हैं। एक लम्बे समय तक केन्द्र एवं राज्यों में कांग्रेस का ही शासन होने के कारण राष्ट्रीय विकास परिषद का प्रयोग केन्द्र सरकार के द्वारा लिए गए निर्णयों पर 'रबर स्टैम्प' के रूप में किया जाता रहा है। राज्यों में क्षेत्रीय राजनीतिक दलों के बढ़ते प्रभाव के कारण इस स्थिति में काफी हद तक परिवर्तन आया है। पूर्व वित्तमंत्री एच0 एम0 पटेल का मानना है कि 'योजना आयोग के परामर्शी निकाय में राष्ट्रीय विकास परिषद भी शामिल है। संरचना पर ध्यान दें तो यह बिल्कुल ठीक नहीं है। राष्ट्रीय विकास

परिषद, योजना आयोग से उच्च निकाय है। वस्तुतः यह एक नीति निर्धारक निकाय है और इसकी सिफारिशों को सुझाव मात्र नहीं माना जा सकता, वास्तव में यह नीतिगत निर्णय ही है।'

सरकारिया आयोग का भी सुझाव है कि राष्ट्रीय विकास परिषद को प्रभावी बनाया जाना चाहिए ताकि वह केन्द्र और राज्य सरकारों के बीच राजनीतिक स्तर की सर्वोच्च संस्था हो सके। आयोग ने केन्द्र-राज्य सम्बन्धों पर अपनी रिपोर्ट में देश में योजनाबद्ध विकास को दिशा देने के लिये परिषद को और अधिक प्रभावी बनाने की आवश्यकता व्यक्त करते हुये सुझाव दिया है कि इसका पुनर्गठन करके नाम बदलकर ''राष्ट्रीय आर्थिक एवं विकास परिषद'' कर दिया जाये।

अभ्यास प्रश्न-

1. योजना आयोग की स्थापना किस वर्ष हुई?
2. भारत के योजना आयोग का अध्यक्ष कौन होता है?
3. योजना आयोग एक संवैधानिक निकाय है। सत्य/असत्य
4. राष्ट्रीय विकास परिषद को 'सर्वोपरि कैबिनेट' भी कहते है। सत्य/असत्य
5. राष्ट्रीय विकास परिषद के अध्यक्ष भारत के प्रधानमंत्री होते है। सत्य /असत्य

22.5 सारांश

भारत में योजनाओं का निर्माण राष्ट्र के सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक उन्नयन के लिये किया जाता रहा है। योजना आयोग तथा राष्ट्रीय विकास परिषद इसके निर्माण, क्रियान्वयन तथा मूल्यांकन के लिये उत्तरदायी संस्थाऐं हैं, जो व्यवहार में मंत्रिमण्डल से भी अधिक प्रभुत्वशाली हो गयी हैं। भारत में आर्थिक नियोजन को यथासंभव लोकतांत्रिक बनाने का प्रयास किया गया है। जनता द्वारा निर्वाचित सरकार ही योजना आयोग के सहयोग से योजना बनाती है। योजना आयोग द्वारा राज्यों को निर्देश दिया जाता है कि वे पंचायतों, खण्डों और जिलों से योजना का प्रारूप आमंत्रित करें, इससे राज्य की योजना में स्थानीय लोगों की आवश्यकताओं को दृष्टि में रखा जा सकता है। आर्थिक आयोजन विभिन्न प्रकार के होते हैं तथा प्रचुर मात्रा में विचार-विमर्श एवं विभिन्न चरणों से गुजरने के बाद मूर्त रूप में आते हैं।

22.6 शब्दावली

समाजवादी विचारधारा- उत्पादन के साधनों पर जनता के स्वामित्व में होने की स्थिति का समर्थन करना।

परिप्रेक्ष्यात्मक- किसी सन्दर्भ से सम्बन्धित।

प्रख्यापित- प्रस्तुत करना।

वैश्वीकरण- सम्पूर्ण विश्व का आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक रूप से निकट आ जाना।

22.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1.1950, **2.** प्रधानमंत्री, **3.** असत्य, **4.** सत्य, **5.** सत्य

22.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. फड़िया, बी0 एल0 (2007) लोक प्रशासन, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा।
2. लक्ष्मीकांत, एम0 (2010) लोक प्रशासन, टाटा में क्ग्रॉहिल, नई दिल्ली।
3. स्पेक्ट्रम (2010) भारतीय राज्य व्यवस्था, स्पेक्ट्रम, नई दिल्ली।

22.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. अवस्थी, अम्रेश्वर एवं माहेश्वरी, श्रीराम, (2002) लोक प्रकाशन, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा।

2. दत्त, रूद्र एवं सुन्दरम् के0 पी0 एम0 (2010), भारतीय अर्थव्यवस्था, एस0 चांद एण्ड क0 लि0 नई दिल्ली।
3. स्पेक्ट्रम (2010), भारतीय अर्थव्यवस्था, स्पेक्ट्रम, नई दिल्ली।

22.10 निबंधात्मक प्रश्न

1. भारत में नियोजन प्रक्रिया ने भारतीय संघ को किस प्रकार प्रभावित किया है?
2. योजना आयोग में केन्द्र सरकार की भूमिका का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए।
3. भारत में नियोजन प्रक्रिया को केन्द्रीकृत होना चाहिए अथवा विकेन्द्रीकृत? तर्क प्रस्तुत कीजिए।
4. भारत में नियोजन प्रक्रिया को किस प्रकार अधिक सार्थक बनाया जा सकता है? सुझाव प्ररूतुत कीजिए।

इकाई- 23 नौकरशाही- अर्थ, नौकरशाही के प्रकार, गुण, दोष, मैक्स वेबर की नौकरशाही

इकाई की संरचना

23.0 प्रस्तावना
23.1 उद्देश्य
23.2 नौकरशाही का अर्थ
23.3 नौकरशाही के प्रकार
23.4 नौकरशाही के गुण
23.5 नौकरशाही के दोष
23.6 मैक्स वेबर की नौकरशाही
23.6.1 प्राधिकार, शक्ति और नौकरशाही की विवेचना
23.6.2 मैक्स वेबर का आदर्श प्रारूप
23.6.3 नौकरशाही के परिणाम
23.6.4 नौकरशाही पर नियंत्रण
23.6.5 नौकरशाही सिद्धान्त का मूल्यांकन
23.7 सारांश
23.8 शब्दावली
23.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
23.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
23.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
23.12 निबंधात्मक प्रश्न

23.0 प्रस्तावना

'नौकरशाही' शब्द से हमारा तात्पर्य यह है कि किसी भी राजनीतिक व्यवस्था को सुचारू रूप से चलाने के लिए तथा राजनीतिक क्रियाकलापों एवं प्रक्रियाओं को एक व्यवस्था प्रदान करने के लिए एक संस्थागत ढाँचा। यह एक ऐसा संगठनिक उपक्रम है, जो जनता के लिए विभिन्न प्रकार की व्यवस्थाओं को आसानी से उपलब्ध कराती है तथा यह राज्य की प्रतिनिधि है। नौकरशाही की संकल्पना पश्चिम की देन है तथा इसकी प्रकृति शुरूआत से ही अभिजनवादी है। नौकरशाही के गठन के पीछे ऐसा विचार रहा कि यह संसदीय संस्थाओं के असंतुलित विकास पर अंकुश लगा सके। जब इस पर लोकतंत्र का भारी दबाव पड़ा तो यह संस्था विकेन्द्रीकरण की ओर बढ़ी। जबकि पहले यह पूरी तरह से केन्द्रीकृत एवं एकात्मवादी थी।

विश्व में सर्वत्र ही हम किसी न किसी प्रकार का नौकरशाहीतंत्र पाते हैं, जो अलग-अलग परिस्थितियों में अपना-अलग स्वरूप रखती थी। पर 20वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में लोकतंत्र के साथ यह करीब सारे विश्व में फैल गई। विचारधारात्मक स्तर पर मतभेदों के कारण इसे काफी विरोधों का सामना भी करना पड़ा है। मार्क्सवाद ने नौकरशाही को पूँजीवादी व्यवस्था की उपज माना है जो कि राज्य द्वारा अनैतिक शोषण के तंत्र एवं उपकरण के रूप में देखी गई।

विभिन्न प्रकार के गुण-दोषों के बावजूद लोककल्याणकारी शासन व्यवस्था में नौकरशाही एक अनिवार्य संस्था है। इसमें कुछ विकृतियाँ भी आयी जिसमें प्रमुख 'भ्रष्टाचार' है। 'लालफीताशाही' शब्द का प्रयोग भी हम नौकरशाही

के कुछ विकृतियों को ध्यान में रखकर ही करते हैं। जैसे कि कार्य में विलम्ब और नियमों एवं कानूनों का विवेकहीन ढंग से पालन करने की प्रकृति इत्यादि। इन सभी पहलुओं पर आगे विस्तार से चर्चा की जाएगी।

23.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- नौकरशाही के अर्थ एवं महत्व और उसके प्रकारों, गुणों एवं दोषों के बारे में जान पायेंगे।
- मैक्स वेबर द्वारा नौकरशाही की संकल्पना की चर्चा करते हुए विद्वानों की उस पर राय की विवेचना कर पायेंगे।
- आधुनिक राज्य में नौकरशाही का स्थान एवं इसके विविध पहलुओं एवं नियमों के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त कर पायेंगे।
- नौकरशाही पर नियंत्रण किस प्रकार होता है तथा उससे क्या लाभ है, इस सम्बन्ध में जान पायेंगे।

23.2 नौकरशाही का अर्थ

नौकरशाही अथवा अधिकारी-तंत्र शब्द की उत्पत्ति फ्रांस से मानी जाती है, क्योंकि इसका पहला प्रयोग वहीं हुआ था। तत्पश्चात यह 19वीं शताब्दी में काफी प्रचलित हो गई।

नौकरशाही किसी भी शासन को चलाने तथा स्थायित्व प्रदान करने वाली महत्वपूर्ण संस्था है, जिससे कि समाज की जरूरतों एवं राज्य के लक्ष्यों को आसानी से पूर्ण किया जाता है। नौकरशाही से अनुभव , ज्ञान तथा उत्तरदायित्व की कामना की जाती है।

लोकतांत्रिक शासन प्रणाली में नौकरशाही का अपना उचित स्थान है तथा बहुत सारी जिम्मेदारियाँ एवं उम्मीदें भी इस पर टिकी हुई हैं। विस्तृत क्षेत्र का अन्वेषण करने पर पता चलता है कि नौकरशाही का उचित अथवा अनुचित इस्तेमाल सबसे ज्यादा साम्यवादी एवं अधिनायकवादी तंत्रों में किया जाता है।

नौकरशाही की उत्पत्ति सत्ता के शीर्षस्थ स्रोतों द्वारा दिए गए आदेशों के निर्धारित समय के अन्दर अनुपालन के लिए हुई है। यह सरकार के हाथ-पैर के रूप में कार्य करती है। यह अधिकारी-तंत्र भी कहलाती है, क्योंकि यह प्रचुर सत्ता-सम्पन्न संस्था है तथा बहुत शक्तिशाली होती है। किन्तु इसे नियमों से बंधकर पर्दे के पीछे से कार्य करना पड़ता है तथा तटस्थता इसके लिए सर्वाधिक जरूरी समझी जाती है। अधिकारी-तंत्र अथवा नौकरशाही को एक विशेष प्रकार के संगठन के रूप में देखा गया है जो कि लोक प्रशासन के संचालन के लिए एक सामान्य रूपरेखा है। आज का आधुनिक युग बड़ी संस्थाओं जैसे- निगम, व्यापार संघ, राजनीतिक दल, मजदूर संघ इत्यादि से भरा पड़ा है तथा इन्हें सुचारू रूप से संचालित करने के लिए एक बड़ी नौकरशाही एवं नियमोंकानूनों की आवश्यकता पड़ती है। अतः सरकार की कार्यपालिका के अंतर्गत एक ऐसे मशीनरी की आवश्यकता को नौकरशाही पूरा करती है जो राज्य को लोक कल्याणकारी छवि प्रदान करने में सक्षम हो।

कुछ विद्वानों का मत सर्वथा विपरीत पाया गया है। जैसे, लास्की के अनुसार नौकरशाही की प्रमुख विशेषताएँ हैं- प्रशासन में दिन-प्रतिदिन के कार्यों पर बल, नियमों के लिए लचीलेपन का त्याग, निर्णय लेने में विलम्ब तथा नये प्रयोगों से विरोध। इस विशेषता के फलस्वरूप यह अमानुषिक एवं यंत्रवत होकर रह गयी है।

लास्की ने पुनः नौकरशाही को परिभाषित करते हुए कहा है कि यह सरकार की एक प्रणाली है, जिसका नियंत्रण पूर्ण रूप से अधिकारियों के हाथों में होता है और जिसके कारण उनकी शक्ति सामान्य नागरिकों की स्वतंत्रता को संकट में डाल देती है।

नौकरशाही एक प्रशासनिक संगठन है तथा आधुनिक सरकार के लिए जरूरी है। यह सार्वजनिक एवं व्यक्तिगत दोनों ही प्रकार के संबंधों के अन्तर्गत काम करती है।

23.3 नौकरशाही के प्रकार

विभिन्न विद्वानों ने नौकरशाही के विभिन्न प्रकार बताए हैं। मार्क्स ने अपनी पुस्तक ''द एडमिनिस्ट्रेटिव स्टेट'' में मुख्य रूप से नौकरशाही के चार प्रकार बताए हैं-

1. **अभिभावक नौकरशाही-** ऐसे ज्ञानवान पदाधिकारी जो पारम्परिक ग्रन्थों तथा विद्या में कुशल होते थे। इसके उदाहरण हम चीनी नौकरशाही (प्रथम ईसवीं सहस्राब्दी में) तथा जर्मन राज्य प्रशासन के सत्रहवीं तथा अठारहवीं शताब्दी के मध्य में पाते हैं। यह एक ऐसा अधिकारी-तंत्र था जो कि अपने को जनहित का संरक्षक मानता था, पर जनमत से स्वतंत्र होता था। यह कार्यकुशल तथा उपकारी होते हुए भी अनुत्तरदायी था। आधुनिक युग की कसौटी पर यह खरा नहीं उतर सकता जो कि विधिक सत्ता पर आधारित है। पर इतना अवश्य है कि इस नौकरशाही में न्याय के तत्व परिलक्षित होते थे।
2. **जातीय नौकरशाही-** इस नौकरशाही का आधार वर्ग-विशेष से होता है तथा अभिजनों के संबंधों द्वारा यह अपने इस रूप को प्राप्त करती है। यह अल्पतंत्रीय शासन वाले देशों में अधिकतर पायी जाती है, जहाँ सरकार के उच्च पदों पर केवल उच्चतर वर्गों या जातियों के लोग ही आसीन होते हैं। इन पदों को प्राप्त करने के लिए जो योग्यताएँ निर्धारित की जाती हैं वह भी किसी जाति या वर्ग विशे- को ध्यान में रखकर की जाती हैं।

   ब्रिटेन में कुलीनतंत्र की परम्परा थी जो कि भारतीय नौकरशाही में समाहित हो गयी। ये वर्ग सामान्य जन से दूर तथा अफसराना व्यवहार के लिए मशहूर था। आज भी भारतीय लोकसेवा अपनी वर्गीय विशेषता को प्रकट करती है। पॉल ऐपल्बी ने अपने एक सर्वे की रिपोर्ट में कहा है कि 'कर्मचारी वर्ग अत्यन्त सुदृढ़ वर्गों में तथा अति दृढ़ और अनेक विशिष्ट सेवाओं में स्वयं ही विभाजित हो गए हैं और उनके वर्गों तथा पदों के बीच विभेद की ऊँची दीवार है। वे अपनी श्रेणी, वर्ग, उपाधि तथा नौकरी के स्थान के प्रति अत्यधिक एवं निरन्तर जागरूक बने रहते हैं और जनता की सेवा के सम्बन्ध में बहुत सजग होते हैं।'
   नौकरशाही ने अपने अस्तित्व के साथ वर्ग को जोड़ लिया है तथा कहीं भी निकट भविष्य में यह अपने को अपनी विशिष्ट पहचान से अलग रखने को तैयार नहीं है।
3. **संरक्षक नौकरशाही-** संरक्षक नौकरशाही मुख्य रूप से 19वीं शताब्दी ब्रिटेन में प्रचलित रही है तत्पश्चात यह संयुक्त राज्य अमेरिका के नौकरशाही की प्रमुख विशेषता बन गई। यह ब्रिटेन में कुलीनतंत्रीय पक्षपोषण पर आधारित रही है तथा अमेरिका में जार्ज वाशिंगटन एवं जेफरसन जैसे लोगों के समय आरम्भ हुई और निरंतरता में आयी। संरक्षक नौकरशाही लोकतंत्र के अंतर्गत ही एक प्रयोग थी तथा यह विजेता राजनीतिक दलों के सदस्यों को पुरस्कृत करने का सशक्त एवं आसान तरीका बन गई। अमेरिका में इसे 'लूट-पद्धति' की संज्ञा दी गई, क्योंकि वहाँ बिना किसी भी योग्यता को आधार बनाकर पदों का बँटवारा राजनीतिक शक्ति-संतुलन को अपने पक्ष में करने के लिए किया गया। आज भी संयुक्त राज्य अमेरिका में 'लूट-पद्धति' परम्परागत रूप में चली आ रही है। परन्तु यह प्रणाली एक ऐसी लोक सेवा उत्पन्न करने में असफल रही जो सरकारी जटिलताओं का सामना कर सके, जो औद्योगिक क्रांति के परिणामस्वरूप सामने आई थी। मार्क्स द्वारा इसकी निन्दा इन शब्दों में की गई, ''प्राविधिक कुशलता का अभाव, शिथिल अनुशासन, प्रछन्न बलापहरण, त्रुटियुक्त कार्य-पद्धति, पक्षपातपूर्ण दृष्टिकोण तथा उत्साह की कमी के कारण इस संरक्षक नौकरशाही को समय का एक दोष कहकर निन्दा की गई है।''

संरक्षक नौकरशाही का विकास भिन्न-भिन्न जगहों पर भिन्न-भिन्न रूप में हुआ है। संरक्षक नौकरशाही में व्यक्ति निरन्तर सेवा में विद्यमान रह सकते थे, पर 'लूट-पद्धति' में सरकार के बदलने के साथ ही उन्हें भी बदल जाना पड़ता था। संरक्षक नौकरशाही एक स्थायित्व वाली व्यवस्था के रूप में सामने आई।

4. **गुणों पर आधारित नौकरशाही-** इसका अर्थ यह है कि लोकसेवा में योग्य व्यक्तियों का चयन हो सके, जिनका पूर्वनिर्धारित मानदण्डों पर परीक्षण हो चुका हो तथा वे मापदण्ड वस्तुनिष्ठ हों। प्रजातन्त्र में लोक सेवक जनता की सेवा के लिये नियुक्त किये जाते हैं तथा उनकी नियुक्ति उनकी बुद्धिमत्ता, उद्योग तथा अन्य योग्यताओं के आधार पर निश्चित उद्देश्यों के लिये की जाती है। गुणों पर आधारित नौकरशाही लोकसेवक की कुशलता तथा प्रतिभा पर आधारित होती है। आधुनिक युग में यह सर्वविदित है कि मनुष्य के जीवन में 'पालने से लेकर कब्र तक' लोक प्रशासन का महत्व रहता है। लोक प्रशासक द्वारा प्रशासन के सारे कार्यों का निष्पादन किया जाता है, जिनमें कि कुछ विशिष्ट गुण अपेछित माने गये हैं। सरकारी नौकरी में नियुक्ति अब किसी भी प्रकार के विषयनिष्ठ भेद पर आधारित नहीं है, बल्कि यह मुख्य रूप से क्षमताओं के परीक्षण का परिणाम होती है।

23.4 नौकरशाही के गुण

नौकरशाही की निरन्तरता यह दर्शाती है कि यह एक उपयोगी एवं समाज के लिये एक अपरिहार्य तत्व बन चुकी है। मैक्स बेवर के शब्दों में- नौकरशाही, संगठन का एक ऐसा विशेष रूप है जो न कि सिर्फ सरकारों में पायी जाती है अपितु आधुनिक समाज के प्रत्यक क्षेत्र में पायी जाती है। लोक प्रशासन में नौकरशाही का महत्व एवं योगदान उत्कृष्टतम रहा है, जिसके कारण प्रशासन पहले की अपेक्षा अधिक कुशल, विवेकशील, निष्पक्ष तथा सुसंगत बना है। नौकरशाही को संसदीय प्रजातन्त्र का मूल माना गया है। आधुनिक लोकतांत्रिक प्रणाली तथा जनता के दरवाजे तक सरकारी योजनाओं तथा नीतियों को पहुँचाने एवं प्रभावी रूप से उनके क्रियान्वयन के लिये एक वफादार, कुशल, सम्मानित तथा परिश्रमी नौकरशाही की अपेक्षा की जाती है। लोक कल्याणकारी राज्य की संकल्पना को सिद्ध करने के लिये किसी राज्य को एक बहुत बड़े सेवक-वर्ग की आवश्यकता होती है, जो वर्ग निश्चित रूप से स्वामी के रूप में विध्वंसक माना जाता है।

किसी भी संगठन या संस्था में गुण और दोष दोनों होते हैं, पर जरूरत इस बात की है कि दोषों का न्यूनीकरण करके गुणों को अपेक्षित रूप में बढ़ाया जाये। नौकरशाही आमतौर पर लोगों की जरूरतों के प्रति संवेदनशील होती है तथा व्यवस्था को बनाये रखने एवं सुचारू रूप से चलाने में अपनी भूमिका का निर्वहन करती है।

23.5 नौकरशाही के दोष

लार्ड हेवार्ट के शब्दों में, अगर हम नौकरशाही का चित्रण करें तो यहाँ नौकरशाही की सत्ता तथा शक्ति को 'नवीन स्वेच्छाचारिता' का नाम दिया जायेगा। कभी-कभी नौकरशाही शब्द का प्रयोग निन्दा के अर्थ में भी किया जाता है, क्योंकि हमारे आज के प्रशासन में नौकरशाही की शक्ति अत्यधिक बढ़ गयी है। किसी भी देश की वित्तीय व्यवस्था या विधायी शक्तियों से सम्बन्धित मामलों में नौकरशाही द्वारा अनुचित हस्तक्षेप देखा जाता रहा है जो किसी भी प्रकार से उचित प्रतीत नहीं होता। हमारी शासन प्रणाली में यह एक शक्तिशाली तत्व बनकर उभरा है, पर इसे विधिक रूप से कोई सत्ता नहीं प्राप्त है। नौकरशाही को 'लालफीताशाही' की संज्ञा भी दी जाती है, क्योंकि यह अनावश्यक औपचारिकता में फंसी रहती है तथा उचित माध्यम की रीति पर विशेष बल देती है जो कि इसके स्वयं के उद्देश्यों के लिये घातक होने के साथ-साथ राष्ट्र के लिये भी हितकर नहीं है। नौकरशाही को यह बात भली प्रकार से याद रखनी होगी कि नियम-कानून जनता की सेवा के लिये होते हैं न कि जनता नियम-कानून के लिये।

नौकरशाही का यह मानना है कि यह निरन्तर एवं शाश्वत है जो कि उसके दंभ को प्रदर्शित करती है। नौकरशाही जनसाधारण की इच्छाओं तथा मांगों की उपेक्षा भी करती है तथा स्वयं को सेवक की जगह स्वामी के रूप में देखती है। नौकरशाही सरकार के कार्यों को विभिन्न प्रथक भागों में विभाजित करने को प्रोत्साहित करती है जो अपने अलग-अलग उद्देश्यों का अनुसरण करते हैं तथा यह भूल जाते हैं कि एक बड़े समग्र के अंग मात्र है। नौकरशाही आज के आधुनिक युग में एक अनुदारवादी एवं परम्परा को पसन्द करने वाली निकाय के रूप में विख्यात हो चुकी है जो अपनी सत्ता एवं विशेषाधिकारों को प्राथमिकता देती है तथा जनकल्याण के कार्यों से विमुख होती जा रही है।

आज की नौकरशाही में भ्रष्टाचार विभिन्न रूपों एवं स्तरों पर पनप रहा है, जो कि हमारे राजनीतिक एवं सामाजिक व्यवस्था को अंदर से दीमक की तरह चाट कर खोखला कर रहा है। यह एक राष्ट्र के लिये चिन्ता का विषय है। नौकरशाही के लिये यह जरूरी है कि अतिशीघ्र इन दुर्गुणों से मुक्ति पा ले।

23.6 मैक्स वेबर की नौकरशाही

नौकरशाही के व्यवस्थित अध्ययन का प्रारम्भ जर्मन समाजशास्त्री मैक्स बेबर से माना जाता है। वेबर की नौकरशाही की संकल्पना को काफी आलोचनाओं का सामना करना पड़ा, तथापि उसका प्रभाव एवं प्रखरता सर्वविदित है।

वेबर द्वारा प्रशासनिक सत्ता का विषद एवं व्यवस्थित विवेचन उसकी पुस्तक ‘सोशियोलॉजी ऑफ डोमिनेशन इन इकोनामी एण्ड सोसाइटी’ में किया गया है। इस विषय पर वेबर के विचारों को जानने का दूसरा महत्वपूर्ण स्रोत उनकी रचना ‘पार्लियामेंन्ट एण्ड गवर्नमेंन्ट इन न्यूली आर्गेनाइज्ड जर्मनी’ है।

23.6.1 वेबर द्वारा प्राधिकार शक्ति और नौकरशाही की विवेचना

वेबर की नौकरशाही की संकल्पना उसके शक्ति, प्राधिकार एवं प्रमुख के विचारों में देखने को मिलती है। वेबर ने शक्ति को इन शब्दों में परिभाषित किया है ‘‘किसी भी सामाजिक सम्बन्ध के अंतर्गत एक कर्ता की ऐसी स्थिति जो अपनी किसी भी इच्छा का पालन काफी विरोधों के बावजूद भी करवा सके।’’

प्राधिकार के प्रयोग से वेबर का तात्पर्य किसी एक वर्ग द्वारा ऐसे आदेशों के अनुपालन से है जिसे वह वर्ग वैधानिक मानता है और उसमें अपने विश्वास को व्यक्त करता है। वैधानिकता (जो जनता का शक्ति में विश्वास द्वारा आती है) शक्ति एवं प्रभुत्व को प्राधिकार में बदलने की क्षमता रखती है।

वेबर ने प्राधिकार को वैधानिकता के आधार पर वर्गीकृत किया है। जिस पर मुख्य रूप से आज्ञाकारिता निर्भर करती है तथा यह भी निर्भर करता है कि किस प्रकार का प्रशासनिक स्टाफ होगा।

प्राधिकार मुख्य रूप से तीन प्रकार का होता हैं-

1. **परम्परागत प्राधिकार-** प्राचीनकाल में इसके अस्तित्व को स्वीकार किया गया है। यह पूर्ण रूप से स्थापित विश्वासों एवं रीति-रिवाजों पर आधारित होता है जो कि प्राचीन काल से अनवरत चली आ रही है।
2. **करिश्माई प्राधिकार-** यह प्राधिकार धारण करने वाला व्यक्ति, नेतृत्व-क्षमता तथा असाधारण गुणों का स्वामी होने के कारण वैधानिकता को प्राप्त करता है।
3. **विधिक तार्किक प्राधिकार-** यह औपचारिक नियमों के अनुसार होने के कारण वैधानिक होता है, तथा उन लोगों के अधिकार के अंतर्गत होता है जो सर्वथा स्वीकार्य नियमों एवं कानूनों का पालन करते हुए उन्हें लागू करने का कार्य करते हैं। यह उन नियमों के वैधानिकता में विश्वास पर आधारित होता है।

प्राधिकार का इस प्रकार का वर्गीकरण ही संगठनों के वर्गीकरण का आधार बनता है। विधिक प्राधिकार आधुनिक संगठनों का आधार है जिसके साथ प्रशासनिक नौकरशाही भी संबंधित होती है।

23.6.2 वेबर का आदर्श प्रारूप

वेबर ने विधिक सत्ता के प्रयोग के सम्बन्ध में नौकरशाही की विवेचना की है। विधिक सत्ता के प्रयोग का यह वह रूप है, जिसमें नौकरशाही के संचालन के लिए प्रशासकीय कर्मचारी होते हैं। ऐसे संगठन के प्रमुख सत्ताधारी योग्यता के कारण, नामांकन के आधार पर पदारूढ़ होते हैं। अतः सर्वोच्च सत्ता के अधीन सभी प्रशासकीय अधिकारियों में वे सभी व्यक्तिगत अधिकारी शामिल होते हैं जो निम्नलिखित सिद्धान्तों के आधार पर नियुक्त किये जाते हैं तथा कार्य करते हैं -

1. वे व्यक्तिगत रूप से तो स्वतंत्र होते हैं, परन्तु शासकीय कार्यों एवं दायित्वों के सम्बन्ध में अपने अधिकारी के अधीन होते हैं।
2. वे सुनिश्चित विधि से विभिन्न पदों के निर्धारित पद-सोपान में संगठित होते हैं।
3. विधिक अर्थों में प्रत्येक पद का सुस्पष्ट एवं परिभाषित योग्यता क्षेत्र होता है।
4. कर्मचारी का खुला चयन होता है, जो कि अनुबन्ध पर आधारित होता है।
5. वस्तुनिष्ठ चयन प्रक्रिया के माध्यम से योग्यता का परीक्षण किया जाता है तथा परीक्षा के माध्यम से एवं प्राविधिक शिक्षण के प्रमाण-पत्र को प्रमाणिक मानकर नियुक्ति की जाती है। ये निर्वाचित नहीं होते हैं, सिर्फ नियुक्त होते हैं।
6. इन अधिकारियों को निश्चित धनराशि वेतनमान के रूप में दी जाती है तथा पेंशन इत्यादि की भी व्यवस्था होती है। अधिकारी का पद-सोपान एवं वेतनमान व्यवस्था में पद की स्थिति के अनुरूप होता है तथा अधिकारी को पदत्याग करने की स्वतंत्रता होती है।
7. अधिकारी का पद ही उसका मूल व्यवसाय माना जाता है।
8. वरिष्ठता अथवा सफलता दोनों के आधार पर ही पदोन्नति होती है। उच्चस्थ अधिकारियों के निर्णय के आधार पर ही पदोन्नति निर्भर करती है।
9. पदाधिकारी प्रशासनिक साधनों के स्वामित्व से पूर्णरूपेण पृथक रहकर कार्य करता है, तथा अपने पद पर रहते हुए अन्य प्रकार से आय नहीं कर सकता।
10. पद के संचालन में वह कठोर एवं व्यवस्थित अनुशासन एवं नियंत्रण के अधीन रहकर कार्यों का सम्पादन करता है।

नौकरशाही का यह आदर्श प्रारूप वेबर द्वारा प्रशासन के प्रशासनिक सिद्धान्तों एवं यूरोपीय प्रशासनिक इतिहास से लिया गया है। जब कभी भी वेबर किसी प्रशासनिक संगठन की चर्चा करते हैं, तो वे उसे नौकरशाही से संबद्ध पाते हैं, जबकि ऐसा नहीं है कि वे संगठन अपने में सारे अथवा केवल उपरोक्त आदर्श प्रारूप की विशेषता समाहित किए हुए होते हैं।

वेबर, मार्क्स एवं लेनिन के इस विचार से सदैव असहमत है कि नौकरशाही नाम की संस्था सिर्फ पूँजीवादी व्यवस्था से ही जुड़ी है तथा समाजवादी क्रांति के फलस्वरूप उसका लोप हो जायेगा। वेबर बलपूर्वक कहते हैं कि, नौकरशाही एक स्वतंत्र निकाय है तथा यह किसी भी प्रकार के समाज में जीवित रह सकती है, चाहे वह पूँजीवादी समाज हो अथवा समाजवादी समाज। इसके पीछे दो कारण हैं-

पहला, क्योंकि नौकरशाही का उदय उन कारकों द्वारा पोषित है जो स्वयं में आधुनिक समाज की रचना के लिए उत्तरदायी रही है। जैसे कि पूँजीवाद, केन्द्रीकरण की प्रवृत्तियाँ और जन लोकतंत्र जो कि ऐसी प्रक्रियाएँ हैं, जिनका

उन्मूलन करना कठिन है। वेबर के अनुसार अगर तकनीकी रूप से देखें तो प्रशासनिक नौकरशाही सदैव अपनी तार्किकता बनाए रखती है तथा बड़े पैमाने पर प्रशासन की आवश्यकता ने इसे अनिवार्य बनाए रखा है।

दूसरा, हम पाते हैं कि नौकरशाही स्थाई रूप से एक सामाजिक शक्ति बन चुकी है। इसकी उत्कृष्टता इसके निर्वैयक्तिकता, तकनीकी रूप से योग्यता, संक्षिप्तता तथा अनुशासन से निर्मित है।

वेबर, नौकरशाही की प्रवृत्तियों को न केवल आधुनिक राज्य में ही बल्कि निजी पूँजीवादी उद्यमों, आधुनिक सेनाओं, चर्चों तथा विश्वविद्यालयों में भी देखते हैं। सुसज्जित सेनाएँ, भौतिक सम्पत्ति के परिणामस्वरूप सार्वजनिक क्षेत्र की बढ़ती भूमिका, संचार के आधुनिक साधन तथा कुछ राजनीतिक कारक, जैसे सार्वभौमिक मतदान का अधिकार, वृत्त जनाधार युक्त राजनीतिक दलों का अविर्भाव नौकरशाहीकरण के पीछे महत्वपूर्ण कारक रहे हैं। एक विकसित नौकरशाही की अनिवार्यता को वेबर द्वारा आधुनिक युग का एक महत्वपूर्ण राजनीतिक तथ्य माना गया है।

23.6.3 नौकरशाही के परिणाम

वेबर को समकालीन नौकरशाही के प्रबल विस्तार के सामाजिक एवं राजनीतिक परिणामों से बेचैनी भी थी। मार्टिन क्रिगर के अनुसार वेबर की इस बेचैनी के दो कारण थे। पहला, यह कि पूरे समाज का नौकरशाहीकरण, वह भी इन अर्थों में कि नौकरशाही के मूल्यों का पूरी तरह प्रसार तथा इसके ही सुसंगत विचार एवं व्यवहार का प्रचलन होना। दूसरा, यह कि वे जो नौकरशाही के अंतर्गत महत्वपूर्ण पदों को धारण किए हुए हैं, वे ही राज्य के वास्तविक शासक प्रतीत होते हैं। वेबर व कुछ विद्वानों के अनुसार, इस मशीन(नौकरशाही) में यह सम्भावना भी देखते हैं कि कहीं ये अपने स्वामी के विरूद्ध ही क्रांति न कर दे। ऐसा इसलिए सोचा जाता रहा है, क्योंकि नौकरशाही के पास उत्कृष्ट तकनीक एवं व्यवहारिक ज्ञान तथा योग्यता होती है तथा सूचना के संग्रहण एवं प्रसार के उत्तम साधन होते हैं। एक प्रकार से प्रशासनिक नौकरशाही का अर्थ है- ज्ञान के माध्यम से प्रभुत्व।

हाल्वी ने दो नये संबंधित परिणामों के विषय में चर्चा की है, जिसके विषय में वेबर चिन्तित है। उसने उन लोगों पर इसके प्रभाव को देखा जो इसके अन्दर है। अर्थात स्वयं नौकरशाही जिसका प्राकृतिक व्यक्तित्व इसके प्रभाव के कारण विकलांग होता जा रहा है।

पूँजीवाद एवं नौकरशाही दोनों मिलकर एक तकनीकी विशेषज्ञ का सृजन करते हैं, जो अपनी उत्कृष्टता के विषय में आश्वस्त होता है तथा एक सुसंस्कृत व्यक्ति की जगह धीरे-धीरे ले लेता है। नौकरशाही के आलोचक इस प्रकार के व्यक्ति को पतित मनुष्य की संज्ञा देते हैं।

अंततः वेबर की दृष्टि में नौकरशाही का एक दुष्परिणाम यह भी है कि यह अति संगठन का एक रूप है, जो कि मनुष्य की स्वतत्रता में बाधक है।

23.6.4 नौकरशाही पर नियंत्रण

वेबर ने नौकरशाही को कभी भी एक स्वतंत्र सामाजिक इकाई के रूप में नहीं देखा। वेबर ने इसे सदैव एक यंत्रके रूप में देखने का प्रयास किया। इस प्रकार नौकरशाही पर नियंत्रण का प्रश्न आसान हो गया। नौकरशाही किसी के भी अधीनस्थ कार्य करने को तैयार रहने वाली मशीन है, जिसने कि इसके सही संचालन के लिए जरूरी आर्थिक एवं विधिक तकनीकों का स्वामित्व हासिल कर लिया हो। क्योंकि वेबर ने नौकरशाही को ऐसा उपकरण समझा, जो किसी के लिए भी कार्य करेगी, जो उस पर नियंत्रण रखना जानता हो। इसी कारणवश उसने गैर-नौकरशाह को नौकरशाही का स्वामित्व प्रदान करने की बात कही।

कुछ दूसरे अवरोधों को जिसे वेबर ने नौकरशाही के लिए जरूरी समझा वे हैं- खुलापन, सरकारी/कार्यालयी रहस्यों का उन्मूलन तथा प्रभावी संसदीय नियंत्रण का होना।

मार्टिन एलब्रो ने नौकरशाही के ऊपर नियंत्रण के तंत्र को पाँच वर्गों में बांटा है

1. **सामूहिकता-** कार्यालयी पदसोपान के प्रत्येक स्तर पर, एक से अधिक व्यक्तियों द्वारा ही निर्णय लिया जाता है।
2. **शक्ति का पृथक्करण-** नियंत्रण को प्रभावी रूप से लागू करने के लिए कार्यों एवं उत्तरदायित्व का बंटवारा, पर यह व्यवस्था स्वाभाविक रूप से अस्थायी होती है।
3. **अनुभवहीन प्रशासन-** तेजी से बदलते हुए आधुनिक समाज की आकांक्षाओं के अनुरूप तंत्र अपने में विशेषज्ञता नहीं ला सकता, इसलिए अधिकतर अनुभवहीन अधिकारियों की सहायता पेशेवरों द्वारा की जाती है तथा अधिकतर मामलों में पेशेवर ही वास्तविक निर्णय निर्माण का कार्य करते हैं।
4. **प्रत्यक्ष लोकतंत्र-** यह केवल स्थानीय स्तर के प्रशासन के सम्बन्ध में हो सकता है, पर विशेषज्ञता की कमी सबसे बड़ी समस्या बनकर सामने आती है।
5. **प्रतिनिधित्व-** लोकप्रिय रूप से चुनी हुई प्रतिनिधि सभाओं या संसद द्वारा भी प्रभावी नियंत्रण होता है। इसी माध्यम को वेबर ने सबसे ज्यादा प्रभावी नियंत्रण का माध्यम माना है।

23.6.5 नौकरशाही सिद्धान्त का मूल्यांकन

वेबर के नौकरशाही सिद्धान्त की आलोचना वृहत पैमाने पर हुई है, कुछ महत्वपूर्ण बिन्दु इस प्रकार हैं-

1. नौकरशाही का वेबरीय मॉडल विकासशील राष्ट्रों के बदलते हुए सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियों के साथ पर्याप्त रूप से ताल-मेल नहीं बैठा पाया। यह परिस्थितियाँ त्वरित परिवर्तन में सहायता की मांग करती थीं, पर वेबरीय मॉडल यह प्रदान करने में विफल रहा।
2. यह मॉडल विभिन्न प्रकार के विकारों तथा दुष्परिणामों का शिकार रहा है तथा मनुष्यों के व्यक्तिगत एवं व्यावहारिक पक्षों का ध्यान रखने में विफल रहा है।
3. वेबर का आदर्श प्रारूप संकल्पनात्मक उपकरण की तरह आदर्श होने से काफी दूर है, इसलिए इसने वेबर को नौकरशाही का एकतरफा विचार प्रस्तुत करने के लिए प्रेरित किया।
4. यह मॉडल सिर्फ औपचारिक नौकरशाही के ढ़ांचे के अध्ययन मात्र तक ही सीमित रह सकता है। यह अनौपचारिक ढ़ांचे से सम्बन्धित चीजों के अध्ययन में विफल है। जैसे- अनौपचारिक सम्बन्ध, अनौपचारिक नियम एवं मूल्य, अनौपचारिक सत्ता पदक्रम एवं अनौपचारिक शक्ति का संघर्ष इत्यादि।
5. जिन विशेषताओं को वेबर ने अपनी नौकरशाही के मॉडल में शामिल किया है, जैसे- पदक्रम (पदसोपान), नियम एवं विधि इत्यादि वे अधिक से अधिक प्रभाव उत्पन्न कर पाने में असमर्थ हैं तथा तनाव, नियमों के प्रति अनिवार्य जुनून, एवं ढकोसलेबाजी के महत्व को बढ़ावा देते हैं।

हाल्वी ने वेबर के नौकरशाही मॉडल पर निष्कर्षतः यह कहा है कि अगर इस प्रकार की नौकरशाही हो तो वह सिर्फ वेबर के समय में ही प्रभावी हो सकती थी, पर आज के त्वरित परिवर्तन वाले समाज के लिए यह उपयुक्त नहीं है। परिणामतः नौकरशाही आज, अधिकाधिक लचीले सांगठनिक ढांचों द्वाराअपने स्थान से हटाई जा रही है। ऐसा अभी पूरी तरह से नहीं हुआ है, पर बदलाव जारी है। आज की नौकरशाही पूरी ताकत के साथ अपने स्थान पर बनी हुई है तथा इसका विश्लेषण वर्तमान समय में इसी रूप में संभव है।

आज के आधुनिक अथवा उत्तर-आधुनिक युग में नौकरशाही लोकतंत्रीय प्रक्रियाओं में ढल चुकी है तथा इस प्रक्रिया को अपने अनुरूप ढाल भी रही है। विभिन्न प्रकार के अनौपचारिक संगठनों, नागरिक समाज, निजी क्षेत्र एवं प्रबन्धन तथा तीव्र संचार के साधनों के युग में पूरी तरह एक नये वेश-भूषा में आ चुके हैं, जो सम्पूर्ण रूप से अभिजनवादी सोच का एक हिस्सा है। शक्ति के अनुप्रयोग का कार्य हमेशा नौकरशाही के हाथों में ही रहा है तथा आगे भी बने रहने की सम्भावना है।

अभ्यास प्रश्न-

1. लोककल्याणकारी राज्य के शासन को सुचारू रूप से चलाने के लिए क्या आवश्यकता है?
2. नौकरशाहों की नियुक्ति किसके आधार पर होती है?
3. अधिकारीतंत्र को प्रतिभावान तथा ईमानदार होना चाहिए। सत्य/असत्य
4. नौकरशाही अपनी अभिजनवादी प्रवृत्ति के लिए जानी जाती है। सत्य/असत्य
5. मार्क्सवाद के अनुसार नौकरशाही राज्य द्वारा शोषण का एक उपकरण मात्र है। सत्य/असत्य

23.7 सारांश

किसी भी राष्ट्र का प्रशासन चलाने के लिए नौकरशाही आवश्यक होती है। नौकरशाही का अर्थ एक ऐसी संस्था से लगाया जाता है, जो समाज की जरूरतों एवं राज्य के लक्ष्यों को पूरा करने में लगी हुई है। इसकी उत्पत्ति सत्ता के शीर्षस्थ स्रोतों द्वारा दिए गए आदेशों का निर्धारित समय के अन्दर अनुपालन करने के लिए हुई है। इसे हम एक प्रकार के अधिकारी-तंत्र के रूप में भी देखते हैं।

नौकरशाही के विभिन्न प्रकार बताये गए हैं, जैसे- अभिभावक नौकरशाही जिसमें पदाधिकारी ज्ञानवान तथा पारम्परिक विद्या में निपुण होते थे। यह प्राचीन राजनीतिक व्यवस्थाओं में अधिक प्रचलित थी। जातीय नौकरशाही, यह अल्पतंत्रीय शासन पद्धति व देश में केवल विशेष जाति अथवा वर्ग के लोगों, खासकर उच्च वर्ग के लोगों के लिए होती है। संरक्षक नौकरशाही, 19वीं शताब्दी ब्रिटेन में प्रचलित थी एवं अमेरिका में भी देखने को मिलती है। इसका आधार भी कुलीनतंत्रीय पक्षपोषण रहा है। गुणों पर आधारित नौकरशाही योग्यता के आधार पर वस्तुनिष्ठ तरीके से व्यक्तियों का चयन करती है। यह उनकी कार्यकुशलता एवं प्रतिभा पद आधारित होती है। गुणों पर आधारित नौकरशाही को उत्कृष्ट माना गया है।

नौकरशाही एक संस्था के रूप में गुणों तथा दोषों से पूर्ण है। गुणों में सर्वप्रथम हम यह पाते हैं कि इसकी निरन्तरता के कारण यह समाज के लिए अनिवार्य बन चुकी है। नीतियों एवं योजनाओं का प्रभावी ढंग से क्रियान्वयन तथा वफादार, परिश्रमी लोक प्रशासक एक लोक कल्याणकारी राज्य को चलाने के लिए आवश्यक है।

वहीं इसके दोषों के अन्तर्गत विलम्ब, लालफीताशाही, वित्तीय एवं विधायी कार्यों में नौकरशाही का अनुचित हस्तक्षेप इत्यादि आते हैं। नौकरशाही में अपने निरन्तरता को लेकर दम्भ भी होता है।

मैक्स वेबर ने नौकरशाही के सिद्धान्त का विस्तृत अध्ययन किया है तथा उसकी विशेषताऐं बतायी हैं, जो कि आदर्श प्रारूप के रूप में जाना जाता है। दस वस्तुनिष्ठ नियम हैं, जिनके विद्यमान होने पर ही एक आदर्श नौकरशाही की कल्पना की जाती है। वेबर ने शक्ति, प्राधिकार एवं प्रभुत्व की संकल्पना के अंतर्गत ही नौकरशाही को देखा है। वेबर ने नौकरशाही को स्वेच्छाचारी होने से बचाने के लिए कुछ महत्वपूर्ण नियंत्रणों की भी बात कही है। मैक्स वेबर के नौकरशाही के सिद्धान्त की आलोचना काफी बड़े पैमाने पर हुई है, तथापि यह संकल्पना लोकप्रिय एवं सफल दिखती है।

23.8 शब्दावली

संसदीय प्रजातंत्र- शासन की वह व्यवस्था, जिसमें जनता अपने प्रतिनिधियों को निश्चित कार्यकाल के लिए चुने।

लोक कल्याणकारी राज्य- वह राज्य जो जनता के हित में कार्य करता है तथा आवश्यक सुविधाओं को स्वयं उपलब्ध कराता है।

प्रभुत्व- शक्ति का सफलतापूर्वक प्रयोग करके सत्ता प्राप्त करना।

विधिक-तार्किक- जो प्रत्यक्ष कानूनों के अनुसार तथा बुद्धि के अनुरूप हो।

पदसोपान- अधिकारीतंत्र में ऊपर से नीचे की ओर, एक निरन्तर आदेशों एवं जिम्मेदारियों का प्रवाह।

पूँजीवाद- उत्पादन के साधनों पर व्यक्ति का नियंत्रण।

समाजवाद- उत्पादन के साधनों पर समाज का नियंत्रण।

23.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. नौकरशाही, **2.** योग्यता, **3.** सत्य, **4.** सत्य, **5.** सत्य

23.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. फड़िया, बी0 एल0 (2008), लोक प्रशासन, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा।
2. भट्टाचार्या, मोहित (2008), लोक प्रशासन के नए आयाम, जवाहर पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली।

23.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. दुबे, अशोक कुमार (2008), 21वीं शताब्दी में लोक प्रशासन, टी0एम0एच0 पब्लिक लि0 नई दिल्ली।
2. अवस्थी एवं माहेश्वरी (2002), लोक प्रशासन, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा।

23.12 निबंधात्मक प्रश्न

1. नौकरशाही का अर्थ, प्रकार एवं गुण-दोषों का परीक्षण करें।
2. वेबर की नौकरशाही का उल्लेख करते हुए उसकी आलोचना प्रस्तुत करें।
3. आधुनिक लोकतांत्रिक युग में नौकरशाही का क्या स्वरूप है?
4. नौकरशाही के विधिक-तार्किक आधारों की विवेचना करें।
5. वेबर की नौकरशाही में आदर्श प्रारूप के महत्व पर प्रकाश डालिए।

इकाई-24 लोकसेवा- अर्थ, कार्य, भारत में अखिल भारतीय सेवाएँ, भारतीय प्रशासनिक सेवा

इकाई की संरचना

24.0 प्रस्तावना
24.1 उद्देश्य
24.2 लोक सेवा का अर्थ एवं महत्व
    24.2.1 लोक सेवा की विशेषताऐं
    24.2.2 लोक सेवा के कार्य
24.3 लोक सेवा आयोग
    24.3.1 लोक सेवा आयोग कार्य
24.4 भारत में अखिल भारतीय सेवाएँ
    24.4.1 अखिल भारतीय सेवाओं का स्वरूप एवं विशेषताऐं
    24.4.2 भारतीय संघवाद के परिप्रेक्ष्य में अखिल भारतीय सेवाएँ
    24.4.3 अखिल भारतीय सेवाओं पर नियंत्रण
24.5 भारतीय प्रशासनिक सेवा
    24.5.1 भारतीय प्रशासनिक सेवा का उद्-भव एवं स्वरूप
    24.5.2 भारतीय प्रशासनिक सेवा में भर्ती
    24.5.3 भारतीय प्रशासनिक सेवा में नियुक्ति की शर्ते
    24.5.4 भारतीय प्रशासनिक सेवा में प्रशिक्षण
    24.5.5 भारतीय प्रशासनिक सेवा की प्रमुख विशेषताऐं
    24.5.6 भारतीय प्रशासनिक सेवा की कुछ समस्याऐं
24.6 सारांश
24.7 शब्दावली
24.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
24.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
24.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
24.11 निबंधात्मक प्रश्न

24.0 प्रस्तावना

जैसा कि नाम से ही स्पष्ट होता है कि लोकतांत्रिक देशों में जनता का शासन, जनता के लिये सुचारू रूप से चलाने के लिए तथा लोक कल्याण के कार्यों को करने के लिये लोक सेवा की आवश्यकता है। विकासशील देशों को लोक सेवाओं के क्षेत्र में एक सम्पन्न विरासत औपनिवेशिक अतीत द्वारा प्रदान की गयी है। साम्राज्यवादी अस्तित्व के लिये ये लोक सेवायें अभिजनवादी प्रकृति की हुआ करती थी, जो कि आज भी अपनी वही प्रकृति बनाये रखे है। नौकरशाही के गठन में एक विचार यह भी रहा है कि यह संसदीय संस्थाओं के असंतुलित विकास पर एक अंकुश लगा सकें। राजनीतिक संस्थाओं के विकास के साथ जब संघवादी व्यवस्था का भी विकास हुआ तब इन लोक सेवाओं पर

कुछ नये उत्तरदायित्वों का भार बढ़ा और प्रशासन विकेन्द्रीकरण की ओर बढ़ा जो की एकात्मकता का पुट लिये हुआ था।

भारतीय इतिहास एवं परम्परा में भी सेवीवर्ग प्रशासन का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। चाणक्य के 'अर्थशास्त्र' में भी सरकारी कर्मचारी की परीक्षा के तरीकों, उनके वेतन स्तर एवं सेवीवर्ग सम्बन्धी विषयों का स्पष्ट उल्लेख है। मुगल काल में भी राजस्व, शान्ति एवं व्यवस्था, समाज कल्याण आदि के लिये सेवीवर्ग की व्यवस्था थी। भारत में आधुनिक प्रशासनिक सेवा की नींव लार्ड कार्नवालिस ने रखी, जिसमें कि भू-राजस्व एवं शांति व्यवस्था सुचारू रूप से चल सके।

लोक सेवा के विकास में सन् 1926 मील का पत्थर साबित हुआ, जब भारत में लोक सेवा आयोग की स्थापना की गयी तथा स्वतंत्रता के पश्चात भारतीय लोक सेवा का पुनर्गठन करके इसे सशक्त बनाया गया। लोक सेवा के इन सभी पहलुओं के बारे में हम इस इकाई में विस्तार से चर्चा करेंगे।

24.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- लोक सेवा के अर्थ एवं महत्व को स्पष्ट करते हुए आधुनिक लोक सेवा की विशेषताओं एवं कार्यों के सम्बन्ध में जान पायेंगे।
- भारत में अखिल भारतीय सेवाओं के स्वरूप, भारतीय संघ में उनकी भूमिका तथा उन पर स्थापित नियंत्रण-तंत्र के सम्बन्ध में जान पायेंगे।
- भारतीय प्रशासनिक सेवा के विभिन्न पहलुओं के बारे में जान पायेंगे।

24.2 लोक सेवा का अर्थ एवं महत्व

लोक सेवा का अर्थ है जनता के कल्याण से जुड़े हुए पहलुओं पर शासन के द्वारा लिये हुये संकल्पों एवं निर्णयों का प्रभावशाली ढंग से अनुपालन सुनिश्चित करना। लोक नीति के रूप में अभिव्यक्त राज्य की इच्छाओं को क्रियान्वित करने के लिए लोक सेवा की आवश्यकता पड़ती है। लोक कल्याणकारी राज्यों के उदय एवं विकास के कारण आधुनिक राज्य ने सामाजिक, आर्थिक, प्रबन्धकीय, आदि बहुविधा कार्यों का उत्तरदायित्व ग्रहण कर लिया है। लोक सेवा के द्वारा इन कार्यों का सम्पादन किया जाता है। अच्छी नीतियों का उचित लाभ राष्ट्र को तभी मिल पायेगा, जब उन्हें लोक सेवा द्वारा कुशलता पूर्वक तथा सत्यनिष्ठा के साथ क्रियान्वित किया जाए। लोक सेवा के महत्व को उजागर करते हुए ऑग लिखते हैं कि ''स्त्री-पुरूषों का यह विशाल समूह ही देश के एक छोर से दूसरे छोर तक विधि का पालन कराता है और इन्हीं के द्वारा जन-साधारण नित्यप्रति राष्ट्रीय सरकार के सम्पर्क में आता है। जनता की दृष्टि में इस निकाय का महत्व भले ही कम हो, किन्तु मंत्रालयों के लिएकाम करने वालों की यह सेना, सरकार के उन उद्देश्यों को, जिनके लिए सरकार विद्यमान है, पूर्ण करने के लिए कम आवश्यक नहीं है।''

24.2.1 लोक सेवा की विशेषताऐं

1. **कुशल कार्यकर्ता-** प्रशासन का कार्य करना ही लोक सेवकों का पूर्ण कालिक व्यवसाय है। इसके लिए योग्य व्यक्ति चुने जाते हैं, जिन्हें व्यापक प्रशिक्षण के माध्यम से कुशल बनाया जाता है, ताकि वे प्रशासन जैसे जटिल कार्य को आसानी से संपादित कर सकें।

2. **पदसोपान-** लोक सेवा का संगठन पदसोपान के सिद्धान्त के आधार पर किया जाता है, जिसमें उच्च अधिकारियों द्वारा अपने अधीनस्थों को आदेश दिया जाता है तथा उनके कार्यों का पर्यवेक्षण किया जाता है।
3. **वेतन भोगी कार्मिक-** लोक सेवा के सदस्यों को नियमानुसार निर्धारित वेतन प्राप्त होता है। वेतन पद के दायित्व, योग्यता, जोखिम, श्रम, आदि के आधार पर निश्चित किया जाता है।
4. **अनामता का सिद्धान्त-** लोक सेवकों के कार्यों का पूरा श्रेय जनप्रतिनिधियों को ही प्राप्त होता है। उन्हें पर्दे के पीछे रहकर ही कार्य करना होता है।
5. **स्थायी कार्यकाल-** जनप्रतिनिधियों से अलग लोक सेवकों का कार्यकाल निश्चित होता है। इस कारण उन्हें स्थायी कार्यकारी कहते हैं।
6. **तटस्थ दृष्टिकोण-** लोक सेवक दलीय राजनीति के दलदल से अलग रहकर निवर्तमान सत्ताधारियों के आदेशों का पालन करते हैं।
7. **उत्तरदायित्व-** विधायिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका द्वारा लोक सेवकों पर नियंत्रण रखकर उनके उत्तरदायित्व को सुनिश्चित किया जाता है।

आधुनिक लोक सेवा की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए फाइनर लिखते हैं कि लोकसेवा का अस्तित्व लाभोपार्जन के लिए नहीं होता। अतः इसके सदस्यों की प्रेरणा अंतिम आश्रय के रूप में, वेतन प्राप्त करने की होती है, जोखिम उठाकर अधिक धन कमाने की नहीं। दूसरे, लोकसेवा सार्वजनिक होती है। अतः उसके कार्यों की दृढ़ एवं सूक्ष्म जाँच की जाती है और वे अस्वीकृत भी किए जा सकते हैं। इससे पुनः उसकी लोचशीलता तथा तत्परता सीमित हो जाती है। तीसरे, लोक सेवकों तथा मंत्रियों को निरंतर संसद कीआलोचनाओं का सामना करना होता है। इससे उन्हें अवसरों के प्रति सतर्क एवं सम्बद्ध रहने के लिए प्रोत्साहन मिलता है। अन्ततः इसकी सेवाऐं व्यापक होती हैं।

24.2.2 लोक सेवा के कार्य

लोक सेवा के प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं-

1. **नीति निर्माण-** सिद्धान्त: नीति-निर्माण मंत्रीमण्डल का कार्य है, लेकिन लोक सेवकों के विशिष्ट ज्ञान, अनुभव तथा उपलब्ध सूचनाओं के कारण उनके द्वारा नीति-निर्माण के कार्य में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई जाती है। लोक सेवकों द्वारा दी गयी सलाह एवं सूचना के आधार पर ही मंत्रिमण्डल द्वारा नीति का निर्माण किया जाता है। कई मामलों में मंत्री पूरी तरह से लोक सेवकों पर निर्भर होते हैं। रैम्से म्योर के अनुसार, 100 में से 99 मामलों में मंत्री लोक सेवकों की राय मान लेता हैं और नियत स्थान पर हस्ताक्षर कर देता है। चैम्बरलेन कहते हैं कि मुझे सन्देह है कि आप लोग (लोक सेवक) हमारे बिना काम चला सकते हैं, परन्तु मेरा पक्का विश्वास है कि हम लोग (मंत्रीगण) आपके बिना काम नहीं चला सकते।'
2. **नीतियों का क्रियान्वन-** नीति-निर्माण के बाद दूसरा महत्वपूर्ण कार्य है नीति को लागू करना है। यह कार्य लोक सेवकों द्वारा किया जाता है। श्रेष्ठ नीतियां महत्वहीन हैं, जब तक उन्हें पूर्ण प्रतिबद्धता एवं कुशलता के साथ लागू न किया जाए। नीतियों को लागू करते समय कई बार लोक सेवकों द्वारा उनमें परिवर्तन भी किया जाता है।
3. **प्रत्यायोजित विधि निर्माण-** कार्य की अधिकता एवं समयाभाव के कारण अधिकतर संसद द्वारा विधि का ढ़ाँचा-मात्र ही तैयार किया जाता है। नियमों एवं उपनियमों के निर्माण की शक्ति संसद द्वारा लोकसेवकों को प्रत्यायोजित कर दी जाती है।

4. **अर्द्ध-न्यायिक कार्य-** प्रशासनिक कानूनों के आधार पर प्रशासनिक अधिनिर्णय के रूप में प्रशासक न केवल शासन करते हैं, अपितु न्याय भी करते हैं।
5. **सामाजिक परिवर्तन एवं आर्थिक विकास के अभिकरण के रूप में-** विकासशील देशों में आर्थिक विकास एक महत्वपूर्ण मुद्दा रहता है। आर्थिक विकास के मार्ग में बांधा के रूप में आने वाली सामाजिक कुरीतियों को दूर करने में लोक सेवकों की अहम भूमिका होती है। इस प्रकार के विकास के लिए नियोजन की आवश्यकता पड़ती है और नियोजन की प्रक्रिया में भी लोक सेवकों द्वारा महत्वपूर्ण भूमिका निभाई जाती है।

लोक सेवा के कार्यों की विवेचना के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि जनता की छोटी-बड़ी समस्याओं का समाधान करने के लिए लोक सेवक सदैव तत्पर रहते हैं और इसी से उनका लोक सेवक नाम सार्थक भी होता है।

24.3 लोक सेवा आयोग

लोक सेवा आयोग का उद्देश्य संघ तथा राज्यों की प्रशासनिक सेवाओं में नियुक्ति के लिये परीक्षाऐं आयोजित करना है, जिससे कि देश का प्रशासन सुचारू रूप से चल सके। लोक सेवा आयोग देश की शासन व्यवस्था का मजबूत लौह स्तम्भ है, जोकि राष्ट्र के सर्वांगीण विकास एवं विश्व पटल पर उसकी अस्मिता को अक्षुण रखने में तत्पर है। लोक सेवा आयोग नौकरशाही का प्रमुख आलम्ब है और अपने उद्देश्यों की पूर्ति विभिन्न प्रकार के सरकारी अभिकरणों की सहायता से सम्पादित करता है। लोक सेवा के संरचनात्मक पक्ष पर विचार करने पर इसका अर्थ और भी स्पष्ट होकर सामने आता है। भारतीय लोक सेवा की मुख्यतः तीन श्रेणियाँ है- अखिल भारतीय सेवाऐं, केन्द्रीय सेवाऐं और राज्य सेवाऐं।

अखिल भारतीय लोक सेवाओं के अन्तर्गत भारतीय प्रशासनिक सेवा, भारतीय पुलिस सेवा एवं भारतीय वन सेवा सम्मिलित है।

केन्द्रीय सेवाओं की बात करें तो इसकी चार श्रेणियाँ हैं- केन्द्रीय सेवा श्रेणी ‘क’, केन्द्रीय सेवा श्रेणी ‘ख’, केन्द्रीय सेवा श्रेणी ‘ ग’ और केन्द्रीय सेवा श्रेणी ‘घ’।

राज्य सेवायें अधिकांशतः राज्यों में दो भागों में विभक्त हैं- राज्य सेवाऐं और अधीनस्थ सेवायें।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद सन् 1950 में नया संविधान लागू हुआ। भारतीय सिविल सेवा(ICS) का स्थान भारतीय प्रशासनिक सेवा (IAS) ने ग्रहण कर लिया तथा नवीन भारतीय विदेश सेवा (IFS)की स्थापना की गयी। संघ लोक सेवा आयोग ने पूर्ववर्ती ‘फेडरल सर्विस कमीशन’ का स्थान ग्रहण किया।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद- 16 के द्वारा स्थापित खुली प्रतियोगिता के सिद्धान्त ने संघ लोक सेवा के महत्व को अपेक्षाकृत बढ़ा दिया। लोक सेवाओं में प्रशिक्षण की दृष्टि से नेशनल एकेडमी ऑफ एडमिनिस्ट्रेशन तथा अन्य प्रशिक्षण अभिकरण स्थापित किये गये। प्रशासनिक सुधार आयोग का प्रतिवेदन स्वीकार करते हुये 1970 में केन्द्रीय सचिवालय में सेवीवर्ग विभाग की स्थापना की गयी। इस प्रकार भारतीय लोक सेवा आयोग विकास के काल क्रम से गुजरकर अपने वर्तमान रूप में आयी। कार्य कुशलता, अनुशासन, प्रतिबद्धता, निष्ठा, तटस्थता, नेतृत्व के साथ-साथ कुछ नकारात्मक पहलू जैसे- जन-साधारण से अलगाव, अभिजनवादिता, विविधज्ञ प्रकृति, अंकुशों का अभाव, स्वविवेक से कार्य करने की आदत, इसे एक विडम्बनापूर्ण स्थिति में डालती है। यह एक विवादास्पद प्रश्न है कि प्रजातंत्र में लोक सेवाओं की भूमिका क्या होनी चाहिए तथा बदलते परिवेश से ताल-मेल बनाये रखने के लिये इसे कौन से कदम उठाने चाहिए।

22.3.1 लोक सेवा आयोग के कार्य

भारतीय संविधान के अनुच्छेद- 320 के अनुसार लोक सेवा आयोग को निम्नलिखित कार्य सौंपे गये हैं-

1. संघ तथा राज्यों की सेवाओं में नियुक्तियों के लिये परीक्षाओं का आयोजन करना।
2. यदि दो या अधिक राज्य संघ लोक सेवा आयोग को संयुक्त नियोजन अथवा भर्ती के लिये आग्रह करें तो राज्यों को इस प्रकार योजना बनाने में सहायता करना।
3. संघ तथा राज्य सरकारों को लोक सेवाओं से सम्बन्धित मामलों पर सुझाव देना।

संघ लोक सेवा आयोग प्रतिवर्ष अपने कार्यों के सम्बन्ध में एक प्रतिवेदन राष्ट्रपति के समक्ष प्रस्तुत करता है। सरकार इस प्रतिवेदन के साथ एक ज्ञापन भी प्रस्तुत करती है, जिसमें यह स्पष्ट किया जाता है कि आयोग की सिफारिशों पर किस प्रकार से अमल किया गया है। संसद के दोनों सदनों के सम्मुख यह प्रतिवेदन प्रस्तुत किया जाता है। इसी प्रकार राज्यों के लोक सेवा आयोग भी अपना प्रतिवेदन राज्यपाल को प्रस्तुत करते हैं और राज्यपाल ज्ञापन के साथ उसे विधानसभा के समक्ष रखवाते है। संविधान में लोक सेवा आयोग का कार्य सिर्फ सलाह देना रखा गया है। आयोग द्वारा प्रत्याशियों का शासकीय पदों के लिये चयन भी सलाह मात्र है। सरकार, आयोग द्वारा चुने गये प्रत्याशियों को नियुक्ति देने के लिए बाध्य नहीं है।

24.4 भारत में अखिल भारतीय सेवाएँ

स्वतंत्र भारत के संविधान में संघात्मक शासन प्रणाली को अपनाये जाने पर भी ‘अखिल भारतीय सेवाओं’ के अस्तित्व को बनाये रखने का निर्णय करना एक विचित्र विरोधाभास था। भारतीय शासन की सारी प्रशासनिक शक्तियाँ आई0सी0एस0 अधिकारियों में केन्द्रीकृत थी और उन्हें ब्रिटिश शासन का फौलादी ढ़ाँचा माना जाता था। भारतीय लोकमत आई0सी0एस0 जैसी सेवाओं का विरोधी था, फिर भी स्वाधीनता के बाद उसका प्रतिरूप आई0ए0एस0 और आई0पी0एस0 आदि को बनाये रखा।

24.4.1अखिल भारतीय सेवाओं का स्वरूप एवं विशेषताऐं

भारतीय संविधान के अन्तर्गत केन्द्र सरकार तथा घटक राज्यों के प्रशासन के लिये पृथक-पृथक लोक सेवाओं के प्रावधान किये गये हैं। केन्द्रीय सेवाओं के कर्मचारी प्रतिरक्षा, आयकर, सीमा शुल्क, डाक-तार, रेलवे, आदि संघीय विषयों के प्रशासन का कार्य करते हैं। इस प्रकार राज्यों की अपनी पृथक स्वतंत्र सेवाऐं हैं- जो भू-राजस्व, कृषि, शिक्षा, स्वास्थ्य, वन इत्यादि राज्य सूची सम्बन्धी विषयों का प्रशासन करती है। केन्द्रीय सेवाओं के कर्मचारी पृथक रूप से केन्द्रीय सरकार के कर्मचारी होते हैं तथा राज्य सेवाओं के अधिकारी पृथक रूप से विभिन्न राज्य सरकारों की सेवा में कार्य करते हैं। भारतीय प्रशासनिक प्रणाली की एक अन्य विशेषता यह है कि कुछ सेवाऐं संघ तथा राज्य दोनों के लिए सामान्य रूप से कार्य करती हैं, जैसे अखिल भारतीय सेवाऐं।

अखिल भारतीय सेवा गठित करने का प्रमुख उद्देश्य देश भर में प्रशासन स्तर में एकरूपता लाना तथा उच्च स्तरीय पदों पर काम करने के वास्ते अनुभवी तथा प्रशिक्षित अधिकारियों का एक संवर्ग गठित करने के लिए संघ लोक सेवा आयोग द्वारा आयोजित प्रतियोगी परीक्षाओं के माध्यम से अखिल भारतीय आधार पर सीधी भर्ती करना था।

संविधान में अखिल भारतीय सेवाओं का प्रावधान किया गया है। विशेष रूप से भारतीय प्रशासनिक सेवा एवं भारतीय पुलिस सेवा का उल्लेख किया गया है तथा संसद को अनुच्छेद-312 में नयी अखिल भारतीय सेवा के गठन का अधिकार दिया गया है।

अखिल भारतीय सेवाओं के अधिकारियों की भर्ती लोक सेवा आयोग द्वारा की जाती है और इन्हें भारत या भारत के बाहर कहीं भी काम करने के लिए भेजा जा सकता है।

24.4.2 भारतीय संघवाद के परिप्रेक्ष्य में अखिल भारतीय सेवाएँ

संघीय राज्य एक ऐसी राजनीतिक रचना है जिसमें राष्ट्रीय एकता तथा शक्ति तथा प्रदेशों के अधिकारों की रक्षा करते हुए दोनों में सामंजस्य स्थापित किया जाता है। के0 सी0 व्हेयर के अनुसार, 'संघीय सिद्धान्त से मेरा तात्पर्य शक्ति के विभाजन के तरीके से है, जिससे सामान्य (संघीय) एवं क्षेत्राधिकारी (राज्य) सरकारें अपने क्षेत्र में समान एवं पृथक होती हैं।' संविधान द्वारा भारत में एक संघ व्यवस्था की स्थापना का प्रयत्न किया गया है, जिस पर अखिल भारतीय सेवाओं से संबंधित प्रावधानों का प्रभाव विशेष रूप से विचारणीय है। अखिल भारतीय सेवाओं की स्थापना और नियमन के सम्बन्ध में संवैधानिक दृष्टि से जिस तरह केन्द्रीय सरकार को उत्तरदायी बनाया गया है, उससे यह इंगित होता है कि संविधान-निर्माताओं द्वारा उन्हें राज्य स्वायत्तता के संघीय सिद्धान्त के विरूद्ध केन्द्रवाद के एक सुदृढ़ आधार स्तम्भ के रूप में स्थापित किया गया है। इससे भारतीय संघ व्यवस्था में न केवल एकात्मकता की प्रवृति सुदृढ़ हुई बल्कि राज्यों की स्वायत्तता भी प्रभावित हुई।

ब्रिटिश शासनकाल में अखिल भारतीय सेवाओं की स्थापना औपनिवेशिक प्रशासन को एक सुदृढ़ ढ़ाँचा प्रदान करने के लिए की गई, परन्तु स्वतंत्रता के पश्चात्त निम्न कारणों से इसे बनाए रखा गया-

1. अखिल भारतीय सेवाएँ राज्यों के संकीर्ण दृष्टिकोण के स्थान पर देश में एकता और अखण्डता की स्थापना करती है।
2. इन सेवाओं के अधिकारी केन्द्र तथा राज्य के मध्य बदलते रहते हैं, जिसके कारण दोनों के मध्य समन्वय की स्थापना होती है।
3. इन सेवाओं के सदस्यों की भर्ती एक विस्तृत क्षेत्र से की जाती है और उन्हें उच्च वेतन तथा स्तर प्राप्त होते हैं। इस कारण इनमें राज्य सेवाओं की अपेक्षा अधिक योग्य उम्मीदवार आकर्षित होते हैं।
4. अखिल भारतीय सेवाओं के सदस्य राज्य सेवाओं में महत्वपूर्ण पदों पर कार्य करते हैं, अतः वे राज्य के मंत्रियों को स्वतंत्रतापूर्वक सलाह दे सकते हैं।
5. सामान्य संवैधानिक तंत्र के भंग होने पर हर राज्य प्रशासन का उत्तरदायित्व राष्ट्रपति पर होता है, अतः राज्यों में अखिल भारतीय सेवा के पदाधिकारी इस कार्य में केन्द्र के सहायक होते हैं। वह राज्य के अधिकारियों की अपेक्षा इन पदाधिकारियों के सहयोग पर अधिक निर्भर कर सकता है।

सम्पूर्ण देश में प्रशासन में समता और एकरूपता उत्पन्न करने और सामान्य मापदण्डों की स्थापना करने की दृष्टि से निश्चित रूप से अखिल भारतीय सेवाओं का महत्व है।

राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से अखिल भारतीय सेवाओं का चाहे कितना ही समर्थन किया जाए, किन्तु इनके अस्तित्व से हमारा 'संघीय-प्रतिमान' बहुत अधिक प्रभावित हुआ है। देश में एकरूपता का लगातार विरोध किया जाता रहा है तथा इन सेवाओं के जारी रखने के विरोध में पश्चिम बंगाल के पूर्व मुख्यमंत्री ज्योति बसु श्री राम माहेश्वरी तथा राजमन्नार समिति ने ठोस तर्क प्रस्तुत किए हैं।

24.4.3 अखिल भारतीय सेवाओं पर नियंत्रण

अखिल भारतीय सेवाओं की दृष्टि से केन्द्र-राज्य सम्बन्धों को तनावपूर्ण बनाने वाला प्रधान मुद्दा अखिल भारतीय लोक सेवाओं पर नियंत्रण का है। केन्द्रीय नियंत्रण में होने के कारण ये अधिकारी राज्य सरकारों के आदेशों का

उल्लंघन ही नहीं, वरन उनके विरूद्ध कार्य भी कर सकते हैं और राज्य शासन के संचालन में गतिरोध उत्पन्न कर सकते हैं। संघात्मक शासन की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि अखिल भारतीय सेवाओं के सदस्यों पर केन्द्रीय नियंत्रण कम किया जाए और राज्यों के नियंत्रण में वृद्धि कीजाए। इस सम्बन्ध में दो सुझाव दिए जा सकते हैं-
पहला, केन्द्र द्वारा नयी अखिल भारतीय सेवाओं की स्थापना के लिए तभी कदम उठाया जाना चाहिए। जबकि राज्य विधान सभाएँ उनकी स्थापना के सम्बन्ध में प्रस्ताव पारित कर अपनी इच्छा प्रकट करें। दूसरा- इस बात की व्यवस्था की जानी चाहिए कि एक राज्य विशेष में कार्यरत अखिल भारतीय लोक सेवा के सदस्यों के कार्य के मूल्यांकन के सम्बन्ध में उस राज्य की सरकारों की राय को ही अंतिम माना जाए और उसी के आधार पर उनकी भविष्य की पदोन्नति या अवनति के सम्बन्ध में केन्द्र द्वारा निर्णय किया जाए। इससे राजनैतिक वैधता या औचित्य का प्रादुर्भाव होगा।

बदलते राजनीतिक एवं आर्थिक परिप्रेक्ष्य में ‘उच्च प्रशासनिक लोक सेवा’ के सम्बन्ध में प्रचलित धारणाओं को बदलना होगा। आज राष्ट्रीय एकता की स्थापना का सवाल उतना चुनौतीपूर्ण नहीं है, जितना 1950 के आस-पास था। आज आवश्यकता इस बात की है कि उदारीकरण से उत्पन्न चुनौती का सामना करने हेतु उसके अनुरूप प्रशासनिक संगठन एवं कार्य पद्धति के विकास पर ध्यान दिया जाए।

24.5 भारतीय प्रशासनिक सेवा

भारतीय उच्च सेवाओं में तीन अखिल भारतीय सेवाएँ हैं। जिनमें से सर्वाधिक महत्वपूर्ण ‘भारतीय प्रशासनिक सेवा’(IAS) है। यह ‘भारतीय सिविल सेवा’(ICS) की संतान है। भारत को ब्रिटेन से विरासत में जो संस्थाऐं विरासत में प्रदान हुई है, उनमें यह सबसे अद्वितीय है।

24.5.1 भारतीय प्रशासनिक सेवा का उद्-भव एवं स्वरूप

उद्-गम से ही भारतीय प्रशासनिक सेवा दोहरे स्वरूप की रही है, जो कि केन्द्र एवं राज्य दोनों के लिए है। अखिल भारतीय सेवा होने के नाते यह संघ सरकार के नियंत्रण में है, किन्तु यह सेवा राज्य संवर्गों में विभाजित है और प्रत्येक संवर्ग(Cadre) एक राज्य सरकार के प्रत्यक्ष नियंत्रण में होता है। संघ लोक सेवा आयोग द्वारा चयन के बाद आई0ए0एस0 तथा आई0पी0एस0 के अधिकारी एक निर्धारित कोटे के आधार पर विभिन्न राज्यों में बांट दिए जाते हैं। प्रशासनिक सुधार आयोग ने भारतीय प्रशासनिक सेवा को बनाये रखने का समर्थन किया है तथा निम्न कारण बताये हैं-

1. केन्द्रीय एवं राज्य सरकारों को कुशल प्रशासक उपलब्ध हो सके।
2. राज्य प्रशासन को अधिक व्यापक और राष्ट्रव्यापी दृष्टिकोण प्रदान करना।
3. केन्द्र और राज्यों के मध्य संपर्क बनाये रखना।
4. इस बारे में आश्वस्त होना भी सरकारी सेवाओं में साम्प्रदायिकतावाद और दलगत राजनीति का प्रवेश न हो।
5. सेवाओं में संतोष और सुरक्षा की भावना उत्पन्न करना।

24.5.2 भारतीय प्रशासनिक सेवा में भर्ती

आई0ए0एस0 की भर्ती तीन तरीके से की जाती है।

1. खुली प्रतियोगिता परीक्षा जिनमें 21 से 30 वर्ष के वे नवयुवक बैठ सकते हैं, जिनके पास स्नातक अथवा समकक्ष उपाधि हो।
2. राज्य सिविल परीक्षा के सदस्यों में से पदोन्नति द्वारा।

3. विशेष चयन- राज्य के राजपत्रित अधिकारियों में से जो राज्य सिविल सेवा के सदस्य नहीं हैं।

24.5.3 भारतीय प्रशासनिक सेवा में नियुक्ति की शर्ते

1. नियुक्तियाँ परिवीक्षा के आधार पर की जाती हैं, जिसकी अवधि दो वर्ष की होती है, परन्तु कुछ शर्तों के अनुसार बढ़ायी भी जा सकती हैं। सिविल सेवा परीक्षा में सफल उम्मीदवार को परिवीक्षा की अवधि में केन्द्र सरकार के निर्णय के अनुसार निश्चित स्थान पर और निश्चित रीति से कार्य करना होता है और निश्चित परीक्षाएँ पास करनी होती है।
2. यदि सरकार की राय में किसी भी परिविक्षाधीन अधिकारी का कार्य या आचरण संतोषजनक न हो तो सरकार उसे तुरन्त सेवा मुक्त कर सकती है।
3. परिवीक्षा के संतोषजनक रूप से पूरा होने पर सरकार अधिकारी को स्थायी कर सकती है।
4. भारतीय प्रशासनिक सेवा के अधिकारी से केन्द्र या राज्य सरकार के अंतर्गत भारत या विदेश में किसी भी स्थान पर सेवाएँ ली जा सकती है।

24.5.4 भारतीय प्रशासनिक सेवा में प्रशिक्षण

आई0ए0एस0 के लिए चयनित प्रत्याशियों को लाल बहादुर शास्त्री प्रशासन अकादमी, मसूरी में प्रशिक्षण के लिए अनिवार्य रूप से जाना पड़ता है। सर्वप्रथम 15 सप्ताह का बुनियादी प्रशिक्षण पाठ्यक्रय जिसमें संघ की अखिल भारतीय सेवाओं, भारतीय प्रशासनिक सेवा, भारतीय पुलिस सेवा, भारतीय वन सेवा और विभिन्न समूह 'क' केन्द्रीय सेवाओं के लिए अभिप्रेत हैं। बुनियादी प्रशिक्षण के दौरान ग्राम में दौरे का कार्यक्रम, हिमालय पर ट्रैकिंग, बाह्य गतिविधियों को तथा सांस्कृतिक कार्यक्रमों का आयोजन किया जाता है।

बुनियादी प्रशिक्षण कार्यक्रम के पश्चात भारतीय प्रशासनिक सेवा के अधिकारियों को 26 सप्ताह के व्यवसायिक प्रशिक्षण पाठ्यक्रम- फेज-I में प्रशिक्षित किया जाता है। इसके पश्चात 52 सप्ताह का जिला प्रशिक्षण का कार्यक्रम होता है, जिसमें प्रशिक्षुओं को जिला स्तर पर प्रशासन के विभिन्न पहलुओं पर दक्ष किया जाता है। इस अवधि के दौरान, वे जिला कलक्टर और राज्य सरकार के सीधे नियंत्रण में रहते हैं। फेज-II में सैद्धान्तिक अवधारणाओं से संबंधित प्रशिक्षणमें बुनियादी स्तर की वास्तविकताओं से अवगत कराया जाता है। इसके पश्चात हम देखते हैं कि भारतीय प्रशासनिक सेवा के लिए सेवाकालीन प्रशिक्षण का प्रावधान भी होता है।

24.5.5 भारतीय प्रशासनिक सेवा की प्रमुख विशेषताऐं

आई0ए0एस0 की प्रमुख विशेषताऐं हैं-

1. आई0ए0एस0 का उदय इण्डियन सिविल सर्विस (ICS) से हुआ है, जिस पर अंग्रेजी शासन के दिनों में भारतीय प्रशासन चलाने का दायित्व था।
2. इस सेवा का बहुउद्देशीय स्वरूप था। यह सामान्यवादी प्रशासकों से बनी है। इन प्रशासकों में समय-समय पर ऐसे पद ग्रहण करने वाले व्यक्ति होते हैं, जिनमें अनेक प्रकार के कर्तव्य एवं कार्य अन्तर्निहित है। उदाहरण के लिए शान्ति-व्यवस्था बनाये रखना, राजस्व एकत्र करना, व्यापार, वाणिज्य या उद्योग का विनियमन करना, कल्याणकारी कार्य, विकास तथा प्रसार कार्य आदि।
3. आई0ए0एस0 के कार्य-क्षेत्र में केन्द्र और राज्य दोनों ही आते हैं। इस सेवा के सदस्य केन्द्र सरकार अथवा प्रान्तीय सरकारों में किसी भी उच्च पद पर कार्य कर सकते हैं।

4. आई0ए0एस0 एक विशिष्ट वर्गीय सेवा है। भारतीय प्रशासन के सामाजिक-आर्थिक पृष्ठभूमि के अध्ययन से पता चलता है कि भारत के समस्त उच्चतर सेवाओं के सदस्य कुल मिलाकर भारत के शहरी, वेतनभोगी, मध्यवर्ग से आते हैं।
5. आई0ए0एस0 को देश के प्रशासन की धुरी कहते हैं, जो कि प्रशासनिक संरचना का मूल ढ़ाँचा है। इसके साथ-साथ यह एक अपिरामिडीय संरचना भी है। इन सेवाओं में भर्ती तो अन्य सेवाओं की तरह पदक्रम में प्रथम सीढ़ी पर होती है, परन्तु वे पद उस सेवा के लिए केवल प्रशिक्षण के पद माने जाते हैं तथा उसके सभी सदस्य अन्य सेवाओं की तुलना में विभिन्न विभागों में उच्चतम पदों पर आरूढ़ होते हैं।
6. आई0ए0एस0 में पदावधि प्रणाली अपनायी गयी है। प्रत्येक राज्य संवर्ग के कतिपय अधिकारियों को तीन, चार या पाँच वर्षों के अवधि के लिए केन्द्रीय सेवा में भेजा जाता है। अन्ततः हम देखते हैं कि आई0ए0एस0 अधिकारी अपने आपको जनता से अलग-थलग नहीं रख सकते, क्योंकि उन पर जनकल्याणकारी कार्यक्रमों के संचालन का अधिकाधिक दबाव रहता है।

24.5.6 भारतीय प्रशासनिक सेवा: कुछ समस्याऐं

माना जाता है कि आई0सी0एस0 में कुलीन एवं प्रखर बुद्धि के लोग ही जाते थे, जबकि आई0ए0एस0 में प्रति वर्ष लगभग 100 व्यक्तियों की भर्ती की जाती है तथा इसमें सभी वर्गो, सभी जातियों और सभी समुदाय के लोग जाते हैं। परिणामस्वरूप, उसमें एकता और सामंजस्य का अभाव है जो आई0सी0एस0 में थी।

आई0ए0एस0 की भर्ती व्यवस्था में कुछ अधिक प्रादेशिक असंतुलन भी दृष्टिगोचर होता है। इस समय कुछ प्रदेशों को तो बहुत अधिक स्थान प्राप्त है, जबकि कुछ क्षेत्रों को बहुत कम स्थान प्राप्त है।

यह भी आलोचना की जाती है कि बहुत मेधावी छात्र आई0ए0एस0 की परीक्षाओं में बैठना पसन्द नहीं करते। अधिकांश मेधावी छात्र मेडिकल, इंजीनियरिंग, एम0बी0ए0 जैसे व्यावसायिक पाठ्यक्रमों की और उन्मुख होते जा रहे हैं, जहाँ उन्हें अच्छा वेतन एवं सुविधाऐं उपलब्ध हो रही है।

आई0ए0एस0 की सबसे अधिक विवादास्पद समस्या का मूल कारण यह है कि उसका स्वरूप 'सामान्यज्ञ' है। आज के विशिष्टीकरण के युग में एक सर्वशक्तिमान सामान्य स्वरूप वाला अधिकारी-तंत्र बहुत उपयोगी नहीं है।

अभ्यास प्रश्न-

1. अखिल भारतीय सेवाओं के अधिकारियों को भारत के बाहर भी कार्य करने भेजा जा सकता है। सत्य/ असत्य
2. परिवीक्षाकाल में अधिकारी के कार्य या आचरण के संतोषजनक न रहने पर उसे सेवा से मुक्त भी किया जा सकता है। सत्य/ असत्य
3. भारतीय प्रशासनिक सेवा(IAS) का उदय भारतीय सिविल सेवा(ICS) से हुआ। सत्य/असत्य

24.6 सारांश

किसी भी राष्ट्र का प्रशासन चलाने के लिए कुछ लोक सेवाओं की आवश्यकता होती है। भारत में अखिल भारतीय सेवाएँ तथा केन्द्रीय एवं राज्यों की लोक सेवाएँ मिलकर सरकार का कार्य सम्पादित करती हैं, और लोककल्याणकारी एवं विकास के कार्य में लगी हुई है।

अखिल भारतीय सेवाएँ केन्द्र एवं घटक राज्यों के प्रशासन में अहम भूमिका निभाती हैं, जिससे देश भर के प्रशासन में एकरूपता का दर्शन होता है। संसद, अनुच्छेद- 312 के तहत नई अखिल भारतीय सेवा का गठन कर सकती है। इन

सेवाओं ने संघवादी ढ़ाँचे पर मिला-जुला प्रभाव डाला है तथा इनकी आलोचना सामान्यतः राज्यों द्वारा की जाती रही हैं।

तीन अखिल भारतीय सेवाएँ- भारतीय प्रशासनिक सेवा, भारतीय पुलिस सेवा, भारतीय वन सेवा है, जिनमें सबसे महत्वपूर्ण भारतीय प्रशासनिक सेवा होती है जो की भारतीय प्रशासन की रीढ़ है। यह सेवा बहुउद्देशीय स्वरूप लिए हुए है जो कि सामान्यवादी प्रशासकों द्वारा बनी होती है।

प्रशासकों का चयन, भर्ती एवं प्रशिक्षण एक जटिल किन्तु अति आवश्यक प्रक्रिया है जो कि संघ लोक सेवा आयोग के तत्वाधान में सम्पन्न होती है। योग्य एवं युवा उम्मीदवारों का चयन कर उन्हें परिवीक्षा पश्चात्त महत्वपूर्ण पदों पर आसीन किया जाता है।

24.7 शब्दावली

एकात्मक- एक रूप केन्द्रीकृत शासन, संघीय प्रतिमान- शासन की शक्तियों का केन्द्र एवं राज्यों में बंटवारा, विशेष चयन- सामान्य चयन की प्रक्रिया से अलग, परिवीक्षा- अल्प अवधि की मूल्यांकन प्रक्रिया, अपिरामिडीय- संरचना, पदसोपान के सिद्धान्त के विपरीत।

24.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. सत्य, **2.** सत्य, **3.** सत्य

24.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. फड़िया, बी0 एल0 (2007) लोक प्रशासन, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा।
2. स्पेक्ट्रम (2010) भारतीय राज्य व्यवस्था, स्पेक्ट्रमः नई दिल्ली।

24.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. अवस्थी, अम्रेश्वर एवं माहेश्वरी, श्रीराम (2002) लोक प्रकाशन, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा।
2. भट्टाचार्या, मोहित (2008) लोक प्रशासन के नए आयाम, जवाहर पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली।
3. वार्षिक रिपोर्ट (2009-10) भारत सरकार- कार्मिक, लोक शिकायत तथा पेंशन मंत्रालय।
4. वार्षिक रिपोर्ट (2009-10) भारत सरकार- गृह मंत्रालय।
5. 54वां वार्षिक प्रतिवेदन, संघ लोक सेवा आयोग।

24.11 निबंधात्मक प्रश्न

1. भारतीय लोक सेवा की संरचना का विस्तार पूर्वक वर्णन कीजिये।
2. भारत में लोक सेवा आयोग के कार्यों पर प्रकाश डालिये।
3. भारतीय प्रशासनिक सेवा की मुख्य विशेषताओं का वर्णन कीजिये।
4. भारतीय प्रशासनिक सेवा में भर्ती तथा प्रशिक्षण प्रक्रिया पर प्रकाश डालिये।

इकाई- 25 बजट- विधायी नियंत्रण का एक उपकरण, बजट का आर्थिक महत्व, भारत में बजट निर्माण की प्रक्रिया

इकाई की संरचना

25.0 प्रस्तावना
25.1 उद्देश्य
25.2 बजट से तात्पर्य
25.3 बजट- विधायी नियंत्रण का एक उपकरण
25.4 बजट का आर्थिक महत्व
25.5 भारत में बजट निर्माण की प्रक्रिया
25.5.1 बजट का प्राक्कलन या रूपरेखा
25.5.2 बजट का दस्तावेज
25.5.3 बजट की स्वीकृति
25.5.4 बजट का क्रियान्वयन
25.5.5 वित्तीय कोषों का लेखांकन एवं लेखा परीक्षण
25.6 सारांश
25.7 शब्दावली
25.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
25.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
25.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामाग्री
25.11 निबंधात्मक प्रश्न

25.0 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई के अन्तर्गत हम मुख्य रूप से बजट का विश्लेषण एवं इसके द्वारा किये जाने वाले विधायी नियंत्रण पर प्रकाश डालेगें। इसके साथ-साथ ही बजट का आर्थिक महत्व, बजट निर्माण, भारतीय बजट प्रणाली के अन्तर्गत बजट निर्माण, बजट निर्माण प्रक्रिया से सम्बन्धित पाँचों चरणों- बजट की रूपरेखा, दस्तावेज, स्वीकृति, क्रियान्वयन तथा लेखांकन को स्पष्ट किया गया है। बजट, सरकार के वार्षिक आय-व्यय का ब्यौरा होने के साथ-साथ सरकार की आर्थिक नीतियों का प्रतिबिम्ब अथवा देश की अर्थनीति एवं आर्थिक स्वास्थ्य का एक आईना कहा जाता है। किसी भी देश के आर्थिक विकास में सार्वजनिक बजट की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। बजट केवल अनुमानों का प्रस्ताव मात्र नहीं अपितु भूतकाल के अनुभव पर आधारित भविष्य की एक ऐसी व्यापक योजना है, जो सरकार की आर्थिक व सामाजिक विचारधारा को प्रकट करती है।

25.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- बजट के तात्पर्य को समझ सकेंगे।

- बजट के द्वारा प्रजातन्त्रीय शासन व्यवस्था में सरकारी वित्त पर विधायी नियन्त्रण को समझ सकेंगे।
- बजट का आर्थिक महत्व का वर्णन कर सकेंगे।
- भारत में बजट निर्माण की प्रक्रिया का वर्णन कर सकेंगे।

25.2 बजट से तात्पर्य

सामान्यतया बजट आय व व्यय का एक वार्षिक विवरण है। इसमें व्ययों को करने के लिए विभिन्न साधनों व पद्धतियों का प्रयोग किया जाता है। भारतीय संविधान के अनुसार यह वार्षिक लेखा लोकसभा व राज्यसभा के सम्मुख प्रस्तुत करना होता है। इस लेखे पर बहस के लिए पर्याप्त समय दिया जाता है। पक्ष तथा विपक्ष के सभी सदस्य बहस में भाग लेते हैं। हमारे देश के बजट में गत वर्ष की वास्तविक राशि, चालू वर्ष की वास्तविक राशि, चालू वर्ष के संशोधित अनुमान तथा अगले वर्ष के अनुमान प्रस्तुत किये जाते हैं। वित्तीय वर्ष 1 अप्रैल से आरम्भ होकर अगले वर्ष में 31 मार्च को समाप्त हो जाता है। सरकार संसद के समक्ष 'पूरक माँगें' रखती है। अनुमानित बजट में उल्लेखित धनराशि से अधिक खर्च हो जाने की स्थिति में सरकार संसद में संशोधित बजट अनुमान प्रस्तुत कर उसकी स्वीकृति प्राप्त करती है। कभी-कभी तो संशोधत अनुमान और वास्तविक रूप में व्ययहुई धनराशि में भी अन्तर रह जाता है अर्थात् वास्तविक रूप में अधिक धनराशि खर्च हो जाती है, तब संसद ही इस वास्तविक खर्चे को भी स्वीकृति प्रदान करती है। हमारे यहाँ बजट सामान्य तौर पर आगामी वित्तीय वर्ष हेतु माँगे पास कराकर आवश्यक सरकारी खर्चे हेतु व्यवस्था सुनिश्चित कर ली जाती है और पूर्ण वार्षिक बजट कुछ माह बाद उपयुक्त समय पर प्रस्तुत किया जाता है।

भारत में बजट प्रस्तुतीकरण का सम्बन्ध तीन वर्षों के आँकड़ों से होता है। बजट सरकार के वार्षिक आय-व्यय का ब्यौरा होने के साथ-साथ सरकार की आर्थिक नीतियों का प्रतिबिम्ब अथवा देश की अर्थनीति एवं आर्थिक स्वास्थ्य का एक आईना कहा जाता है। कर राजस्व में निगम कर, आयकर, दानकर, सीमा शुल्क आदि तथा कर भिन्न राजस्व में ब्याज प्राप्तियाँ, विभागीय या सार्वजनिक उपक्रमों से प्राप्त लाभांश, लाभ, विदेशी अनुदान आदि सम्मिलित होते हैं। पूँजीगत प्राप्तियों में ऋणों की वसूली, बाजार ऋण, ट्रेजरी बिल के माध्यम से रिजर्व बैंक से प्राप्त ऋण, विदेशों से प्राप्त ऋण, राज्यों से ऋण की वापसी आदि की प्राप्तियाँ सम्मिलित रहती हैं।

व्यवहारिक अर्थों में बजट एक ऐसा सरकारी विवरण-पत्र है जिसमें सरकार की गत वर्ष की आय-व्यय की स्थिति, चालू वर्ष में सरकारी आय-व्यय के संशोधित आकलन, आगामी वर्ष के लिए आय-व्यय के अनुमानित आँकड़े तथा आगामी वर्ष के आर्थिक-सामाजिक कार्यक्रम एवं आय-व्यय के घटाने-बढ़ाने के लिए प्रस्तावों का विवरण दिया होता है। हमारे संविधान में प्रतिवर्ष बजट को संसद से पास कराने की व्यवस्था निर्धारित करके सरकारी मशीनरी द्वारा वर्ष भर में किए जाने वाले किसी भी व्यय के लिए संसद की अनुमति अनिवार्य है अर्थात् सरकार द्वारा वर्ष में किए जाने वाले खर्चे पर संसद के नियन्त्रण को सर्वोच्चता प्रदान की गई है। कई बार सरकार को बजट में निर्धारित राशि के अतिरिक्त भी धनराशि व्यय करनी पड़ती है।

बजट के खर्चों में योजनागत और गैर-योजनागत दोनों मदों का सम्मिलित किया जाता है। योजनागत व्यय से तात्पर्य केन्द्रीय योजना पर होने वाले व्यय से होता है। इसे राजस्व व्यय तथा पूँजीगत व्यय में विभाजित किया जाता है। गैर-योजना व्यय, सरकार द्वारा नियमित दायित्वों के निर्वहन पर किया जाने वाला व्यय होता है। इसे भी राजस्व व्यय तथा पूँजीगत व्यय नामक दो मदों में विभाजित किया जाता है। गैर-योजना राजस्व व्यय के अन्तर्गत ब्याज, सब्सिडी, किसानों को ऋण, सामाजिक, आर्थिक सेवाएं, राज्यों को अनुदान, विदेशों को अनुदान, पेंशन, रक्षा राजस्व पर किया

जाने वाला व्यय होता है तथा गैर-योजना पूँजीगत व्यय में रक्षा पूँजी, सरकारी उद्यमों को ऋण, राज्य सरकारों को उधार, केन्द्र-शासित प्रदेशों का व्यय तथा गैर योजना व्यय को जोड़कर या फिर राजस्व व्यय तथा पूँजीगत व्यय को जोड़कर निकाला जा सकता है।

25.3 बजट- विधायी नियंत्रण का एक उपकरण

प्रजातन्त्रीय शासन व्यवस्था में सरकारी वित्त पर विधायिका का नियन्त्रण स्थापित किया जाता है। भारत में इस नियन्त्रण के विकास का एक रोचक इतिहास रहा है। यहाँ 1911 में केन्द्रीय व्यवस्थापिका में निर्वाचित प्रतिनिधियों का बहुमत रखा गया है। इसके साथ ही जन लेखा समिति का गठन किया जाता है, जिनमें निर्वाचित एवं सरकारी दोनों प्रकार के सदस्यों को लिया जाता है। स्वतन्त्रता के बाद विधायिका द्वारा लोक लेखा समिति, प्राक्कलन समिति तथा सार्वजनिक उपक्रमों और विभागीय समिति के माध्यम से सार्वजनिक वित्त पर नियन्त्रण रखती है, इसलिए वित्तीय नियन्त्रण की दृष्टि से समितियाँ अत्यधिक महत्वपूर्ण है। जिनके बारे में विस्तारपूर्वक अध्ययन हम अगले अध्याय में करेगें।

लोक प्रशासन में विधायी नियंत्रण का अर्थ प्रशासन के दिन-प्रतिदिन के कार्यों में हस्तक्षेप करना नहीं बल्कि विधायी नियंत्रण उसी समय कार्य करता है, जब लोक प्रशासन द्वारा कोई निर्णय ले लिया गया हो या लिया जाने वाला हो। यह उस समय भी कार्य करता है जब प्रशासन द्वारा आवश्यक कदम उठाने में अनावश्यक देरी की जा रही होती है। इस विधायी नियंत्रण का शासन पर दो प्रकार से प्रभाव पड़ता है। जब प्रशासन द्वारा किसी कार्य के सम्पादन के लिये विधायी नियंत्रण स्थापित किया जाता है तब इसे सकारात्मक प्रभाव कहते है। और जब विधायी नियंत्रण के माध्यम से लिए गए निर्णय को ठीक करने का प्रयास किया जाता है तब इसे नकारात्मक प्रभाव कहते है। भारत में विधायी नियत्रंण हेतु विभिन्न माध्यमों का प्रयोग किया जाता है जैसे- कानून के माध्यम से, वाद-विवाद से, बजट पर विचार-विमर्श से, प्रश्नकाल से, काम रोको प्रस्ताव से, अविश्वास प्रस्ताव से, संसदीय समितियो या फिर लेखा परिक्षण के माध्यम से। अध्याय के इस खण्ड में हम केवल बजट द्वारा किये जाने वाले विधायी नियंत्रण पर प्रकाश डालेंगे।

प्रशासनिक प्रणाली में, बजट के द्वारा ही विधान-मण्डल का सार्वजनिक वित्त पर नियंत्रण होता है। बजट निर्माण व क्रियान्वयन का कार्य, कार्यपालिका को ही करना होता है। विधान मण्डल, सार्वजनिक वित्त पर नियंत्रण करके ही कार्यपालिका पर नियंत्रण रख सकती है। यह नियंत्रण कार्य वर्षों से किया जा रहा है परन्तु आधुनिक काल में इसकी परिधि मे विस्तार हुआ है। पहले यह नियंत्रण कार्य राजस्व वृद्धि तक ही सीमित था, किन्तु अब इसमें व्यय कार्यों को भी सम्मिलित कर दिया गया हैं। जैसा कि आपको ज्ञात होगा की कार्यपालिका द्वारा तैयार किये गये बजट का कोई महत्व नही है जबतक की वह विधानमण्डल के द्वारा स्वीकृत नही होता है। बजट निर्माण प्रक्रिया के दौरान विधान मण्डल ही बजट पर चर्चा करके अनुदानों को स्वीकृति प्रदान करता है। इसके उपरांत विधायी प्रक्रिया के अनुसार बजट के क्रियान्वयन पर अनुमान समिति, लोक लेखा समिति एवम् नियंत्रक और महालेखा परीक्षक निगरानी रखते है। इसके साथ-साथ यह भी सुनिश्चित करते है कि धन का व्यय सही ढ़ग से व सही मद पर किया गया है अथवा नहीं। संसदीय शासन प्रणाली में सार्वजनिक आय व व्यय की संवैधानिक विधायी कार्य का उत्तरदायित्व विधान मण्डल का होता है। इसी कारण से कार्यपालिका की जवाबदेही विधानमण्डल के प्रति सदैव बनी रहती है। बजट निर्माण प्रक्रिया के दौरान, कार्यपालिका को नियंत्रित करने के लिए कुछ सिद्धांतो का पालन करना चाहिए, जिससे की विधायी नियंत्रण करना सम्भव हो सकेगा। जोकि इस प्रकार हैं-

1. बजट सम्बन्धित सभी तथ्यों को जनता के समक्ष रखना चाहिए।

2. बजट में स्पष्टता होनी चाहिए ताकि विधान मंडल के सदस्य व जनता उसे आसानी से समझ सके।
3. बजट पर्याप्त व्यापकता लिए होना चाहिए। इस व्यापकता का उद्देश्य तभी परिपूर्ण होता है, जब बजट को दस्तावेजों के साथ-साथ विभिन्न विभागों के निष्पादन सम्बन्धित विवरण लगाए जाते हैं।
4. सभी सार्वजनिक व्ययों की पूर्ति के लिए प्राप्त सभी राजस्व को एक सामान्य कोष में जमा करना चाहिए।
5. सामान्यतः वित्तीय अनुमान पूर्ण रूप से सटीक नही होते है लेकिन वित्तीय अनुमानों को वास्तविकता से बहुत हटकर भी नही होना चाहिए। सार्वजनिक बजट वस्तुनिष्ठता होना चाहिए। जहाँ तक सम्भव हो उनको पिछले वर्ष के वास्तविक आकड़ों के निकट होना चाहिए।
6. सार्वजनिक बजट को प्रमाणिक अर्थात् विश्वसनीय होना चाहिए। जिसमे विधान सभा के सदस्यों व जनता की उम्मीदों के अनुसार राजकोषीय कार्यक्रमों को शामिल करना चाहिए।
7. विनियोजन एक निश्चित अवधि के लिए होना चाहिए। यदि कोई विनियोजन या विनियोजित राशि, निर्धारित अवधि में उपयोग नहीं की जाती है तो उसे उसी अवधि में खत्म हो जाना चाहिए।

उपरोक्त सिद्धान्तों के द्वारा बजट के माध्यम से विधायी नियंत्रण किया जा सकता है परन्तु इन सिद्धान्तों को वास्तविक रूप देने में कार्यपालिका को कठिन राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक समस्याओं का सामना करना पड़ता है।

25.4 बजट का आर्थिक महत्व

किसी भी देश के आर्थिक विकास में सार्वजनिक बजट की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। बजट केवल अनुमानों का प्रस्ताव मात्र नहीं अपितु भूतकाल के अनुभव पर आधारित भविष्य की एक ऐसी व्यापक योजना है, जो सरकार की आर्थिक व सामाजिक विचारधारा को प्रकट करती है। इसीलिए बजट को आर्थिक नीति का साधन माना जाता है। निम्नलिखित तथ्यों के अध्ययन उपरान्त ही आपको यह ज्ञात होगा कि किस प्रकार बजट आर्थिक नीति का साधन है।

1. **आर्थिक गतिविधियो को प्रोत्साहन-** बजटीय प्राप्तियां और व्यय के माध्यम से औद्योगिक क्षेत्रों की गतिविधियो को प्रोत्साहन दिया जाता है। यह कार्य औद्योगिक क्षेत्रों के महत्वपूर्ण उद्योगों को कर-मुक्त या कर में छूट द्वारा, कृषि सम्बन्धी कच्चा माल उपलब्ध करवा कर और आवश्यक सेवायें उपलब्ध करवा कर किया जाता है। इसके साथ-साथ बजट, कृषि एवं लघु स्तरीय ग्रामीण उद्योगों के विकास को भी प्रभवित करती है।
2. **मानव पूँजी निर्माण-** देश के आर्थिक विकास के लिए मानवीय पूँजी के निर्माण की आवश्यकता होती है। बजटीय व्यवस्थाएं देश में मानवीय पूँजी के स्तर को सुधारने में सहायक सिद्ध होती है।
3. **संसाधनों का उचित निर्धारण-** साधनों का कुशलतम आवंटन के लिए सरकार को सार्वजनिक प्राधिकारियों द्वारा उत्पादन हेतु रियायतों के साथ-साथ वस्तुओं एवं सेवाओं को उपलब्ध करवानी होगी, जिससे वस्तुओं एवं सेवाओं की सीमान्त लागत और मूल्य में समानता लाई जा सकती है।
4. **आय व रोजगार का सृजन-** रोजगार सम्बन्धी कर में रियायतों के लिए बजटीय व्यवस्थाओं द्वारा निजी क्षेत्रों में भी रोजगार के अवसरों को उत्पन्न किया जा सकता है। ग्रामीण क्षेत्रों में लधु स्तरीय उद्योगों में सुधार करके तथा पिछड़ें क्षेत्रों में सार्वजनिक उद्योंगों की स्थापना आदि करके लक्ष्य प्राप्त किये जा सकतें हैं।
5. **बचत व निवेश-** व्यक्तियों द्वारा काम करने की क्षमता व इच्छा और बचत व निवेश करने की शक्ति को विभिन्न मानवीय शक्ति निर्माण उपायों और रोजगार के अवसर उत्पन्न करके बढ़ाया जा सकता है। यह बजटीय व्ययों द्वारा ही सम्भव हों सकता है।

6. **संतुलित विकास-** देश का आर्थिक विकास, क्षेत्रीय असन्तुलनों से प्रभावित होता है। देश के इस भौगोलिक असन्तुलन को सरकार द्वारा सार्वजनिक उद्योगों की स्थापना करके सुधारा जा सकता है। इसके अतिरिक्त कृषि एवं लघु स्तरीय ग्रामीण उद्योगों के विकास को भी प्रोत्साहित किया जा सकता है।
7. **आधिक्य पूर्ण बजट तथा मुद्रा स्फीति से निवारण-** मुद्रा स्फीति को कम करने के लिए बजट आधिक्य द्वारा जैसे कर व अन्य राजस्वों को बढ़ा कर और सार्वजनिक व्यय को कम करके अधिक क्रय-शक्ति को कम किया जा सकता है।
8. **निर्धनता से छुटकारा-** बजटीय साधनों के व्यय का मुख्य लक्ष्य शिक्षा, स्वास्थ्य सुविधाओं आदि पर लोगों को निर्धनता से बचाने के लिए किया जाता है। भारतीय शासन के अधीन अनेकों ऐसी बजटीय योजनाओं का संचालन किया जाता है, जिनका कार्य देश में रोजगार को सुनिश्चित करना, सामाजिक सुरक्षा, कच्चे माल की आपूर्ति आदि होता है।
9. **असमानता कम करना-** बजट का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य आय व धन की असमानता को कम करना है। बजटीय आय-व्यय कार्यक्रम शिक्षा सम्बन्धी सेवायें उपलब्ध करवाना, सार्वजनिक स्वास्थ्य, कृषि निवेश एवं आर्थिक सहायता आदि के द्वारा देश में व्याप्त निर्धनता और समृद्धि के बीच के अंतर को कम करने का कार्य करते है।
10. **राष्ट्रीय आय सम्बन्धी आँकड़े उपलब्ध करवाना-** बजट के आधुनिक आर्थिक वर्गीकरण में सार्वजनिक व्यय को आर्थिक महत्व की श्रेणियों में श्रेणीबद्ध करके महत्वपूर्ण लेखा आकड़े प्रदर्शित करते है। इन आकड़ों से आर्थिक लक्ष्यों को कुशलतापूर्वक ढ़ग से प्राप्त किया जा सकता है।
11. **सार्वजनिक कोष के अनुचित उपयोग पर रोक-** बजट द्वारा कर एकत्रीकरण करने वालों और सार्वजनिक कोष के अनुचित उपयोग पर प्रतिबन्ध लगाया जा सकता है। जो बजट काल के दौरान सार्वजनिक राजस्वों और व्ययों से सम्बन्धित है।

अतः यह स्पष्ट की एक राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के आर्थिक विकास में सार्वजनिक बजट का अभिन्न अंग है।

25.5 भारत में बजट निर्माण की प्रकिया

बजट निर्माण एक अत्यन्त विस्तृत एवं जटिल आर्थिक प्रक्रिया है, जिसमें विभिन्न मन्त्रालयों, विभागों और कई प्रमुख संस्थाओं का योगदान रहता है। हमारे यहाँ वित्तीय वर्ष की अवधि जिसके लिए बजट बनाया जाता है, प्रत्येक वर्ष 1 अप्रैल से 31 मार्च तक की रहती है।

किसी देश में बजट बनाने से पूर्व निम्नलिखित बातों को ध्यान में रखा जाना चाहिए। इसके बाद बजट बनाने की प्रक्रिया शुरू करनी चाहिए।

- संकट काल को छोड़कर सामान्य काल में बजट संतुलित होना चाहिए।
- बजट में सभी प्रकार की आयों को सम्मिलित करनी चाहिए। बजट का आधार नकद होना चाहिए।
- बजट के आय-व्यय अनुमान काल्पनिक न होकर वास्तविकता के आस-पास होना चाहिए।
- बजट में समाप्ति के नियम को आधार मानकर जिस वर्ष के लिए व्यय की राशि स्वीकृत होती है। उस राशि को उसी वर्ष व्यय किया जाना चाहिए। यही व्यवस्था उत्तम व्यवस्था है और भारत में इसी व्यवस्था को लागू किया गया है।

भारत में बजट की प्रक्रिया को पाँच चरणों में बाँटा जा सकता है। इन पाँचों चरणों के बारे में विस्तार से आप जान पायेंगे।

25.5.1 बजट का प्राक्कलन या रूपरेखा

भारत में बजट निर्माण की प्रक्रिया का पहला चरण बजट का प्राक्कलन या रूपरेखा है और बजट निर्माण की इस प्रक्रिया के अन्तर्गत सर्वप्रथम वित्त मन्त्रालय द्वारा प्रशासनिक मन्त्रालयों, योजना आयोग तथा नियंत्रक महालेखा परीक्षक के सहयोग से बजट की रूपरेखा तैयार की जाती है। इसमें प्रशासकीय मन्त्रालय अपने अधीनस्थ कार्यालयों से प्राप्त विवरण के आधार पर वित्त मन्त्रालय को प्रशासकीय आवश्यकताओं की जानकारी प्रदान करते हैं। योजना आयोग योजनाओं की प्राथमिकता के बारे में परामर्श देता है तथा नियन्त्रक महालेखा परीक्षक 'बजट का प्राक्कलन' तैयार करने हेतु वित्त मन्त्रालय को लेखा कौशल उपलब्ध कराता है। इस प्रकार पहले चरण में व्ययों के अनुमान तैयार किए जाते हैं जिसके लिए वित्त मन्त्रालय द्वारा जुलाई/अगस्त में विभिन्न मन्त्रालयों एवं विभागों को एक प्रारूप प्रेषित किया जाता है। इस प्रपत्र में विनियोग के शीर्षक तथा उपशीर्षक, गत वर्ष की वास्तविक आय तथा व्यय, वर्तमान वर्ष की स्वीकृत अनुमान, वर्तमान वर्ष के संशोधित अनुमान, आगामी वर्ष के बजट प्राक्कलन के अतिरिक्त आय-व्यय में हुई कमी/बढ़ोत्तरी के मद होते हैं। इस प्रपत्र को भरकर विभिन्न विभाग अपने प्रशासकीय मन्त्रालय को भेजते हैं, जो उन्हे संशोधित करके नवम्बर के मध्य तक वित्त मन्त्रालय को प्रेषित करते हैं। इस प्रपत्र की एक प्रति सभी सम्बन्धित विभाग, महालेखा परीक्षक के पास भी विचारार्थ भेजते हैं जो अपनी टिप्पणी के साथ इसे वित्त मन्त्रालय तथा प्रशासकीय मन्त्रालय के पास भेजता है। प्रशासकीय मन्त्रालयों द्वारा बजट के अनुमानों का सूक्ष्म परीक्षण सरकारी नीतियों के सन्दर्भ में किया जाता है, जबकि वित्त मन्त्रालय द्वारा इसका परीक्षण मितव्ययिता के उद्देश्य से किया जाता है। व्यय के अनुमानों के परीक्षण के दौरान योजना आयोग से भी परामर्श लिया जाता है।

इस प्रकार व्ययों के अनुमान तैयार हो जाने के बाद वित्त मन्त्रालय द्वारा सरकारी आय अथवा राजस्व के अनुमान तैयार किये जाते हैं। इस हेतु वित्त मन्त्रालय द्वारा आयकर विभाग, सीमा शुल्क विभाग तथा केन्द्रीय उत्पादन कर विभाग से विगत वर्ष में संग्रह की गई धनराशि के आँकड़ों के आधार पर आगामी वित्तीय वर्ष के लिए सम्भावित आय का अनुमान लगाया जाता है जिसके आधार पर आगामी वर्ष में करों की दरों का पुनर्निधारण करने हेतु प्रस्ताव तैयार किया जाता है।

25.5.2 बजट का दस्तावेज

बजट का दस्तावेज तैयार करने हेतु वित्त मन्त्रालय द्वारा समस्त विभागों की माँगो को एकत्रित करके तथा वित्तीय नीति सम्बन्धी मामलों में सम्पूर्ण मन्त्रिपरिषद में निर्णय लेकर दो अलग-अलग भागों में आय और व्यय का विवरण तैयार किया जाता है, जो बजट दस्तावेज कहलाता है। वित्त मन्त्री द्वारा इस दस्तावेज को सामान्यतया फरवरी के अन्तिम कार्य दिवस में लोक सभा मे प्रस्तुत किया जाता है और इसके बाद वित्त मन्त्री द्वारा बजट भाषण दिया जाता है जिसमें जनता, राजनेता, कर्मचारी तथा व्यापारी वर्ग आदि सभी लोग बड़ी उत्सुकता रखते हैं। भारत में संघीय शासन व्यवस्था होने के कारण राज्यों व केन्द्र के अलग-अलग बजट होते हैं। 1911 के बाद भारत में रेलवे बजट को अलग से प्रस्तुत किया जाने लगा है।

25.5.3 बजट की स्वीकृति

बजट निर्माण कार्य पूर्ण हो जाने के बाद, उसे राज्य सभा व लोकसभा के द्वारा पारित कराया जाता है। बजट पर संसद में चर्चा की जाती है। इस हेतु लोक सभा के कार्य संचालन नियम संख्या207 (1) (2) में बजट प्रस्तुतीकरण के बाद की

जाने वाली सामान्य चर्चा के दिशा-निर्देश उल्लिखित हैं। इसमें प्रावधान यह है कि संसद सम्पूर्ण बजट के बारे में विचार-विमर्श कर सकती है, लेकिन वाद-विवाद के मध्य न तो कोई प्रस्ताव पेश किया जा सकता है और न ही सदन में बजट पर मतदान कराया जा सकता है। लोक सभा में अलग-अलग मन्त्रालयों के लिए क्रमवार अनुदान माँगों को पेश किया जाता है। हमारा आम बजट 109 माँगों में विभाजित रहता है जिसमें 103 माँगे लोक व्यय से सम्बन्धित हैं तथा छः माँगे सुरक्षा व्यय से सम्बन्धित होती हैं।

बजट जब तक स्वीकृत नहीं हो जाता है तब तक वह प्रभावी नहीं माना जाता है। लोकसभा द्वारा बजट का पारित होना अनिवार्य है। संसद के सामने वित्तमंत्री के द्वारा बजट का लेखा प्रस्तुत किया जाता है। बजट प्रस्तुत करते समय वह अपना बजट भाषण भी देता है, जिसमें पूरे वर्ष की आर्थिक नीति की समीक्षा होती है। बजट भाषण में नये करों व नये व्ययों का विवरण दिया जाता है और ऐसा करने का उद्धेश्य भी स्पष्ट किया जाता है। बजट घाटा अथवा बचत के भी हो सकते हैं। अतः वित्तमन्त्री को इस बात पर प्रकाश डालना होता है कि उसने ऐसा बजट क्यों बनाया? इस प्रकार के बजट की क्या आवश्यकता पड़ गयी और इससे सामान्य जनता को क्या लाभ होने वाला है, आदि। इन सभी बातों को स्पष्टीकरण बजट भाषण में दिया जाता है। वित्त- मन्त्री द्वारा सदन में जो भाषण सुनाया जाता है, उसकी छपी हुई एक-एक प्रति सदस्यों में वितरित की जाती है।

जब वित्त-मन्त्री अपना पूरा भाषण पढ़ देते हैं तब उस भाषण पर बहस के लिए अलग से दिन निश्चित कर दिया जाता है। बजट पर बहस का दिन निश्चित कर लेने के बाद फिर उस पर प़क्ष-विपक्ष के सदस्यों के द्वारा सामान्य रूप से चर्चा की जाती है। कुछ मदें होती हैं जिन पर पक्ष अथवा विपक्ष के सदस्य समान रूप से उसकी आलोचना या उसका सराहना कर सकते हैं। बजट पर सामान्य बहस हो जाने के बाद विभिन्न विभागों के मन्त्री अपने-अपने विभागों के लिए अनुदानों की माँग करते हैं और इन पर अलग-अगल बहसें होती हैं।

व्यय की कुछ मदें ऐसी होती है जिनके लिए संचित कोष से प्रत्यक्ष माँग की जाती है। इन मदों पर सदस्यों को मतदान करने का अधिकार नहीं होता है, परन्तु इन मदों पर चर्चा हो सकती है। इस चर्चा का लाभ यह होता है कि सरकार को यह पता लग जाता है कि बजट के प्रति सदस्यों की क्या धारणा है। नियम बनाने वाली सभा के सदस्यों को सरकार के प्रत्येक खर्चे पर अपनी राय प्रकट करने का अधिकार नहीं है।

अनुदान माँगों पर विचार होते समय विपक्षी सदस्यों को बजट की आलोचना का पूरा अवसर मिलता है और उनके द्वारा अनेक प्रकार की कटौतियों के प्रस्ताव सदन के समक्ष प्रस्तुत किए जाते हैं। कटौती का उद्देश्य मितव्ययता होता है। इस स्थिति को वित्त-मन्त्री के द्वारा स्पष्ट किया जाता है। वह यह बताता है कि अमुक-अमुक मद में अमुक-अमुक कारणों से कटौती नहीं हो सकती हैं, या हो भी सकती है। यदि वित्त-मन्त्री स्पष्टीकरण से सदस्य सन्तुष्ट न हों तो वे उस पर मतदान करा सकते हैं। यदि कटौती का प्रस्ताव पारित नहीं होता, तो इसका अभिप्राय सरकार के प्रति अविश्वास का मत हो सकता है। परन्तु ऐसी दशा में सरकार अपने पद से त्यागपत्र देने के लिए बाध्य नहीं है। यदि कटौतियों के सम्बन्ध में वित्त-मन्त्री का स्पष्टीकरण सदस्यों को सन्तुष्ट कर देता है तो वे कटौती का प्रस्ताव वापस ले लेते हैं और मतदान नहीं होता।

अनुदान माँगों पर विचार-विमर्श की अवधि 26 दिन की होती है। इसमें विनियोजन विधेयक पास करवाया जाता है, जिससे सरकार को सरकारी कोष से धन खर्च करने की शक्ति प्राप्त हो जाती है। इसके बावजूद व्यय की प्रतिपूर्ति हेतु वित्तीय साधनों की प्राप्ति कर प्रस्तावों द्वारा ही सम्भव होती है, जिसके लिए वित्त विधेयक को प्रस्तुत किया जाता है। वित्त विधेयक में करों की दरों में संशोधन सम्बन्धी प्रस्ताव होते हैं। विनियोजन विधेयक तथा वित्त विधेयक दोनों

सदनों-लोक सभा एवं राज्य सभा के लिए प्रेषित किया जाता है, जिसके बाद राष्ट्रपति के हस्ताक्षरोपरान्त ही विधेयक कानून बन जाता है। इसी तरह राज्यों का बजट विधान सभाओं तथा विधान परिषदों से पास कराया जाता है और जब माँगों पर वोंटिग समाप्त हो जाती है तब केन्द्र में राष्ट्रपति और राज्यों में राज्यपाल की स्वीकृति ली जाती है। इन लोगों को यह भी अधिकार होता है कि जिन लोगों की मदों को विधानसभा ने स्वीक्त नहीं किया है उनके लिए भी स्वीकृति दे दें। यदि वे चाहें तो बजट को पुनः विचार के लिए विधानसभा को भेज सकते हैं तथा पुनः स्वीकृति ली जाती है।

25.5.4 बजट का क्रियान्यवन

सामान्यतया जब बजट की माँगों पर बहस समाप्त हो जाती है तब एक विनिमय बिल रखा जाता है जिसका मुख्य उद्देश्य पारित की गयी माँगों को कानूनी रूप प्रदान करना तथा संचित कोष में से धन निकालने का अधिकार प्राप्त करना होता है। भारतवर्ष में करों से प्राप्त होने वाली आय को संचित कोष में जमा किया जाता है और बाद में इस राशि को धीरे-धीरे निकाला जाता है। विनियोग बिल के पारित हो जाने पर संसद द्वारा पारित की गयी माँगों में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं किया जा सकता है, वे माँगे स्थायी रूप ले लेती हैं। विनियोग बिल के पारित हो जाने पर केन्द्रीय आय बोर्ड को आय एकत्र करने का अधिकार प्राप्त हो जाता है। इस बोर्ड में विभिन्न विभाग आय को प्राप्त करके कोषागार में जमा करा देते हैं और बाद में इस राशि का उपयोग होने लगता है।

बजट के पास हो जाने के बाद कार्यकारिणी सभा इस बात पर नजर रखती है कि बजट में व्यय के लिए जो राशि स्वीकृत की गयी है उस राशि को व्यय किया जा रहा है अथवा नहीं। इस लेखे की जाँच करने के लिए एक 'राजकीय हिसाब समिति' होती है जो इसकी जाँच करती है। बजट के पास हो जाने पर उसकी सूचना विभिन्न विभागों द्वारा भेज दी जाती है। इसके बाद कोई भी अधिकारी स्वीकृत राशि को तब तक व्यय नहीं कर सकता है जब कि वह ऐसा करने के लिए अपने से उच्च अधिकारियों की स्वीकृति न ले लेता हो। इस तरह बजट के सही क्रियान्वयन हेतु यह ध्यान दिया जाता है कि बजट के क्रियान्वयन से सम्बन्धित सरकारी तन्त्र पूर्ण निष्ठा और कुशलता से कार्य करने के लिए प्रेरित हो।

बजट के कार्यान्वयन में सामान्यतया पाँच प्रक्रियाएं सम्मिलित रहती हैं, यथा- वित्तीय स्रोतों का एकत्रीकरण, वित्तीय संसाधनों का संरक्षण, वित्तीय संसाधनों का वितरण, सरकारी आय-व्यय का लेखा और लेखांकन।

बजट के क्रियान्वयन में लेखांकन का विशेष महत्व होता है। इसी वजह से 'नियन्त्रक तथा महालेखा परीक्षक' के अधीन लेखा एवं अंकेक्षण विभाग की अलगसे स्थापना की गई है, जो सभी प्रकार के सरकारी लेन-देन के ब्यौरेवार वर्गीकरण तथा मासिक एवं वार्षिक संकलन आदि के लिए उत्तरदायी होता है। प्रत्येक राज्य में इसके अधीन एक महालेखाकार का कार्यालय स्थापित किया गया है।

वित्तीय कोषों का लेखांकन चार स्तरों पर सम्पादित होती है, प्रथम चरण में प्रारम्भिक लेखों की पूर्ति उपकोषागार स्तर पर होती है। जहाँ सभी प्रकार का लेन-देन होता है। दूसरे चरण में शीर्षकों के अनुसार सभी प्रकार के लेन-देन का वर्गीकरण किया जाता है। तीसरे चरण में लेखाधिकारियों द्वारा लेखों का मासिक संकलन किया जाता है। चौथे चरण में भारत के महालेखा परीक्षक द्वारा वार्षिक संकलन किया जाता है।

25.5.5 वित्तीय कोषों का लेखांकन एवं लेखा परीक्षण

सामान्यतया सभी सरकारी विभागों द्वारा प्रतिमाह के हिसाब महालेखाकार के कार्यालय प्रेषित किए जाते हैं। यहाँ पर इन्हें आय-व्यय के लिए निर्धारित विभिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत वर्गीकृत किया जाता है और फिर इन लेखों का नियमित रूप से लेखाधिकारियों द्वारा अंकेक्षण किया जाता है। अंकेक्षण के बाद महालेखा परीक्षक द्वारा इन लेखों का वार्षिक

संकलन मुख्य चार शीर्षकों यथा- 1. राजस्व खाता, 2. पूँजीगत खाता, 3. ऋण खाता तथा 4. दूरस्थ प्राप्तियों में किया जाता है, जो बजट-सत्र के समय संसद के समक्ष प्रस्तुए किए जाते हैं और इस प्रकार बजट का अन्तिम चरण पूर्ण होकर बजट सम्बन्धी प्रक्रिया पूर्ण हो जाती है।

अभ्यास प्रश्न-

1. संविधान के किस अनुच्छेद के अनुसार भारत सरकार अनुमानित आय और व्यय का विवरण संसद के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता है?
2. भारत में वित्तीय वर्ष कब आरम्भ होकर कब तक रहता है?
3. लेखानुदान बजट सत्र के दौरान कब तक पारित कर दिया जाता है।
4. अनुदान मॉगों पर विचार-विमर्श की अवधि कितने दिनों की होती है?
5. आम बजट के अन्तर्गत 109 मॉगों में से कितनी मॉगें सुरक्षा व्यय से सम्बन्धित होती हैं?

25.6 सारांश

इस इकाई को पढने के बाद आप यह जान चुके हैं प्रशासनिक कार्यो को बिना वित्त के पूर्ण किया जाना सम्भव ही नहीं है। वित्तीय प्रबन्ध में उन प्रशासनिक क्रियाओं को सम्मिलित किया जाता है जिनके द्वारा वित्तीय साधनों का संग्रह, विनियोजन तथा लेखांकन किया जाता है। बजट के निर्माण, क्रियान्वयन और उस पर नियन्त्रण सम्बन्धी सम्पूर्ण प्रक्रिया के केन्द्र बिन्दु वित्तीय प्रबन्ध का प्रमुख ध्येय राज्य के वित्त का उचित, दक्ष और प्रभावशाली प्रबन्ध है। इसके अन्तर्गत सरकार के द्वारा किये जाने वाले वे सभी कार्य आते हैं, जिसका सम्बन्ध सार्वजनिक धन को इकट्ठा करने, व्यय करने, बजट बनाने, आय व्यय का हिसाब बनाने, सरकार के लेन-देन तथा पूँजी एवं दायित्वों का विवरण और इनका सम्पूर्ण प्रतिवेदन तैयार करने से होता है। इसीलिए कहा जाता है कि प्रशासनिक इंजन का ईधन वित्त है। प्रशासन के प्रत्येक कार्य वित्त के अभाव में पूर्ण नही किया जा सकता जिस प्रकार हृदय शरीर में शुद्ध रक्त की पूर्ति कर चेतना और ऊर्जा का संचार करता है उसी प्रकार प्रशासन में वित्त उसकी नीतियाँ तथा योजनाओं को पूर्ण करता है, क्योंकि वित्त के अभाव में उनका कार्यान्वयन सम्भव नहीं है। इसी कारण वित्त को लोक प्रशासन की चालक शक्ति कहा जाता है।

भारत में बजट निर्माण प्रक्रिया का प्रमुख उत्तरदायित्व वित्त मन्त्रालय का है। वित्त मन्त्रालय का प्रमुख वित्त मन्त्री होता है, जो राष्ट्र के कोष का संरक्षक तथा देश की वित्तीय नीति का कर्णधार माना जाता है। लोक वित्त का उचित वितरण एवं प्रयोग करना उसका प्रमुख कार्य है। 'बजट' का निर्माण एक दिन में न करके अपितु साल भर चलने वाली प्रक्रिया के रूप में करता है। जिसके प्रमुख रूप में चार चरण है प्रथम वह बजट की तैयारी करता है, जिसके अर्न्तगत वह बजट अनुमान आगामी वित्तीय वर्ष के आरम्भ होने के सात से आठ माह पूर्ण प्रारम्भ करता है। इस प्रक्रिया के पूर्ण करने में विभिन्न प्रशासनिक मन्त्रालय, योजना आयोग तथा नियन्त्रक महालेखा परीक्षक उसकी सहायता करते। द्वितीय चरण में बजट की संसदीय स्वीकृति प्राप्त की जाती है। जहाँ बजट प्रस्तुतीकरण से लेकर धन विधेयक की स्वीकृति लेखानुदान माँगों को पास करना, विनियोग विधेयक एवं वित्त विधेयक की स्वीकृति ली जाती है। तृतीय चरण में बजट का क्रियान्वयन है,जिसके अन्तर्गत वित्त के एकत्रीकरण, संरक्षण, वितरण लेखा एवं अंकेक्षण और प्रतिवेदन की प्रक्रिया समाहित है। बजट निर्माण प्रक्रिया का अन्तिम चरण उसका विधायी नियन्त्रण है जो संसदीय एवं विभागीय समितियों एवं नियत्रक-महालेखा परीक्षक के द्वारा पूर्ण किया जाता है।

25.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. अनुच्छेद- 112, **2.** 01 अप्रेल से 31 मार्च, **3.** 31 मार्च तक, **4.** 26 दिन, **5.** 06 मांगें

25.8 शब्दावली

पूँजी व्यय- यह अर्थव्यवस्था में भौतिक रूपी की परिसम्पत्तियों के निर्माण के लिए किया लाने वाला व्यय है जैसे- भूमि, मशीन, भवन आदि।

राजस्व व्यय- यह अर्थव्यवस्था में सरकारी विभागों में सामान्य कार्यों पर किया जाने वाला व्यय है जिसके द्वारा किसी भौतिक परिसम्पत्ति का निर्माण नहीं होता है जैसे-वेतन, दैनिक खर्च आदि।

पूँजी प्राप्तियां- ये सरकार द्वारा जनता से लिये गये ऋण जिन्हे बाजार ऋण कहते है। भारतीय रिजर्व बैंक या विदेशी संस्थानो से लिये गये ऋण आदि

वित्त विधेयक- वित्त विधेयक में आगामी वित्तीय वर्ष के लिए सरकार के करारोपण प्रस्तावो को प्रस्तुत किया जाता है। जिसका स्वीकृति संसद से आवश्यक होती है।

धन विधेयक- संविधान के अनुच्छेद110(1) में उल्लिखित किसी विषय से सम्बन्धित होता है। जो वित्त विधेयक तो होता है। इसका संबंध विशेषतया कराधान् ऋणादान अथवा व्यय से होता है। वित्त विधेयक की धन विधेयक के रूप में प्रमाणित लोक सभा अध्यक्ष द्वारा होती है।

25.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. भाटिया, एच0 एल0 (2006), लोकवित्त, विकास पब्लिषिंग हाउस प्रा0 लि0, जंगपुरा, नई दिल्ली।
2. पंत, जे0 सी0 (2005), राजस्व, लक्ष्मीनारायन अग्रवाल, पुस्तक प्रकाषक एवं विक्रेता, अनुपम प्लाजा, संजय प्लेस, आगरा।
3. सावले, द्वारका प्रसाद (2006), लोक प्रशासन, एटलांटिक पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटस, नई दिल्ली।
4. फड़िया, बी0 एल0 (2010), लोक प्रशासन, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा उ0 प्र0।
5. अवस्थी, ए0 एवं ए0 पी0 अवस्थी (2011) भारतीय प्रशासन, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा उ0 प्र0।

25.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. सावले, द्वारका प्रसाद (2006), लोक प्रशासन, एटलांटिक पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटस, नई दिल्ली।
2. फड़िया, बी0 एल0 (2010), लोक प्रशासन, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा उ0 प्र0।
3. अवस्थी, ए0 एवं ए0 पी0 अवस्थी (2011) भारतीय प्रशासन, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा उ0 प्र0।

25.11 निबंधात्मक प्रश्न

1. वर्तमान कल्याणकारी राज्य की अवधारणा में वित्तीय प्रबन्ध क्यों महत्वपूर्ण हो गया है?
2. भारत में बजट निर्माण प्रकिया को स्पष्ट कीजिए।
3. 'बजट क्रियान्वयन' प्रक्रिया को विस्तार से बताइए।

इकाई- 26 निष्पादन बजट, शून्य आधारित बजट, लोक लेखा समिति, अनुमान समिति

इकाई की संरचना

26.0 प्रस्तावना
26.1 उद्देश्य
26.2 निष्पादन बजट
26.2.1 निष्पादन बजट का आशय
26.2.2 निष्पादन बजट के चरण
26.3.3 निष्पादन बजट का आधार
26.3 शून्य आधारित बजट
26.3.1 शून्य आधारित बजट का अर्थ एवम् परिभाषा
26.3.2 शून्य आधारित बजट का सिद्धान्त एवम् निर्माण-प्रक्रिया
26.3.3 शून्य आधारित बजट निर्माण के लाभ एवम् कठिनाइयाँ
26.3.4 निष्पादन बजट व शून्य आधारित बजट में अन्तर
26.3.5 भारत में शून्य आधारित बजटिंग
26.4 लोक लेखा समिति
26.4.1 लोक लेखा समिति के कार्य
26.4.2 लोक लेखा समिति के नियन्त्रण का स्वरूप
26.4.3 लोक लेखा समिति का मूल्यांकन
26.5 अनुमान समिति
26.6 सारांश
26.7 शब्दावली
26.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
26.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
26.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामाग्री
26.11 निबंधात्मक प्रश्न

26.0 प्रस्तावना

आप ने पूर्व की इकाई के अन्तर्गत बजट निर्माण से सम्बन्धित अनेक पक्षों को भली-भाँति समझ लिया होगा। प्रस्तुत इकाई इकाई बजटिंग से सम्बन्धित है। इस इकाई के अन्तर्गत आप निष्पादन बजट एवं शून्य आधार बजट के साथ साथ लोक लेखा समिति एवं अनुमान समिति का भी भली-भाँति अध्ययन कर सकेंगे। निष्पादन बजट एवं शून्य आधारित बजट की अवधारणा एवं मुख्य विशेषताओं से आपको परिचित कराया जा सकेगा। इसके साथ निष्पादन बजट एवं शून्य आधार बजट को अपनाने एवं क्रियान्वित करने में आने वाली कठिनाइयों से भी आप भलीभाँति परिचित हो सकेंगे।

बजट के अभाव में किसी अर्थव्यवस्था के निहितार्थों एवं उद्देश्यों को प्राप्त करना सम्भव नहीं हो सकता है। बजट सरकार की आय-व्यय का विवरण प्रस्तुत करने के साथ उस देश की वास्तविक आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति का आइना प्रस्तुत करता है। जिसके आधार पर उस देश की अर्थव्यवस्था की वास्तविक स्थिति तक पहुँचा जा सकता है। इस प्रकार बजट देश के वित्तीय प्रवाहों का उल्लेख है जो नीतियों एवं कार्यक्रमों की सफलता के लिए अत्यन्त ही आवश्यक समझा जाता है।

26.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरन्त आप-

- यह जान पायेंगे कि निष्पादन बजट का क्या आशय है? तथा किसी भी देश की अर्थव्यवस्था के लिए बजट की क्या सार्थकता पायी जाती है?
- निष्पादन बजट निर्माण की प्रक्रिया का वर्णन कर सकेंगे।
- निष्पादन बजट के विभिन्न आधारों को समझने के साथ इसके मूलभूत तत्वों को आप भली-भाँति समझ सकेंगे।
- अर्थव्यवस्थाओं में व्याप्त अनेक प्रकार की वित्तीय अनियमितताओं के चलते शून्य आधार बजट क्यों महत्वपूर्ण है? तथा इसके मार्ग में किस प्रकार की कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं? इस संबंध में जान पायेंगे।
- शून्य आधार बजट के विभिन्न सिद्धान्तों को समझ सकेंगे। व इसके साथ-साथ निष्पादन बजट और शून्य आधार बजट में अन्तर स्पष्ट कर सकेगें।
- लोक लेखा समिति के कार्य और नियंत्रण के स्वरूप को समझ सकेगें।
- वित्तीय नियंत्रण की दिशा में अनुमान समिति के उपयोगी कार्यो को समझ सकेगें।

26.2 निष्पादन बजट

जैसा कि आपको ज्ञात होगा की परम्परागत बजट प्रणाली में सरकारी कार्यो के वित्तीय पक्षों पर अधिक बल दिया जाता है। यह जाना माना तथ्य है कि विभिन्न सेवाऐं, जो सरकार के द्वारा समाज को उपलब्ध करवायी जाती हैं, सरकार के पास उन पर किए जाने वाले व्यय हेतु साधनों का सदैव अभाव रहता है। इसीलिए सरकार को निष्पादन बजट के प्रयोग की आवश्यकता महसूस हुई। अतः इस खण्ड के अन्तर्गत निष्पादन बजट से सम्बन्धित तथ्यों को प्रस्तुत किया गया है जिससे की आप निष्पादन बजट के आशय को समझने के साथ-साथ इसके मूलभूत आधारों को भी समझ सकेंगे।

26.2.1 निष्पादन बजट का आशय

इस उपखण्ड के अन्तर्गत आप सामान्य बजट से अलग हटकर बजट की एक नयी अवधारणा निष्पादन बजट से अवगत हो सकेंगे। सन् 1949 में प्रथम हूवर आयोग(First Hoover Commission) ने अमेरिका में निष्पादन बजट शब्द का प्रयोग किया। ए0 ई0 बुक्क(A.E. Buck) निष्पादन बजट की सिफारिश करते हुए लिखते हैं, ''वर्तमान बजट के स्थान निष्पादन बजट को लेनी चाहिये। अतः अत्याधिक संक्षिप्त परिधि के दस्तावेज प्रस्तुत करते हुये सरकार की व्यय आवश्यकताऐं, सेवाओं, गतिविधियों और कार्य परियोजनाओं के सन्दर्भ में होनी चाहिये, न कि खरीदी गई वस्तुओं के सन्दर्भ में।''

बुर्खहेड(Burkhead) के अनुसार, ''निष्पादन बजट वह है जो उन कार्यों और उद्देश्यों को प्रदर्शित करता है, जिनके लिये कोष की प्रार्थना की जाती है। इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये प्रस्तावित कार्यक्रमों की लागत तथा प्रत्येक कार्यक्रम के अन्तर्गत निष्पत्ति (Accomplishment), एवं कार्य निष्पादन को मापने वाला मात्रात्मक आंकड़े प्रदर्शित होते हैं।''

निष्पादन बजटिंग का तात्पर्य ऐसी बजट प्रक्रिया से है, जिसके अन्तर्गत बजट में शामिल किये गये कार्यक्रमों तथा योजनाओं का क्रियान्वयन इस प्रकार से किया जाता है, जिससे कि अपेक्षित तथा वास्तविक निष्पादन के मध्य कम से कम अन्तर हो। परियोजनाओं का क्रियान्वयन अनुकूलतम स्तर पर हो, इसके लिए यह अत्यन्त आवश्यक हो जाता है की बजट के प्रत्येक चरण में किये जाने वाले अपेक्षित व्यय तथा अपेक्षित प्राप्तियों की एक नियोजित रूपरेखा तैयार की जाए, जिससे वांछित परिणामों को आसानी से प्राप्त किया जा सकेगा। बजट के प्रभावपूर्ण क्रियान्वयन हेतु सार्वजनिक व्यय निर्मित कसौटियों के आधार पर किया जाये। जिससे बजट का संचालन एक कुशल प्रबन्धतंत्र द्वारा मितव्ययता पूर्ण किया जा सकेगा।

इस प्रकार निष्पादन बजटिंग में कुशल प्रशासनिक कार्य-तंत्र को महत्वपूर्ण स्थान दिया जाता है, क्योंकि कार्यक्रमों या योजनाओं का अनुकूलतम निष्पादन कुशल प्रशासनिक कार्यतंत्र पर ही पूर्ण रूप से आधारित होता है।

26.2.2 निष्पादन बजट के चरण

निष्पादन बजट के विभिन्न चरण इस प्रकार हैं-

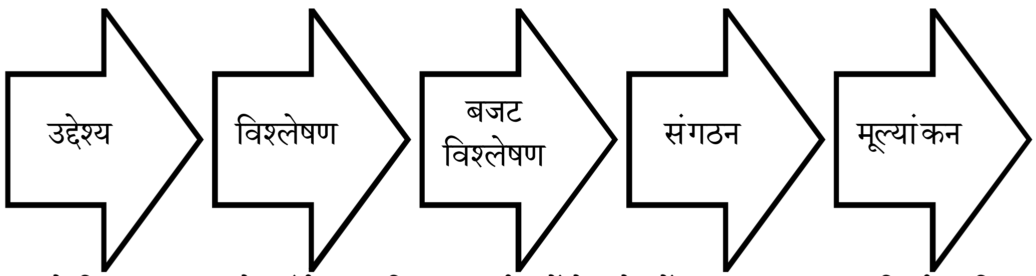

1. सबसे पहले निष्पादन बजट के अंतर्गत व्यक्तिगत कार्यक्रमों के उद्देश्यों का परिमाणात्मक निर्धारण किया जाता हैं। उसके उपरान्त चयनित उद्देश्यों को सरकार के दीर्घकालीन लक्ष्यों के सन्दर्भ में देखा जाता है।
2. दूसरे चरण में चयनित कार्यक्रमों का वैकल्पिक कार्यक्रमों के साथ लागत-लाभ विश्लेषण के दृष्टिकोण से जाँच की जाती है। जिससे कार्यक्रमों की उपयोगिता सिद्ध की जा सके।
3. तीसरे चरण में चयनित कार्यक्रमों का आवश्यकता अनुसार उचित वर्गीकरण किया जाता है, जिससे की उपलब्ध संसाधनों का उचित आवंटन किया जा सके।
4. चौथा चरण संगठन से सम्बंधित है। इसके अन्तर्गत चयनित विशिष्ट उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए विभिन्न संगठनों की भूमिका निर्धारित की जाती है। वित्तीय नियमों और लेखा व्यवस्था को कार्यक्रमों के प्रभावी क्रियान्वयन के अनूरूप ढ़ाला जाता है।
5. आखिरी चरण मूल्यांकन का है। इसके अन्तर्गत चयनित विशिष्ट उद्देश्यों का मूल्यांकन करने के लिये मानदण्डों का निर्धारण किया जाता है। जिसके आधार पर चलाये गये कार्यक्रमों का मूल्यांकन किया जाता है।

26.2.3 निष्पादन बजट का आधार

निष्पादन बजटिंग निम्नलिखित मान्यताओं पर आधारित है, जो इसके औचित्य को प्रकट करती है-

1. निष्पादन बजटिंग संसाधनों के अभाव एवं सीमितता पर आधारित है। इसीलिये इस बजट में कुशलतम व क्रियान्वयन पर जोर दिया जाता है।

2. निष्पादन बजटिंग के अन्तर्गत लागत-लाभ की अवधारणा को आधार बनाया गया है। इसके लिये बजट के क्रियान्वयन के प्रत्येक चरण के लिये एक समय-सारणी को आधार बनाया गया है। जो योजनाओं एवं कार्यक्रमों के निष्पादन को बेहतर बनाती है। क्योंकि बिना समय-सारणी के बजट उद्देश्यों को पूर्ण रूप से सकारात्मक नहीं बनाया जा सकता है।
3. यह बजट विभिन्न विभागों एवं मंत्रालयों के मध्य सामंजस्य पर जोर देता है ताकिसंसाधनों का दक्षतापूर्ण प्रयोग सम्भव हो सके एवं वांछित प्राप्तियों का उच्च स्तर प्राप्त किया जा सके।
4. सरकार के पास वित्तीय उपलब्धियों का कोई एक स्वचालित तंत्र उपलब्ध नहीं है। मानवीय कुशलता ही बजटिंग का आधार है। इसके आधार पर ही अनुमान, क्रियान्वयन एवं निष्पादन की प्रक्रिया को प्राप्त किया जा सकता है।
5. निष्पादन बजटिंग के अन्तर्गत किसी भी मद को तटस्थ रूप में नहीं छोड़ा जा सकता है क्योंकि इसका अन्य मदों पर प्रतिकूल प्रभाव होता है। जो कार्यक्रमों के निष्पादन को प्रतिकूल दिशा में ही प्रभावित करेगा।

निष्पादन बजटिंग अनेक प्रकार से उपयोगी होता है। इसकी सहायता से सार्वजनिक संसाधनों की उपयोग समाज के अधिकतम लाभ के लिए हो सकता हैं। यह बजट के नियंत्रण तथा विधायी पुनरीक्षण को अधिक अर्थपूर्ण बनाता है।

26.3 शून्य आधारित बजट

इस खण्ड के अन्तर्गत आप शून्य आधारित बजट के आशय समझने के बाद इसके मूलभूत आधारों को समझेंगे।

26.3.1 शून्य आधारित बजट का अर्थ एवम् परिभाषा

शून्य आधारित बजट निर्माण, बजट निर्माण के प्रबन्धकीय उपकरण के रूप में एक नवीन तकनीक है, जो सार्वजनिक व्यय की उत्पादकता को बढ़ाने और अनुत्पाद व्यय को घटाने का कार्य करता है। जैसा कि आपको नाम से ही स्पष्ट है कि यह शून्य से आरम्भ होता हैं। इस बजट के अन्तर्गत कोई पूर्व निर्धारित आधार नहीं होता है। अतः इस बजट के निर्माण के लिए पूर्ववर्ती मदों को शून्य मान लिया जाता है अर्थात् इस बजट का निर्माण बिना किसी आधार के किया जाता है।

बजट निर्माण की इस प्रक्रिया में एक प्रबन्धक को यह सिद्ध करना पड़ता है कि वह क्यों खर्च करना चाहता है और गतिविधि आवश्यक है तथा कार्य की मात्रा को देखते हुए मांगी गई राशि उचित है।

सामान्य रूप से शून्य आधारित बजट का मुख्य आधार कार्यक्रम या योजनाओं की लागत के बाद उसके परिणामों का आलोचनात्मक विश्लेषण माना गया है। इस बजट में उसी मद को व्यय के लिए उचित ठहराया जाता है जो लागत-लाभ विश्लेषण के आधार पर पूर्ण रूप से खरी उतरती है। इस बजट में इस बात की कोई गारण्टी नहीं होती है कि इस बार हुई आवंटित-मद का आगामी वित्तीय वर्ष या बजट में यथास्थान बना रहेगा। किसी भी मद को बजट में उस समय तक स्थान नहीं दिया जाता है जब तक कि उस मद को लागत-लाभ विश्लेषण के आधार पर उचित नहीं ठहराया जा सके। अर्थात् शून्य आधारित बजट का व्यावहारिक अर्थ है- सभी विकल्पों और कार्यक्रमों का मूल्यांकन करना।

शून्य आधारित बजट को अर्थशास्त्रियों ने निम्नलिखित रूप में परिभाषित करने का प्रयास किया है।

पीटर ए0 पीहर(Peter A. Pyher) के अनुसार, ''शून्य पर आधारित बजटिंग एक संचालित नियोजन एवं बजटिंग प्रक्रिया है, जिसमें प्रत्येक मैनेजर को अपने सम्पूर्ण बजट प्रस्तावों का औचित्य शून्य से बताना होता है तथा प्रत्येक मैनेजर पर सबूत का भार डाल दिया जाता है कि उसे कोई धन क्यों व्यय करना चाहिए।''

शून्य आधारित बजट के अभिप्राय को व्यक्त करते हुए भूतपूर्व अमरिकी राष्ट्रपति जिम्मी कार्टर(Jimmy Carter) ने कहा था कि ''शून्य पर आधारित बजटिंग में बजट को इकाइयों में रखा जाता है जिसे 'निर्णय पैकेज' कहा जाता है और जो प्रत्येक स्तर पर मैनेजर द्वारा तैयार किए जाते हैं। यह पैकेज की विद्यमान या प्रस्तावित क्रियाओं को पूर्ण करते हैं।''

26.3.2 शून्य आधारित बजट का सिद्धान्त एवम् निर्माण-प्रक्रिया

शून्य आधारित बजट के तीन महत्वपूर्ण सिद्धान्त हैं क्या हमें खर्च करना चाहिए?, हमें कितना खर्च करना चाहिए? और हमें कहाँ खर्च करना चाहिए?

शून्य आधारित बजट प्रणाली का प्रथम सिद्धान्त यह है कि किसी विभाग या कार्यालय को किसी भी मद पर प्रस्तावित व्यय के औचित्य को तर्क व संगणनाओं के आधार पर सिद्ध करना होता हैं की खर्च क्यों किया जायें।

यह निश्चित हो जाने के बाद कि हमें खर्च करना चाहिए या नहीं, दूसरा प्रश्न उठता है कि हमें कितना खर्च करना चाहिए? यही दूसरा सिद्धान्त है जो यह बताता हैं कि किसी भी विभाग या कार्यालय को किसी भी मद पर कितना खर्च करना चाहिए, जिससे की सामाजिक लागत की तुलना में सामाजिक लाभ अधिकतम हों। इसी लागत-लाभ विश्लेषण के आधार पर प्रत्येक विभाग या कार्यालय की जवाबदेही होती हैं।

अन्तिम सिद्धान्त यह बताता हैं कि हमें कहाँ खर्च करना चाहिए? अर्थात् शून्य आधारित बजट प्रणाली में विभिन्न मदों के बीच प्राथमिकता निर्धारित करनी होती हैं। जिसके आधार पर खर्च करने हेतु साधन जुटाए जाते हैं ।

शून्य आधारित बजट की निर्माण-प्रक्रिया इन विभिन्न चरणों से होकर गुजरती है जोकि इस प्रकार है-

1. सबसे पहले शून्य आधारित बजट के अंर्तगत उद्देश्यों का निर्धारण किया जाता हैं।
2. बजट के उद्देश्य निर्धारण के उपरान्त ही इसकी सीमाओं का निर्धारण किया जाता हैं। जिसके अंर्तगत यह निश्चित किया जाता हैं कि इसे सभी कार्यात्मक क्षेत्रों में लागू करना हैं अथवा नहीं।
3. शून्य आधारित बजट का तीसरा चरण निर्णय पैकेज का निर्माण करना है। एक निर्णय पैकेज ''एक प्रालेख है जो किसी विशेष गतिविधि की पहचान इस प्रकार प्रकट करता है कि प्रबन्धक मूल्यांकन कर सके तथा इसकी

अन्य गतिविधियों के प्रतिकूल क्रम व्यवस्था कर सके। सीमित साधनों का ध्यान रखते हुए यह निर्णय लिया जाए कि इसे स्वीकार करना है या अस्वीकार।''

4. चौथा चरण बहुत महत्वपूर्ण है, क्योंकि इसके अंर्तगत कार्यक्रमों का लागत-लाभ विश्लेषण किया जाता है। इसमें प्रबन्धक को यह विश्लेषण करके सुनिश्चित करना होता है कि कार्यक्रम के लागत की तुलना में लाभ अधिक हो। विभिन्न कार्यक्रमों के लिए प्राथमिकता निश्चित करने में तथा उनकी उपयोगिता और निर्णय पैकेज की क्रम व्यवस्था में लागत-लाभ विश्लेषण सहायक सिद्ध होता है।
5. शून्य आधारित बजट के अंतिम चरण में कार्यक्रमों को चुनाव करके, निर्णय पैकेजों को स्वीकार किया जाता है और इसके उपरान्त बजट को अंतिम रूप दिया जाता हैं।

26.3.3 शून्य आधारित बजट निर्माण के लाभ एवम् कठिनाइयाँ

शून्य आधारित बजट के लाभ निम्नलिखित है, जो शून्य आधारित बजट के विभिन्न आयामों तक पहुँचने में सहायता करते हैं।

1. शून्य आधारित बजट का मुख्य उद्देश्य सार्वजनिक व्ययों पर नियंत्रण करना है ताकि सरकारी धन का अपव्यय न हो और उसका प्रयोग सार्वजनिक हित में हो सके। इसके द्वारा विभिन्न कार्यक्रमों अथवा योजनाओं की प्राथमिकता निर्धारण के बाद ही उनका कार्यान्वयन भी उसी क्रम में की जाती है।
2. शून्य आधारित बजट के द्वारा प्रबन्धन की कौशलता में सुधार आता है क्योकि प्रत्येक प्रबन्धक को साधनों से सम्बन्धित अपनी माँग को न्यायोचित सिद्ध करना होता है। केवल वहीं कार्यक्रम शुरु किये जाते है, जो तर्कसंगत एवम् आवश्यक हो।
3. शून्य आधारित बजट के अन्तर्गत पूर्ववर्ती कार्यक्रमों अथवा योजनाओं के आलोचनात्मक मूल्यांकन की व्यवस्था की जाती हैं। जिसके आधार पर उस मद को बजट में यथास्थान दिलाया जा सके।
4. शून्य आधारित बजट के द्वारा प्रबन्धक संसाधनों का अनुकूलतम प्रयोग सम्भव बनाता है। यह बजट लागत-लाभ विश्लेषण पर आधारित है। इसके द्वारा यह प्रयास किया जाता है कि किसी कार्यक्रम या मद पर आने वाली लागत तथा उस मद से प्राप्त होने वाला सामाजिक लाभ के मध्य कम से कम अन्तर हो।
5. शून्य आधारित बजट के लिए बजट बनाते समय सगंठनात्मक लक्ष्यों को महत्व दिया जाता है। किसी कार्यक्रम या योजना को अनिवार्य रूप से भविष्य में बनाये रखना आवश्यक नहीं होता है। केवल उन्हीं कार्यक्रम को चलाने की अनुमति दी जाती है, जो संस्थागत लक्ष्यों की प्राप्ति में सहायक होते हैं।

शून्य आधारित बजट के निर्माण एवं क्रियान्वयन में अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं, जिन्हें निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है-

1. शून्य आधारित बजट के अन्तर्गत कार्यक्रमों एवं योजनाओं का आलोचनात्मक मूल्यांकन उसी विभाग एवं मंत्रालय के अधिकारियों एवं प्रभारियों द्वारा किया जाता है जिनके अन्तर्गत यह कार्यक्रम या योजनायें संचालित की जाती हैं। ऐसी स्थिति में स्वमूल्यांकन स्वयं के विरूद्ध नहीं जा सकता है। इसीलिये पूर्ववर्ती मदों को ही आधार बनाना आवश्यक हो जाता है, जो शून्य आधार बजट की संकल्पना के अनुकूल नहीं है।
2. शून्य आधारित बजट के निर्माण एवं क्रियान्वयन के लिए ईमानदार एवं पूर्ण कुशल अधिकारियों एवं कर्मचारियों की आवश्यकता हैं, जो प्रायः सभी स्थानों पर प्राप्त नहीं हो पाते है। इसके साथ बजट का प्रत्येक

चरण एक तकनीकी प्रशिक्षण पर आधारित होता है इसके लिये सम्बन्धित कर्मचारियों को पूर्ण प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है, जो स्वयं में ही एक समस्या बन जाती है।

3. शून्य आधारित बजटिंग मितव्ययता एवं पूर्ण नियंत्रणात्मक सार्वजनिक व्यय पर आधारित हैजो प्रजातांत्रिक एवं सत्ता-लोभी सरकारों द्वारा सम्भव नहीं हो सकता है। जैसा कि आपको ज्ञात होगा की प्रजातांत्रिक सरकारें जनता को खुश करने के लिये अपव्यय तथा गैर-नियंत्रणात्मक व्ययों का सहारा लेती हैं।
4. विकासशील तथा पिछड़े देशों में शून्य आधारित बजटिंग की प्रणाली प्रभावपूर्ण सिद्ध नहींहो सकती क्योंकि यहाँ पर बजट प्रणाली में लचीलापन अत्यन्त ही आवश्यक होता है, जो शून्य आधारित बजट के विपरीत है।

26.3.4 निष्पादन बजट व शून्य आधारित बजट में अन्तर

अब आप निष्पादन बजट और शून्य आधारित बजट में निम्नलिखित आधार पर अन्तर स्पष्ट कर सकते हैं, जोकि इस प्रकार है-

1. **विश्लेषणात्मक पक्ष-** निष्पादन बजट के अंतर्गत किया जीने वाला व्यय निष्पादन संबंधों पर बल देता है। जबकि शून्य आधारित बजट के अंतर्गत मौद्रिक व निष्पादन वृद्धियों के सम्बन्धों पर बल देता है।
2. **बजट व योजनाबन्दी-** इसके अंतर्गत प्रत्येक विभाग अपना अलग-अलग बजट व योजनाबन्दी तैयार करते हैं। जबकि इसके अंतर्गत प्रत्येक विभाग समाकलित बजट व योजनाबन्दी तैयार करते हैं।
3. **समय सीमा-** इसके अंतर्गत बजट निर्माण प्रत्येक वर्ष किया जाता हैं। जबकि इसके अंतर्गत बजट निर्माण चार वर्षीय प्रक्षेपण के आधार पर किया जाता हैं।
4. **मूल्यांकन पक्ष-** निष्पादन बजट निर्माण में निष्पादन का मात्रात्मक माप किया जाता है। जबकि शून्य आधारित बजट निर्माण में निष्पादन एवं उसके माप पर बल दिया जाता है।
5. **इच्छित लाभ-** निष्पादन बजट में परिव्ययों व बड़ी लागत के परिणामस्वरुप इच्छित लाभ प्राप्त किये जाते हैं। जबकि शून्य आधारित बजट में निष्पादन के माप और साधनों के पुनः निर्माण के लिए अधिक तर्कसंगतता से ही इच्छित लाभ प्राप्त किये जाते हैं।

26.3.5 भारत में शून्य आधारित बजटिंग

पिछले बिन्दुओं के अन्तर्गत आपने शून्य आधारित बजट की अवधारणा को समझने के साथ शून्य आधारित बजट के लाभ तथा कठिनाइयों का भी अध्ययन किया। बजटिंग प्रक्रिया को आपने भली-भाँति समझ लिया होगा। प्रस्तुत बिन्दु के अन्तर्गत आप भारत में शून्य आधारित बजट से सम्बन्धित कुछ महत्वपूर्ण बिन्दुओं के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

आपने शायद ध्यान दिया होगा कि भारत में सर्वप्रथम 1985-86 में शून्य आधार बजट की अवधारणा को स्वीकार किया गया था। केन्द्र सरकार द्वारा इस शून्य आधार बजट को अपनाने के लिए समस्त विभागों को निर्देश दिये गये थे। वर्ष 1986-87 में केन्द्र सरकार के सभी विभागों ने शून्य आधार बजट को स्वीकार किया। सामान्यतः भारत में शून्य आधार बजट में अनुत्पादक व्यय तथा अधिकारियों की लापरवाही ने अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ पैदा की लेकिन अर्थशास्त्रियों का मानना है कि भारत में शून्य आधार बजट की अत्यन्त आवश्यकता थी। भारत में शून्य आधार बजट के लिये निम्नलिखित तथ्यों पर विशेष जोर दिया गया-

1. शून्य बजट की मदों पर लागत-लाभ विश्लेषण करना।
2. निष्क्रियता के स्थान पर सक्रिय मदों को स्थान देना।

3. उद्देश्यों की प्राप्ति के प्रयासों की सही-सही जानकारी प्राप्त करना।
4. विकल्पों की खोज के साथ मितव्ययता को महत्व देना।
5. निर्णय सम्बन्धी पैकेज का डिजाइन तैयार करना तथा उसे क्रमबद्ध करना।

26.4 लोक लेखा समिति

बजट के क्रियान्वयन पर कार्यपालिका और प्रशासनिक नियन्त्रण के पश्चात संसद द्वारा नियन्त्रण का औचित्य इस बात में निहित है कि संसद ही विनियोग विधेयक द्वारा कार्यपालिका को विभिन्न प्रयोजनों के लिए व्यय करने के लिए अनुमोदन प्रदान करती है। संसद कार्य को सम्पन्न करने के लिए प्रश्न काल, काम रोको प्रस्ताव आदि संसदीय तकनीक का प्रयोग कर सकती है, परन्तु इस कार्य को अधिक सूक्ष्मता तथा कुशलता द्वारा लोक लेखा समिति द्वारा सम्पन्न किया जाता है। जोकि लेखा नियन्त्रक तथा महालेखा परीक्षक द्वारा प्रस्तुत प्रतिवेदन पर विचार करती है। संसद सदस्यों को वित्तीय स्वरूप की उतनी जानकारी नहीं होती, परन्तु नियन्त्रक एवं महालेखा परीक्षक, वित्तीय स्वरूप का विशेषज्ञ होता है। इसी कारण इसके प्रतिवेदन का महत्व बढ जाता है। अतः एक लोकतन्त्रात्मक शासन पद्धति में उसके प्रतिवेदन के उपरान्त लोक-लेखा समिति द्वारा समीक्षा विशिष्ट नियन्त्रण के साथ-साथ राजनीतिक नियन्त्रण को साकार करती है।

यह लोक लेखा समिति ब्रिटिश संसदीय पद्धति की देन है। ब्रिटेन में यह सन् 1861 में अस्तित्व में आयी थी। इसी के परिणामस्वरूप सार्वजनिक विनियोजनों में नियोजित धन पर संसदीय नियन्त्रण ही प्राप्त न किया, बल्कि संसदीय नियन्त्रण में वृद्धि हुई। भारत में लोक लेखा समिति संसद की सबसे पुरानी और बहुत ही महत्वपूर्ण समिति है। सर्वप्रथम 1919 के भारत सरकार अधिनियम के प्रावधानों के अनुसार 1921 में प्रथम लोक लेखा समिति की स्थापना हुई थी। जिसका उद्देश्य सरकारी लेखा की छानबीन करना तथा उसमें की गई अनियमितता को उदघाटित करना था। भारत की स्वतन्त्रता के पश्चात वर्ष 1950 में लोक समिति की स्थापना की गयी थी। स्वतन्त्र भारत में भी इस कमेटी का स्वरूप तथा कार्यक्षेत्र वैसा ही है, जैसा कि ब्रिटिश भारत के दौरान था। जबकि बदलते हुए समय के परिप्रेक्ष्य में इसके स्वरूप में आवश्यक परिर्वतन भी किए गए है।

लोक लेखा समिति में सदस्यों की संख्या 22 होती है। जिसमें 15 सदस्य लोक सभा के और 07 सदस्य राज्यसभा के होते है। समिति में सदस्यों का निर्वाचन एकल संक्रमणीय मत पद्धति द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व के आधार पर होता है, जिसके द्वारा विभिन्न राजनीतिक दलों को संसद में अपनी दलीय शक्ति के अनुपात में ही प्रतिनिधित्व प्राप्त होता है। समिति का अध्यक्ष लोक सभा अध्यक्ष द्वारा नियुक्त किया जाता है। शुरूआत में सत्तादल के सदस्य की नियुक्ति लोक लेखा समिति में अध्यक्ष पद पर होती थी, परन्तु सन् 1967 से विरोधी दल से अध्यक्ष बनाया जाने लगा है। यदि लोक सभा का उपाध्यक्ष समिति का सदस्य चुना जाता है, तब वहीं समिति का अध्यक्ष होता है। एम0 आर0 मसानी विरोधी दल के प्रथम सदस्य थे, जो इस समिति के अध्यक्ष मनोनीत किए गए। समिति का कार्यकाल मई से अप्रैल तक एक वर्ष का होता है। अध्यक्ष एवं सदस्य का कार्यकाल एक वर्ष का होता है, जिनका पुर्ननिर्वाचन किया जा सकता है।

26.4.1 लोक लेखा समिति के कार्य

लोक लेखा समिति का मुख्य कार्य सदन में प्रस्तुत किये गए नियंत्रक व महालेखा परीक्षक के प्रतिवेदन का परीक्षण करना है और यह देखना है कि संसद द्वारा विनियोजित धन का कार्यपालिका के प्राधिकारियों द्वारा ‘‘माँगों के क्षेत्र के भीतर’’ व्यय हुआ है अथवा नहीं। अथात् लोक लेखा समिति को निम्नलिखित बातों का ध्यान रखना होता हैं। जोकि इस प्रकार हैं-

1. संसद द्वारा विनियोजित किये गये धन से अधिक व्यय नहीं किया जाना चाहिए।
2. जिस उद्देश्य के लिए संसद ने उस मद पर मतदान किया है, व्यय उसी उद्देश्य के लिए किया जाना चाहिए।
3. व्यय उन्हीं अधिकारियों द्वारा किया गया हो, जो वैधानिक रूप से व्यय के लिए सक्षम थे।
4. कार्यपालिका ने एक अनुदान में बची हुई राशि, दूसरी मद के लिए व्यय करके, कहीं संसद की अवहेलना तो नहीं की है।
5. अनुमोदित नीतियों, कार्यक्रमों तथा पुनर्विनियोजित अधिकृत व सक्षम अधिकारियों के द्वारा व्यय निर्मित नियमों के अनुसार हुआ है या नहीं।
6. सभी वित्तीय मामलों में नैतिकता के उच्चस्तरीय मानदण्डों का पालन किया गया है अथवा नहीं।

उपरोक्त कार्यो के अतिरिक्त लोक लेखा समिति, प्रत्येक ऐसे विषय की जाँच करती है, जिसमें वित्तीय वर्ष के दौरान किसी सेवा पर संसद द्वारा स्वीकृत धनराशि से अधिक व्यय किया गया है। जैसा कि कौल और शकधर कहते हैं, कि "समिति का कार्य व्यय की औपचारिकताओं के बाहर व्यय सम्बन्धी, विवेक, वफादारी और मितव्ययिता सम्मत हो।" यह वित्तीय अनुशासन और सिद्धान्तों पर भी विचार विमर्श करती है। समिति उन अनियमितताओं का भी परीक्षण कर सकती है, जो कि सार्वजनिक रूप से प्रकट हो जाए या जिनके सम्बन्ध में सरकार को अवगत कराया जाता है, चाहे ऐसे विषयों पर औपचारिक लेखा प्रतिवेदन प्रस्तुत न भी किया गया हो। लोक लेखा समिति वित्त के नियन्त्रण के कार्य को पूर्ण अवैयक्तिक रूप से सम्पन्न करती है। यह देखती है कि व्यवस्था कहाँ भंग हुई है, या नियन्त्रण उपायों को सुझाना, जिससे भविष्य में अपव्यय और हानियों को रोका जा सके। लोक लेखा समिति अपने कार्य को व्यक्ति विशेष पर टिप्पणी किए बिना पूर्ण करती है, परन्तु समिति अपनी संस्तुति के अनुरूप मंत्रालय और विभागों से कार्यवाही की अपेक्षा रखती है।

26.4.2 लोक लेखा समिति के नियन्त्रण का स्वरूप

लोक लेखा समिति द्वारा कार्यपालिका पर वित्तीय क्षेत्र में किए जाने वाले नियन्त्रण का स्वरूप निम्नवत हैं-

1. लोक लेखा समिति द्वारा कार्यपालिका के ऊपर नियन्त्रण, विशेषज्ञ नियन्त्रण के समान होता है। यह समिति विभिन्न विषयों पर विशेषज्ञों की राय लेती है। इसके सदस्यों को संसदीय वित्तीय प्रक्रिया का अच्छा ज्ञान होता है। अतः सम्मिलित आधार पर यह संस्तुति करतें है और आवश्यक होने पर उपसमिति की नियुक्ति भी करतें है।
2. लोक लेखा समिति का मुख्य उद्देश्य बजट के विनियोजन पर नियंत्रण करना है। यह धन के खर्च में की गई अनियमितताओं को उदघाटित करती है और खर्च करने वाले को अपने कर्त्तव्य के प्रति सजग करती है।
3. वित्त विभाग एवं नियन्त्रक महालेखा परीक्षक के मध्य या अन्य विभागों एवं नियन्त्रक महालेखा परीक्षक के मध्य विवाद होने पर समिति न्यायाधीश की भूमिका निभाती है। समिति द्वारा लिए गए निर्णय भविष्य में सरकारी लेन-देन के सम्बन्ध में कानून की शक्ति प्राप्त कर लेते हैं।
4. यद्यपि समिति का गठन दलीय आधार पर होता है। जिसमे दलों के अनुभवी एवं वरिष्ठ सदस्यों के रूप में किया जाता है, जो बाद मे गैर दलीय स्वरूप धारण कर लेते है और सर्व-सम्मति भाव से कार्य करती है।
5. समिति वित्तीय नियंत्रण के माध्यम से प्रशासनिक मंत्रालयों की प्रक्रियाओं व कार्य विधियों पर नियन्त्रण रखती है। जो बेईमान अधिकारियों तथा कर्मचारियों के स्थानान्तरण, प्रतिनियुक्ति तथा समय पूर्व सेवानिवृत्ति

के विषयों को प्रभावित करता है। समिति का कार्य यद्यपि बाद में शुरू होता है, परन्तु इसकी छानबीन की प्रभावशीलता का डर अधिकारियों में बना रहता है।

लोक लेखा समिति की कार्यवाही का पूर्णरूपेण अभिलेख रखा जाता है। लेखों और लेखा प्रतिवेदनों के परीक्षण और समिति द्वारा प्राप्त सूचनाओं के आधार पर समिति का सचिवालय प्रतिवेदन का प्रारूप बनाता है, जिसकी एक प्रति समिति के अध्यक्ष को अनुमोदन हेतु एवं एक नियन्त्रक महालेखा परीक्षक के पास भेजी जाती है। अध्यक्ष की सहमति उपरान्त् नियन्त्रक महालेखा परीक्षक के साथ समिति की बैठक की जाती है, ताकि तथ्यों और अंकों में आवश्यक संशोधनों किये जा सके। यद्यपि समिति दलीय भावना से परे कार्य करता है, परन्तु सर्व-सम्मति न होने पर बहुमत से निर्णय लिया जाता है। जब मतों की संख्या बराबर हो जाती है तब निर्णय समिति का अध्यक्ष निर्णायक मत देने का अधिकार रखता है। लोक लेखा समिति के प्रतिवेदन को उसके अध्यक्ष द्वारा लोक सभा में एवं अधिकृत सदस्य द्वारा राज्य सभा में प्रस्तुत किया जाता है। समिति के प्रतिवेदन को दोनो सदन बिना वाद-विवाद के स्वीकार कर लेते है। किसी मतभेद की स्थिति में सरकार समिति को कारणों सहित सूचित करती है।

26.4.3 लोक लेखा समिति का मूल्यांकन

लोक लेखा समिति की सिफारिशों को मानना सरकार के लिए अनिवार्य नहीं है, किन्तु सरकार समिति की अधिकांश सिफारिशों को लागू करने का प्रयास करती है। इस सन्दर्भ में आन्तरिक कार्य नियम 27 में कहा गया है कि "लोक सभा सचिवालय की लोक लेखा समिति शाखा एक पूर्ण रखा जाएगा जिसमें लोक लेखा समिति की सिफारिशों को लागू करने के लिए विभिन्न मन्त्रालयों द्वारा उठाए गए अथवा सम्भावित कदमों का ब्यौरा हो........तथा समिति की अगली बैठक के कम से कम सात दिन पूर्व सभी सदस्यों को वितरित करने की व्यवस्था करें।" समिति की कमियाँ या दुर्बलता निम्न रूप में प्रतिबिम्बित होती है-

1. समिति बाद में, किसी भी व्यय को अस्वीकार नहीं कर सकती है, क्योंकि नीति के व्यापक प्रश्नों से उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता है।
2. समिति के विचार विमर्श का क्षेत्र नियन्त्रक महालेखा परीक्षक का प्रतिवेदन है। अतः इसकी पूर्ण निर्भरता उसके प्रतिवेदन पर हो जाती है।
3. समिति की कार्यकुशलता में कमी का महत्वपूर्ण कारण वित्तीय लेन-देन के उपरान्त उसके सम्बन्ध में प्रतिवेदन देना है। कई बार उसके प्रतिवेदनों पर संसद में विस्तृत विचार नहीं किया जाता है और इसकी सिफारिशों को गंभीरता से न लेकर इन्हें केवल औपचारिकता मात्र मान लिया जाता है।

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि लोक-लेखा समिति का कार्य तब शुरू होता है, जब सरकार बजट सम्बन्धी धनराशि को वित्तीय वर्ष में पूरी तरह खर्च कर लेती है। अतः धन के खर्च होने के पश्चात लोक लेखा समिति द्वारा नियन्त्रण की उपयोगिता के प्रति सन्देह प्रकट किया जाता है। इसी कारण आलोचक कहते है कि यह व्यय सम्मत त्रुटियों को रोकने की बजाय, की गयी त्रुटियों पर पुर्नविचार करके समय को नष्ट करना है। प्रो0 हीरेन मुकर्जी के शब्दों में, "समिति के प्रतिवेदनों का समाचार-पत्रों द्वारा व्यापक प्रचार किया जाता है। अतः यह स्वाभाविक है कि सरकार समिति के सुझावों टिप्पणियों की उपेक्षा नही कर सकती इसका यह प्रभाव होता है कि प्रशासन कोई गलत कार्य करने से घबराता है।" तथापि लोक लेखा समिति की प्रभावशीलता बढ़ाने हेतु निम्नांकित सुझाव दिए जा सकते हैं

1. संसद तथा लोक लेखा समिति को उन मामलों की तरफ ध्यान लाना चाहिए, जहाँ धन का दुरूपयोग तथा दुर्विनियोजन किया गया हो।

2. आगामी वर्षों में गलतियों की पुनरावृत्ति से बचने के लिए, वित्तीय लेन-देन की परीक्षा साथ-साथ कर लेनी चाहिए एवं आवश्यक निर्देश दिये जाने चाहिए।
3. समिति में सदस्यों की संख्या बढ़ानी चाहिए एवं वित्तीय क्षेत्र के अनुभव को वरीयता देनी चाहिए। साथ ही संसद को उसके प्रतिवेदनों पर गहन विचार-विमर्श करना चाहिए।

इस प्रकार हम कह सकते है कि लोक लेखा समिति ने संसदीय लोकतन्त्र बनाए रखने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। इसकी महत्वपूर्ण भूमिका के सम्बन्ध में समिति की स्वर्ण जयन्ती पर तत्कालीन राष्ट्रपति ने ये वक्तव्य व्यक्त किया कि, "लोक लेखा समिति हमारे संसदीय जीवन के जीवंतकाल में अस्तित्व में आई सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार के आधार पर हमारी संसद और राज्य विधान सभाएँ कार्यपालिका शक्ति और प्रक्रिया की संरक्षिका बन गयी है। लोक लेखा समिति को नागरिक सेवकों को बुलाने की शक्ति है, ताकि इस बात का आश्वासन प्राप्त हो सके कि सार्वजनिक धन का उचित प्रयोग हो रहा है। इस प्रक्रिया में पूछताछ के दौरान रहस्य के प्रकट होने का भय ही गलत कार्यो के सम्बन्ध में एक आश्वस्त निरोधक के रूप में कार्य करता है। इस कार्य के लिए समिति को एक अत्यन्त महत्वपूर्ण सांविधानिक अभिकर्त्ता-नियन्त्रक और महालेखा परीक्षक की सहायता एवं परामर्श मिलता रहता है। अतः निःसन्देह इस पृष्ठभूमि में हमारी संसद की लोक लेखा समिति का ऐसा इतिहास है। जिसके बारे में यह गौरवान्वित अनुभव कर सकती है।"

26.5 अनुमान समिति

संसद को यह शक्ति प्राप्त है कि वह किसी माँग को स्वीकार कर ले या अस्वीकार कर दे या फिर उसमें निश्चित रकम की कटौती कर दें। उसे संचित निधि पर भारित खर्चो के अनुमान का भी अधिकार है। यद्यपि समिति अनुमानों पर दीर्घकालीन विचार-विमर्श करती है। परन्तु उसे एक व्यापक वित्तीय नियन्त्रण के लिए यह देखना भी आवश्यक है कि संसद में प्रस्तुत किए गये कार्यक्रमों व परियोजनाओं के लिए निर्धारित अनुदानों की मितव्ययता की दृष्टि से ठीक है अथवा नहीं। संसद के पास अनुमानों के तकनीकी पक्षों के रूप में छानबीन करने के लिए ना तो समय और ना ही शक्ति होती है। अतः इसके लिए संसद की एक ऐसी समिति का गठन किया जाता है, जो संसद के समक्ष प्रस्तुत अनुदान माँगों की विषयवार समीक्षा करती है तथा व्यय करने से पहले ही खर्च में मितव्ययिता लाने के सुझाव देती है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए विधायिका ने एक अन्य समिति का निमार्ण किया है। जिसे प्राक्कलन या अनुमान समिति कहते है।

अनुमान समिति सरकार की नीतियों से सम्बन्धित विषयों से कोई सरोकार नहीं रखती है। इसका मुख्य उद्देश्य तो इस बात से संतुष्ट रहना होता है कि निर्धारित नीति के अर्न्तगत अधिकतम मितव्ययिता के साथ न्यूनतम व्यय कियाजाए। यह सरकार द्वारा स्वीकृत योजनाओं व परियोजनाओं को कार्यान्वित करते हुए व्यय में मितव्ययिता लाने के लिए रचनात्मक सुझाव देने वाली संस्था है।

संसद के कार्य संचालन के लिए अपनाए गए प्रक्रिया नियमों के अनुसार अनुमान समिति के कार्यों में अक्टूबर 1956 में संशोधन कर काफी व्यापक कर दिया गया है। नवीन प्रावधानों के अनुसार समिति को यह प्रतिवेदन देना होता है कि "सरकारी नीति संगतता के आधार पर तैयार किए गए अनुमानों में क्या मितव्यताएं, संगठनात्मक सुधार, कुशलता या प्रशासनिक सुधार लागू किए जा सकते है, प्रशासन में मितव्ययिता तथा कुशलता त्यागने के लिए क्या नीति विकल्प हो सकते हैं तथा यह जाँच करना कि किस हद तक नीति के अनुरूप तैयार किए गए अनुमानों के लिए मौद्रिक प्रावधान सही ढंग से किए गए है।" इस तरह अनुमान समिति के कार्यों को सार रूप में निम्नलिखित शीर्षो में व्यक्त करते हैं-

1. सरकारी नीति के अनुरूप तैयार किए गये अनुमानों में मितव्ययिता लाने के लिए प्रशासनिक व संगठनात्मक सलाह देना।
2. प्रशासन में कार्यकुशलता व मितव्ययता लाने के लिए वैकल्पिक नीतियों की सलाह देना।
3. अनुमानों में सन्निहित नीति के अनुरूप मौद्रिक प्रावधानों के औचित्य की परख करना।
4. संसद के सम्मुख बजट अनुमानों की प्रस्तुतीकरण हेतु बेहतर ढंग विकसित करने के लिए सलाह देना।
5. सरकारी अधिकारियों की सुनवाई कर सकती है और एक ऐसी प्रश्नावली बना सकती है। जिनके प्रश्नों का उत्तर सम्बन्धित विभाग प्रमुख को देना होता है।

मंत्रालयों के चुनाव के सन्दर्भ में 1958 में लोकसभा अध्यक्ष का वक्तव्य है, कि "प्रत्येक लोकसभा के जीवन काल में जहाँ तक सम्भव हो प्रत्येक मन्त्रालय के महत्वपूर्ण बजट अनुमानों की जाँच का एक दौर पूरा किया जाना चाहिए।" वह सालभर के लिए अनुमानों का चयन करके अपने कार्यों की योजना तैयार करती है। समिति अपने जाँच एवं अध्ययन हेतु प्रशासनिक स्रोत, प्रकाशित सामग्री, निजी संस्थाओं, अध्ययन दल, मौखिक जानकारी और सरकारी तथा गैर-सरकारी गवाही के द्वारा सामग्री एकत्रित करती है। इसके लिए वह उपसमितियों का गठन करती है। जाँच के सन्दर्भ में समिति सरकारी अधिकारियों को स्पष्टीकरण के लिए बुला सकती है। उन्हें प्रश्नावली भेजकर सूचना एकत्र कर सकती है। आवश्यक होने पर आँकड़े चार्ट और अभिलेख माँग सकती है। समस्त सूचनाओं का समिति के सचिवालय द्वारा विश्लेषण करके, सदस्यों के विचार-विमर्श के बाद प्रतिवेदन अध्यक्ष की स्वीकृति से सदस्यों में वितरण कर दिया जाता है एवं तथ्यात्मक पुष्टि हेतु सम्बन्धित विभाग या मन्त्रालय को गोपनीयता बनाये रखते हुए भेजा जाता है। उसके बाद मन्त्रालय की अनुदान मांगो पर बहस पूर्व प्रतिवेदन प्रस्तुत किया जाता है। प्रतिवेदन में प्रमुखतः तीन प्रकार की सिफारिशें होती हैं- संगठनात्मक तथा कार्यात्मक सुधार सम्बन्धी, मितव्ययिता सम्बन्धी, जो अर्थव्यवस्था के सुनिश्चित अनुमान व्यक्त करने वाले हो और मार्गदर्शन सम्बन्धी अन्य सुझाव।

प्रतिवेदन पर अनुमान समिति अपने सचिवालय की सहायता से सिफारिशों को लागू करने के लिए की गयी कार्यवाही की सूचना प्राप्त करती है, जिसे मन्त्रालय से प्राप्त जानकारी को क्रियान्वयन करते हैं। भारत में अनुमान समिति का कार्य बहुत व्यापक है। इसने सरकारी भूलचूक के अनेक कार्यों को प्रकाश में लाया गया। इस समिति ने वित्तीय एवं प्रशासकीय दोनों ही क्षेत्रों में सुधार के महत्वपूर्ण सुझाव दिये है। दूसरे प्रतिवेदन के माध्यम से केन्द्रीय सचिवालय एवं विभागो के पुर्नगठन के लिये सिफारिशें प्रस्तुत की गयी। दूसरी तरफ दामोदर घाटी योजना, हीराकुण्ड परियोजना, भाखड़ा-नागल योजना तथा काकरापारा योजना जैसी बहुउद्देश्यीय परियोजनाओं के कार्य-संचालन की प्रशासकीय कमियों को उजागर कर महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाहन किया। इसके प्रतिवेदन प्रकाशित होते हैं और जनमत में प्रचारित भी किये जा रहे है। इसकी अधिकांश सिफारिशों को सरकार द्वारा स्वीकृति प्राप्त होती है, जिसकी क्रियान्वयन प्रतिवेदन से पुष्टि होती है। फिर भी समिति की अन्तिम सफलता सरकार पर दीर्घकालीन चिन्तन तथा योजना के सम्बन्ध में पड़ने वाले प्रभाव पर निर्भर करता है। इसमें निम्नलिखित कमियां दृष्टिगोचर होती हैं-

1. समिति जिस मन्त्रालय या विभाग की एक बार समीक्षा कर लेती है, उसकी समीक्षा की दूसरी बारी आने में बहुत अधिक समय होता है।
2. समिति सामान्य व्यक्तियों का एक समूह है, उसके पास लोक लेखा समिति की तरह नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक जैसा कोई परामर्श विशेषज्ञ उपलब्ध नहीं रहता है।

3. समिति सरकारी नीति के मूल्यांकन एवं विभागीय पुर्नगठन पर अधिक मात्रा में अपनी शक्ति खर्च कर रही है, जबकि अपने मूल कार्य अनुमानों की जाँच करने का कार्य गौण होता जा रहा है।
4. समिति स्वंय को लोक सभा के सापेक्ष भूमिका में ले जा रही है।
5. समिति संगठनात्मक सुधार तथा कार्यो के पुर्नवितरण सम्बंधित सुझाव देतीहै, जो प्रचार महत्त्वपूर्ण होते है। अतः सरकार इस तरह की सिफारिशे अस्वीकृत कर देती है।

अनुमान समिति वित्तीय नियंत्रण की दिशा में उपयोगी कार्य कर रही है, जो भारत में प्रशासन की योग्यता तथा उसके स्तर को उन्नत करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही है। इस पर दोषारोपण करते हुए कहा जाता है, कि यह बहुत बार नीति सम्बन्धी प्रश्नों पर विचार करके उन कार्यों को करने लगती है, जो वास्तव में उसके नहीं हैं, लेकिन इस बात से पूर्णतः सहमत नही हुआ जा सकता है। यह समिति सदन का कार्य नहीं करती बल्कि सदन के अपने कार्य को अच्छी तरह करने में सहायता करती है। इसके कार्य सुझावपरक है, जिनका अनुपालन करना सदन पर निर्भर करता है।

अभ्यास प्रश्न-

1. निष्पादन बजट को लागू करने की सिफारिश किस आयोग द्वारा की गयी थी?
2. शून्य आधार बजट में किसका आलोचनात्मक मूल्यांकन किया जाता है?
3. बजट के अन्तर्गत क्या आता है?
4. निष्पादन बजट के अन्तर्गत किसे प्रधानता दी गयी है?
5. लोक लेखा समिति में सदस्यों की संख्या कितनी होती है?
6. लोक लेखा समिति का अध्यक्ष लोक सभा अध्यक्ष द्वारा किसे से बनाया जाता है?
7. लोक लेखा समिति का मुख्य कार्य क्या है?
8. शून्य आधार बजट का सर्वप्रथम प्रयोग किस देश में किया गया?
9. भारत में शून्य आधार बजट किस वर्ष अपनाया गया?
10. बजट को संसद में प्रस्तुत करने का कार्य कौन करता है?

26.6 सारांश

विभिन्न खण्डों के अन्तर्गत आपने बजटिंग से सम्बन्धित अनेक आयामों का अध्ययन किया। सामान्य रूप से बजटिंग एक ऐसी प्रक्रिया है जो लोकसत्ताओं की आय तथा व्यय के मार्ग को निर्धारित करती है तथा उस पर आवश्यक नियंत्रण लगाती है। बजट के अन्तर्गत सरकार द्वारा व्यय किये जाने वाली मदों के साथ व्यय के लिए आवश्यक धनराशि जुटाने के लिए आय की मदों को भी स्पष्ट किया जाता है। देश की अर्थव्यवस्था को नियंत्रित करने वाला सबसे महत्वपूर्ण उपकरण यदि कोई है तो उसे बजट ही कहा जायेगा। राजकोषीय नीति के निर्धारित उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिये एक अच्छे बजट की अत्यन्त आवश्यकता है। बजट का निर्माण तथा बजट का क्रियान्वयन दोनों के मध्य उचित समन्वय की अधिक आवश्यकता पायी जाती है।

वर्तमान में वैश्वीकरण के प्रभाव तथा सरकारों के अपव्यय को रोकने के लिए निष्पादन बजटिंग तथा शून्य आधारित बजटिंग को अधिक महत्व दिया गया है। यद्यपि दोनों बजटिंग किसी देश की अर्थव्यवस्था के लिए अत्यन्त आवश्यक है फिर भी इस बजटिंग के मार्ग में अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ पैदा की गयी हैं।

26.7 शब्दावली

निष्पादन- कार्य संचालन के बाद उद्देश्य प्राप्तियाँ।

कसौटी- योजनाओं/मदों की जाँच के लिए बनायी गयी नीतियाँ एवं उपकरण।

लेखा-परीक्षण- वित्तीय अभिलेखों की जाँच-पड़ताल

स्वमूल्यांकन- स्वयं द्वारा नियंत्रित एवं संचालित योजनाओं एवं कार्यक्रमों का स्वयं द्वारा समीक्षा करना।

मितव्ययता- उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए न्यूनतम आवश्यक व्यय की प्रवृत्ति।

लोक लेखा समिति- नियंत्रक महालेखा परीक्षक के प्रतिवेदन पर संसद जिस समिति द्वारा गहन परीक्षण करती है उसे लोक लेखा समिति कहते हैं।

अनुमान समिति- यह संसद द्वारा अनुमोदित विभिन्न मन्त्रालयों/विभागों के अनुमानों का तथा उन अनुमानों की आधारभूत नीति से संबंधित कार्यक्रमों तथा योजना के निष्पादन में आवश्यक रियायत को ध्यान में रखते हुए विस्तृत परिक्षण करती है, और अपना सुझाव प्रतिवेदन के रूप में संसद को सौंपती है।

कार्यपालिका- प्रशासन का वह तंत्र, वह अभिकरण जो संबंधित नीतियों के निर्माण करवाने और अनुमोदन होने के बाद उनका निष्पादित करता है।

भारत का संचिव कोष- सरकार की सम्पूर्ण राजस्व आय, ऋण प्राप्ति तथा उसके द्वारा दिये गए ऋण की अदाएगी से प्राप्त आय को संचित निधि कहते हैं। सरकार के समस्त व्यय इसी कोष से संसद की अनुमति से किया जाता है।

आकस्मिकता कोष- भारतीय संविधान के प्रावधानों के अन्तर्गत एक ऐसी कोष का गठन सरकार करती है। जिसका उपयोग आकस्मिक घटनाओं का सामना करने के लिए किया जाता है और इस कोष से राष्ट्रपति की अनुमति से अग्रिम निकले जा सकते हैं।

26.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. हूबर आयोग, **2.** पिछले कार्यक्रम/योजनाओं का, **3.** आय-व्यय, **4.** ईष्टतम, **5.** 22, **6.** विरोधी दल, **7.** नियन्त्रक महालेखा परीक्षक, **8.** अमेरिका, 9. 1985-86, **10.** वित्तमंत्री

26.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. भाटिया, एच0 एल0 (2006), लोकवित्त, विकास पब्लिषिंग हाउस प्रा0 लि0, जंगपुरा, नई दिल्ली।
2. पंत, जे0 सी0 (2005), राजस्व, लक्ष्मीनारायन अग्रवाल, पुस्तक प्रकाशक एवं विक्रेता, अनुपम प्लाजा, संजय प्लेस, आगरा।
3. सावले, द्वारका प्रसाद (2006), लोक प्रशासन, एटलांटिक पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटस, नई दिल्ली।
4. फड़िया, बी0 एल0 (2010), लोक प्रशासन, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा उ0 प्र0।
5. अवस्थी, ए0 एवं ए0 पी0 अवस्थी (2011) भारतीय प्रशासन, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा उ0 प्र0।

26.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. सावले, द्वारका प्रसाद (2006), लोक प्रशासन, एटलांटिक पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटस, नई दिल्ली।
2. फड़िया, बी0 एल0 (2010), लोक प्रशासन, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा उ0 प्र0।
3. अवस्थी, ए0 एवं ए0 पी0 अवस्थी (2011) भारतीय प्रशासन, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा उ0 प्र0।
4. भाटिया, एच0एल0 (2006), लोकवित्त, विकास पब्लिषिंग हाउस प्रा0 लि0, जंगपुरा, नई दिल्ली।

26.11 निबंधात्मक प्रश्न

1. शून्य आधार बजटिंग की विषेषताओं का वर्णन करते हुए इसकी मुख्य कठिनाइयों को समझाइये?
2. बजट से आप क्या समझतें है? भारतीय संसद में बजट पास करने का क्या तरिका है? निष्पादन बजट तथा शून्य आधारित बजट पर विस्तार से चर्चा कीजिए।
3. वित्त पर नियत्रंण में वित्तीय समितियों की भूमिका की विवेचना कीजिए।

इकाई- 27 प्रशासनिक विधि- डायसी, प्रदत विधि निर्माण

इकाई की संरचना

27.0 प्रस्तावना
27.1 उद्देश्य
27.2 प्रशासनिक विधि का उद्-भव और विकास
27.2.1 इंग्लैण्ड में प्रशासनिक विधि का उद्-भव और विकास
27.2.2 संयुक्त राज्य अमेरिका में प्रशासनिक विधि का उद्भव और विकास
27.2.3 भारत में प्रशासनिक विधि का उद्-भव और विकास
27.3 प्रशासनिक विधि की परिभाषा
27.4 प्रशासनिक विधि एवं संवैधानिक विधि में परस्पर सम्बन्ध और अंतर
27.5 डायसी: लॉं ऑफ दी कांस्टीट्यूशन
27.6 भारत में प्रशासनिक विधि के प्रमुख स्रोत
27.7 प्रदत्त विधि निर्माण
27.7.1 प्रदत्त विधि का अर्थ, परिभाषा, उद्-भव एवं विकास
27.7.2 प्रदत्त विधि की सीमा एवं आवश्यकता
27.7.3 प्रदत्त विधि की संवैधानिकता
27.8 प्रदत्त विधि का नियंत्रण
27.8.1 संसदीय नियंत्रण
27.8.2 न्यायिक नियंत्रण
27.8.3 प्रक्रियात्मक नियंत्रण
27.9 सारांश
27.10 शब्दावली
27.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
27.12 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
27.13 सहायक/उपयोगी अध्ययन सामग्री
27.14 निबंधात्मक प्रश्न

27.0 प्रस्तावना

प्रशासानिक विधि लोक विधि की एक शाखा है। यह राज्य के बढ़ते हुए आर्थिक-सामाजिक कृत्यों तथा उससे उत्पन्न उसकी शक्तियों का उप-उत्पादन है। कल्याणकारी राज्य के उदय होने से बीसवीं शताब्दी में सरकारी कार्यों के क्षेत्र में आधारभूत परिवर्तन हुए हैं, क्योंकि राज्य ने उन समस्त कार्यों का दायित्व अपने ऊपर ले लिया है जो परम्परा से उसके कार्य-क्षेत्र में नहीं आते। राज्य को ही व्यक्ति, समुदाय या समाज का उत्तम हितचिन्तक माना जाने लगा है। सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए शासन से अपेक्षा की जाती है। प्रशासनिक विधि, सार्वजनिक विधि की अत्यंत महत्वपूर्ण शाखा के रूप में विकसीत हुई जिसमें प्रशासनिक अधिकारियों की शक्तियों के प्रत्येक पहलू पर प्रभावशाली

नियंत्रण के यन्त्र के विषय में अध्ययन किया जाता है। प्रशासनिक विधि का कार्य सरकारी अधिकारियों से विधिसंगत नियमों के अनुसार कार्य करवाना है तथा उनके द्वारा अपनी शक्तियों का दुरुपयोग कम से कम हो जिससे जनता के अधिकारों में अवांछित हस्तक्षेप न किया जाए। सत्य बात यह है कि आधुनिक समाज में प्रशासन विशालकाय शक्तियों का अधिकारी हो गया है जो ऐसे कार्यों का संपादन करता है जो कि बहुमुखी हैं। राबसन के शब्दों में ''यह पूर्ण सत्य है कि प्रशासन बहुत गुण संपन्न हो गया है।' यह कहना ठीक है कि प्रशासनिक विधि शक्ति एवं न्याय के बीच सामंजस्य लाने के लिए एक सशक्त अस्त्र है, क्योंकि हर एक समाज में न्याय एवं शक्ति के बीच संघर्ष रहता है।

27.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- प्रशासनिक विधि के अर्थ एवं प्रकृति को स्पष्ट कर सकेंगे।
- प्रशासनिक विधि के उद्-भव एवं विकास का वर्णन कर सकेंगे।
- प्रशासनिक विधि और संवैधानिक विधि के मध्य सम्बन्ध की व्याख्या कर सकेंगे।
- प्रशासनिक विधि और संवैधानिक विधि के मध्य अंतर स्पष्ट कर सकेंगे।
- प्रो0 डायसी द्वारा परिभाषित प्रशासनिक विधि की परिभाषा को स्पष्ट कर सकेंगे।
- प्रदत्त विधि का अर्थ एवं उसकी विशेषताओं को स्पष्ट कर सकेंगे।
- प्रदत्त विधि की आवश्यकता और संवैधानिकता को स्पष्ट कर सकेंगे।
- प्रदत्त विधि के नियंत्रण की व्याख्या कर सकेंगे।

27.2 प्रशासनिक विधि का उद्-भव एवं विकास

प्रशासनिक विधि के ऐतिहासिक विकास और वृद्धि के लिए हम इंलैण्ड, सुयुक्त राज्य अमेरिका और भारत में हुए विकास का अध्ययन करेंगे।

27.2.1 इंग्लैंण्ड में प्रशासनिक विधि का उद्-भव एवं विकास

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक प्रशासनिक विधि को अलग शाखा के रूप में विकसित नहीं किया गया था। सन् 1855 में डायसी ने अपने विख्यात विधिसम्मत शासन के सिद्धान्त द्वारा विचार प्रस्तुत किए की इंलैण्ड में प्रशासनिक विधि नहीं है। राबसन की पुस्तक ''एडमिनिस्ट्रेटिव लॉ'' पर अपना मत रखते हुए कहा कि ''इंग्लैण्ड में हम प्रशासनिक विधि के बारे में कुछ नहीं जानते और इसके बारे में कुछ नहीं जानना चाहते''। परन्तु उस समय उन्होंने प्रशासनिक विवेक एवं प्रशासनिक न्याय की अवहेलना कर दी। भारी संख्या में पारित कानून द्वारा प्रशासनिक प्राधिकारियों और प्रशासनिक अधिकरणों को न्यायिक शक्तियाँ दी गयी थी साधारण न्यायालयों के समक्ष प्रश्न नहीं उठाया जा सकता या चुनौती नहीं दी जा सकती थी। परन्तु डायसी ने इसकी पूर्ण रूप से उपेक्षा की। हो सकता है कि वह समकालीन मैटलेण्ड की स्थिति से अनजान थे।

सन् 1914 में डायसी के विचारों में परिवर्तन आया और अपनी प्रसिद्ध पुस्तक ''लॉ एंड दी कॉन्स्टीट्यूशन' के अंतिम संस्करण में जो कि 1915 में प्रकाशित हुई थी, यह स्वीकार किया कि अंतिम 30 वर्षों में ब्रिटिश अधिकारियों के कार्यों तथा प्राधिकार में वृद्धि होने से इंग्लैंड की (ड्राईट-droit) के कुछ लक्षण विद्यामान है।

हाउस ऑफ लार्ड्स के दो निर्णयों में बोर्ड ऑफ एजूकेशन बनाम राईस (1911 A.C 120: (1914-15)ALL ER. Rep 1 (HL) के बाद अपनी कृति "The Development of Administrative Law in England" में उन्होंने कहा कि "विधान ने प्रशासन को पर्याप्त मात्रा में न्यायिक कल्प प्राधिकार दे दिया है जो इंग्लैण्ड में प्रशासनिक विधि के प्रवेश की यथेष्ट कार्यवाही है।

फ्रीडमैन ने अपना मत रखते हुए कहा कि- डायसी प्रशासनिक विधि के विस्तार, विषय और परिधि को समझने में बहुत हद तक असफल रहे। और यही कारण है कि विधिसम्मत शासन के अध्ययन में उन्होंने प्रशासनिक विधि और प्रशासनिक न्यायालयों विशेष पद्धति को महत्व नहीं दिया अन्य शब्दों में कहा जाए तो अस्वीकार कर दिया।

ग्रिफिथ और स्ट्रीट (Principles of Administrative Law,1963) के मत के अनुसार डायसी के ऐसे विचारों से प्रशासनिक विधि के अध्ययन को काफी क्षति हुई है।

1932 में डोनोघमोर समिति ने अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की और अधीनस्थ विधान के अच्छे प्रकाशन और नियंत्रण के लिए कुछ सिफारिशें प्रस्तुत की जो संसद द्वारा 'Statutory Instrument Act 1946' के स्वीकार कर ली गयी।

1947 में ब्रिटेन की संसद ने 'Crown Proceedings Act' पारित किया जिससे क्राउन के अपकृत्य और संविदात्मक उत्तरदायित्व के लिए सरकर को हानि देने के लिए उत्तरदायी बना दिया। इस प्रकार "राजा की कोई गलती नहीं" के प्रसिद्द सिद्धान्त के परित्याग ने प्रशासनिक विधि के क्षेत्र को और विस्तृत कर दिया।

27.2.2 संयुक्त राज्य अमेरिका में प्रशासनिक विधि का उद्भव एवं विकास

19वीं शताब्दी में अमेरिका में प्रशासनिक विधि का अस्तित्व विद्यमान था। इसके विस्तार की तीव्रता को हम 1877 में अंतर्राज्यीय वाणिज्य अधिनियम (Inter State Commerce Act) पारित होने के बाद जान सकते हैं। सन् 1893 में फ्रेंक गुडनाऊके द्वारा एक पुस्तक प्रकाशित की गयी। सन् 1911 में अर्नस्ट फ्रूं की 'केस बुक ऑफ एडमिनिस्ट्रेटिव लॉ'(Case Book Of Administrative Law) भी प्रकाशित हुई। धीरे-धीरे अधिवक्ताओं और न्यायालयों द्वारा भी प्रशासनिक विधि के अध्ययन में रूचि देखी गयी।

अमेरिकी बार एसोसियेशन के अध्यक्ष ने अपने उद्-बोधन में कहा कि "विधि का एक और विशेष क्षेत्र है, जिसका विकास प्रत्यक्षतः अपरिहार्य हो गया है। हम प्रशासनिक विधि का सृजन कर रहे हैं जिसकी मशीनरी, उपचार और आवश्यक सुरक्षाऐं न्यायालयों के द्वारा परिवर्तित विनिर्दिष्ट संविधियों के पुराने तरीकों से बिल्कुल अलग है। यदि हमें सीमित शक्तियों की सरकर को बनाये रखना है तो विनियम की एजेन्सियों (अभिकरणों) को नियंत्रण में रखना होगा।"

इतने महत्वपूर्ण कथन के बाद भी बार के सदस्यों ने विद्वान काउन्सिल(counsel) के परामर्श को महत्व नहीं दिया। आने वाले समय में प्रशासनिक निकायों की शक्तियों में वृद्धि होती गयी और उन्हें सरकर की " चौथी शाखा" के रूप में जाना जाने लगा।

न्यू डील (नई आर्थिक नीति) के उद्-भव के पश्चात प्रभावशाली कदम उठाने की आवश्यकता समझी गयी। इसके लिए सन् 1933 में एक समिति गठन की बात की। सन् 1938 की Roscoe Pound समिति और सन् 1939 Attorney General की समिति के रिपोर्ट के बाद सन् 1946 में प्रशासनिक प्रक्रिया अधिनियम (Administrative Procedure Act) पारित किया गया जिसके प्रशासनिक कार्यों पर नियंत्रण के लिए उपबन्ध उपलब्ध हैं।

27.2.3 भारत में प्रशासनिक विधि का उद्-भव एवं विकास

प्रशासनिक विधि लोक प्रशासन से सम्बन्धित है। यह उतनी ही पुरानी है जितना की प्रशासन स्वयं है। मौर्य और गुप्त काल में सुव्यवस्थित प्रशासन के सन्दर्भ में भी प्रशासनिक विधि को अनुरेखित किया जा सकता है जो ईस्ट इंडिया कंपनी के शासन में कायम रही, वही आधुनिक शासन प्रणाली की अग्रणी है। प्रशासनिक विधि को बीसवीं शताब्दी के "सर्वोत्कृष विधिक विकास" के रूप में चित्रित किया गया है। ऐसा नहीं है की बीसवीं शताब्दी से पूर्व किसी देश में प्रशासनिक विधि थी ही नहीं। लोक प्रशासन से सम्बंधित होने के कारण प्रशासनिक विधि हर एक देश में जिसमें किसी न किसी रूप में सरकार है, विद्यमान मानी जा सकती है। भारत के सन्दर्भ में इस विकास का स्पष्ट संकेत 1950 से संविधान के परिवर्तित होने के बाद प्रकाश में आया। परन्तु ईस्ट इंडिया कम्पनी के काल में इसे आधुनिक बनाया गया और बीसवीं शताब्दी में संवैधानिक विधि से भिन्न लोक विधि की एक अलग शाखा के रूप में विकसित किया गया है।

प्रशासनिक विधि की प्रगति एवं विकास को 20वीं शताब्दी में मुख्यतः देखा जा सकता है इसी सदी में प्रशासनिक विधि का महत्व और भी बढ़ गया, क्योंकि समय के साथ राज्य के कार्यों में अनेक बदलाव आया जिसके अंतर्गत राज्य आज मात्र पुलिस राज्य न हो कर ऐसा लोकतान्त्रिक राज्य के रूप में सामने आया है जो समाज के कल्याण के लिए अनेक कार्य करता है, पुलिस राज्य (सम्प्रभु) से अब यह कल्याणकारी लोकतान्त्रिक राज्य के रूप में परिवर्तित हो गया। ओद्यौगिक विकास उत्पादन पर नियंत्रण, आवश्यक वस्तुओं का निर्माण एवं उसका वितरण, समाज में समानता एवं सुरक्षा को बनाए रखना, सामान कार्य के लिए सामान वेतन, समाज के लोगों के स्वास्थ्य एवं नैतिक आचार की देखरेख आदि प्रमुख राज्य के कर्तव्यों के अंतर्गत निहित हैं। इन सभी कारणों से प्रशासनिक विधि का क्षेत्र विस्तृत हो गया है।

इक्कीसवीं शताब्दी में आकर इसका विकास और तीव्र गति से हो गया। प्रशासनिक विधि का कार्य सरकार की शक्तियों को सक्षम तथा प्रभावी रूप से नियंत्रित करना है। यह नियंत्रण भारत में संविधान, संसद और न्यायपालिका द्वारा स्थापित किया जाता है।

27.3 प्रशासनिक विधि की परिभाषा

आइवर जेनिग्जज द्वारा प्रशासनिक विधि के विषय में सबसे अधिक प्रचलित और प्रमुख परिभाषा दी गयी है।

आइवर जेनिग्जज के अनुसार, "प्रशासनिक विधि प्रशासन से संबंधित विधि है। इसमें प्रशासनिक प्राधिकारीयों के गठन, शक्तियों और कर्तव्यों का अवधारण किया जाता है।"

यह व्यापक रूप में स्वीकृत परिभाषा है। यह प्रशासनिक विधि को संवैधानिक विधि से पृथक नहीं करती, यह प्रतिपादन प्रशासनिक और संवैधानिक विधि में अंतर नहीं दिखाता और न प्रशासनिक विधि को स्वतंत्रत सत्ता मानता है। इसमें प्रशासनिक शक्तियों को तो महत्व दिया गया है किन्तु प्रशासनिक प्रक्रिया का उल्लेख नहीं है । प्रशासनिक विधि का एक महत्वपूर्ण पहलू है नियंत्रण तंत्रकिन्तु इसको इस परिभाषा में कोई मान्यता नहीं दी गयी है।

के0 सी0 डेविस के अनुसार, "प्रशासनिक विधि वह विधि है जो प्रशासनिक अभिकरणों(Agencies) कि शक्तियों तथा प्रक्रियाओं से सम्बन्ध रखती है, जिसमे विशेषकर प्रशासनिक कार्य के न्यायिक पुनर्विलोकन निर्धारित करने कि विधि शामिल है।''

एक लिहाज से यह परिभाषा उचित है, क्योंकि यह प्रशासनिक अभिकरणों(Agencies) द्वारा अपनी शक्तियों के प्रयोग में लायी जाने वाली प्रक्रिया पर जोर देती है, परन्तु इस परिभाषा में इन अभिकरणों द्वारा बनाई गयी तात्विक विधियों का समावेश नहीं है।

प्रो0 वेड के अनुसार, "प्रशासनिक विधि प्रशासनिक अधिकारीयों के कार्य तथा नियंत्रण से सम्बन्ध रखती है तथा उनके संगठन के बजाये इसके कार्य पर अधिक जोर देती है"। इस परिभाषा में मुख्य कमी यह है कि यह अत्यधिक व्यापक है। यह प्रशासनिक विधि को संवैधानिक विधि से अलग करने में असफल है।

प्रो0 डायसी ने प्रशासनिक विधि की परिभाषा इस प्रकार दी है, ''यह किसी भी राज्य की विधि का वह अंग है जो राज्य के सभी प्राधिकारियों की विधिक प्रास्थिति तथा दायित्वों का; राज्य के अधिकारियों के प्रति सामान्य व्यक्तियों के अधिकारों तथा उत्तरदायित्वों का तथा उस प्रशासनिक प्रक्रिया का निरूपण करता है जिसके द्वारा उन अधिकारों तथा दायित्वों को लागू किया जाता है।''

यह परिभाषा पूर्ण नहीं है। इसमें प्रशासनिक विधि के पहलुओं का उल्लेख नहीं किया गया है। यह अत्यंत संक्षिप्त और संकुचित है। यह अनेकों प्रशासनिक प्राधिकारियों (जैसे लोक, निगम, इत्यादि) को छोड़ देती है जो कि राज्य अधिकारी नहीं है। प्रशासनिक प्राधिकारियों द्वारा अनुकरण कि जाने वाली प्रक्रिया को छोड़ देती है। इस परिभाषा में प्रशासनिक प्राधिकारियों कि शक्तियों और कार्यों को भी सम्मिलित नहीं किया गया है।

इस प्रकार प्रशासनिक विधि को उस विधि के रूप में समझा जा सकता है जो प्रशासनिक प्राधिकारियों की शक्तियों और कृत्यों की विवेचना करती है, उन शक्तियों और कृत्यों के प्रयोग को विनियमित करने वाले सिद्धान्तों को अधिकतिथ करती है, उनकी शक्तियों के नियंत्रण के ढंग और उनके द्वारा अपने अधिकारों के उल्लंघन के मामले में व्यक्तियों को उपलब्ध उपचारों के सम्बन्ध में प्रावधान करती है।

नागरिकों के हाथ में प्रशासनिक विधि एक शस्त्र है, जिससे वे सरकारी शक्ति से न्यायालयों के माध्यम से संघर्ष करते हैं। प्रशासनिक विधि का उद्देश्य देश में 'विधि का शासन' (Rule of law) स्थापित करना और उसे बनाए रखना है। एक तरफ से प्रशासनिक विधि प्रशासन में दक्षता तो दूसरी तरफ से व्यक्तियों को न्याय सुनिश्चित करती है। प्रशासनिक विधि मुख्य रूप से सरकार कि प्रशासनिक या कार्यपालिकीय शाखा से सम्बंधित है।

27.4 प्रशासनिक विधि एवं संवैधानिक विधि में परस्पर सम्बन्ध और अंतर

प्रशासनिक विधि और संवैधानिक विधि के सम्बन्ध में दो विचारधाराऐं प्रचलित हैं। एक विचारधारा दोनों में भेद नहीं मानती किन्तु दूसरी विचारधारा दोनों में भेद प्रतिपादित करती है। प्रशासनिक विधि तथा संवैधानिक विधि में बहुत अधिक सीमा तक समानताये हैं। इसे संवैधानिक विधि की एक शाखा कहा जाता है। ये दोनों ही लोक विधि(Public law) के भाग है। उपरी रूप से देखने मे इनमे कोई विशेष अंतर प्रकट नहीं होता। यह कहा जा सकता है कि प्रशासनिक विधि की वास्तविक स्थिति को समझने के लिए संवैधानिक विधि का ज्ञान जरूरी है। परन्तु यह कहना भी ठीक नहीं होगा की प्रशासनिक विधि अपने खुद के पैरों पर खड़ा होने की सामर्थ्य नहीं रखती। इसका संवैधानिक विधि से भेद किया जा सकता है। प्रो0 कीथ ने प्रशासनिक विधि और संवैधानिक विधि में कोई भेद न मानते हुए कहा है कि "प्रशासनिक विधि और संवैधानिक विधि में तार्किक ढंग से भेद नहीं किय जा सकता। यदि ऐसा कोई प्रयत्न किया जाता है तो वह सब कृत्रिम है।" इसी संदर्भ मे प्रो0 वेड का भी मत है कि "प्रशासनिक विधि संवैधानिक विधि का एक भाग है क्योंकि यह सरकारी शक्ति के प्रयोग से सम्बन्ध रखती है। संवैधानिक विधि का अन्य कोई क्षेत्र नहीं है जिसमे ऐसा सक्रिय शक्ति संघर्ष प्रकट हो।"

यद्यपि संवैधानिक विधि और प्रशासनिक विधि में कोई खास अंतर नहीं है। फिर भी कुछ विद्वान दोनों विषयों में अंतर मानते हैं। ग्रिफिथ और स्ट्रीट नामक विधिवेत्ताओं ने जेनिंग्स द्वारा दी गई प्रशासनिक विधि कि परिभाषा का खंडन किया है और इसे अपूर्ण बताया। इन विद्वानों का मानना है कि जेनिंग्स ने अपनी परिभाषा में इन दो विधियों में अंतर स्पष्ट नहीं किया है, क्योंकि संवैधानिक विधि प्रशासनिक प्राधिकारियों के गठन के विषय में बहुत कुछ स्पष्ट किया है। संक्षेप में, भारतीय संदर्भ में प्रशासनिक विधि और संवैधानिक विधि में निम्नलिखित अंतर है

प्रशासनिक विधि	**संवैधानिक विधि**
प्रशासनिक विधि मुख्यतः सरकर की कार्यपालिका (प्रशासनिक) शाखा से सम्बन्ध रखती है।	संवैधानिक विधि सरकर के तीनो अंगो (विधानमंडल, कार्यपालिका और न्यायपालिका) पर सामान बल देती है।
इसमें सरकर के कार्यों में अधिक बल दिया जाता है।	जबकि इसमें सरकार की संरचना का अध्यन किया जाता है।
प्रशासनिक विधि लोकहित पर बल देती है।	जबकि संवैधानिक विधि वैयक्तिक अधिकारों पर बल देती है।
प्रशासनिक विधि का स्रोत अधिनियम,विनियम,पूर्ण निर्णय, अध्यादेश तथा रूढियाँ है।	जबकि संवैधानिक विधि का स्रोत लिखित संविधान होता है।

संवैधानिक विधि और प्रशासनिक विधि में फिर भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। अनेको संवैधानिक विधि उपबन्धों का जैसे- अनुछेद 32,136, 226, 227, 229 व 300 इत्यादि का प्रशासनिक विधि के अध्ययन में विशेष महत्व है। प्रशासनिक विधि को समझने के लिए संवैधानिक विधि का ज्ञान आवश्यक है।

27.5 डायसी: लॉ ऑफ दी कॉन्स्टीट्यूशन

प्रो0 डायसी ने प्रशासनिक विधि की परिभाषा इस प्रकार दी है-

यह किसी भी राज्य की विधि का वह अंग है जो राज्य के सभी प्राधिकारियों की विधिक प्रास्थिति तथा दायित्वों का, राज्य के अधिकारियों के प्रति सामान्य व्यक्तियों के अधिकारों तथा उत्तरदायित्वों का तथा उस प्रशासनिक प्रक्रिया का निरूपण करता है, जिसके द्वारा उन अधिकारों तथा दायित्वों को लागू किया जाता है।

यह परिभाषा अत्यन्त संकुचित और एकांगी है, क्योंकि इसमें प्रशासनिक विधि के पहलुओं का उल्लेख नहीं किया गया है। इसमें लोक पदाधिकारियों के नियंत्रण पर ही ध्यान केंद्रित किया गया है। प्रशासनिक प्राधिकारियों की शक्तियां और प्रक्रिया तथा उनके नियंत्रण का भी उल्लेख नहीं आता जो प्रशासनिक विधि का महत्वपूर्ण भाग है। प्रो0 डायसी ने यह परिभाषा 'ड्राईट एडमिनिस्ट्रेटिव' को ध्यान में रख कर दिया है।

27.6 भारत में प्रशासनिक विधि के प्रमुख स्रोत

भारत में प्रशासनिक विधि के प्रमुख स्रोत निम्नलिखित हैं-

1. **संविधान-** संविधान, प्रशासनिक प्राधिकारियों का गठन करता है और उनको कार्य तथा शक्तियां प्रदान करता है, इसके साथ ही प्रशासनिक प्राधिकारियों के नियंत्रण के सम्बन्ध में भी उपबन्ध करता है। भारतीय संविधान के तहत अनेक प्रशासनिक अभिकरणों की संरचना का उल्लेख किया गया है।
2. **परिनियम-** संविधान के अधीन विधान निर्माण करने की शक्ति संसद तथा राज्य के विधान मंडलों को प्रदान की गयी है। प्रशासन की शक्तियाँ विधान द्वारा ही सौंपी जाती है। परिनियम मुख्यतः संसद तथा राज्य-विधान मण्डलों द्वारा पास किए जाते हैं, जो शक्ति अधिनियम द्वारा प्रशासन को दी जाती है उसका प्रयोग अधिनियम में निर्दिष्ट उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किया जाना चाहिए।
3. **अध्यादेश तथा प्रशासनिक निर्देश अधिसूचनाएं तथा परिपत्र(ordinances, administrative directions, notifications and circulars)-** अनुछेद- 123 तथा 213 के अधीन अति आवश्यक स्थिति में अध्यादेश जारी किए जाते हैं। इन अध्यादेशों के माध्यम से भी प्रशासनिक शक्तियों का उद्-भव तथा उसके सम्बन्ध में समुचित उपचारों की व्याख्या हो सकती है। इसके अतिरिक्त, आज के सामाजिक, राजनैतिक परिप्रेक्ष्य में प्रशासनिक प्राधिकारियों एवं विभागों को उच्च प्रशासनिक प्राधिकारियों द्वारा आये दिन निर्देश एवं अधिकारिक-पत्र जारी किए जाते हैं, जिसके द्वारा उनके कार्य-क्षेत्र को न केवल नियंत्रित किया जाता है बल्कि अनेक प्रकार की स्थितियों में उनको अतिरिक्त शक्तियां प्रदान की जाती हैं। इस प्रक्रिया के तहत भी प्रशासनिक विधि का उद्-गम एवं विकास हुआ है।
4. **न्यायिक निर्णय-** प्रशासनिक कृत्यों में नेसर्गिक न्याय(Natural Justice) के सिद्धांतों का विस्तार, लोकस (Locus Standi) के नियम को लचीला करना, जनहितकारी वाद की अवधारणा को जन्म देना उच्चतम न्यायालय के कुछ ऐसे महत्वपूर्ण योगदान हैं, जिनसे प्रशासनिक विधि की परिधि में उल्लेखनीय विकास हुआ।
5. **प्रदत्त विधान-** संवैधानिक दृष्टि से देखा जाए तो विधान बनाने का पूरा अधिकार विधान-मंडल को है। भारत में संयुक्त राज्य अमेरिका की तरह संविधान की सर्वोच्चता पर बल दिया गया है। परन्तु वर्तमान समय में कल्याणकारी राज्य राजनीति दर्शन का केन्द्र बिंदु बन गया है, जिसके परिणामस्वरूप विधान निर्माण करने का कार्य अब विधान-मण्डल पूरी तरह से नहीं कर पाते हैं और इस कार्य के लिए वह प्रशासन की मदद लेते हैं, जिसमें वह नियम, विनियम, आदेश आदि का निर्माण करते हैं। इसी को प्रशासनिक विधि में प्रदत्त विधान कहा जाता है और इसी के अंतर्गत वह विधि बनाने का कार्य करती है।

27.7 प्रदत्त विधि निर्माण(अधीनस्थ विधान) (Delegated Legislation (Subordinate Legislation)

उच्च अधिकारी द्वारा अधीनस्थ अधिकारी को विशिष्ट सत्ता एवं अधिकार प्रदान करना प्रत्यायोजन(Delegation) कहलाता है। यह शासन के मूल धारणा में से एक है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि कार्य के परिणाम के लिये वही व्यक्ति जिम्मेदार होता है, जो उस कार्य को पूरा करने के लिये अपने अधिकार दूसरे को सौंपता है। प्रत्यायोजन के परिणामस्वरूप अधीनस्थ अधिकारी को निर्णय लेने में सुविधा होती है। दूसरी तरफ अधिकारी का भार कुछ कम हो जाता है। अर्थात प्रत्यायोजन प्रशासनिक संगठन में विभिन्न स्तरों पर शक्तियों एवं दायित्वों के बेवजह ठहराव को रोकने की एक आन्तरिक प्रशासनिक प्रक्रिया है।

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से प्रदत्त विधान का विकास इंग्लैण्ड से प्रारम्भ हुआ जब सन् 1832 में वहाँ संसद द्वारा सुधार अधिनियम(Reform Act,1832) पारित किया गया। इस अधिनियम के अंतर्गत सर्वप्रथम सरकारी विभागों को

अपना कार्य सुचारू रूप से सम्पादित करने के लिए विधायी शक्ति प्रदत्त की गयी। यद्यपि मैटलेण्ड ने 19वीं शताब्दी में स्थानीय परिषदों, मण्डलों एवं अधिकारियों को संविधि द्वारा प्रदत्त प्रदत्त विधायी शक्ति का उल्लेख किया था, परन्तु विधिशास्त्रियों ने उस समय तक इस प्रकार प्रदत्त विधान को अधिक महत्व नहीं दिया।

27.7.1 प्रदत्त विधि का अर्थ, परिभाषा, उद्-भव एवं विकास

आधुनिक युग में कल्याणकारी राज्य की स्थापना के कारण विधायिका के कार्यों में बहुत अधिक वृद्धि हुई है। इसके पास इतना समय नहीं होता है कि वह सभी बातों पर विस्तृत बहस करे और सभी बातों का विस्तृत विवरण दे। इसलिए नियम और विनियम इत्यादि बनाने की शक्ति प्रशासनिक अधिकारियों को प्रदत्त करनी पड़ती है।

विधान मण्डलों द्वारा विधायी शक्तियों का यही प्रत्यायोजन जो कार्यकारिणी को किया जाता है, प्रदत्त विधान कहलाता है। इसी को अधीनस्थ विधान(Subordinate Legislation) और कभी-कभी इसे प्रशासनिक विधान अथवा कंकाल विधान(Skelton Legislation) के नामों से जाना जाता है।

प्रदत्त विधान की परिभाषा एक ऐसे विधान के रूप में दी जा सकती है, जो विधायिका से भिन्न किसी ऐसे प्राधिकारी द्वारा बनाया गया है, जिसे विधायिका ने ऐसी शक्ति अपनाने की शक्ति प्रदत्त की है। जैन और जैन के अनुसार, ''प्रदत्त विधान का प्रयोग दो अर्थो मै होता है- पहला, इसका अर्थ विधायिका द्वारा प्रदत्त शक्ति का अधीनस्थ अभिकरण द्वारा प्रयोग है और दूसरा, इसका अर्थ प्रदत्त शक्ति के प्रयोग से जनित नियम, विनियम य निर्देश है।''

अर्थात प्रदत्त विधान का तात्पर्य उस विधि से है जो विधायिका के अतिरिक्त, अन्य अधीनस्थ प्राधिकारी द्वारा निर्मित की जाती है

भारत में प्रदत्त विधान साधारणतः परिनियामित नियम एवं आदेश के नाम से जाना जाता है, किन्तु इसको विनियम, अधिसूचना, उपविधि, स्कीम, निर्देश आदि नामों से भी जाना जाता है। इंग्लैण्ड में लगभग यही आधार रहा।

प्रदत्त विधान का विकास, संसद द्वारा प्रशासनिक निकायों को कानून बनाने की शक्ति सौंपने का कार्य पहले से ही प्रचलित है। कानून बनाने का यह कोई नया तरीका नहीं था, 20वीं शताब्दी के आरम्भ से अनेक परिवर्तन हुए है। राज्य की संकल्पना 'पुलिस राज्य' से 'कल्याणकारी राज्य' में बदल चुकि है। कई नई समस्याऐं उत्पन्न हुई, तो उसके साथ ही एक नया सामाजिक जागरण आया। संसद का कार्यभार अत्यधिक बढ़ गया। नियम बनाने का चलन कोई नवीन बात नहीं थी, किन्तु जिस स्तर पर तथा जिस सीमा में आधुनिक युग में इसे अपनाया गया, वह निश्चय ही विधायी पद्धति को नया रूप प्रदान करता है।

प्रदत्त विधान का विकास वास्तव में सामाजिक-आर्थिक आवश्यकताओं के कारण हुआ, क्योंकि इनकी पूर्ति करने के लिए विधानमंडल व्यापक और विस्तृत विधान बनाने में असफल रहे।

वर्तमान युग की सामाजिक, आर्थिक और ओद्योगिक प्रगति के कारण संसद के लिए यह अति आवश्यक हो गया है कि वह प्रशासनिक कुशलता के लिए अपनी विधायनी शक्ति का प्रत्यायोजन कार्यपालिका को करें, इस प्रत्यायोजन अधिकार शक्ति के अधीन ही प्रशासनिक अधिकारियों द्वारा विभागीय नियमों एवं आदेशों की संरचना की जाती है, विधानमंडल द्वारा कार्यपालिका को विधायी शक्ति प्रतायायोजन किए जाने के प्रमुख कारण निम्न है-

1. संसद के पास समय का अभाव।
2. तकनीकी ज्ञान का अभाव।
3. आपातकालीन स्थिति।

4. विधि की प्रयोगिकता के परिक्षण हेतु, अनेक विषयों से संबंधित विधियों को अंतिम रूप से लागू करने से पहले प्रयोग के रूप में लागू किया जाता है और प्रयोग काल में उन विधियों के परिणाम तथा प्रभावों को ध्यान में रखते हुए उनमे परिवर्तन किया जाता है।
5. आर्थिक उद्यमों को नियंत्रित एवं विनियमित करने की आवश्यकता।

प्रो0 वेड और फिलिप्स ने अपनी संवैधानिक विधि की पुस्तक में लिखा है कि, "वर्तमान काल में प्रशासन के विस्तृत कार्यों तथा आर्थिक एवं सामाजिक क्षेत्रों में राज्य के कार्यों की वृद्धि के सन्दर्भ में संसद के लिए यह आवश्यक हो गया है कि वह परिनियामित उपकरणों को निर्मित करने का कार्य मंत्रियों को सौंप दे।"

27.7.2 प्रदत्त विधि की सीमा एवं आवश्यकता

किसी भी व्यवस्था को प्रभावी रूप से चलाने के लिये, जिससे कि वह अपने अभीष्ट लक्ष्यों की प्राप्ति कर सके, यह जरूरी है कि उसे प्राप्त शक्तियों को विभिन्न स्तरों पर कार्यरत विभिन्न कार्मिकों के मध्य विभाजित और हस्तान्तरित किया जाए। प्रत्यायोजन की आवश्यकता, उपयोगिता एवं महत्व के बारे में एल0 डी0 ह्वाइट ने लिखा है कि-

परिस्थितियों के विस्तार एवं मात्रा की मांग है कि कुछ मात्रा में सत्ता का प्रत्यायोजन हो तथा अधिकतर कार्य वहीं पर निपटा लिए जाए, जहाँ पर वह उत्पन्न होते हैं। प्रशासनिक उलझनों के चलते जो विलम्ब होता है, उससे बचने के लिए यह आवश्यक है कि प्रशासनिक निर्णय केवल मुख्यालयों में लिए जाने के बजाए क्षेत्रीय प्रस्थापनाओं में भी लिए जाए। सत्ता के प्रत्यायोजन का अर्थ निश्चय ही अत्यधिक कार्य से युक्त अधिकारियों को राहत, अधीनस्थों को भावी कार्यों के लिए प्रशिक्षण, उत्तरदायित्व की उच्चतर भावना तथा कर्मचारियों का उठा हुआ मनोबल है।

हालाँकि प्रत्यायोजन अनिवार्य और फायेदमंद है, लेकिन कोई भी श्रेष्ठतर व्यक्ति अपने आप में निहित पूरे प्राधिकार को प्रदत्त कर खुद को खाली नहीं कर सकता। उसे कुछ शक्तियां संगठन के कार्य पर प्रभावी नियंत्रण के लिए अपने पास रखनी होती हैं। इस तरह प्रत्यायोजन की हर मामले परिस्थिति और जिम्मेदारियों की प्रकृति पर निर्भर करती है। सामान्यतः निम्न अधिकार प्रदत्त नहीं होते-

- निकट कार्मिकों की प्रथम पंक्ति का निरीक्षण कार्य।
- सामान्य वित्तीय निरीक्षण तथा कुछ धन-राशि से अधिक व्यय के अनुमोदन करने का अधिकार।
- नई नीतियों तथा योजनाओं को सम्मति देने और पुरानी नीतियों से प्रस्थान करने की शक्ति।
- नियम और कायदे बनाने की शक्ति।
- ठीक नीचे के अधीनस्थों के निर्णय के खिलाफ अपीलों की सुनवाई करने की शक्ति।

प्रत्यायोजन सभी तरह के संगठनो के लिए कार्यात्मक रूप से आवश्यक है। इसकी आवश्यकता निम्न कारणों से होती है- शीघ्र निर्णय के लिए, कार्यों का बोझ कम करने के लिए, समय की बचत, नैतिक स्तर और मनोबल में वृद्धि, नेतृत्व की दूसरी पंक्ति विकसित करना, जिम्मेदारियां बांटनेऔर निर्णय लेने की कला में अधीनस्थ को प्रशिक्षित करना, और कर्मचारियों में जिम्मेदारी और दिलचस्पी का बोध बढ़ाना।

27.7.3 प्रदत्त विधि की संवैधानिकता

संविधान में ऐसा कुछ नहीं है जिससे यह निष्कर्ष निकला जाये कि विधान-मंडल विधायी शक्तियों को प्रदत्त नहीं कर सकते। किन्तु इसका यह भी अर्थ नहीं है होता कि विधायी शक्तियों का प्रत्यायोजन विधान मण्डलों द्वारा किया जा सकता है। संविधान में ऐसे अनेक अनुछेद हैं। कार्यकारिणी के प्रमुख, राष्ट्रपति तथा राज्यपालों को कुछ विशेष

परिस्थितियों में कानून बनाने का अधिकार प्रदान किया गया है, जब कि संसद अथवा राज्य के विधान मण्डल सत्र में नहीं होते। किसी प्रदेश में जब राष्ट्रपति-शासन लागू कर दिया जाता है तो कार्यकारिणी को यह अधिकार प्रदान कर दिया जाता है कि वह उस राज्य के लिए कानून बनाए। इससे यह बात स्पष्ट होती है कि संविधान-निर्माताओं का यह आशय नहीं था कि केंद्र तथा राज्यों में संसद तथा विधान-मण्डल ही कानून बनायेंगे। विधायी शक्तियों का प्रत्यायोजन अनिवार्य समझा गया था और इसलिए संविधान में इसको निषिद्ध नहीं किया गया था। संविधान के अनुछेद 13(3) (ज) में यह विहित किया गया है कि 'विधि' शब्द अध्यादेशों, आदेशों, उपनियम, विनियम, अधिसूचनाओं आदि को सम्मिलित करता है, जिनको मौलिक अधिकारों के विपरीत होने कि दशा में शून्य तथा प्रभावहीन घोषित किया जायेगा।

27.8 प्रदत्त विधि का नियंत्रण

प्रदत्त विधान की आवश्यकता को निरंतर स्वीकार किया जा रहा है। वर्तमान समय में इसका महत्व बढ़ता जा रहा है। इसे आवश्यक बुराई समझा जाता है। अब प्रदत्त विधान अनिवार्य हो गया है और इसके अस्तित्व पर विचार करने का कोई उपयोग नहीं है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि कार्यकारिणी इस प्रकार शक्तियों से युक्त होकर मनमानी कर सकती है, चूँकि विधान बनाने का पहला दायित्व विधान-मंडल का है। अतः यदि दूसरा व्यक्ति या निकाय विधान बनाने के लिए अधिकृत भी किया जाता है, तो भी उस पर मुख्य नियंत्रण विधान-मंडल का ही होना चाहिए। विचार करने का बिंदु यह है कि इस पर समुचित रूप से नियंत्रण कैसे किया जा सकता है, जिससे इसका दुरूपयोग रोका जा सके। इसके लिए इसके ऊपर तीन प्रकार के नियंत्रण की व्यवस्था की गयी है- संसदीय नियंत्रण (विधायी नियंत्रण), न्यायिक नियंत्रण और प्रक्रियात्मक नियंत्रण।

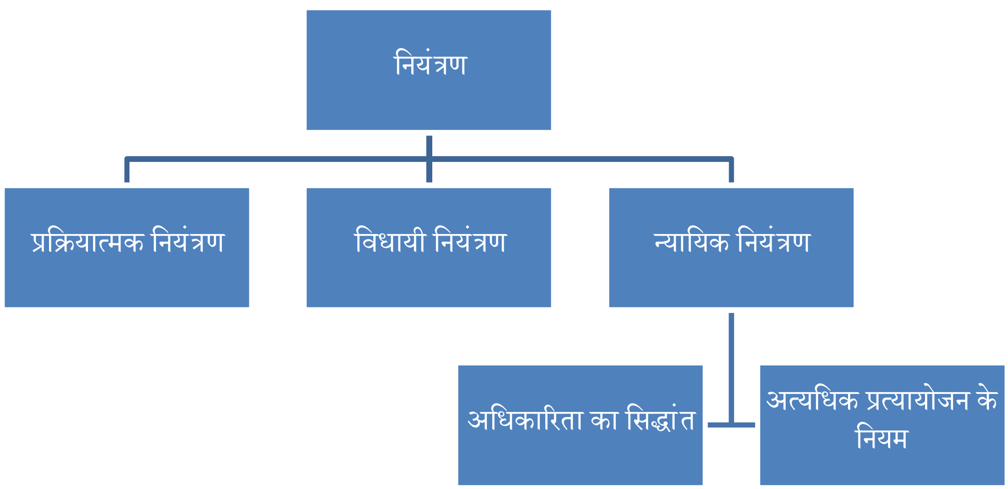

27.8.1 संसदीय नियंत्रण(Parliamentary Control)

संसदीय नियंत्रण को विधायी नियंत्रण के रूप में भी जाना जाता है। चूँकि विधान बनाने का वास्तविक कार्य एवं अधिकार विधान-मंडल का है, इसलिए प्रत्यायोजन पर भी नियंत्रण रखना उसके लिए आवश्यक है यह नियंत्रण निम्न प्रकार से किया जाता है-

1. प्रदत या प्रत्यायोजन के प्रस्ताव वाला कोई विधेयक जब संसद में आता है, तो विधान-मंडल द्वारा अधीनस्थ विधान की प्रकृति, सीमा और इसके प्रत्यायोजन पर विचार-विमर्श किया जाता है। केवल इस बात से कि

प्रदत्त विधान विधानमंडल के समक्ष रखा जायेगा, कार्यकारिणी इस बात के लिए सचेत हो जाती है कि उनके द्वारा बनाए गए कानून के विषय में वाद-विवाद एवं आलोचनाएँ होंगी और इसी कारण से कार्यकारिणी इन परिनियमों को बनाने में बहुत ही सावधानी बरतती है।

2. जब अधीनस्थ अथवा प्रदत्त विधान के प्रारूप को सदन के समक्ष रखा जाता है, तो इस प्रारूप को सदन स्वीकृत, अस्वीकृत, सीमित अथवा संशोधित कर सकता है।
3. जब अधीनस्थ विधान को अंतिम रूप देने के पश्चात सदन के समक्ष रखा जाता है, तो भी सदन इसे स्वीकृत, अस्वीकृत अथवा संशोधित करने की शक्ति का प्रयोग करके उस पर अपना नियंत्रण बनाए रखती है।
4. प्रदत्त विधान को संसद परिशोधित अथवा परिवर्तित कर सकती है और साथ ही साथ इसके औचित्य पर भी सदन में प्रश्नों या प्रस्तावों द्वारा असम्मति जताई जा सकती है।
5. लोक सभा एवं राज्यसभा सभी अधीनस्थ विधान पर अपनी समितियों के माध्यम से भी प्रभावकारी नियंत्रण रखते है।

इस प्रकार संसदीय नियंत्रण के अधीन संसद को यह अधिकार है कि वह किसी ऐसे विधेयक को संशोधित, निरसित अथवा अस्वीकृत कर सकती है जो किसी मंत्री पर सौंपे गए अधिकारों से सम्बंधित है, परन्तु वास्तविकता तो यही है कि समय के अभाव के कारण संसद को प्रदत्त विधान पर विचार करने का अवसर ही नहीं मिलता। चूँकि यह विधयिका ही होती है जो प्रशासन को विधायी शक्ति का प्रत्यायोजन करती है। अतःप्राथमिक रूप से ये इसका ही दायित्व है कि इस शक्ति के वास्तविक प्रयोग का प्रबन्ध एवं नियंत्रण करे।

27.8.2 न्यायिक नियंत्रण(Judicial Control)

अब तक यह एक सत्यापित तथ्य है कि विधानमंडल प्रत्यायोजन के नाम पर अपनी सम्पूर्ण विधायी शक्ति का प्रत्यायोजन नहीं कर सकते, क्योंकि विधायी नीति को प्रतिपादित करने का कार्य विधानमंडल का है। विधानमंडल विधि का निर्माण करके उसमें नीतियों का वर्णन करके प्रासंगिक नियम बनाने का अधिकार कार्यपालिका को प्रदत्त कर सकते हैं। इस प्रकार विधानमंडल एवं प्रत्यायोजितीय, दोनों की ही निश्चित सीमाऐं हैं और दोनों के लिए अपनी सीमा में रहना अनिवार्य है। जिस प्रकार विधानमंडल अपनी आवश्यक विधायी शक्तियों का प्रत्यायोजन नहीं कर सकता, उसी प्रकार प्रत्यायोजितीय भी अधिनियम द्वारा प्रदत्त की गयी शक्ति के बहार नहीं जा सकता। इस बात का पालन किया जा रहा है या नहीं इसी बात को विनिश्चित करने का अधिकार न्यायपालिका के पास है। न्यायालय द्वारा यह कार्य मुख्यतः दो प्रकार से किया जाता है- अधिकारातीत(ultra vires) के आधार पर, तथा अत्यधिक प्रत्यायोजन के नियम (Rule of excessive delegation)।

1. **अधिकारातीत के आधार पर-** प्रदत्त विधान को नियंत्रित करने के न्यायालय ने अधिकारातीत का सिद्धान्त लागू किया है। यदि प्रत्यायोजन शक्ति से परे पाया जाता है तो इसे शून्य ठहराया जाता है। अधिकारातीत का अर्थ होता है- शक्ति से परे अथवा शक्ति से बाहर। अधिकारातीत के आधार पर न्यायालय प्रदत्त विधान पर निम्न आधारों पर प्रहार कर सकते हैं- यदि यह (प्रदत्त शक्ति) समर्थकारी अधिनियम के आधिकरातीत हो, यदि यह संविधान के अधिकारातीत हो,यदि यह समर्थकारी अधिनियम द्वारा विहित प्रक्रिया के अनुसार नहीं बनाया गया हो।
2. **अत्यधिक प्रत्यायोजन के नियम(Rule of excessive delegation)-** इस नियम के सम्बन्ध में दो अवधारणाऐं प्रचलित हैं- विधानमंडल विधायी शक्ति का प्रत्यायोजन तभी कर सकता है, जब वह आवश्यक

विधायी कृत्य का परित्याग नहीं करता है। तथा विधिक प्रत्यायोजन में विधानमंडल को स्वयं अधिनियम के माध्यम से प्रदत्त के लिए मार्गदर्शक सिधान्त तथा विधायी निति एवं मानदंड का निर्धारण करना आवश्यक है।इसी प्रकार से ही ये सिधांत है, जिनके आधार पर न्यायलय प्रदत्त विधान की वैधता की जाँच करता है।

28.8.3 प्रक्रियात्मक नियंत्रण(Procedural Control)

आजकल प्रक्रियातम नियंत्रण पर बहुत जोर दिया जा रहा है। इसके तीन संघटक है- पूर्व प्रचार, प्रकाशन, और हितों से परामर्श।

प्रदत्त विधान निर्माण की प्रक्रिया विधानमंडलों द्वारा कानून बनाने की प्रक्रिया से अलग होती है, जिसके कारण विधान निर्माण के दौरान जनता को इसकी सूचना नहीं मिल पाती, इसलिए प्रदत्त विधान का प्रकाशन उसको लागू करने से पहले आवश्यक माना जाता है। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु प्रदत्त विधान का प्रकाशन दो तरह से किया जाता है- प्रस्तावित नियमों का पूर्व प्रकाशन करके तथा नियमों की स्वीकृति के पश्चात किया जाने वाला प्रकाशन।

नरेन्द्र कुमार बनाम भारत संघ AIR 1960 S.C. के बाद में उच्चतम न्यायलय ने प्रदत्त विधायन के प्रकाशन पर बल देते हुए यह निर्णित किया है कि प्रदत्त विधायन को बल प्रदान करने के लिए उसका प्रकाशन करवाया जाना आवश्यक है, अर्थात बिना प्रकाशन के प्रदत्त विधान को लागू करके प्रभावी नहीं बनाया जा सकता। स्टेट ऑफ महाराष्ट्र बनाम एम0 एच0 जार्ज के बाद उच्चतम न्यायलय ने प्रदत्त विधान के प्रकाशन के सम्बन्ध में आवश्यक दिशा-निर्देश अथवा सिद्धान्त भी प्रतिपादित किए हैं।

यह नैसर्गिग न्याय का एक मान्य सिद्धान्त है कि कानून जनता को मालूम होना चाहिए। यह समुचित रूप से बनाया जाये तथा प्रकाशित किया जाये। प्रकाशन तथा सुगमता नैसर्गिग न्याय की अपेक्षाऐं हैं जो कानून के साथ होने चाहिए। इसलिए किसी अधिनियम, नियम, विनियम आदि को कानूनी बल देने के लिए यह आवश्यक है कि वो प्रकाशित किया जाये तथा उनकी जानकारी कराई जाये।

प्रभावित हितों से परामर्श करके भी प्रदत्त विधान पर नियंत्रण रखा जा सकता है। अग्रिम संविदा अधिनियम् 1952, प्रतिभूति संविदा(विनियमन) अधिनियम,1956 आदि अधिनियमों के अंतर्गत प्रदत्त विधान को लागू करने से पूर्व प्रभावित हितों से परामर्श की व्यवस्था है।

अभ्यास प्रश्न-

1. प्रशासनिक विधि का लक्ष्य क्या है?
2. प्रशासनिक विधि किसकी शाखा है?
3. किसने कहा कि ‘‘प्रशासनिक विधि बीसवीं शताब्दी की सर्वोत्कृष्ट विधिक विकास हँ’’ है ?
4. भारत में प्रशासनिक विधि का विकास किस कारण से हुआ है?
5. ‘‘प्रशासनिक विधि प्रशासन से सम्बंधित विधि है। यह प्रशासनिक प्राधिकारियों के गठन, शक्तियों का अवधारण करती है’’ प्रशासनिक विधि की यह परिभाषा किसने दी?
6. यह नियम किस वाद में प्रतिपादित किया गया कि ‘प्रदत्त विधायन का प्रकाशन होना आवश्यक है।’
7. त्यायोजन विधायन क्या होता है
8. ‘इन रि देलही लाज एक्ट’ किससे सम्बंधित है?
9. प्रत्यायोजन विधान के न्यायिक नियंत्रण का आधार क्या है?
10. ’प्रदत्त विधान’ के संबंध में पूर्ण परीक्षण किसने किया था?

27.9 सारांश

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात अन्त में यह कहा जा सकता है कि प्रशासानिक विधि उन बातों का उल्लेख करती है, जिनके अंतर्गत प्रशासानिक अधिकारियों को अपनी शक्ति का प्रयोग अथवा अपने कृत्यों का निष्पादन करना पड़ता है। प्रशासन को शक्तियां जनकल्याण के लिए दी जाती हैं। इन शक्तियों का सार्थक और निष्पक्ष प्रयोग सुनिश्चित करना प्रशासानिक विधि का उद्देश्य है और जिस तरह दिन-प्रतिदिन इसका महत्व बढ़ता जा रहा है, संसद के लिए यह आवश्यक हो गया है कि अपने इस उद्देश्य को प्राप्त करने और अपनी प्रशासनिक कुशलता के लिए अपनी विधायानी शक्ति का प्रत्यायोजन कार्यपालिका को करे। इस शक्ति प्रत्यायोजन से हे प्रत्यायोजित विधान भी प्रकाश में आया जो कि आज समय की एक अनिवार्यता बन गयी है।

प्रशासानिक विधि, लोक विधि की एक शाखा है। यह राज्य के बढ़ते हुए आर्थिक-सामाजिक कृत्यों तथा उससे उत्पन्न उसकी शक्तियों का उप-उत्पादन है। इस प्रकार प्रशासनिक विधि को उस विधि के रूप में समझा जा सकता है जो प्रशासनिक प्राधिकारियों की शक्तियों और कृत्यों की विवेचना करती है। उन शक्तियों और कृत्यों के प्रयोग को विनियमित करने वाले सिद्धान्तों को उल्लिखित करती है, उनकी शक्तियों के नियंत्रण के ढंग और उनके द्वारा अपने अधिकारों के उल्लंघन के मामले में व्यक्तियों को उपलब्ध उपचारों के सम्बन्ध में प्रावधान करती है। वर्तमान युग की सामाजिक, आर्थिक और औद्योगिक प्रगति के कारण संसद के लिए यह आवश्यक हो गया है कि वह प्रशासनिक कुशलता के लिए अपनी विधायनी शक्ति का प्रत्यायोजन कार्यपालिका को करे। आधुनिक युग में कल्याणकारी राज्य की स्थापना के कारण विधायिका के कार्यों में अत्यधिक वृद्धि हुई है। जिसके परिणामस्वरूप विधायिका के पास इतना समय नहीं होता है कि वह सभी बातों पर विस्तृत बहस करें और सभी बातों का विस्तृत विवरण दे। इसलिए नियम और विनियम इत्यादि बनाने की शक्ति प्रशासनिक अधिकारियों को प्रदत्त करनी पड़ती है। इस प्रदत्त अधिकार शक्ति के अधीन ही प्रशासनिक अधिकारियों द्वारा विभागीय नियमों एवं आदेशों की संरचना की जाती है।

27.10 शब्दावली

प्रत्यायोजन- किसी उच्च अधिकारी द्वारा अधीनस्थ अधिकारी को विशिष्ट सत्ता एवं अधिकार प्रदान करना प्रत्यायोजन (Delegation) कहलाता है।

प्रशासानिक विधि- यह राज्य के बढ़ते हुए आर्थिक-सामाजिक कृत्यों तथा उससे उत्पन्न उसकी शक्तियों का उप-उत्पादन है।

अधिकारातीत- इसका अर्थ है "शक्तियों से परे" यह कानूनी अधिकार के बिना किया जाता है।

अधिनियम- विधान के अंतर्गत बनाया गया नियम, एक्ट।

नैसर्गिक न्याय- नैसर्गिक न्याय का जो सिद्धांत प्रचलित है वह लेटिन की दो सूक्तियों से उपजा है। वे हैं- दूसरे पक्ष को भी सुनो(audi alteram partem) और कोई भी अपने मामले में स्वयं निर्णयकर्ता नहीं हो सकता (nemo judex in causa sua)।

27.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. सरकार के मनमानेपन पर नियंत्रण लगाना, **2.** लोक विधि की शाखा है, **3.** डेविस ने, **4.** विधायिका की विधायी कार्य में व्यस्तता, **5.** सर आइवर जेनिंग्स, **6.** हारला बनाम राजस्थान राज्य, **7.** कार्यपालिका विधायन, **8.** प्रत्यायोजन विधान, **9.** अधिकारातीत का सिद्धान्त, **10**. डोनोग्मोर समिति

27.12 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. दे0 डोनोग्मोर समिति रिपोर्ट, 1932, जैन, एम.पी.प्रिंसिपल्स ऑफ एडमिनिस्ट्रेटिव लॉ, 26 (1986)
2. डॉ0 कैलाश राय, प्रशासनिक विधि।
3. डॉ0 जय जय राम उपाध्याय, प्रशासनिक विधि।
4. डॉ0 यू0 पी0 डी0 केसरी, प्रशासनिक विधि।
5. Lectures on administrative law, by C.K Takwani
6. Administrative Law Wikipedia
7. Principles of administrative law, M.P Jain and S.N. Jain
8. Administrative Law by: K.C.Joshi, publisher CENTRAL LAW PUBLICATION, Edition 2nd, Edition 2012
9. I.P. Massey, Administrative law(Eastern Book Company),2008

27.13 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. दे0 डोनोग्मोर समिति रिपोर्ट, 1932, जैन, एम0 पी0 प्रिंसिपल्स ऑफ एडमिनिस्ट्रेटिव लॉ, 26 (1986)
2. डॉ0 कैलाश राय, प्रशासनिक विधि।
3. डॉ0 जय0 जय0 राम उपाध्याय, प्रशासनिक विधि।
4. डॉ0 यू0 पी0 डी0 केसरी, प्रशासनिक विधि।

27.14 निबंधात्मक प्रश्न

1. लोक कल्याणकारी राज्य में लोक प्रशासन के महत्व का मूल्यांकन कीजिये।
2. प्राधिकार के प्रत्यायोजन का अर्थ ''मात्र दूसरों को कम या ज्यादा विस्तार में काम देना नहीं है। प्रत्यायोजन का अर्थ है दूसरों को निर्णायक शक्ति देना, ताकि वे अपने कामों की रूपरेखा में विशेष समस्याओं के समाधान में अपने निर्णय का इस्तेमाल कर सके'' व्याख्या करें।
3. प्रदत्त विधान के विकास के मुख्य कारणों की विवेचना कीजिये।
4. प्रशासनिक विधि एवं संवैधानिक विधि में परस्पर सम्बन्ध और अंतर है को स्पष्ट कीजिये। क्या प्रशासनिक विधि को समझने के लिए संवैधानिक विधि का ज्ञान होना आवश्यक है? व्याख्या करें।
5. प्रदत्त विधान के लाभ और हानियाँ क्या हैं? अदालतों को अधिकारित अधिकारों को नियंत्रित करने के लिए क्या शक्तियाँ प्राप्त हैं?
6. क्या प्रत्यायोजन अस्वीकृत भी किया जा सकता है? यदि हाँ तो किन कारणों से?